॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४

संस्कृत-कवि-दर्शन

(संस्कृत के प्रमुख कवियों का साहित्यिक परिशीलन)

लेखक

डॉ० भोलाशङ्कर व्यास

प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्या भवन

चौक, बनारस

[प्रथम संस्करण]   मूल्य ६)   [संवत् २०१२

प्राक्कथन

राज्यपाल शिविर
उत्तर प्रदेश

अगस्त ११, १९५५

इस पुस्तक में डा० व्यास ने संस्कृत सर्जनात्मक साहित्य की रूपरेखा दी है. संस्कृत साहित्य में रस लेने वाले वाचकों के लिये यह एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है. समालोचना करते हुये कर्ता ने अर्वाचीन और प्राचीन दोनों पद्धतियों का समन्वय किया है. मैं आशा करता हूं कि इस पुस्तक से संस्कृत साहित्य का ज्ञान और हिन्दी साहित्य का विकास दोनों ही लक्ष्य सिद्ध होंगे.

[signature]

भूमिका

आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, डी. लिट.

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मेरे मित्र डा० भोलाशंकर व्यासजी ने संस्कृत के काव्यसाहित्य के परिचय रूप में यह पुस्तक लिखी है। पुस्तक गंभीर अध्ययन और मनन के बाद लिखी गई है। इस विषय के प्रामाणिक विद्वानों की रचनाओं से व्यासजी ने सहायता अवश्य ली है, परन्तु अपने स्वाधीन चेष्टा को ही प्रमुखता दी है। हिंदी में यह अपने ढंग का बहुत उत्तम प्रयास है। मेरा विश्वास है कि सहृदय पाठक इस पुस्तक का समुचित आदर व सम्मान करेंगे।

'संस्कृत का साहित्य बहुत विशाल है। 'विन्टरनित्स ने लिखा है कि लिटरेचर (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह संस्कृत में वर्तमान है। धार्मिक और ऐतिहासिक-परक (सेक्यूलर) रचनाएँ, महाकाव्य, लिरिक, नाटकीय और नीतिसंबन्धी कविता, वर्णनात्मक, अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य—सब कुछ इसमें भरा पड़ा है।'

संसार में इतने दीर्घकाल से बनते रहने वाला और इतने विशाल जन-समूह को पीढ़ियों तक आन्दोलित और प्रेरित करने वाला साहित्य शायद दूसरा नहीं है। हजारों वर्ष से अनेक प्रकार के उत्थान-पतन के भीतर यह साहित्य कभी म्लान नहीं हुआ। देश के प्रत्येक संकट को झेल कर व अधिकाधिक तेजोदृप्त होकर प्रकट होता गया है। यद्यपि इसके ग्रन्थ-रत्न लुप्त हो गए हैं तथापि इसके उपलब्ध ग्रंथों की संख्या इस समय एक लाख से ऊपर है। अपूर्व जीवनी शक्ति और प्रौढ़ विचारधारा की दृष्टि से निस्संदेह संस्कृत का वाङ्मय संसार में बेजोड़ है।

संस्कृत का लेखक—चाहे वह कवि हो, दार्शनिक हो, धर्म व्यवस्थापक

हो या अन्य शास्त्रों का प्रणेता—जब लिखने बैठता है तो बड़े संयम और निष्ठा के साथ लिखता है। वह अपनी शक्ति भर वक्तव्य वस्तु को सर्वोत्तम बनाने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि संस्कृत के समूचे साहित्य में हल्के भाव से किसी बात की चर्चा नहीं मिलेगी। दीर्घकाल से संस्कृत के कवियों और ग्रन्थकारों ने स्वेच्छा से अनेक बन्धन स्वीकार कर लिए हैं। इन समस्त बन्धनों को स्वीकार कर और उनकी सीमाओं से बँधे रह कर उन्हें स्वानुभूत सत्य को प्रकाशित करने का कार्य करना पड़ा है। इस बात के लिये जिस कठोर संयम और मानसिक अनुशासन की आवश्यकता है वह उनमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है। संस्कृत में लिखी हुई अतुलनीय ग्रन्थ-राशि में से जितनी भी पुस्तकें हैं उन सब में इस संयम और अनुशासन का प्रमाण मिल जाता है। अध्ययन को पुराना भारतीय सबसे बड़ा तप मानता था। संस्कृत के ग्रन्थ उनकी इस मान्यता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। शायद सारे संसार के आधुनिक लेखक व साहित्यकार इस विषय में संस्कृत के लेखक से कुछ न कुछ सीख सकते हैं।

व्यासजी ने इस विशाल साहित्य के ललित और रसात्मक अंश का परिचय दिया है। पाठक इसमें भी देखेंगे कि संस्कृत के कवि और नाटककार शब्दों और अर्थों के प्रयोग में कितने सतर्क हैं, पात्रों और घटनाओं की योजना में कितने सावधान हैं और प्राचीन ऋषियों और आचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों के प्रति कितनेश्र द्धावान हैं। इन सब बन्धनों के भीतर से कवियों ने जो अपूर्व रस-लोक की सृष्टि की है वह सचमुच अतुलनीय है। मैंने इस साहित्य के संबन्ध में अन्यत्र लिखा है कि—

'संस्कृत साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से

निरन्तर प्रवहमान मानवचिन्तन का विराट स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। कितने संघर्षों के बाद मनुष्य समाज ने यह रूप ग्रहण किया है। विशाल शत्रु-वाहिनी क्षुधित वृकराजि की भांति इस महादेश में आई है, उसका प्रचण्ड प्रतापानल थोड़े ही दिनों में फेन बुद्-बुद् के समान विलीन हो गया है। बड़े-बड़े धर्ममत शाश्वत शान्ति का संदेश लेकर आए हैं और मनुष्य की दुर्बलताओं के आवर्त में न जाने किधर बह गए हैं। दुर्दान्त राज-शक्तियाँ मेघघटा की भांति घुमड़ कर आई हैं और अचानक आए हुए प्रचण्ड वायु के झोंके से न जाने कहाँ विलीन हो गई हैं। संस्कृत साहित्य हमें इतिहास की कठोर वास्तविकताओं के सामने खड़ा कर देता है। मनुष्य अन्त तक अजेय है, उसकी प्रगति रुक नहीं सकती। उतावली बेकार है। सब कुछ आज ही समाप्त नहीं हो जाता। चार दिन की शक्ति पर अभिमान करना व्यर्थ है।'

मुझे प्रसन्नता है कि व्यासजी ने इस विशाल साहित्य के रसमय अङ्ग का सुन्दर परिचय हिंदी पाठकों के लिये सुलभ किया है। व्यासजी के लिखने का ढंग सुन्दर और आकर्षक है। उनकी विवेचना पढ़ने से मूल के बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ती है। मेरे विचार से पुराने साहित्य का परिचय देने के कार्य में मूल के प्रति जिज्ञासा और उत्सुकता जगा देना बहुत उत्तम गुण है। व्यासजी की इस पुस्तक में यह गुण वर्तमान है आशा है सहृदय पाठक इस पुस्तक को पढ़ कर मूल रचनाओं के प्रति जिज्ञासु बनेंगे। यदि ऐसा हुआ तभी लेखक का परिश्रम सार्थक होगा।

काशी
१२-८-५५

हजारीप्रसाद द्विवेदी

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक में संस्कृत साहित्य के प्रमुख कवियों का परिशीलन उपस्थित किया गया है। आरम्भ में आमुख के द्वारा समस्त संस्कृत साहित्य की सामान्य विशेषताओं की ओर भी संकेत कर दिया गया है। पुस्तक के लिखने में प्रमुख लक्ष्य तत्तत् कवि की विवेचना ही रही है, जिससे साहित्य के इतिहास से भिन्न सरणि का आश्रय यहाँ लिया गया है तथापि साहित्यिक प्रवृत्तियों और प्रभावों का संकेत करने के लिए इतिहासपरक सरणि को भी कहीं-कहीं अपनाना पड़ा है। विवेचना के लिए शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी लेखक ने कहीं-कहीं वैयक्तिक विचारों को व्यक्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण समझा है। संस्कृत साहित्य के रसमय अंश को हिन्दी के माध्यम से उपस्थित कर साहित्यरसिकों को संस्कृत कवियों का मूल रचनाओं की ओर उन्मुख करना ही लेखक का प्रमुख लक्ष्य है, किन्तु तत्तत् कवि के परिशीलन में तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियों, दार्शनिक एवं कलात्मक मान्यताओं आदि को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा गया है। कवियों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध जनश्रुतियों तथा उनके तिथि-निर्धारण के विषय में विस्तार से संकेत करना इसलिए अनावश्यक समझा गया है कि इनका परिशीलन से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। कवियों की तिथि के विषय में विस्तार से विभिन्न मतों को न देकर मान्य मत के अनुसार काल-निर्धारण का संकेत कर दिया गया है। मुझे आशा है,

यह पुस्तक न केवल साहित्यरसिकों के लिए ही, अपितु संस्कृत की उच्च परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी होगी।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने डॉ० कीथ, डॉ० डे तथा दासगुप्ता के अमूल्य ग्रन्थों से विशेष रूप से सहायता ली है। इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों के बहुमूल्य विचारों से भी मैं प्रेरित हुआ हूँ। मैं इन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

भारतीय संकृति तथा साहित्य के परम प्रेमी माननीय महामहिम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, राज्यपाल उत्तर प्रदेश, ने इसका प्राक्कथन लिख कर तथा संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य के आचार्य डॉ. हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने भूमिका लिखकर, अनेकों राजकीय तथा साहित्यिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी जो कृपा प्रदर्शित की है, उसकी कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

जन्माष्टमी
२०१२ विक्रम

भोलाशंकर व्यास

पूज्य पिताश्री

को

सादर समर्पित

विषय-सूची

संस्कृत-कवि-दर्शन

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं
स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम् ।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियै-
र्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ।।

आमुख

साहित्य किसी देश की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा जातीय भावनाओं का प्रतीक होता है। संस्कृत साहित्य भारत का राष्ट्रीय गौरव है। प्रत्येक देश के साहित्य में उस देश के निजी गुण-दोष प्रतिबिम्बित होते हैं। संस्कृत साहित्य भारत के गर्वोन्नत भाल की दीप्ति से संक्रान्त जीवन का चित्र है। प्रत्येक देश या राष्ट्र का जीवन उत्थान-पतन की करवटें लेता अतीत से भविष्य की ओर बढ़ता है। भारत के इतिहास में एक ओर स्वतन्त्रता का विजयघोष, समृद्धि का स्वर्णप्रकाश उद्वेलित है, तो दूसरी ओर पराधीनता की मुमूर्षुता, कायरपन की म्लानवदनता तथा कोरी विलासिता की कालिमा भी पाई जाती है। इतिहास के इन सुनहरे और मलीमस दोनों तरह के चित्रों को साहित्यिक कृतियों में प्रतिफलित देखा जा सकता है। हमें कुत्सित, कृत्रिम काव्यों की अस्वाभाविकता से इसलिये आँख नहीं मूँदना चाहिए कि वे हमें ह्रासोन्मुख काल की चेतना का संकेत देती हैं। वे हमें इस बात की चेतावनी भी देती हैं कि समाज के उदात्त गौरव के लिए इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता नहीं। हमें कालिदास के काव्य की उदात्तता अपेक्षित है, किन्तु यह सवाल पैदा हो सकता है, कि माघ या श्रीहर्ष के काव्यों का सामाजिक मूल्य क्या है? आज के समाज-वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले मानवतावादी आलोचक माघ या श्रीहर्ष के विपक्ष में ही निर्णय देंगे। साथ ही आज की रुचि के अनुकूल न तो उनके अलङ्कारों का प्रयोग बन पड़ेगा, न विविध शास्त्रों का प्रगाढ़ पाण्डित्य ही। पर, इतना होने पर भी माघ, श्रीहर्ष, मुरारि या त्रिविक्रम भट्ट की कृतियों का

अपना महत्त्व अवश्य है, जिसकी सर्वथा उपेक्षा करने से काव्यालोचन के के एक पक्ष की अवहेलना होने की आशङ्का है। हमारे सामने दो चित्र हैं, एक रमणीय भावात्मक चित्र, जिसमें प्रेय के साथ श्रेय की उदात्तता भी समवेत है, दूसरा कलात्मक नक्काशी वाला चित्र। पर इस दूसरी चित्र-कला में चाहे बाहरी तड़क-भड़क का ही महत्त्व हो, आलोचक को उसकी ओर से आँखें हटा लेना ठीक नहीं। युग की रुचि किसी काल की साहित्यिक रचना को प्रेरणा देती है। माघ, श्रीहर्ष, मुरारि तथा त्रिविक्रम भट्ट की साहित्यिक कृतियों को यदि हिन्दी के आदिकालीन चरित-साहित्य और रीतिकालीन काव्य की पूर्वपीठिका के रूप में अध्ययन का विषय बनाया जाय,-जो भारत की मुमूर्षु स्वतन्त्रता, पारस्परिक कलह, तथा विलासिता की ओर ली गई दिलचस्पी का सङ्केत करती हैं,-तो वे समाजशास्त्रीय तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्देश कर सकती हैं।

किसी भी देश या राष्ट्र के साहित्य को टुकड़ों में बाँटकर, उन्हें सामाजिक प्रवाह से असंपृक्त करके देखना श्रेयस्कर तथा वैज्ञानिक नहीं। संस्कृत साहित्य के महान् दाय को अलग रखकर देखना उसके शुद्ध काव्यशास्त्रीय मूल्य को भले ही आँक ले, राष्ट्रीय अर्घ्य का अङ्कन करने में असफल होगा। लौकिक संस्कृत की 'क्लैसिकल' काव्य-परम्परा को न केवल आदि-कवि तथा व्यास के अमर काव्यों से सम्बद्ध मानना होगा, अपितु उसे आर्य संस्कृति के उषःकाल में उदित मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की 'सूनृता चन्द्ररथा' वाणी के साथ आदि स्रोत गोमुख से निकलकर आने के समय से लेकर आज की विविध लोकभाषाओं के मुखों के द्वारा जन-जीवन के महोदधि में विलीन होती हुई दशा तक के अखण्ड प्रवाह की एक महत्त्वपूर्ण स्थिति समझना पड़ेगा। त्रिपथगा के प्रवाह की तरह किसी देश की राष्ट्रीय भारती इतनी विस्तीर्ण तथा समृद्ध होती है, कि उसका अध्ययन समग्र रूप में न कर खंडशः करना ही अधिक ठीक होगा।

लौकिक संस्कृत की राष्ट्रीय भारती वह सबसे बड़ी कड़ी है, जो प्रागैतिहासिक काल के वैदिक साहित्य से आज के साहित्य की कड़ियों को जोड़ती है। लौकिक संस्कृत का साहित्य जहाँ वैदिक साहित्य के दाय को लेकर उपस्थित होता है, वहाँ कुछ नई चेतना, नई स्फूर्ति तथा अभिनव सामाजिक स्थिति का सङ्केत देता है और इस दृष्टि से अर्वाचीन भाषाओं के साहित्य का साक्षात् पूर्वज होने के कारण वैदिक साहित्य की अपेक्षा इन्हें उससे कहीं अधिक दाय प्राप्त हुआ है। वैदिक साहित्य जहाँ दिव्य (अपौरुषेय) साहित्य है, प्राकृतिक देवताओं से सम्बद्ध साहित्य है, वहाँ लौकिक संस्कृत का साहित्य मानवी साहित्य है। वाल्मीकि रामायण को इस प्रवृत्ति का प्रथम आविर्भाव कहा जा सकता है। लौकिक संस्कृत साहित्य में सूत्रोत्तर-काल (६०० ई० पू०) के बाद की सामाजिक अवस्था का चित्र प्रतिफलित होता है, जो भारत के अत्यधिक समृद्धिशाली युग का लेखा है। लौकिक संस्कृत साहित्य में समाज का जो निश्चित नैतिक, धार्मिक, पौराणिक और सांस्कृतिक 'ढाँचा' पाया जाता है, ठीक उसी रूप में वह वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। जहाँ तक परवर्ती प्राकृत, अपभ्रंश या अर्वाचीन भाषाओं के साहित्य का प्रश्न है, संस्कृत साहित्य के ऋण से वे कभी उऋण नहीं हो सकते। इन भाषाओं के साहित्य का संस्कृत साहित्य के साथ ऋणी-धनी का सम्बन्ध है। बौद्धों, जैनों या बाद के निर्गुण सन्तों का प्राकृत, अपभ्रंश और देशभाषा का साहित्य पौराणिक ब्राह्मण धर्म की नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का तीव्र विरोध लेकर भले ही आया हो, संस्कृत साहित्य के अहसान को नहीं भुला सकता। हिन्दी साहित्य को अपने पूर्वजों से जो दाय मिला, उसमें सबसे बड़ा अंग संस्कृत साहित्य का ही है, चाहे वह वीरगाथाकालीन चरितकाव्यों की परम्परा हो, या सगुण भक्ति की ऐश्वर्यवादी धारा, या माधुर्यवादी रसस्यन्दिनी सरिता या शृङ्गार-सूक्तियों की रीतिकालीन अठखेलियाँ।

आज से लगभग चार हजार साल पहले 'यायावरों' का एक कबीला भारत के सिंहद्वार पर आया। उसने भारतीय नभोमण्डल में अवतरित होती चिरकुमारी उषा-नर्तकी के अधखुले लावण्य[१] को देखा, उसके हृदय की पाँखें खुल उठीं, मन की वीणा के तार झनझना उठे, भावों की सरगम ने नया राग छेड़ा, और भारत ने सबसे पहले साहित्य और सङ्गीत को मुखरित कर उस दिव्य सुन्दरी का, उसके अमर्त्य श्रृङ्गार का, अभिनन्दन किया। वैदिक मन्त्रद्रष्टा का शंसन, हवन और उद्गीथ साहित्यिक वितान का सूत्र डाल चुका था, जिसमें धीरे धीरे कई ताने बाने बुनकर वैदिक साहित्य के स्वर्णिम पट को मूर्तरूप दिया गया। भाव स्वतः साहित्य और संगीत के द्रव में पिघल पड़े थे, मानव की सौन्दर्याभिव्यञ्जक वाणी खुद-ब-खुद कविता बन गई थी, और वैदिक कवि ने आकाशमार्ग में ज्वलन्त रथ पर जाती दिव्य उषा के बलिष्ठ सैंधवों से यह प्रार्थना की कि वे उसे मानव की भूमि पर अवतारित करें।

उषो देवि अमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये॥ (ऋ. ३ मण्डल)

आर्यों के आदिम जीवन में हाथ बँटाने के लिये अग्नि, वरुण, इन्द्र, मित्र और विष्णु आये। इन्द्र ने आकर उनके शत्रु 'दस्यु' को विजित किया, उसने पिप्रु, शंबर, वृत्र, कुत्स, पता नहीं कितने 'दस्यु' वीरों को[२] हराया। भारत-भूमि, सिन्धुदेश, ब्रह्मर्षि देश और अन्तर्वेद आर्यों के पैरों के नीचे झुक पड़े, और दस्युओं का दर्पोन्मत्त मद भी, जिन्हें आर्यों ने

---

१ अधिपेशांसि वपते नृतुरिव पोर्णुते वक्ष उच्छ्रेव वर्जहम्। (ऋ. १.९२.४)

२. त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथा रन्धयो तिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं निक्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥ (ऋ. १.१०.५१.६)

अपनी ओर से अभय दान दे दिया। संस्कृतियों का सङ्गम हुआ, गंगा और यमुना ने मिलकर त्रिवेणी की सृष्टि की, सरस्वती की तरह दोनों ने सम्मिलित अभिनव चेतना को जन्म दिया। विजेताओं ने खानाबदोशी छोड़ी, पशु–चारण–वृत्ति छोड़ी, वे भी ग्राम और नगरों की सभ्यता की ओर बढ़ चले।.........जीवन की स्थिरता के साथ गम्भीर चिन्तन की स्थिरता चल पड़ी, हृदय के साथ मस्तिष्क भी प्रौढ हुआ और संहिता–काल की भावना उपनिषद्–काल के चिन्तन को जन्म देने लगी। दार्शनिक चिन्तन बढ़ा, वैदिक ऋषि ने जीवन की गति और लक्ष्य को समझना चाहा, वह वेदों की अनेक देवमूर्तियों में एकता ढूँढने लगा, पर उस प्रश्न का उत्तर सुलझा नहीं, उसके आगे प्रश्नवाचक चिह्न बना रहा। ऋग्वेद के अन्तिम दिनों का कवि चिन्तन–शील होकर कह ही उठा—'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?' यह बीज ही उपनिषदों के जनक, गार्गी या याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद, दधीचि और नचिकेता के चिन्तन के अनेकशाख वटवृक्ष का रूप लेकर आया। पर मानव इन्हें पाकर रुका नहीं, वह इस दाय को पाथेय बनाकर चल पड़ा, वैदिक कवियों का हृदय लेकर, औपनिषदिक चिन्तकों की मेधा लिए।

उस अनन्त पथ पर चलते उसे कई साथी मिले, कई से हिल मिलकर रास्ता काटा, कई से मुठभेड़ हुई, और हर एक को कुछ देता, हर एक से कुछ लेता, वह चलता ही रहा, रुका नहीं। इस बीच उसने कई पोशाकें बदलीं, उसकी भाषा बदली, व्यवस्था बदली, विचार बदले, पर भाव सर्वतोभावेन वही बने रहे, वही आशा–निराशा, सुख–दुख, हर्ष–विषाद, राग–द्वेष, लोभ–क्रोध। दार्शनिक चिन्तन का, विचार–तति का, बाहरी लिबास बदलता रहा, पर आत्मा अक्षुण्ण रही, अभी तक अक्षुण्ण बनी है। यह दूसरी बात है, कि कई ऐसे समय आये, जब वह ऐसी पार्वत्य घाटियाँ पार करने को मजबूर किया गया, जहाँ से वह क्षितिज तक के मैदान पर

अनाविल दृष्टि न दौड़ा सका, पहाड़ों की कृत्रिम चोटियों ने उसकी दृष्टि की गति रोक दी, उसके भाव वहीं तक सीमित रह गये, पर इसमें उस बेचारे का क्या दोष? काश, पर्वतों की तंग चहारदीवारी न होती। पर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे पर्वत भी पार करने होंगे और उसका लक्ष्य है, सारी मानव-जाति को शाश्वत मनोजगत् की झाँकी दिखा देना, कलाकार की कोमल अँगुलियाँ केवल एक तार छुए और वीणा के सारे तार स्पन्दित हो उठें।

वैदिक साहित्य और साहित्यिक (क्लैसिकल) संस्कृत के बाहरी ढाँचे में एक महान् अन्तर है। वैदिक साहित्य जन-भाषा का साहित्य है, दैवी साहित्य है, ग्राम-संस्कृति का साहित्य है; लौकिक संस्कृत साहित्य उच्च वर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है, मानवी साहित्य है, नागरिक संस्कृति का साहित्य है। वैदिक साहित्य का समाज मूलतः दो तरह का समाज है, आर्य और दस्यु, विजेता और विजित; साहित्यिक संस्कृत का समाज निश्चित रूप से वर्णाश्रमव्यवस्था को लेकर चलने वाला पौराणिक ब्राह्मण समाज है। इतना ही नहीं, लौकिक संस्कृत साहित्य का समाज सामन्तवाद का समाज है, सार्वभौम सम्राटों, राजाओं और सामन्तों का समाज। यद्यपि सामन्तवाद का उदय आदि-कवि तथा व्यास के अमर काव्यों—रामायण तथा महाभारत—में ही हो चला है, फिर भी साहित्यिक संस्कृत के काव्यों में उनकी गणना नहीं की जाती। ये दोनों काव्य वस्तुतः वैदिक साहित्य और साहित्यिक संस्कृत के बीच की कड़ी हैं। यही कारण है, वाल्मीकि व व्यास कवि होते हुए भी ऋषि हैं, और उनके काव्य आर्ष कृतियाँ। ये वे कृतियाँ हैं, जिन पर पाणिनि महाराज के धर्मदंड का बस नहीं चलता। रामायण तथा महाभारत दोनों ही नागरिक सभ्यता के काव्य हैं तथा प्रकृति में अश्वघोष या कालिदास की अमर कृतियों के विशेष नजदीक हैं।

उत्तर-वैदिक-काल का साहित्य भावुक कीअ पेक्षा चिन्तनशील अधिक था। उपनिषदों में भावना और चिन्तन का सुन्दर ताना-बाना है, पर सूत्र-साहित्य आमूल चूल बुद्धि का साहित्य है। उत्तर-वैदिक-काल (१००० ई० पू०-६०० ई० पू०) में ही वर्णाश्रमधर्म के बीज देखे जा सकते हैं। धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र वैदिक समाज के निश्चित 'ढाँचे' का सङ्केत देने लगते हैं। पर इस 'ढाँचे' का खुला विरोध भी उठ रहा था और कुछ दिनों के बाद भगवान् महावीर और भगवान् सुगत ने इस व्यवस्था की धार्मिक और सामाजिक नींव को खोखला घोषित किया था। इस बीच ब्राह्मण संस्कृति तथा यज्ञविरोधी संस्कृति का विरोध चलता रहा, जिसमें निश्चित रूप से ब्राह्मण संस्कृति की ही विजय हुई। ईसा से लगभग दो शती पूर्व ही ब्राह्मण धर्म अपनी पूरी शक्ति से उठ खड़ा हुआ था, उसने नई चेतना जुटाई, नई व्यवस्था को जन्म दिया। यज्ञों के धूम से फिर दिशायें 'अलकपट्टिका सजाने लगीं', अश्वमेध का घोड़ा सार्वभौम सम्राट् की यशोगाथा के साथ चतुर्दिक दौड़ पड़ा, स्मृतियों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ, शास्त्रों का चिन्तन चल पड़ा, जीवन के लक्ष्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की विस्तृत मीमांसा होने लगी, और ब्राह्मण 'महीदेव' घोषित किया गया, राजा 'नररूप में स्थित महती देवता'। पुराणों ने बुद्ध और महावीर के आगे सिर झुकाया, उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया गया और स्मृतियाँ निश्चित वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था देने लगीं। मनु सम्भवतः पुष्यमित्र (दूसरी शती ई० पू०) के समसामयिक थे और उसी के सङ्केत पर मनुस्मृति की रचना हुई थी। यद्यपि सबसे प्राचीन पुराण 'वायुपुराण' की रचना २०० ई० के लगभग मानी जाती है तथापि पुराणों की कथाएँ ईसा से कई सौ साल पहले से ही एकत्रित हो रही थीं। पुराणों में एक साथ वैदिक आख्यान, सांस्कृतिक उपाख्यान, ऐतिहासिक कथाएँ, रूपकात्मक कहानियाँ, और लोककथाओं का संग्रह है। अश्वघोष से पूर्व निश्चित रूप

से पुराणों की कथाएँ जोरशोर पर थीं; महाभारत जो 'अनेक उपाख्यानों का सुन्दर वन' है, मूलरूप में ईसा से लगभग ५०० या ६०० वर्ष पूर्व का अवश्य होना चाहिए।

संस्कृत साहित्य रामायण, महाभारत, पुराण और समय-समय पर संगृहीत लोककथाओं (बृहत्कथादि) की विरासत लेकर, उपनिषदों व सूत्रों के गम्भीर चिन्तन और स्मृतिकारों के निश्चित सामाजिक दृष्टिकोण का हाथ पकड़ कर हमारे सामने प्रविष्ट होता है। अश्वघोष से लेकर श्रीहर्ष या जयदेव तक हम इस अखंड परम्परा का निर्वाह पाते हैं। हर पीढ़ी अपनी नई पीढ़ी के हाथों इस विरासत को छोड़ती गई और हर आने वाली पीढ़ी ने समय की अवस्था के अनुरूप इस विरासत का उपयोग और उपभोग कर इसे अपने उत्तराधिकारियों को दे दिया, ताकि वे भी इसे सहेज कर रखें और भावी पीढ़ियों को देते रहें। यह दूसरी बात है, कि कई पीढ़ियों के गन्दे हाथों ने इस विरासत को गन्दा बना दिया। कालिदास अपने दाय को उज्ज्वलरूप में छोड़ गये, पर उनके उत्तराधिकारी उसकी पालिश को सहेज कर न रख सके। पर फिर भी वह विरासत ऐसी है, जो आदर की दृष्टि से देखने की चीज है, जो उन अनेकों ज्ञातनामा और अज्ञातनामा पूर्वजों के हाथों गुजरी है, जिन्होंने अपनी चेतना उसमें फूँक दी है और आज भी वह अपनी मूक वाणी से उनके संदेश सुनाती रहती है।

क्या साहित्यिक संस्कृत कभी जनभाषा थी? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जाना होगा। वैदिक भाषा अपने काल की जनभाषा थी। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, वैदिक संस्कृत की कई विभाषाएँ ऋग्वेद काल की भाषा में देखी जा सकती हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों की भाषा एक देश या एक काल की नहीं। आरम्भ के

मन्त्रों की रचना पंजाब में हुई है, बाद की अन्तर्वेद में। इसी तरह गोत्रमण्डल (२ से ८ तक के मण्डल) की भाषा प्राचीन है, तो प्रथम एवं दशम मण्डल की भाषा बाद की। अनार्यों के सम्पर्क से वैदिक भाषा में उच्चारण सम्बन्धी विकार आये होंगे, यही नहीं, आर्यों की भाषा ने अनार्य भाषाओं से शब्दसम्पत्ति लेकर अपना कोश भरापूरा बनाया, पर उसका ढाँचा, उसका पद-विधान (Morphology) वही रहा। इधर वैदिक भाषा की जटिल पदरचना भावों के आदान-प्रदान के उपयुक्त भाषा के रूप में शिथिल होने लगी। इसी काल में मन्त्रों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए प्रातिशाख्यों की रचना हुई। प्रातिशाख्यों ने वैदिक भाषा के उच्चारण-तत्त्व पर विशेष ध्यान दिया, पर उसमें पद-विज्ञान सम्बन्धी यथावश्यक सङ्केत भी मिल जाता है। इसी समय वैदिक भाषा का एक ऐसा रूप भी दिखाई पड़ता है, जिसे साहित्यिक संस्कृत के नजदीक माना जा सकता है। कठ, मुण्डक और श्वेताश्वर उपनिषद् में ऐसे अनेक मन्त्र भाग हैं, जो महाभारत और रामायण के श्लोकों की भाषा के पूर्ववर्ती रूप का संकेत करते हैं। इसी काल में पाञ्चाल, ब्रह्मर्षि देश तथा अन्तर्वेद की भाषा, 'उदीच्य' भाषा, को आधार बनाकर एक शुद्ध व्याकरणसम्मत भाषा का रूप चल पड़ा। यास्क के समय में ही वैदिक भाषा दुर्बोध हो गई थी। यास्क (८०० ई० पू०) के बाद और पाणिनि (६०० ई० पू०) से पहले कुछ वैयाकरणों ने उदीच्य भाषा को 'संस्कृत' रूप देने का कार्य प्रारम्भ किया होगा। पाणिनि ने स्वयं शाकल्य, शाकटायन, स्फोटायन जैसे पूर्व आचार्यों का उल्लेख किया है। विद्वानों ने ऐन्द्र व्याकरण को पाणिनि से भी पूर्व का माना है; किन्तु पाणिनि ही सबसे पहले वैयाकरण थे, जिन्होंने अपने काल की भाषा को 'संस्कृत' रूप देने का वैज्ञानिक भार उठाया और चार हजार सूत्रों की छोटी-सी अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा को जकड़ दिया।

संस्कृत भाषा निश्चित रूप से उस काल के बाद कई सदियों तक उच्च मध्य वर्ग तथा अभिजात वर्ग की भाषा रही है। यद्यपि पाणिनीय संस्कृत भाषा कभी भी जन-भाषा नहीं रही है, तथापि वह ईसा से कई सदियों पूर्व से लेकर बारहवीं सदी तक राज्य—भाषा (State language) रही है, सामन्तों, ब्राह्मणों, कवियों और दार्शनिकों की भाषा रही है, और बारहवीं सदी के बाद भी यह कई स्थानों पर इस पद पर सुशोभित रही। बारहवीं सदी तक संस्कृत शिलालेखों, ताम्रपत्रों, पट्टे परवानों की ही भाषा न थी, कई राजदरबारों की भाषा भी थी। गुप्त-काल तथा हर्ष के समय इसका प्रयोग दरबार की बोलचाल की भाषा के रूप में भी होता था और राजमहिषियाँ आदि इसे समझती थीं। बारहवीं सदी के बाद एक ओर देश भाषाओं की बढ़ती साहित्यिक समृद्धि, दूसरी ओर संस्कृत को राज्याश्रय न मिलने और तीसरी ओर भावी साहित्य के केवल रूढ़िवादी होने ने, संस्कृत को खदेड़ दिया, वह एक ओर हटा दी गई। वैसे इसके बाद भी वह दार्शनिकों, वैयाकरणों और प्रबन्धकारों (निर्णयसिन्धु आदि के लेखकों) की भाषा बनी रही, उसमें फिर भी काव्य रचनाएँ होती रहीं और किसी सीमा तक भारतीय संस्कृति की पुरातनप्रियता ने उसे सुरक्षित रखा, किन्तु उसकी स्थिति वही हो चली थी, जो मध्यकालीन यूरोप में लैटिन की। संस्कृत 'मृत भाषा' है, या नहीं, इस प्रश्न का विधि-निषेध-रूप उत्तर देना हम उचित न समझ, केवल इतना ही कहना चाहेंगे, कि सस्कृत जनभाषा न पिछले २६०० वर्षों से रही है, न मानी जा सकती है, पर इतना होते हुए भी संस्कृत भाषा वह फौलादी नींव है, जिस पर भारतीय संस्कृति और साहित्य की अट्टालिका खड़ी होकर आकाश को अपनी गुरुता और महत्ता से चुनौती दे रही है। इस फौलादी नींव को हटाने की चेष्टा करना अट्टालिका के ही लिए घातक सिद्ध होगा।

रामायण तथा महाभारत के रचनाकाल (६०० ई० पू०) के बाद हमने संस्कृत साहित्य का पहला प्रतिनिधि अश्वघोष को माना है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इससे पूर्व कोई रचनाएँ न लिखी गई होंगी। किंवदन्तियों का कहना है, पाणिनि ने 'जाम्बवतीपरिणय' और 'पातालविजय' नामक दो काव्य लिखे थे। पाणिनि के नाम से कुछ उदाहरण सुभाषितों में मिलते हैं।[1] पर इन सूक्ति पद्यों की शैली निश्चित रूप से इन्हें इतना पुराना (६०० ई० पू० का) सिद्ध होने में बाधक है। यद्यपि पाणिनि का नाम अधिक प्रचलित नहीं है, तथापि इन पद्यों के रचयिता निश्चित रूप से दाक्षीपुत्र वैयाकरण से भिन्न हैं, नाम उनका भी पाणिनि रहा होगा। वररुचि के नाम से भी कुछ सूक्ति पद्य मिलते हैं और 'चतुर्भाणी' में एक भाण भी वररुचि की रचना माना गया है। भाण तो वार्तिककार वररुचि (या कात्यायन) की रचना नहीं जान पड़ता, और 'चतुर्भाणी' के चारों भाणों को ईसा की सातवीं सदी से पुराने मानने में हमें आपत्ति है। (साथ ही पद्मप्राभृतक भाण को हम शूद्रक की रचना नहीं मानते।) यह हो सकता है कि वररुचि ने कोई काव्य लिखा हो, क्योंकि पतञ्जलि ने महाभाष्य में

---

१. सूक्तियों में पाणिनि के नाम से उद्धृत पद्यों मे निम्न पद्य बड़े प्रसिद्ध है, जो अलङ्कार ग्रन्थों में उद्धृत हैं। यह तो निश्चित है कि ये पद्य आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोककार) से पुराने है। निम्न पद्य बाद के कई आलङ्कारिकों ने उद्धृत किये हैं०—दे० रुय्यक का अलङ्कारसर्वस्व तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण।

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥ १॥
ऐंद्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥ २॥

वररुचि के काव्य का संकेत किया है—वाररुचं काव्यम्। पतञ्जलि (२०० ई०पू०)[1] के पहले कुछ कथा साहित्य भी निर्मित हुआ था, इनमें वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी आदि के नाम पतञ्जलि ने लिये हैं। सम्भवतः पतञ्जलि के समय नाटक भी खेले जाते थे। कंसवध तथा बलिबन्धन कदाचित् कोई दृश्यकाव्य रचनाएँ हों। पर अश्वघोष से पूर्व का काव्य-साहित्य या नाटक-साहित्य आज उपलब्ध नहीं। यही कारण है, हमने सुवर्णाक्षीपुत्र को ही पहला कवि माना है, दाक्षीपुत्र को नहीं।

ईसा की पहली सदी से लेकर १२ वीं सदी तक की संस्कृत साहित्य की गतिविधि को हमने आगामी पृष्ठों में प्रदर्शित किया है। यद्यपि प्रदर्शन कवियों का है, पर वह कवियों का न होकर काव्यप्रवृत्तियों का समझा जाना चाहिए। यही कारण है, हमने सामाजिक गति के साथ काव्य की प्रवृत्ति का पर्यवेक्षण करने का प्रयत्न किया है। बारहवीं सदी के बाद के साहित्य को हमने अपना दृश्यबिन्दु नहीं बनाया है, किन्तु बारहवीं सदी के बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति का सङ्केत हमने अवश्य दे दिया है। हमारे श्रीहर्ष, मुरारि, त्रिविक्रम और जयदेव बारहवीं सदी के बाद के महाकाव्य, नाटक, गद्यकाव्य (और चम्पू), तथा मुक्तक कविता की प्रवृत्ति का इशारा करते मिलेंगे और

---

१. पतञ्जलि शुङ्ग सम्राट् पुष्यमित्र के पुरोहित थे। महाभाष्य में वे स्वयं लिखते हैं—इह पुष्यमित्रं याजयामः। पतञ्जलि के ही समय ग्रीक सम्राट् मिनेन्डर (मिलिन्द) ने जिसकी राजधानी उस समय साकल (स्यालकोट) थी, बौद्धों के कहने से मगध पर चढ़ाई की थी। मिनेन्डर के राज्य की सीमा पुष्यमित्र के राज्य की सीमा का स्पर्श करती थी। मिनेन्डर ने माध्यमिका (राजस्थान में चित्तौड़ के पास स्थित नगरी नामक स्थान) और साकेत पर प्रबल आक्रमण किया था—अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। (महाभाष्य)

सच तो यह है कि श्रीहर्ष के बाद बीसों महाकाव्यों के लिखे जाने पर भी कोई कृति अपना मौलिक व्यक्तित्व लेकर नहीं आती। इसी तरह मुरारि में हमने दृश्यकाव्य का ह्रास बताया है। यद्यपि राजशेखर, बिह्लण, जयदेव (प्रसन्नराघवकार) जैसे कुछ नाटककार मुरारि के बाद, किन्तु हमारे काल (१२०० ई०) में ही हुए हैं, पर वे किसी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि नहीं जान पड़ते, अतः हमें उन्हें छोड़ देना पड़ा है। उनका सङ्केत यथास्थान अवश्य मिलेगा। त्रिविक्रम गद्यकाव्य के ह्रासोन्मुख प्रतिनिधि हैं, तो जयदेव मुक्तक कविता के। जयदेव के समकालीन गोवर्धन, धोयी या उमापति को हमने इसलिए नहीं लिया है कि इस प्रवृत्ति का सफल प्रतिनिधित्व जयदेव ही कर पाते हैं और जयदेव में जो काव्य परम्परा पाई जाती हैं, वह हिन्दी तक चली आई है। बारहवीं सदी के बाद मुक्तक कवियों में निःसन्देह एक सफल व्यक्तित्व पैदा हुआ है, जगन्नाथ पण्डितराज। पर हमने इसे नहीं लिया है, तुलना के लिए कुछ सङ्केत अमरुक के उपसंहार में मिल सकता है।

बारह सौ वर्षों की इस विशाल साहित्यिक निधि में कवियों की वैयक्तिक विशेषताएँ भिन्न भिन्न होते हुए भी कई समानताएँ मिलेंगी। वैसे हर कवि अपनी विशिष्ट प्रकृति, अपना खास रूप लेकर आता है, हर एक में उसकी जाती दिलचस्पियाँ हैं। पर इतना होते हुए भी इन सब में एक–सूत्रता ढूँढी जा सकती है। अश्वघोष इस सूत्र के एक छोर हैं, श्रीहर्ष और जयदेव दूसरे। इस काल के सभी कवि पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधि हैं। अश्वघोष ब्राह्मणधर्मावलम्बी न होते हुए भी, बौद्ध भदन्त होने पर भी, पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रति आदरभाव रखते हैं, इसका संकेत हमने अश्वघोष के परिशीलन में किया है। इस काल के प्रायः सारे कवि सामन्तवादिता के पोषक हैं और दरबारी कवि हैं। अश्वघोष सबसे पहले दरबारी

कवि हैं, श्रीहर्ष और जयदेव अन्तिम। विशाखदत्त, मुरारि या अमरुक के विषय में हम निश्चितरूप से कह नहीं सकते। भवभूति यद्यपि युवावस्था में अनादृत रहे, किन्तु अन्तिम दिनों में कन्नौज के यशोवर्मन् (७५० ई० ल०) के दरबार में थे। यशोवर्मन् के ही समय में वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' लिखा था।

पर इतना होते हुए भी काव्यप्रवृत्तियों की दृष्टि से, साथ ही तात्कालिक समाज की दृष्टि से भी, इस बारह सौ वर्ष के साहित्य को दो भागों में बाँट देना अधिक वैज्ञानिक होगा। हम हर्षवर्धन या बाण को मध्य में मानकर इस काल का विभाजन मजे में कर सकते हैं। पहले भाग को हम मोटे तौर पर हर्ष की मृत्यु[१] के तीन साल बाद ६५० ई० तक खींच सकते हैं। इस के बाद के साहित्य को हम दूसरे भाग में समाविष्ट करते हैं, जिसे १२०० ई० या अधिक से अधिक १२५० ई० तक माना जा सकता है। पर इसमें भी हम १२०० ई० की तिथि ही लेना ठीक समझेंगे। पहले तो इस तिथि में हमारे इष्ट कवि तथा इष्ट साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाविष्ट हो जाती हैं, दूसरे जिस तरह ६५० ई० हर्षोत्तर काल के भारत की राजनीतिक अव्यवस्था, सामाजिक दुर्बलता का संकेत करती है, वहाँ १२०० ई० उस अव्यवस्था के फलस्वरूप भारतीय हिन्दू साम्राज्य तथा सामन्तवादिता के अन्त का संकेत करती है, साथ ही संस्कृत के राजाश्रय के लोप की सूचना देती है। यह तिथि भारत में मुस्लिम राज्य के श्रीगणेश का संकेत करने में समर्थ हो सकेगी। इस तरह ईसा की पहली शती से ६५० ई० तक हम संस्कृत साहित्य का विकास काल मानते हैं, जब संस्कृत कवियों को प्रचुर राजाश्रय मिला और उन्होंने काव्य में नई प्रवृत्तियाँ, नई उद्भावनाएँ, नई भङ्गिमाओं का अपूर्व प्रयोग किया। इसी काल ने कालिदास, बाण, अमरुक जैसे कई

---

१. हर्षवर्धन की मृत्यु ६४७ ई० में हुई थी।

व्यक्तित्वों को जन्म दिया। इस काल के कवियों ने जहां अजन्ता की चित्र-कला से भावभङ्गिमा ली, वहां उनकी छेनी को उस काल की मूर्तियों से कलात्मक नक्काशी भी प्राप्त हुई। संस्कृत साहित्य में विकास होता रहा, पर हर्षवर्धन के साम्राज्य के साथ यह विकास ठप्प हो गया। काव्य को पाण्डित्यप्रदर्शन ने धर दबाया, काव्य सामन्ती विलासिता के दर्पण बन गये। संस्कृत साहित्य का गौरव फिर भी बना रहा, पर जैसे वह अपनी चढ़ती पर न था, उसकी उतरती के दिन आ रहे थे। यही कारण है कि ६५० ई० से १२०० ई० के साहित्यिक काल को हमने 'ह्रासोन्मुख काल' कहा है। इसी के बाद आज की भाषाओं के साहित्य का आरम्भ हो चला था। हिन्दी की प्रारम्भिक स्थिति के साहीत्य को १२०० ई० से तो निश्चितरूप से माना जायगा, वैसे विद्वानों ने इसे इससे भी २००-३०० वर्ष पूर्व खेंचने की चेष्टा की है और इस तरह बारह सौ वर्ष की सबसे मोटी कड़ी यहाँ उस कड़ी में गुँथी नजर आती है, जिसके दायरे में हिन्दी की सात साढ़े सात सौ वर्ष की साहित्यिक परम्परा आ जाती है।

'क्लैसिकल' संस्कृत साहित्य का इतिहास ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ जुड़ा हुआ है। पुष्यमित्र और पतञ्जलि (२०० ई० पू०) को इस की ऊपरी सीमा माना जा सकता है। इस काल से लेकर हर्षवर्धन की मृत्यु तक भारत साम्राज्यवादी ढर्रे की ओर बढा है। मौर्य सबसे पहले सम्राट् थे, और यद्यपि इस काल में हमने मौर्यों को नहीं लिया है, पर मौर्यों की राजनीतिक व्यवस्था, चाणक्य की 'अर्थशास्त्र' वाली दण्डनीति और कूटनीति आगे आने वाले सम्राटों का आदर्श रही है। प्राचीन भारतीय साम्राज्यवाद की नींव का पत्थर चाणक्य ही है। शुंगों के बाद कई छोटे मोटे राजा मगध के सिंहासन पर बैठे, पर कनिष्क (१०० ई०) तक कोई भी राजा ऐसा नहीं हुवा, जो सम्राट् कहा जा सके। कनिष्क के समय मगध पर अत्यधिक दुर्बल

शक्तियाँ राज कर रही थीं, पर संभवतः मगध स्वतन्त्र था, कनिष्क के अधीन नहीं। कनिष्क का राज्य मध्यएशिया से लेकर शूरसेन प्रदेश तक फैला हुआ था। मथुरा कनिष्क के ही राज्य की अंतिम सीमा थी। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर थी। कनिष्क के काल में बौद्ध और ब्राह्मण समझोते की ओर बढ़ रहे थे। महायान सम्प्रदाय का उदय ब्राह्मण धर्म का ही प्रभाव था। कनिष्क का पौत्र वासुदेव तो पौराणिक ब्राह्मणधर्मावलंबी बन बैठा था। वासुदेव शिवभक्त था। कनिष्क के राज्यकाल में दर्शन, विज्ञान और साहित्य की उन्नति हुई, उसने स्थापत्य–कला और मूर्तिकला को एक नई शैली दी—गान्धार शैली, जो अधिक दिनों तक न चल पाई। चरक का प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ इसी काल में निबद्ध किया गया था।

कनिष्क के बाद दूसरा साम्राज्य गुप्तों का था, जिससे कवियों, पण्डितों, दार्शनिकों और कलाकारों को राजाश्रय मिला। दार्शनिकों की मेधा, कवियों की प्रतिभा, स्थपति की कारीगरी, चितेरे की कूँची, और मूर्तिकार की छेनी एक साथ क्रियाशील हो उठी, अभिनव सृष्टि के लिए। दार्शनिकों ने नये प्रबन्ध लिखे, शास्त्रार्थ किये, कवियों ने भाव–जगत् के चित्र को वाणी की फिल्म पर उतारा, स्थपतियों में मंदिरों और कलशों को कलात्मक सृष्टि दी, चित्रकार की तूलिका अपना सारा रंग–रस रेखाओं में भरने लगी, और मूर्तिकार ने एक-से एक सुंदर भावात्मक आकृतियों को कुरेदकर अपनी गहरी सूझ का परिचय दिया। संगीत की मूर्च्छना, और नृत्य में झणझणायित मणिनूपुरों की मधुर ध्वनि ने दिग्दिगंत को मीठी तान में आप्लावित कर दिया। गुप्त सम्राट् विद्वानों और कलाकारों के आश्रयदाता थे, कला के पारखी थे, स्वयं कलाकार थे। गुप्तों के समय में पाटलिपुत्र और उज्जयिनी विद्या तथा कला के प्रसिद्ध केंद्र बन बैठे। राजशेखर ने पाटलिपुत्र को शास्त्र-विद्या का तथा उज्जयिनी को काव्य–कला का प्रसिद्ध केंद्र माना

है।[1] गुप्तों के काल में, विशेषतः समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त के समय में (३५०–४५० ई० ल०) कई कवियों ने राजाश्रय प्राप्त किया। हरिषेण, कालिदास, वातास भट्टि उस काल के ज्ञातनामा कवि हैं। इसी काल में वसुभूति, दिङ्नाग आदि दार्शनिक भी पैदा हुए। याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्मृति की रचना इसी काल में की थी। गुप्तों के साम्राज्य के साथ कला की उन्नति हुई, उसने भावपक्ष और अभिव्यञ्जनापक्ष दोनों को विकसित किया। गुप्तों के साम्राज्य के पिछले दिनों में ही साहित्य कृत्रिमता की ओर बढ़ने लगा, भारवि इसके प्रतिनिधि हैं।

गुप्तों के बाद कला और साहित्य का केन्द्र पाटलिपुत्र न रहा। वर्धन साम्राज्य के उदय के साथ कन्नौज (कान्यकुब्ज) कवियों का आश्रय बना। बाण, मयूर, मानतुंग, ईशान (भाषाकवि) हर्ष के राजकवि थे। हर्ष के बाद भी कन्नौज ने इस महत्त्व को बनाये रखा। यशोवर्मन् (७५० ई०) ने

१. राजशेखर ने बताया है, कि उज्जयिनी में काव्यकारपरीक्षा और पाटलिपुत्र में शास्त्रकारपरीक्षा होती थी।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

'इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥'

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥'

(काव्यमीमांसा १० अध्याय पृ० ५५)

ये दोनों पद्य राजशेखर के न होकर परम्परागत अनुश्रुति के रूप में प्रचलित थे। वैसे इन पद्यों के सभी नामों को सचमुच वहाँ–वहाँ परीक्षित नहीं माना जा सकता, फिर भी उज्जयिनी व पाटलिपुत्र साहित्यिक केन्द्र थे, यह संकेत मिल जाता है।

भवभूति, वाक्पतिराज आदि कवियों को प्रश्रय दिया। इसी समय गुजरात में एक नया राज्य उदित हुआ था। इतिहास के पृष्ठों में वलभी का नाम चमक उठा। ह्रासोन्मुख काल के आरम्भ में वलभी पण्डितों व कवियों का केन्द्र था। भट्टि वलभी के ही राजा के आश्रित थे। माघ का भी सम्बन्ध किसी न किसी रूप में वलभी से अवश्य था। कान्यकुब्ज ह्रासोन्मुख काल के अन्तिम दिनों तक कवियों का केन्द्र बना रहा, पर वलभी का ऐश्वर्य दो सदी से अधिक न रह पाया। इस काल के अन्तिम दिनों में दो केन्द्र और उदित हुए, एक गुजरात के राजाओं की राजधानी पट्टण, दूसरा बंगाल के सेनों की राजधानी लक्ष्मणावती। हेमचन्द्र आदि कई पण्डित व कवि गुजरात के राजाओं के आश्रित थे, जयदेव आदि बंगाल के सेनों के। इस बीच एक और केन्द्र भी विकसित हुआ था—मालव की धारा नगरी। नवसाहसांक सिंधुराज मुञ्ज तथा उसका उत्तराधिकारी भोज स्वयं विद्वान् व कवि थे। धनञ्जय, धनिक, पद्मगुप्त आदि कई कवि व विद्वान् ग्यारहवीं सदी में भोज और उसके चाचा के आश्रित थे। धारा इस काल का प्रमुख साहित्यिक केन्द्र था। इस काल के अन्तिम दिनों में पट्टण, काशी (जो गहडवालों की राजधानी थी), लक्ष्मणावती और धारा कविता के केन्द्र थे, पर भोज की राज्य-श्री के साथ उसके बाद ही धारा का ज्वलन्त नक्षत्र अस्त हो चुका था और अन्य तीन केन्द्र भी छिपने के पहले टिमटिमाने लगे थे।

संस्कृत साहित्य के प्रेरक तत्त्व

संस्कृत भाषा और साहित्य ठीक उसी तरह पौराणिक ब्राह्मणधर्म का प्रतीक समझा जाता है, जैसे पालि भाषा और साहित्य बौद्धधर्म का, अपभ्रंश भाषा और साहित्य जैनधर्म का। इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृत भाषा में बौद्ध अथवा जैन रचनाएँ न हुईं। संस्कृत में अनेकों बौद्ध-जैन साहित्यिक, धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। किन्तु संस्कृत साहित्य का

मूलस्रोत पौराणिक ब्राह्मणधर्म में ही रहा है और वह इन्हीं की सम्पत्ति रही है, जिसे बौद्धों और जैनों को अपने मत एवं दर्शन को अभिजातवर्ग पर थोपने के लिए, साथ ही ब्राह्मणधर्म की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए चुनना पड़ा। कहना न होगा, अभिजातवर्ग की साहित्यिक भाषा उस काल में संस्कृत ही थी। अतः संस्कृति की दृष्टि से संस्कृत साहित्य की सृष्टि वर्णाश्रमधर्म की संस्कृति है, स्मृतियों की संस्कृति है। यही कारण है, हमें स्मृत्यनुमोदित सामाजिक 'पैटर्न' का खाका सामने रखना जरूरी होगा, जो संस्कृत साहित्य का सदा आदर्श रहा है।

(१) स्मृत्यनुमोदित वर्णाश्रम धर्म—हम इस बात का सङ्केत कर चुके हैं, कि भारत में आने पर आर्यों का आर्येतर संस्कृतियों से संगम हुआ। इस समय आर्यों के समक्ष जाति-मिश्रण की समस्या उपस्थित हुई होगी। वे अपनी जाति को शुद्ध बनाये रखना चाहते थे, कम से कम उसके धर्म और संस्कृति को तो अविकृत देखना चाहते थे। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था इस समस्या का हल था। उन्होंने समाज को चार वर्णों में विभक्त कर दिया; उनके निश्चित कर्तव्यों और धर्मों का आलेखन किया; अन्तिम वर्ण में अनार्यों को भी सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई। कई सदियों तक 'अनुलोम' पद्धति का विवाह चलता रहा, पर धीरे धीरे निम्न जाति की कन्या से विवाह करना भी उच्चकोटि की वैवाहिक प्रथा में न माना गया। केवल निम्न वर्ण की स्त्रियों से ही विवाह नहीं होता था, कई भारतीय सम्राटों के ग्रीक पत्नियाँ तक थीं। किन्तु वर्णाश्रमधर्म के इस कठोर बन्धन के होने पर भी भारतीय समाज में बाह्य तत्त्वों का मिश्रण रुका नहीं। ग्रीक, शक, हूण और गुर्जरों के भारत में आकर सदा के लिए बस जाने पर तथा हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म के स्वीकार कर लेने पर उन्हें अपने समाज का अंग मान लिया गया। यही नहीं कि उन्हें समाज में चतुर्थ वर्ण में सम्मिलित किया गया, उनमें कई ब्राह्मण,

क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण में भी सम्मिलित हुए हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि चौबे और शाकद्वीपी ब्राह्मण क्रमशः ग्रीक और शक रहे होंगे। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि आज के क्षत्रियों में अधिकांश गुर्जरों के वंशज हैं। वैश्यों में भी ऐसे मिश्रण देखे जा सकते हैं। लेकिन इतना होते हुए भी हूणों और गुर्जरों के बाद आने वाली जातियों को भारत न पचा सका, इसके कई कारण थे, जिनकी मीमांसा में हमें जाना अनावश्यक है।

ईसा से कई सौ वर्ष पहले से ही वर्णाश्रम व्यवस्था के बीज देखे जा सकते हैं। ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर ईसा की सातवीं आठवीं सदी के बीच यह व्यवस्था दृढ बनी, इसके चारों ओर फौलादी दीवार मजबूत की गई, पर इस कृत्रिम झील में ऐसे अनेकों मार्ग थे, जिनसे बाहर के जलस्रोत आकर इस झील की जलराशि को विपुल बनाते रहे, उसमें अभिनव जल को लाते रहे। पर एकदम पता नहीं क्यों, सदा के लिए इन दरवाजों को सीमेंट से पट दिया गया, बाहर के जलस्रोत इसमें न खप सके, और इधर झील का पानी अभिनव जीवन से शून्य हो बैठा, वह स्थिर (Stereotyped) हो गया। हर्षवर्धन के बाद के साहित्य में इस तरह के चिह्न देखे जा सकते हैं। किन्तु इसके बीज हर्ष से पूर्व के साहित्य में भी मिल जायँगे। पुष्यमित्र तथा मनु के बाद ही भारतीय समाज एक निश्चित 'ढाँचे' में ढल चुका था, और उस समय उसका लक्ष्य अवैदिक व्रात्यों के श्रुतिविरोधी आन्दोलन से समाज की रक्षा करना था।

मनु से पहले ही अनेकों धर्मसूत्रों व गृह्यसूत्रों का पता चलता है। इनमें से कई तो यास्क से भी पहले विद्यमान थे। पर मनु स्मृतिकारों के प्रथम पथप्रदर्शक हैं। मनु पुष्यमित्र (२०० ई० पू०) के समसामयिक थे, किन्तु मनुस्मृति का उपलब्ध रूप सम्भवतः ईसा की दूसरी सदी तक निश्चित स्वरूप को प्राप्त हुआ होगा। मनु के बाद दूसरे प्रसिद्ध स्मृतिकार

याज्ञवल्क्य (३००-४०० ई०) हैं, जो गुप्तों के समसामयिक हैं। इनके बाद नारद, विष्णु, वशिष्ठ, भृगु, अत्रि आदि अनेकों ऋषियों के नाम से स्मृतियाँ चल पड़ी हैं। स्मृतियों की संख्या मोटे तौर पर १८ मानी जाती है। स्मृतियों में कई विषयों में मतभेद भी मिलता है, जो तत्तत् काल की प्रथा का सङ्केत कर सकता है। स्मृतियों के प्रणयन ने भारतीय समाज को शास्त्रीय नियमों में जकड़ दिया। पुरातन प्रियता ने स्मृतियों के द्वारा निर्दिष्ट धर्म का अनुसरण करना आदर्श माना; राजा और प्रजा के लिए धर्मशास्त्र प्रमाण हो गये। ज्यों ज्यों धर्मशास्त्रों का प्रणयन समाज के निश्चित ढाँचे पर जोर देने लगा, त्यों त्यों समाज की व्यावहारिक स्वतन्त्रता का ह्रास होने लगा और डा० दासगुप्ता के ये शब्द निःसन्देह ठीक हैं कि 'यह सामाजिक जीवन को निश्चल बनाने का—ममी की तरह स्थिर बनाने का—प्रयत्न था, जिससे समस्त नूतनता, समस्त अभिनव चेतना लुप्त हो गई थी।' फलतः कवि को अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का प्रयोग करने का अवसर न रहा। यदि वह प्रतिभा का स्वतन्त्र प्रयोग कर इस निश्चित ढाँचे को कुछ भी झकझोरता, तो लोगों में धार्मिक वैरस्य पैदा होता। कवि को जीवन के अभिनव प्रयोगों के प्रदर्शन करने का अवसर नहीं रहा। कालिदास जैसे भावुक 'रोमैंटिक' कवि को भी इन्हीं परिस्थितियों में प्रतिभा का प्रदर्शन करना पड़ा। उनके राजा आदर्श सम्राट् थे, स्वयं वर्णाश्रमधर्म के पालन करने वाले और प्रजा से पालन करवाने वाले, उनकी प्रजा मनु के द्वारा प्रणीत धर्म की लीक को छोड़कर इधर उधर चलने वाली न थी। रामायण तथा महाभारत का समाज इतना 'स्थिर' समाज न था, साथ ही बाद में भी भास या शूद्रक (?) जैसे उन कवियों में, जिन पर यह 'सामाजिक पैटर्न' इतना हावी नहीं दिखाई देता, हमें जीवन की यथार्थता के अधिक प्रदर्शन होते हैं। सामाजिक जीवन की कृत्रिमता के साथ ही काव्य भी कृत्रिम बन बैठा। कालिदास का समय वह है जब यह स्वतन्त्रता पूरी तरह समाप्त न हुई थी, पर किसी तरह

कृत्रिम वातावरण की सृष्टि हो चुकी थी। कालिदास के 'रघुवंश' व 'शाकुन्तल' का वर्णाश्रम धर्म इसका सङ्केत दे सकता है। कालिदास के पूर्व प्रेम-स्वातन्त्र्य का अवकाश था, गान्धर्व विवाह की प्रथा प्रचलित थी, पर कालिदास के समय में ही गान्धर्व विवाह को कुछ हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था और कालिदास को स्वयं इसका सङ्केत 'शाकुन्तल' में देना पड़ा है।········कालिदास निश्चित रूप में 'रोमैंटिक' कवि थे, किन्तु प्रणय-स्वातन्त्र्य का प्रकाशन स्मृतिकारों के बन्धनों से जकड़ दिया गया था। यही कारण है उन्हें नाटकों और महाकाव्यों में प्रणय का स्मृतिसम्मतरूप ही लेना पड़ा। मालविकाग्निमित्र वाला प्रणय राजप्रासादों में प्रचलित बहुपत्नी प्रथा के अनुकूल है; पर विक्रमोर्वशीय में उन्हें उर्वशी की अप्सरावाली कथा चुननी पड़ी, जिससे उर्वशी का सामान्यत्व स्मृतिविरोधी न दिखाई पड़े। शकुन्तला को 'क्षत्रपरिग्रहक्षमा' बनाकर कालिदास ने वर्णव्यवस्था पर जैसे मुहर लगा दी है। किन्तु कवि की भावुक वृत्ति सामाजिक 'ढाँचे' की कृत्रिमता से उकता गई, वह उचित परीवाह मार्ग के लिए तड़प उठी और मुक्तक कविता के स्रोत को पाकर निर्बाध गति से निकल पड़ी। कालिदास का मेघदूत इसी वृत्ति का परिचायक है। मेघदूत में अत्यधिक ऐन्द्रिय चित्रों का प्रदर्शन भी सम्भवतः इसी रेचन-क्रिया का सङ्केत करता है। कवि की स्वयं की भावात्मक स्वच्छन्दता के कारण मुक्तक काव्य फिर भी विशेष मार्मिक बन पड़े और आगे जाकर महाकाव्यों तक ने मुक्तक काव्यों के इस गुण को लेना चाहा, पर शैली की कृत्रिमता और भावों के बनावटीपन के कारण वे इन चित्रों के साथ ईमानदारी न बरत पाये।

(२) **नागरिक जीवन**:—हम इस बात का सङ्केत दे चुके हैं कि संस्कृत साहित्य नागरिक जीवन का साहित्य है। यदि हम प्राचीन भारत के सभ्य नागरिक के जीवन को अपना दृश्यविन्दु बनायँगे, तो पता चलेगा कि संस्कृत के काव्यों और नाटकों में उसी जीवन का

प्रदर्शन मिलता है। संस्कृत साहित्य का नागरिक अत्यधिक समृद्ध तथा विलासी जीवन व्यतीत करता है। उसका निवासस्थान एक छोटे से तालाब और निष्कुट से सुशोभित है। उसका घर विशाल है, वह दो भागों में विभक्त है, अन्तर्भाग स्त्रियों के लिए है। वह कपोत-पालिका, वितर्दिका, हर्म्यपृष्ठ आदि से सम्पन्न है। उसका शयनकक्ष दुग्धफेनधवल शय्या से सुसज्जित है, वह पुष्पमाला, सुगन्धद्रव्य, चन्दन, कर्पूर आदि की सुरभि में आप्लावित है, वहीं एक ओर वीणा टँगी है। वितर्दिका पर कई पिंजड़ों में शुक, सारिका, कपोत, चकोर आदि पक्षी चहचहाते रहते हैं और कभी–कभी पुरकामिनियों के 'मणित' में 'अन्तेवासित्व' प्राप्त किया करते हैं। नागरिक के निवासस्थान की यह झलक मेघदूत के यक्ष के निवासस्थान में, माघ के द्वारिका वर्णन (तृतीय सर्ग) में तथा मृच्छकटिक के चारुदत्त और वसन्तसेना के घरों के वर्णन में देखी जा सकती है, जो कुछ काल्पनिक होते हुए भी उस काल के नागरिक जीवन का सङ्केत देने में समर्थ हैं। नागरिक का जीवन सङ्गीत, साहित्य, चित्रकला, नृत्यकला और प्रकृतिनिरीक्षण की कलात्मकता से समवेत है। मृच्छकटिक का चारुदत्त दरिद्र होने पर भी आज के उच्च मध्यवर्ग नागरिक से कहीं अधिक रसिक व विलासी है, वह रेभिल के घर पर सङ्गीतगोष्ठियों में सम्मिलित होता है, स्वयं वीणावादन में कुशल है। स्त्रियाँ सङ्गीत, काव्य, नृत्य तथा चित्र में प्रवीण होती थीं। संस्कृत के विकासकाल का नागरिक समाज कामसूत्र की रचना के पूर्व ही निश्चित साँचे में ढल चुका था। वात्स्यायन के कामसूत्र की तिथि के विषय में निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। सम्भवतः कामसूत्र ईसा की दूसरी शती से पूर्व की रचना है। कालिदास को कामसूत्र का अच्छा ज्ञान था और ह्रासोन्मुख काल के काव्यों के लिए कामसूत्र मुख्य पथप्रदर्शक बन बैठा है।

कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के चतुर्थ अध्याय में वात्स्यायन ने नागरक-

वृत्त का विस्तार से उल्लेख किया है। नागरक के निवासस्थान की उपर्युक्त विशेषताएँ 'नागरकवृत्तप्रकरण' में स्पष्टतः निर्दिष्ट हैं।[1] इसी प्रकरण में नागरक की दैनंदिन चर्या का भी सङ्केत मिलता है। प्रातःकाल उठकर वह नित्यकर्म से निवृत्त हो, दतौन-स्नान आदि करे, तब धूप, माला आदि से सुसज्जित होकर, दर्पण में मुख देख कर, ताम्बूल का बीड़ा लेकर, अन्य कार्य करे। उसे प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, हर दूसरे दिन मालिश करे, हर तीसरे दिन फेन का प्रयोग करे, हर चौथे दिन क्षौरकर्म (आयुष्य) करे, तथा हर पाँचवे या दसवें दिन प्रत्यायुष्य कर्म करे। पूर्वापराह्ण तथा अपराह्ण में भोजन करे। भोजन के बाद शुक, सारिका आदि को खिलाये, या लावक, कुक्कुट, मेष आदि की लड़ाई देखे, पीठमर्द, विट विदूषक आदि के साथ हँसी-मजाक करे और दिन में कुछ विश्राम करे। अपराह्ण में फिर गोष्ठी विचार करे, मित्रों के साथ क्रीडादि या काव्यशास्त्रविनोद करे। रात्रि में घर को धूपादि सुगन्धित द्रव्यों से सजा कर शय्या पर अभिसारिकाओं की प्रतीक्षा करे, उनके पास दूतियों को भेजे, या स्वयं जाय। उनके आने पर मनोहर आलाप, मण्डनादि से उन्हें परितुष्ट करे।[2] प्रणय-व्यापार में उसके सहायक सखियाँ, वृद्धस्त्रियाँ, दासियाँ, विदूषक आदि होते हैं।

वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है कि नागरक के लिए वेश्या-

---

१. तत्र भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिकावद्विभक्तकर्मकक्षं द्विवासगृहं कारयेत्। (१.४.४)

वासे च वासगृहे सुश्लक्ष्णमुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात्, प्रतिशय्यिका च ॥ (१.४.५)

नागदन्तावसक्ता वीणा, चित्रफलकं वर्तिकासमुद्गको, यः कश्चित्पुस्तकः कुरण्टकमाला च ॥ (१.४.१०)

तत्र बहिः क्रीडाशकुनिपञ्जराणि। (१.४.१३)—(वात्स्यायनः कामसूत्र)

२. दे० कामसूत्र. (१.४.१६-२६)

गमन बुरा नहीं समझा जाता था। उपर्युक्त अध्याय के ही ३४ वें सूत्र से ४८ वें सूत्र तक वात्स्यायन ने उसी का सङ्केत किया है। वेश्या-प्रणयी के इस कार्य में भिक्षुणियाँ, कलाविदग्धा मुण्डाएँ, पुंश्चलियाँ, कुट्टनियाँ, (वृद्ध गणिकाएँ) सहायता करती हैं। संस्कृत के ह्रासोन्मुख काल में एक वेश्या-सम्बन्धी काव्य भी लिखा गया था। दसवीं सदी में काश्मीर के एक कवि दामोदरगुप्त ने 'कुट्टिनीमत' में वात्स्यायन के इन्हीं सिद्धान्तों को काव्य का व्यावहारिक रूप दिया है। वात्स्यायन ने 'काम' को जीवन के लक्ष्यभूत त्रिवर्गों में प्रधान स्थान दिया है और यद्यपि पारदारिक तथा वैशिक कर्म धर्मव्यवस्था की नैतिक दृष्टि से हेय हैं, तथापि वात्स्यायन ने पञ्चम तथा षष्ठ अधिकरण में इनका विस्तार से वर्णन किया है। कहना न होगा कि वात्स्यायन के पारदारिक तथा वैशिक कर्म का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। यद्यपि महाकाव्यों व नाटकों में पारदारिक तथा वैशिक कर्म का प्रकाशन न किया जा सका—जिसका कारण शास्त्रीय बन्धन था—तथापि प्रकरण व भाण में वैशिक कर्म को सम्मिलित किया गया और मुक्तक काव्यों में पारदारिक प्रणय का चित्रण धडल्ले से चल पड़ा।[1] इसी प्रवृत्ति का प्रभाव गीतगोविन्दकार जयदेव में पड़ा है। महाकाव्यों ने भी पारदारिक तथा वैशिक प्रणय को प्रस्तुत के रूप में न लेकर अप्रस्तुत-विधान के लिए ले

१. मुक्तक काव्यों में इस प्रवृत्ति का शास्त्रीय स्रोत वात्स्यायन है, किन्तु साहित्यिक स्रोत हाल की सतसई को मानना ठीक होगा। हाल की 'गाहा'-ओं में कई पारदारिक प्रणय के चित्र मिलेंगे—यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्णे।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥

संस्कृत में पारदारिक प्रणय का चित्र इतना चल पड़ा कि कवि स्वयंदूतीकर्म, चौर्यरतादि का चित्रण खुले आम करने लगे। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने

लिया, वे प्रकृतिचित्रण में पारदारिक तथा वैशिक प्रणय का अप्रस्तुत-विधान करने लगे, जो माघ तथा श्रीहर्ष में देखा जा सकता है और इसका सङ्केत हमने शृङ्गारी अप्रस्तुत-विधान में किया है, जो तत्तत् कवि के परिशीलन में मिलेगा। आगे जाकर पारदारिक प्रणय की इसी प्रवृत्ति को भक्ति की चाशनी में पाग कर 'मधुर' बना दिया गया और कृष्णभक्त कवियों के 'माधुर्य रस' को पिघलने का निर्बाध क्षेत्र मिल गया।

वात्स्यायन का प्रभाव यहीं नहीं रुका, कवियों ने उनके साम्प्रयोगिक अधिकरण (दूसरा अधिकार) को भी काव्य का आदर्श बनाया। साम्प्रयोगिक कर्मों का काव्य में कभी व्यङ्ग्यरूप में और कभी २ वाच्यरूप में भी प्रयोग होने लगा। कालिदास ने स्वयं साम्प्रयोगिक कर्मों का वर्णन किया है, पर कालिदास उनमें व्यञ्जनावृत्ति का ही प्रयोग अधिक करते हैं। माघ ने इस वृत्ति को इतना बढ़ाया कि उसका शृङ्गारवर्णन कई जगह साम्प्रयोगिक कर्मभेदों को ध्यान में रख कर लिखा गया प्रतीत होता है। श्रीहर्ष में ये साम्प्रयोगिक चित्र और अधिक उच्छृङ्खल हो उठे। मुक्तकों में अमरुक ने भी खण्डिता, या परोपभोगचिह्निता के चित्रों के द्वारा इसकी व्यञ्जना की, जिसे जयदेव ने और आगे बढ़ाया। संस्कृत के साम्प्रयोगिक शृङ्गारी काव्य-चित्रों का प्रभाव ही हिन्दी की रीतिकालीन कविता में आकर बिहारी या

संस्कृत मुक्तकों की यही विरासत पाई। संस्कृत मुक्तक के पारदारिक प्रणय का एक प्रसिद्ध चित्र यह है:—

> दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन् गृहे दास्यसि
> प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
> एकान्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
> नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः॥

अन्य कवियों की 'झणझणायित किङ्किणी' और 'मूक मञ्जीरों' के द्वारा व्यञ्जित किया जाने लगा।

(३) दार्शनिक चिन्तन—उपनिषद्काल और सूत्रकाल के दार्शनिक का प्रौढ चिन्तन प्रौढतर हुआ। दार्शनिकों ने ऐहिक और पारमार्थिक तत्त्वों का विश्लेषण करना चाहा, भौतिक और आध्यात्मिक पहेलियों को सुलझाना चाहा। दार्शनिक विचारों में प्रथम प्रौढतर विचार कपिल के सांख्यसूत्रों में मिलते हैं। सांख्य दर्शन का चिन्तन सभी भारतीय दर्शनों में पुराना है। यद्यपि ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व, सम्भवतः ५००-६०० वर्ष पूर्व, अनेक दार्शनिक शाखाप्रशाखायें सूत्ररूपों में चल निकली थीं, पर सांख्यदर्शन ने विशेष मान्यता प्राप्त की थी। सांख्य तथा मीमांसा ये दोनों दर्शन विशेष आदृत हुए, सांख्य भौतिक कार्यकारणवाद की दृष्टि से, मीमांसा वैदिक कर्मकाण्डीय पद्धति की दृष्टि से। सांख्य का आरम्भिक चिन्तन वैदिक होते हुए भी अनीश्वरवादी था। पुरुषबहुत्व को मानने पर भी उसने 'परमपुरुष' जैसी सत्ता नहीं मानी थी। सांख्य की ही कार्यकारणवादी सरणि को लेकर एक और दर्शन आया, जिसने साधना के व्यावहारिकपक्ष पर, साथ ही परमपुरुष जैसी अलग सत्ता पर जोर दिया। यह दर्शन योग था। सांख्य तथा योग का तत्त्वज्ञानसम्बन्धी भेद इस नवीन तत्त्व 'ईश्वर' की कल्पना था। यही कारण है, योग को दार्शनिकों ने 'सेश्वर सांख्य' भी कहा है। कालिदास के समय तक सांख्य तथा योगदर्शन में ही अभिजात वर्ग की दार्शनिक मान्यता थी। मीमांसा को भी आदर प्राप्त था। माघ पर मीमांसा और सांख्य दोनों का प्रभाव है। इसी बीच बौद्धों का अनीश्वरवादी अवैदिक दर्शन भी पल्लवित हुआ था और नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे व्यक्तियों को पाकर वह गम्भीर चिन्तन का क्षेत्र बन बैठा था। माघ ने बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का

भी संकेत किया है[1], जो विद्वानों पर बौद्ध चिन्तन का प्रभाव है। आगे जाकर तो बौद्धों ने वैदिक दर्शन के चरम परिपाक को आविर्भूत करने में भी हाथ बँटाया है।

ईसा की सातवीं तथा आठवीं शती ने दो प्रबल व्यक्तित्वों को पैदा किया, जिन्होंने पौराणिक ब्राह्मणधर्म के चिन्तन पक्ष को प्रौढ बनाने में बहुत बड़ा काम किया है—कुमारिल भट्ट तथा शङ्कर। कुमारिल ने मीमांसाशास्त्र को गम्भीर चिन्तन दिया। उन्होंने तन्त्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक के द्वारा जैमिनि तथा शबर की दार्शनिक उद्भावनाओं को ठोस चिन्तन दिया और वैदिक कर्मकाण्डीय पद्धति को विशेष प्रौढ भित्ति दी, जिसने अभिजात वर्ग पर गहरा प्रभाव डाला। मीमांसकों तथा बौद्धों का शास्त्रयुद्ध फिर भी चलता रहा और शङ्कर ने बौद्धों के ही अस्त्र को लेकर तर्क, युक्ति तथा चिन्तन के द्वारा बौद्धों के क्षणिकवाद तथा 'चेतना-प्रवाह' के सिद्धान्त का खण्डन किया। शङ्कर निःसन्देह माध्यमिकों के शून्यवाद से प्रभावित थे। माध्यमिकों का चतुष्कोटिविनिर्मुक्त 'शून्य' ही शङ्कर के चतुष्कोटिविनिर्मुक्त 'ब्रह्म' की कल्पना को जन्म दे सका। फिर भी शङ्कर ने श्रुतियों तथा उपनिषदों की परम्परागत चिन्तनसम्पत्ति को आधार बनाकर जिस मेधापूर्ण दर्शन की नींव डाली, वह उच्चवर्ग के समाज पर, राजाओं और पण्डितों पर, स्थायी प्रभाव डाल गया। शङ्कर के बाद का संस्कृत साहित्य उनके दार्शनिक चिन्तन से प्रभावित है। श्रीहर्ष पर यह प्रभाव पूरी तरह देखा जा सकता है। वैसे विद्वानों पर बाद में जाकर न्याय-वैशेषिक का भी प्रभाव पड़ा, पर वह नहीं के बराबर है। न्याय की वाद-शैली का प्रभाव विशेषतः शास्त्रीय

---

१. सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगातानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्री महीभृताम्॥ (माघ. २. २८.)

ग्रन्थों पर पड़ा और साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ भी इस लपेट से न बच सके, पर वह यहाँ अप्रस्तुत विषय है।

विश्व के रहस्यात्मक कार्यकारणवाद से सम्बद्ध क्षेत्र के अतिरिक्त भारतीय दार्शनिक ने राजनीतिक चिन्तन को भी जन्म दिया है और भारत का महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य था। यह दूसरी बात है कि आज का गणतन्त्रवादी चिन्तक चाणक्य के राजनीतिक विचारों से सहमत न हो, पर चाणक्य का महत्त्व उस युग की सामाजिक दशा को देखते हुए कम नहीं है। चाणक्य का राजनीति-चिन्तन ही आगे जाकर शुक्रनीति या कामन्दीय नीतिसार जैसे राजनीति ग्रन्थों का आदर्श और भारतीय साम्राज्यवाद की आधारशिला बना। संस्कृत साहित्य के कवियों पर इस तत्त्वज्ञान और राजनीतिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

(४) कलात्मक मान्यता—कलात्मक सृष्टि में कवि या कलाकार दो वस्तुओं को काम में लेते हैं; एक कवि या कलाकार की मनोरागात्मक सामग्री, दूसरा वह ढाँचा या 'साँचा' जिसमें गढ़ कर वह अपने दिल के मसाले को भावुक सहृदय के समक्ष रखता है। प्रथम वस्तु कलासृष्टि का उपादान कारण है, दूसरी निमित्त कारण। उपादान कारण के बिना कलासृष्टि का उद्भव ही नहीं हो सकता, किन्तु जैसा सोना होगा, वैसा ही भूषण बन सकेगा, चाहे साँचा कैसा ही हो। भावात्मक उपादान की शुद्धता-अशुद्धता भूषण के खरे-खोटेपन को स्पष्ट कर देगी। गहने रोल्डगोल्ड के भी बनते हैं और साँचे की कलात्मकता, नक्काशी की सुन्दरता और पालिश की तड़क-भड़क से बाजी भी मार ले जाते हैं। पर पारखी के हाथ में आने पर वे उसे धोखा नहीं दे सकते। यही कारण है, कुशल कलाकार सोने की शुद्धता के साथ बाहरी ढाँचे की मनोहारिता भी रखता है, पर नक्काशी की ओर इतना अधिक मोह इसलिए

नहीं करता, कि अधिक टाँका लगाने से कहीं सोने की स्वाभाविकता कलुषित न हो जाय। वह नक्काशी करता है, पर जरूरत के मुताबिक। कवि का सच्चा व्यक्तित्व, सच्ची सफलता व्यङ्ग्य (भाव) तथा अभिव्यञ्जना (कल्पना) के सन्तुलन ही में है। कालिदास की कलात्मक मान्यता यही है। उसे अभिव्यङ्ग्य का खरापन पसन्द है, पर इसका मतलब यह नहीं कि वह अभिव्यञ्जना की अवहेलना करता है। वह अपनी कविता-शकुन्तला के वल्कल को भी इस सलीके से सजाता है कि वह बनारसी साड़ी को भी मात कर दे। कालिदास में रस और अलङ्कार का अपूर्व मणिकाञ्चनसंयोग मिलता है, जो अन्य कवियों में इसी मात्रा में अनुपलब्ध नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है।

कालिदास के समय का कलाशास्त्रीय मत किसी आचार्य में नहीं मिलता, पर भामह (छठी सदी ई०) का कलाशास्त्रीय मत कालिदास से कुछ प्रभावित जान पड़ता है। भामह काव्य की कृत्रिम शैली को पसन्द नहीं करता, वह प्रसाद गुण वाली शैली को ओजोमिश्रित शैली से अधिक मान्यता देता है। किन्तु यह भी निश्चित है कि भामह के पूर्व ही कृत्रिम काव्यशैली चल पड़ी थी। भामह ने इन विभिन्न शैलियों का उल्लेख कर उस शैली को काव्य का वास्तविक गुण बताया है, जिसमें समासान्त पदावली न हो, जिसे स्त्री-बाल भी समझ सकें और जो माधुर्य गुण से समवेत हो—

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते॥
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्॥

(भामह काव्यालङ्कार २. १-३)

भामह ने साफ कहा है, श्रव्यकाव्य मधुर, प्रसादयुक्त तथा 'नातिसमस्तार्थ' हो। भामह के द्वारा निर्दिष्ट ऋजु पद्धति पर चलना आगे के कवियों को पसन्द न आया, उन्हें तो माघ के 'वल्गाविभागकुशल' अश्वारोही की तरह काव्य-तुरङ्ग को अनेकों वीथियों में चलाने की सक्षम चतुरता[1] का परिचय देना था। पर भामह ने स्वभावोक्ति की अपेक्षा वक्रोक्ति पर अवश्य जोर दिया था और उसे समस्त अलङ्कारों का मूल माना था।[2] भामह का विशेष जोर शब्दालङ्कार पर न होते हुए भी अर्थालङ्कार पर था, इसे भूलना न होगा। कालिदास के बाद वक्रोक्ति काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य बन बैठी, अभिव्यञ्जनापक्ष की महत्ता अधिक बढ़ी, कहने के ढंग पर जोर दिया जाने लगा और भर्तृमेण्ठ (हयग्रीववध के कवि) के महावत ने वक्रोक्ति के अङ्कुश से कई कवि-करियों के मस्तक को हिलवा दिया।[3] आगे जाकर तो यह वक्रोक्ति कलात्मक कसौटी बन गई और कुन्तक ने अभिव्यङ्ग्य तक को वक्रोक्ति का एक भेद सिद्ध किया।

कलाशास्त्रियों ने दृश्य काव्य में अभिव्यङ्ग्य को स्थान दिया, किन्तु श्रव्यकाव्य में अभिव्यञ्जनापक्ष पर ही अधिक जोर दिया जाने लगा, अभिव्यङ्ग्य की महत्ता वहाँ गौण रही। ध्वनिवादियों ने ही सर्वप्रथम अभिव्यङ्ग्य तथा अभिव्यञ्जना का सन्तुलन किया। उन्होंने अभिव्यङ्ग्य की सचाई और ईमानदारी को ही काव्य का सच्चा लावण्य घोषित किया और

---

१. सिद्धं मुखे नवसु वीथिसु कश्चिदश्वं वल्गाविभागकुशलो गमयाम्बभूव ॥
(माघ. ५. ६०.)

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यो कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ (भामह. २. ३६)

३. वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः ॥

अलङ्कार तथा वस्तु के अभिव्यञ्जना पक्ष की सुन्दरता को रस-लावण्य का ही उपस्कारक माना। ध्वनिकार के इस कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने ठोस चिन्तन की आधार शिला दी। कवियों पर ध्वनिसम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रभाव जरूर पड़ा, किन्तु कवियों को पाण्डित्यप्रदर्शन ने इतना दबोच लिया था, कि उसको हटाना मुश्किल था। श्रीहर्ष स्वयं ध्वनिवादी सिद्धान्तों से प्रभावित जान पड़ते हैं, पर उनकी विदग्ध कविता-कामिनी ने अपनी उक्तियों के द्वारा अभिनवगुप्त के वास्तविक लावण्य 'रस' की व्यञ्जना कम कराकर अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि की ही व्यञ्जना अधिक कराई है (विजृम्भितं तस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः)। ध्वनिवाद का वह मार्ग जिसमें भावना (रसध्वनि) तथा कल्पना (वस्त्वलङ्कारध्वनि), अभिव्यङ्ग्य और अभिव्यञ्जना का सन्तुलन था, आदर्श ही बना रहा, कवि उसे यथार्थ जीवन का मार्ग न बना पाये। पर इतना होते हुए भी आगे आने वाली पीढ़ी का सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण वही माना गया और हमने भी कवियों के इस परिशीलन में उस मार्ग की उपयोगिता स्वीकार की है।

संस्कृत के काव्यास्वाद पर दो बातें

संस्कृत काव्यों के अध्ययन में कई कठिनाइयाँ ऐसी हैं, जिनका सामना किये बिना संस्कृत काव्यों का वास्तविक आस्वाद नहीं हो सकेगा। अश्वघोष, भास, कालिदास या शूद्रक के अतिरिक्त अन्य कवियों को समझने के लिए संस्कृत भाषा का प्रौढ़ ज्ञान अपेक्षित है। केवल भाषा ही नहीं, पौराणिक कथाएँ, संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त छन्द और अलङ्कार और कभी-कभी भारतीय दार्शनिक चिन्तन के आवश्यक ज्ञान के बिना भी आगे बढ़ना कठिन होगा। वेबर को बाण की शैली में एक ऐसा सुन्दर जंगल दिखाई

पड़ा था, जहाँ बीच बीच में नये शब्दों और समस्त पदों के भीषण हिंस्रक जन्तु आकर अनधिकारी को 'नो एडमिशन, विदाउट परमिशन' (बिना इजाजत के अन्दर न जाओ) की तर्जना देकर दरवाजे से ही बाहर खदेड़ देते हैं। कभी-कभी तो अभ्यस्त तथा व्युत्पन्न सहृदय को भी टीकाकारों की शरण लिए बिना काम नहीं चलता। संस्कृत की परिवर्ती कविता उस समय के परिशीलन की चीज नहीं है, जब दिल भरा हो और दिमाग खाली हो, दिमाग का भरा होना इनके लिए जरूरी हो जाता है। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी कवि संस्कृत भाषा के पल्लवग्राहियों के लिए रसास्वाद की वस्तु नहीं रह सके। पर इतना होते हुए भी इस काल के साहित्य में अपनी कुछ विशेषताएँ अवश्य हैं। अभ्यस्त रसिक को चाहे इनमें भाव की अतीव उदात्त भूमि का दर्शन न हो, सङ्गीत की अपूर्व तान सुनाई पड़ती है। संस्कृत काव्य का सङ्गीत, यदि उसका पाठ ठीक ढंग से किया जाय तो असंस्कृतज्ञ को भी मनोमुग्ध बनाने में समर्थ है। संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शिखरिणी, प्रहर्षिणी, रुचिरा, वियोगिनी जैसे अनेकों छन्दों में स्वतः गति की ललितता और सङ्गीत की मधुरता है। माघ, भवभूति, श्रीहर्ष तथा जयदेव के परिशीलन में मैंने इस विन्दु पर सङ्केत किया है। संस्कृत साहित्य के प्रति मेरे आकर्षण का प्रमुख कारण काव्यों का सङ्गीत ही था। मैंने संस्कृत पद्यों को सङ्गीतात्मक शैली में पढ़ना, अपने कनिष्ठ पितृव्य से सीखा था। मैंने उन्हें प्रत्येक सायंकाल कालिदास, माघ, भवभूति और श्रीहर्ष के पद्य पढ़ते सुना है और उस पद्धति से स्वयं भी इन कवियों के सङ्गीत को पकड़ने का प्रयत्न किया है। पर संस्कृत कवियों का सङ्गीत विशाल है, प्रत्येक कवि का सङ्गीत अपने व्यक्तित्व को लिये है। कालिदास का सङ्गीत मधुर और कोमल है, माघ का गम्भीर और धीर, भवभूति का कहीं करुण तो कहीं प्रबल और उदात्त, एवं श्रीहर्ष और जयदेव का सङ्गीत एक ओर कुशल गायक के अनवरत अभ्यास (रियाज़) का संकेत

करता है, दूसरी ओर विलासिता में अधिक शराबोर है। काश, संस्कृत के कवियों के सङ्गीत का मूल्याङ्कन करने का कोई कलाकार साहस कर पाता।

संस्कृत साहित्य के काव्यास्वाद के विषय में दूसरी बात असंस्कृतज्ञ रसिकों के लिए भावानुवाद सम्बन्धी है। वैसे तो किसी भी भाषा के काव्य का अनुवाद अन्य भाषा में ठीक वही भाव और अभिव्यञ्जना लेकर नहीं आ सकता, पर संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में यह बात अधिक लागू होती है। संस्कृत के काव्यों का अनुवाद अन्य भाषाओं में तो करना दूर रहा, हिन्दी में भी करना टेढ़ी खीर है, इसका अनुभव हो सकता है। संस्कृत कविता के भावों को भाषानुवाद वाली शैली का आश्रय लेकर स्पष्ट किया जा सकता है, किन्तु कविता की लय और संगीतात्मक प्रवाह, पदलालित्य और शब्दसञ्चयन का अनुवाद नहीं किया जा सकता, जो काव्य की प्रभावोत्पादकता में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है; और संस्कृत की श्लिष्ट शैली के अनुवाद में भी वास्तविक प्रकृति या तो काव्यानुशीलकों के सामने रखी नहीं जा सकती और यदि रखने का प्रयत्न किया जायगा, तो अनुवाद की भाषा लड़खड़ाने लगेगी। मेरे सामने स्वयं संस्कृत कविता के अनुवाद के समय ये समस्यायें आई हैं।

इन बातों को ध्यान में रखने पर यह संकेत देना आवश्यक होगा कि संस्कृत काव्यों की सच्ची रमणीयता उन्हें मूलरूप में पढ़ने पर ही जानी जा सकेगी, अनुवादादि के द्वारा नहीं। क्योंकि डॉ० कीथ के शब्दों में, 'भारत के महान् कवियों ने व्युत्पन्न रसिकों के लिए काव्य निबद्ध किये हैं। वे अपने समय में पाण्डित्य के अधिपति थे, भाषा के प्रयोग में अभ्यस्त थे और, (अभिव्यञ्जना की) सूक्ष्मता के द्वारा: प्रभाव की सरलता के द्वारा नहीं; श्रोताओं को अनुरञ्जित करना चाहते थे। उनके पास अत्यधिक रमणीय भाषा शैली थी और विविध प्रभावोत्पादक छन्दों पर उनका पूर्ण अधिकार था'।

महाकवि

महाकवि अश्वघोष

भगवान् सुगत के जनकल्याणकारी विश्वधर्म का प्रचार राजा तथा प्रजा दोनों में हो चुका था। देवानां प्रिय प्रियदर्शी अशोक के द्वारा एक ओर इस धर्म का भारत से बाहर बृहत्तर भारत तथा एशिया में प्रसार किया गया, दूसरी ओर बौद्धधर्म के आधारभूत तथागत के वाक्यों का संरक्षण करने के लिए उसने बौद्ध भिक्षुओं की परिषत् बुलाई, जो इतिहास में तृतीय संगीति के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद हुई दो संगीतियों[1] के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का पुनः संशोधन व संरक्षण करने की चेष्टा की गई। भगवान् बुद्ध के वचनों तथा उनके जीवन, उपदेश और दर्शन से सम्बद्ध देश-भाषा (मागधी प्राकृत[2]) के बौद्ध साहित्य का सङ्कलन कर उन्हें विनय-पिटक, सुत्त-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक में संगृहीत किया गया, जो त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध हैं। बौद्धधर्म के प्रबल प्रचार में एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व काम करता है, जो किसी भी नये धर्म के अनुयायियों में पाया जाता है। जहाँ तक बौद्ध धर्मानुयायियों के धार्मिक उत्साह का प्रश्न है, इस दृष्टि से बौद्धों के धार्मिक उत्साह की-सी मनोवैज्ञानिक प्रकृति हम ईसाई धर्म के अनुयायियों में देखते हैं। जो कार्य ईसाई सन्तों ने भगवान् ईसा के दया, त्याग तथा विश्वप्रेम के सन्देश को जनता तक फैलाने में

---

१. प्रथम संगीत भगवान् के निर्वाण के कुछ ही दिनों बाद राजगृह (राजगह) में हुई थी, दूसरी बुद्धनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् वैसाली (वेसाली) में।

किया, ठीक वही कार्य उनसे कई शतियों पहले से भगवान् सुगत के त्यागी शिष्य भारत व पूर्व में कर रहे थे। जनता में प्रसार होने पर भी ईसाई तथा बौद्ध धर्म दोनों ही तेजी से तभी बढ़ सके, जब कि उन्हें राजाश्रय प्राप्त हुआ। बौद्धधर्म के प्रसार की गति तीव्रतर तभी हो सकी, जब अशोक ने भगवान् सुगत के पदचिह्नों पर चलना अपना लक्ष्य बनाया। ठीक इसी तरह ईसाई धर्म के प्रचार में रोमन बादशाह कॉन्स्टेन्टाइन का ईसाई धर्म का अङ्गीकार कर लेना महत्त्वपूर्ण कारण है। ईसाई धर्म की तरह बौद्धधर्म की उन्नति का दूसरा कारण दीनों के प्रति की गई करुणा तथा भ्रातृ-भाव था। बौद्धधर्म ने ब्राह्मण या वैदिक धर्मके अभिजात्य का पर्दा फाश कर, जाति-प्रथा, झूठे धार्मिक पाखण्ड आदि का आलवाल नष्ट कर, सब जातियों को अपनी छाती से लगाना तथा परम सुख व शान्ति देना स्वीकार किया। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म के उत्थान में उस काल की सामाजिक स्थिति भी बहुत कुछ सहायक हुई थी। पर वैदिक धर्म की विरोधिता करने पर भी बौद्ध धर्म वैदिक धर्म तथा पौराणिक ब्राह्मण प्रवृत्ति की जड़ें न हिला सका, इसके कई कारण हैं, जिनमें कुछ सामाजिक स्थितियाँ, कुछ पौराणिक धर्म के गुण तथा कुछ बौद्ध धर्म की निजी कमियाँ मानी जा सकती हैं।

प्रियदर्शी अशोक के बाद बौद्ध धर्म को जो प्रबल राजाश्रय मिला, वह कुशनवंश के प्रसिद्ध राजा कनिष्क का व्यक्तित्व था। कनिष्क ने अशोक के अधूरे काम को पूरा किया, उसने बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं को मध्यएशिया, चीनी तुर्किस्तान, कोरिया तथा चीन भेजा। यही नहीं, चीन के साथ स्थापित मैत्री तथा वैवाहिक सम्बन्ध ने भी कनिष्क के इस कार्य में बहुत बड़ी सहायता की। जहाँ अशोक भारत के दक्षिण लङ्का तथा सुदूर पूर्व ब्रह्मदेश, चम्पा, श्याम, यवद्वीप, सुवर्णद्वीप में बौद्धधर्म का प्रचार करने में अधिक सफल हुआ, वहाँ कनिष्क ने तथागत के जनधर्म

को मध्यएशिया में फैलाया तथा चीन में उसके संवर्द्धन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसने स्वयं बौद्ध भिक्षुओं, पण्डितों व दार्शनिकों की सभा बुलाकर बौद्ध धर्म के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा को प्रश्रय दिया और अश्वघोष जैसे महान् कवि, दार्शनिक तथा पण्डित के निरीक्षण में भगवान् बुद्ध के वचनों को ठोस दार्शनिक भित्ति देने में सहायता की। अशोक तथा कनिष्क के समय के बीच निश्चय ही ब्राह्मण धर्म बौद्धधर्म को पददलित करने के लिए अनेक प्रयत्न कर चुका होगा। किन्तु बौद्ध भिक्षुओं के पवित्र, त्यागपूर्ण तथा निश्छल चरित्र, बौद्धधर्म का भ्रातृभाव, विश्वप्रेम, करुणा का सिद्धान्त तथा बौद्धभिक्षुओं एवं अनुयायियों का अपने धर्म के प्रचारार्थ किया गया अदम्य उत्साह, बौद्ध धर्म की उन्नति उस समय तक करता ही रहा, जब तक बौद्ध भिक्षुओं का यह उत्साह समाप्त न हो सका तथा उनका चारित्रिक अधःपतन उनके नैतिक स्तर को न गिरा सका। फलतः इस काल में एक ओर बौद्ध धर्मानुयायी तथा दूसरी ओर ब्राह्मण पौराणिक धर्म के मानने वाले लोग भी इन दोनों के बीच की गहरी खाई पाटने की चेष्टा में रहे होंगे। पुराणों में भगवान् सुगत को विष्णु के २४ अवतारों की तालिका में एक स्थान देना इस प्रवृत्ति का एक पहलू है तथा महायान सम्प्रदाय में संस्कृत भाषा की प्रतिष्ठापना और ब्राह्मण धर्म की भाँति भगवान् बुद्ध की भक्तिमय (साकारोपासनात्मक ?) अर्चना इसी प्रवृत्ति का दूसरा पहलू। महाराज कनिष्क के समय में हमें इस प्रवृत्ति के बीज फूटते दिखाई देते हैं और इस प्रवृत्ति के अङ्कुरों में अश्वघोष का दार्शनिक तथा कवि एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है।

अश्वघोष का काल व जीवनवृत्त

संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम कवियों में अश्वघोष उन इने गिने व्यक्तियों में से हैं, जिनके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में अधिक मतभेद

नहीं। बौद्ध ग्रन्थों ने अश्वघोष के विषय में आवश्यक जानकारी को सुरक्षित रखा है और यही नहीं, अश्वघोष के ग्रन्थों को भी मूल तथा अनुवादरूप में सुरक्षित रखा है। यह दूसरी बात है, कि बौद्ध किंवदन्तियों के कारण कई ग्रन्थ, जो अश्वघोष की रचनाएँ नहीं, अश्वघोष के नाम पर प्रसिद्ध कर दिये गये हों तथा कुछ दूसरे समसामयिक बौद्ध व्यक्तित्वों को अश्वघोष के साथ घुला मिला दिया गया हो। पर इतना होने पर भी यह तो निश्चित-सा है कि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। चीन में सुरक्षित परम्परा के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के गुरु थे। कुछ लोगों के मतानुसार अश्वघोष ही महायान सम्प्रदाय तथा माध्यमिक शून्यवाद के मूल प्रवर्तक थे। पर इस विषय में विद्वानों के दो मत हैं। माध्यमिक शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन थे तथा यह महायान शाखा का दर्शन होने के कारण कुछ लोगों ने अश्वघोष को महायान सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक मानकर माध्यमिक शून्यवाद से भी सम्बद्ध कर दिया है। कुछ विद्वान् अश्वघोष को महायान सम्प्रदाय का अनुयायी मानने को भी तैयार नहीं तथा इनके मतानुसार महायान सम्प्रदाय का उदय अश्वघोष के समय तक न हुआ था तथा अश्वघोष के लगभग १०० वर्ष बाद का है। इस मत के मानने वाले विद्वान् प्रसिद्ध बौद्धदार्शनिक ग्रन्थ 'महायान-श्रद्धोत्पाद-संग्रह'[१] को अश्वघोष की कृति मानने के लिए तैयार नहीं। इस मत के प्रबल पोषकों में अध्यापक विंतरनित्स तथा तकाकुसु हैं। जब कि इस ग्रन्थ के चीनी अनुवाद के आधार पर आंग्ल अनुवाद के उपस्थापक प्रो० तीo सुजुकी के मतानुसार इस ग्रन्थ के रचयिता अश्वघोष ही थे। इस प्रकार अश्वघोष का महायान सम्प्रदाय के

---

१. यह मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसका परमार्थकृत चीनी अनुवाद उपलब्ध है, जिसके आधार पर इसके दो आंग्ल अनुवाद हुए है। एक जापानी विद्वान् तीo सुजुकी ने किया है, दूसरा रिचर्ड्ज ने।

विकास में एक महत्त्वपूर्ण योग रहा है, यह अनुमान अनुचित न होगा तथा इसकी पुष्टि अश्वघोष के काव्यों से भी हो जाती है।

अश्वघोष सुवर्णाक्षी के पुत्र थे तथा इनका जन्मस्थान साकेत (अयोध्या) था। ये आर्य, भदन्त, महापण्डित, महावादिन् तथा महाराज आदि विरुदों से अलंकृत थे। सौन्दरानन्द महाकाव्य की पुष्पिका तथा बुद्धचरित के अनुपलब्ध मूल के तिब्बती अनुवाद के आधार पर डॉ० जौन्स्टन कृत आंग्ल अनुवाद की पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि वे साकेतक थे तथा उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था।[1]

अश्वघोष निश्चितरूप से नागार्जुन से प्राचीन हैं तथा नागार्जुन का उल्लेख हमें जगय्यपेटस्तूप के लेख में मिलता है, जो उसके प्रशिष्य के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया है। इस स्तूप के लेख की तिथि ईसा की तीसरी शती मानी है तथा इसके आधार पर नागार्जुन की तिथि ईसा की दूसरी शती सिद्ध होती है। अश्वघोष नागार्जुन से लगभग दो पीढी पुराने होंगे तथा इस तरह उनका समय कनिष्क के राज्यकाल के समीप ही आता है। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष कनिष्क के समसामयिक थे तथा उनका काल ईसा की प्रथम शताब्दी है।

अश्वघोष के इस काल के विषय में अन्य अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। प्रथम; ईसा की पाँचवीं शती में बुद्धचरित का चीनी अनुवाद हो चुका था, अतः इससे पूर्व अश्वघोष का काव्य अत्यधिक लब्धप्रतिष्ठ हो चुका था। दूसरे, बुद्धचरित महाकाव्य का अन्तिम २८ वाँ

---

१. 'आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्वादिनः कृतिरियम्'। (सौन्दरानन्द, बिब्लोथिका इंडिका संस्करण १९३९। पृ० १२६)

सर्ग अशोक की संगीति का वर्णन करता है। फलतः अश्वघोष अशोक के पश्चाद्भावी थे। तीसरे, अश्वघोष तथा कालिदास की शैलियों की तुलना से पता चलता है कि अश्वघोष की कला कालिदास की कला की भूमि तैयार करती है। सम्भवतः कुछ लोग अश्वघोष को कालिदास का ऋणी मानना चाहें, किन्तु अश्वघोष में उपलब्ध आर्ष प्रयोग, (जो कालिदास में बहुत कम हैं, यों कहिये हैं ही नहीं) तथा अश्वघोष की कला के खुरदरे सौन्दर्य (रफ ब्यूटी) की अपेक्षा कालिदास का अत्यधिक स्निग्ध सौन्दर्य (पोलिश्ड ब्यूटी), अश्वघोष की प्राग्भाविता को पुष्ट करते हैं। चौथे, बौद्धपरम्परा के अनुसार महाकवि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। पाँचवें, अश्वघोषकृत शारिपुत्रप्रकरण के आधार पर प्रो० ल्यूडर्स ने यही कल्पना की है कि उसकी रचना कनिष्क या हुविष्क के समय हुई थी। छठे, मातृचेट की 'शतपञ्चाशिका' की शैली अश्वघोष की शैली से स्पष्टतः प्रभावित जान पड़ती है। डॉ० जौन्स्टन के मतानुसार मातृचेट कनिष्क का समकालीन था। सम्भवतः अश्वघोष तथा मातृचेट या तो समसामयिक थे, या इनमें एक आध पीढ़ी का ही अन्तर था।

रचनाएँ

महान् व्यक्तित्वों की पूजा या उनके प्रति आदरभाव प्रत्येक देश की विशेषता रही है। भारत इसके लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है और कभी कभी यह प्रवृत्ति इतनी अत्युक्तिपूर्ण हो जाती है, पुराने ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के साथ इतनी किंवदन्तियाँ जोड़ दी जाती हैं, कि सत्यता का सूर्य इस हिरण्मय पात्र से ढँक जाता है, बाहर की चमाचम भर रहती है, जो दर्शक को केवल अभिभूत कर रह जाती है। कालिदास के ऊपर इसी प्रवृत्ति की इतनी विशिष्ट कृपा हुई, कि विश्व की प्रथम श्रेणी के इस महाकवि की तिथि व जीवनवृत्त, पता नहीं कितनी तामसी परतों के नीचे दब गया और वह केवल अनुमान तथा कल्पना का ही विषय रह गया। हर्ष का विषय है,

अश्वघोष पर यह कृपा उस हद तक न हुई, पर वे भी इससे बच न पाये। अश्वघोष जैसे महान् दार्शनिक के नाम से कई बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ प्रसिद्ध हो गये, ठीक वैसे ही जैसे कालिदास के नाम से दो कौड़ी के चमत्कारी चित्रकाव्यों, ज्योतिः शास्त्र के प्रबन्ध आदि को घोषित किया जाने लगा। अश्वघोष की कृतियों का उल्लेख प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिङ्ग (७ वीं शती) ने किया है, तथा वह परम्परा आज भी चीन में सुरक्षित है। अश्वघोष के नाम से शुद्ध बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह', 'वज्रसूची', 'गण्डी-स्तोत्र-गाथा', तथा 'सूत्रालङ्कार' प्रसिद्ध हैं। पर ये चारों ग्रन्थ विवाद के विषय बने हुए हैं। 'महायान-श्रद्धोत्पादसंग्रह' स्वयं उपलब्ध नहीं है। इसका चीनी अनुवाद तथा उसके आधार पर रचित दो आंग्ल अनुवाद प्राप्य हैं। हम संकेत कर चुके हैं कि एक दल इसे अश्वघोष की कृति मानने से सहमत नहीं, दूसरा दल, जिसके मुख्य प्रतिनिधि प्रो० सुजुकी हैं, इसे निश्चितरूप से अश्वघोष की कृति मानते हैं। यह शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। इसके लिखने का कारण तत्काल में प्रचलित बौद्ध भिक्षुओं की दार्शनिक भ्रान्तियों का निराकरण करना है। हीनयानियों की त्रुटियों को देखकर अश्वघोष ने परमार्थ सत्य (तथता) को स्पष्ट करने के लिए इस दार्शनिक ग्रन्थ की रचना संस्कृत में की थी। इसी में सर्वप्रथम शून्यवादी विचारधारा का संकेत मिलता है, जो नागार्जुन की शून्यविवर्तवादी माध्यमिक शाखा का मूलाधार है। दूसरा ग्रन्थ है 'वज्रसूची' (हीरे की सुई), इस ग्रन्थ में ब्राह्मणधर्म के द्वारा मान्य वर्णव्यवस्था तथा जातिभेद की छीछालेदर की गई है। चीनी परम्परा ने इसे अश्वघोष की कृति नहीं माना है, पर किंवदंतियाँ इन्हें भी अश्वघोष से सम्बद्ध कर देती हैं। वज्रसूची का चीनी अनुवाद जो दसवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ था, इसे धर्मकीर्ति[1] की रचना मानता है,

---

१. धर्मकीर्ति (छठी शती) प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक तथा दार्शनिक थे। ये

जो ठीक जान पड़ता है। 'गण्डी-स्तोत्र-गाथा' २९ छन्दों की छोटी रचना है, जिसमें अधिकतर स्रग्धरा छन्द हैं। बहुमत इसे अश्वघोष की रचना नहीं मानता। 'सूत्रालङ्कार' के विषय में भी ऐसा ही मतभेद है। इसका चीनी अनुवाद जो ४०५ ई० में कुमारजीव ने किया था, इसे अश्वघोष की कृति घोषित करता है। प्रो० ल्यूडर्स इस मत के विरोधी हैं तथा इसी ग्रन्थ के मध्य एशिया में प्राप्त हस्तलेखों के आधार पर वे इसे अन्य बौद्ध विद्वान् कुमारलात की रचना मानते हैं।

महाकवि अश्वघोष की साहित्यिक रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में यह खींचातानी नहीं है। यह निश्चित है, कि बुद्धचरित, सौन्दरानन्द तथा शारिपुत्रप्रकरण (शारद्वतीपुत्रप्रकरण) तीनों सुवर्णाक्षी के पुत्र साकेतक महावादी आर्य भदन्त अश्वघोष की कृतियाँ हैं। इनमें प्रथम दो महाकाव्य हैं; तीसरी कृति प्रकरण कोटि का रूपक। शारिपुत्रप्रकरण की खण्डित प्रति की खोज प्रो० ल्यूडर्स ने मध्यएशिया-तुर्फान में की थी। इसी रूपक के साथ दो अन्य खण्डित नाटकों की उपलब्धि भी उन्हीं तालपत्रों में हुई है; जिनमें एक 'प्रबोधचन्द्रोदय' जैसा 'अन्यापदेशी' (एलेगोरिक) नाटक है, जहाँ कीर्ति, धृति आदि पात्र मूर्तरूप में आते हैं, दूसरा एक प्रकरण-सा नाटक है, जिसमें लफङ्गे, विट, विदूषक आदि का जमघट है। शारद्वतीपुत्रप्रकरण तथा इस नाटक को डॉ० कीथ ने 'गणिका-रूपक'

विज्ञानवादी थे, तथा इन्होंने न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति तथा वादन्याय की रचना की थी। अन्तिम तीन ग्रन्थ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से खोज निकाल कर प्रकाशित किये हैं। धर्मकीर्ति ब्राह्मणधर्म व्यवस्था के प्रबल विरोधी थे। इस सम्बन्ध में उनका यह पद्य प्रसिद्ध है:—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नानेधर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च चिह्नानि जाड्ये॥

(हेटेरा ड्रामा) कहा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये दोनों भी अश्वघोष के ही किन्हीं नाटकों के अंश हैं।

१. बुद्धचरित

यह २८ सर्ग का महाकाव्य है, जिसमें भगवान् बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धान्तों का काव्य के बहाने वर्णन है। धर्मक्षेम नामक भारतीय विद्वान् (४१४–२१ ई०) के द्वारा किये गये इस काव्य के चीनी अनुवाद में तथा सातवीं आठवीं शती में किये गये तिब्बती अनुवाद में इसके २८ सर्ग हैं। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने भी काव्य को बृहदाकार बताया है। पर संस्कृत काव्य में केवल १७ सर्ग हैं, जिनमें अन्तिम चार सर्ग १९ वीं शती के प्रारम्भ में अमृतानन्द द्वारा जोड़े गये हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त ग्रन्थ चौदहवें सर्ग के मध्य तक ही रह जाता है तथा प्रथम सर्ग भी पूरा नहीं मिलता। काव्य के प्रथम पाँच सर्गों में जन्म से लेकर अभिनिष्क्रमण तक की कथा है। इसमें अन्तःपुरविहार, (२ सर्ग), संवेगोत्पत्ति (३ सर्ग), स्त्रीनिवारण (४ सर्ग) तथा अभिनिष्क्रमण वाला पञ्चम सर्ग काव्य-कला की दृष्टि से अत्यधिक सुन्दर है। छठे तथा सातवें सर्ग में कुमार का तपोवन-प्रवेश है, अष्टम में अन्तःपुर का विलाप, नवम में कुमार के अन्वेषण का प्रयत्न, दशम सर्ग में गौतम का मगध जाना, एकादश में कामनिन्दा, द्वादश में महर्षि अराड के पास शान्ति-प्राप्ति के लिए जाना, त्रयोदश में मार-पराजय तथा चतुर्दश सर्ग के प्राप्त अंश में बुद्धत्व-प्राप्ति है। इसके बाद का अंश, जो डॉ० जौन्स्टन के आंग्ल अनुवाद से प्राप्त होता है, बुद्ध के शिष्यों, उपदेशों, सिद्धान्तों तथा निर्वाण का वर्णन और अशोक के काल तक के सङ्घ की स्थिति का चित्र है।

काव्य की दृष्टि से बुद्धचरित के प्रथम पाँच सर्ग, अष्टम सर्ग तथा त्रयोदश सर्ग के मारविजय का कुछ अंश सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण है। बाकी

सारा बुद्धचरित धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ-सा हो गया है और 'धार्मिक-नीतिवादी' (रिलिजिओ-पेडेगोगिक) अधिक बन गया है। यही कारण है, समग्र रूप में सौन्दरानन्द बुद्धचरित की अपेक्षा अधिक ललित तथा काव्यमय है, यद्यपि वह भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं है। किन्तु, बुद्धचरित में जो काव्य-कौशल मिलता है, वह अश्वघोष के कवित्व का परिचायक निःसन्देह है। अश्वघोष अन्तस् से कवि थे, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

२. सौन्दरानन्द

यह १८ सर्गों का महाकाव्य है। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में प्राप्त दो हस्तलेखों के आधार पर म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका प्रकाशन बिब्लिओथेका इंडिका में कराया है। सौन्दरानन्द में गौतम बुद्ध के विमातृज भाई नन्द तथा उसकी पत्नी सुन्दरी की कथा है। नन्द तथा सुन्दरी एक दूसरे के प्रति उसी तरह आसक्त हैं, जैसे चक्रवाक तथा चक्रवाकी।[1] एक के बिना दूसरे को चैन नहीं। नन्द तथा सुन्दरी के इस प्रेम की आधार-भूमि को लेकर नन्द की प्रव्रज्या का वर्णन कवि का अभीष्ट है। प्रथम तीन सर्गों में शाक्यों की वंशपरम्परा; सिद्धार्थ-जन्म; सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण तथा बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद कपिलवस्तु आने का बड़े सरसरे ढंग से, किन्तु ललित और काव्यमय वर्णन है। बुद्धचरित के पूर्वार्ध की कथा ही यहाँ संक्षेप में कही गई है। चतुर्थ सर्ग में नन्द तथा सुन्दरी के विहार का वर्णन है। विहार करते समय ही कोई दासी नन्द को आकर यह सूचना देती है कि बुद्ध भिक्षा के लिए उसके द्वार पर आये थे, पर भिक्षा न मिलने से चले गये। नन्द दुखी होकर क्षमा माँगने बुद्ध के पास जाना चाहता है। जाने के लिए वह सुन्दरी से विदा लेता है और सुन्दरी उसे इस शर्त पर छोड़ती है कि उसके विशेषक (चन्दनपत्रावली) के सूखने के पहले ही वह लौट

---

१. स चक्रवाक्येव हि चक्रवाकस्तया समेतः प्रियया प्रियार्हः ॥ (सौन्दरा० ४.२)

आवे। पञ्चम सर्ग में नन्द जाता है, मार्ग में बुद्ध को देख कर प्रणिपात करता है। बुद्ध उसके हाथ में भिक्षापात्र रख देते हैं। वे उसे ले जाकर धर्मदीक्षित कर भिक्षु बना देते हैं। अनिच्छुक नन्द के सिर के बाल घोट दिये जाते हैं और वह बेचारा टपाटप आँसू गिराता रहता है:—

अथो रुतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु।
वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवावभासे॥ (५.५२)

(बालों की बिदाई पर उस नन्द का आँसुओं से भरा रुआँसा मुँह इस तरह सुशोभित हुआ, जैसे तालाब में वर्षा के पानी से भींगा, टेढ़ी नाल वाला कोई कमल हो।)

षष्ठ सर्ग में सुन्दरी के विलाप का वर्णन है। सप्तम सर्ग में घर भागने की इच्छा वाले नन्द की चेष्टा, तथा अष्टम सर्ग में किसी श्रमण के द्वारा नन्द को दी गई शिक्षा का वर्णन है, जो नवें सर्ग तक चलता है। दशम सर्ग में इसका पता बुद्ध को लगता है तथा बुद्ध नन्द को बुलाकर उसे लेकर योग-विद्या से आकाश में उड़ जाते हैं। वे हिमालय के ऊपर निर्मल आकाश में; सरोवर में पंखों को फैलाकर तथा एक दूसरे से सटाकर विचरते हुए दो चक्रवाकों से दिखाई देते हैं।[1] बुद्ध हिमालय की तटी में एक पेड़ पर बैठी कानी बन्दरी को दिखा कर पूछते हैं, 'क्या सुन्दरी इससे अधिक सुन्दर है' नन्द 'हाँ' कहता है। तब वे उसे स्वर्ग की अप्सराएँ दिखाते हैं, जिन्हें देख कर नन्द सुन्दरी को भूल जाता है तथा उन्हें प्राप्त करने को लालायित हो जाता है। बुद्ध उसे बताते हैं कि उन्हें तपस्या करके प्राप्त किया जा सकता है। द्वादश सर्ग में कोई भिक्षु उसे उपदेश देता है कि अप्सरा के लिए

---

१. काषायवस्त्रौ कनकावदातौ विरेजतुस्तौ नभसि प्रसन्ने।
अन्योन्यसंश्लिष्टविकीर्णपक्षौ सरःप्रकीर्णाविव चक्रवाकौ॥ (सौन्दरा० १०.४)

तपस्या करने से नन्द की खिल्ली उड़ रही है। नन्द में ज्ञानोदय होता है। वह बुद्ध के पास जाता है। तेरहवें सर्ग से सोलहवें सर्ग तक बुद्ध का उपदेश तथा आर्यसत्य का वर्णन है। सप्तदश तथा अष्टादश सर्ग में परम शान्ति के लिए नन्द की तपस्या, मारजय तथा विगतमोहस्थिति का वर्णन है।[1] अन्त में दो पद्यों में कवि ने काव्य के लिखने के कारण का सङ्केत किया है।

२. शारिपुत्रप्रकरण

शारिपुत्रप्रकरण की खण्डित प्रति (जो० प्रो० ल्यूडर्स को तुर्फान में मिले तालपत्रों पर अङ्कित थी) से यह पता चलता है कि यह नौ अङ्कों का प्रकरण था। प्रकरण में मध्यवर्ग के जीवन के साथ लुच्चे, लफंगे, वेश्याएँ, चोर, जुआरी, शराबी आदि लोगों के समाज का चित्रण होता है, जिसका प्रौढरूप हमें शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' में उपलब्ध होता है। शारिपुत्र प्रकरण में मौद्गल्यायन तथा शारिपुत्र के बुद्ध के द्वारा शिष्य बनाये जाने की कथा है। इसमें विदूषक का प्रयोग है, जो दूसरे 'गणिका-रूपक' में भी है। पर इस प्रकरण की कथा शृङ्गार से शान्त की ओर बहती बतायी गयी है। दूसरा गणिका-रूपक वेश्या, विदूषक, ब्राह्मण (या वैश्य?) सोमदत्त नामक नायक, राजकुमार, दासी, दास, दुष्ट आदि से युक्त है। दोनों नाटकों में प्राकृत का प्रयोग है, जो डॉ० कीथ के मतानुसार साहित्यिक प्राकृत से पुरानी है।[2] शैली की दृष्टि से शारिपुत्रप्रकरण तथा

---

१. इत्यर्हतः परमकारुणिकस्य शास्तुः मूर्ध्ना वचश्च चरणौ च समं गृहीत्वा।
स्वस्थः प्रशान्तहृदयो विनिवृत्तकार्यः पार्श्वान्मुनेः प्रतिययौ विमदः करीव॥
(सौन्दरा० १८·६१)

२. दे० डॉ० कीथः संस्कृत ड्रामा० पृ० ८८
(१९५४ का लीथोग्राफिक संस्करण)

अन्य रूपकों की शैली बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द की शैली से मिलती है, जो सभी के एक ही कवि के कर्तृत्व का संकेत करती है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल ले सकते हैं।

'खे वर्षत्यम्बुधारं ज्वलति च युगपत् सन्ध्याम्बुद इव ॥'

(दूसरा गणिकारूपक)

जिस तरह साँझ का बादल एक ओर पानी बरसाता है तथा दूसरी ओर संध्याकालीन सूर्य की किरणों से प्रदीप्त होकर अग्नि की तरह प्रज्वलित दिखाई देता है, उसी तरह वह तेजस्वी तथा करुणार्द्र था। इसी से सौन्दरानन्द के इस स्थल की शैली तथा उपमा के प्रयोग को मिलाइये।

युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्च मेघवत् ।
तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः ॥

(सौन्दरा० ३.२४)

सन्ध्या के द्वारा प्रदीप्त मेघ की भाँति एक साथ अग्नि की तरह जलते हुए (देदीप्यमान), तथा मेघ की तरह जल बरसाते हुए, तपे सोने के समान कान्ति से युक्त वे सिद्धार्थ साँझ के बादल-से सुशोभित हो रहे थे।

अश्वघोष का व्यक्तित्व :—कवि या कलाकार अपनी कला की यवनिका के पीछे छिप कर अपने व्यक्तित्व की झलक बताता रहता है। विषयिप्रधान (Subjective) कृतियों में कलाकार का व्यक्तित्व साफ तौर पर सामने आता है, पर विषयप्रधान (Objective) कृतियों में भी कलाकार का व्यक्तित्व, उसकी रुचि, जीवन-सम्बन्धी मान्यता आदि का पता लग सकता है। यह दूसरी बात है कि विषयप्रधान काव्यों के कथाप्रवाह के कारण कहीं उसका व्यक्तित्व गौण बना दिखाई देता है, कहीं लुप्त या तिरोहित हो जाता है, किन्तु समग्र कृति के मध्य में उसकी तरलता ढूँढी जा सकती

धर्म के प्रति पूर्ण आदर रखते जान पड़ते हैं, जब कि दान्ते अपने आदरणीय कवि वर्जील को भी इसलिए नरक में चित्रित करते हैं, कि वह भगवान् ईसा के चरणचिह्नों पर नहीं चल सका था।

२. पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रति सहिष्णु

विद्वानों का कहना है, हीनयान शाखा के बौद्धों में अश्वघोष को पर्याप्त सम्मान न मिल सका। इसका कारण यह बताया जाता है कि अश्वघोष ने एक ओर अपने स्वतन्त्र विचारों को व्यक्त किया, दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म तथा पौराणिक साहित्य के प्रति वे अत्यधिक उन्मुख थे।[1] बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द के देखने से पता चलता है कि अश्वघोष को पौराणिक ब्राह्मण धर्म का गम्भीर ज्ञान था। ऐसा सुना जाता है, कि बौद्धधर्म को स्वीकार करने के पूर्व आर्य भदन्त अश्वघोष जाति से ब्राह्मण थे। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द में समय समय पर संकेतित पौराणिक आख्यानों, वृत्तों तथा घटनाओं, एवं बुद्धचरित के द्वादश सर्ग में निर्दिष्ट (सांख्य) दार्शनिक सिद्धान्तों (जो श्रीमद्भगवद्गीता के दार्शनिक मत से बहुत मिलते हैं) से अश्वघोष का ब्राह्मण धर्म, तथा दर्शन का गम्भीर ज्ञान प्रकट होता है। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द में पौराणिक उपाख्यानों का संकेत बुद्धचरित के प्रथम सर्ग (पद्य ४१-४५), चतुर्थ सर्ग (७२-८०), सौन्दरानन्द के सप्तम सर्ग (२६-४५) में स्थल के रूप में देखा जा सकता है, वैसे अनेकों पद्यों में राम-कथा, शिव-पार्वती-कथा, स्वर्ग, इन्द्र, देवता, अप्सराएँ आदि की पौराणिक मान्यता के विषय में संकेत मिल सकते हैं। जब छन्दक के साथ, बुद्ध वन को चले गये और बाद में केवल छन्दक व कन्थक (घोड़ा) ही लौट कर आये, तो सारी प्रजा ने उसी तरह आँसू गिराये, जैसे पहले राम के वन-गमन पर केवल राम के रथ के ही लौटने पर आँसू गिराये थे।

---

१. दासगुप्ताः हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७८.

मुमोच बाष्पं पथि नागरो जनः, पुरा रथे दाशरथेरिवागते ॥

(बु० च० ८. ८)

इसी प्रकार कवि के द्वारा शिवविजय की घटना का संकेत बुद्धचरित के तेरहवें सर्ग के १६ वें पद्य में मिलता है।

शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव ।

न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः ॥ (१३.१६)

'जिस बाण से विद्ध होकर महादेव भी पार्वती के प्रति चञ्चल हो उठे, उसी बाण की यह (सिद्धार्थ) पर्वाह नहीं कर रहा है ? क्या यही बिना चित्त वाला है, या यह बाण वह नहीं है—कोई दूसरा है ?'

यह निश्चित है, कि अश्वघोष के समय तक पुराणों का वर्तमान रूप पल्लवित हो चुका था, चाहे कलेवर की दृष्टि से नहीं, किन्तु पुराणों में वर्णित विषय व आख्यान पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। अश्वघोष के कुछ ही दिनों बाद या उसके आसपास की ही रचना वायुपुराण माना जाता है, जो सबसे प्राचीन पुराण है। वैसे रामायण तथा महाभारत अश्वघोष के काल तक इस रूप में आ चुके होंगे।

३. दार्शनिक मान्यता

अश्वघोष की दार्शनिक मान्यता निःसन्देह बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। वे स्वयं बौद्ध दार्शनिक थे। बुद्धचरित में तो अश्वघोष का दार्शनिक स्वर कुछ ऊपर भी उठ गया है। बारहवें सर्ग में अश्वघोष ने बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों को बीजरूप में उपन्यस्त किया है। यहीं पहले पूर्वपक्ष के रूप में (सांख्यों के) आस्तिक दर्शन को उपन्यस्त किया है, जिसके प्रति सिद्धार्थ की अभिरुचि नहीं होती। सिद्धार्थ के परमार्थ तथा शान्ति के विषय में पूछने पर मुनि अराड जो उपदेश देते हैं, वह सांख्यों का ही मत है :—

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥[१]

'हे प्रकृति के जानने वाले, पाँचों भूत, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त को प्रकृति समझो ।' पर अश्वघोष इस मत से सहमत नहीं हैं, वे आत्मा को अशरीर 'क्षेत्रज्ञ' मानने को तैयार नहीं, जो प्रकृति (क्षेत्र) का ज्ञाता है। वे कहते हैं कि शरीररहित क्षेत्रज्ञ जाननेवाला (ज्ञ) है या अज्ञ। यदि वह 'ज्ञ' है, तो इसके लिए ज्ञेय बचा रहता है और ज्ञेय रहने पर वह मुक्त नहीं है। यदि वह अज्ञ है, तो आत्मा की कल्पना की कोई जरूरत नहीं ? क्योंकि आत्मा के बिना भी अज्ञान (का अस्तित्व) काठ या दीवार की तरह सिद्ध है ही।[२]

बौद्धदर्शन दुःखवाद के लिए प्रसिद्ध है। बौद्ध दार्शनिक जन्म एवं जीवन को दुःख से समवेत मानता है। सौन्दरानन्द के सोलहवें सर्ग के आरम्भ में अश्वघोष ने दुःखवाद के इस सिद्धान्त को बड़ी स्वाभाविक तथा सरल शैली में लौकिक दृष्टान्तों को लेकर समझाया है। पवन सदा आकाश में निवास करता है, अग्नि सदा शमी (खेजड़े) के पेड़ में निवास करती है और जल पृथ्वी के अंतस्तल में रहता है। ठीक इसी तरह दुःख शरीर और चित्त में सदा रहता है। दुःख का शरीर व चित्त के साथ वही संबंध है, जो पवनादि का आकाशादि के साथ। जब तक शरीर व चित्त है, मानव दुःख ही पाता रहता है। मानवजीवन में दुःख की इतनी नियत स्थिति है कि, उसे शरीर और चित्त का स्वभाव, उसका अविच्छेद्य धर्म मानना होगा। जिस प्रकार पानी का स्वभाव (धर्म) द्रवत्व है, पृथ्वी तत्त्व का स्वभाव कठिनत्व है, वायु तत्त्व का धर्म चंचलता है तथा अग्नि तत्त्व का गुण उष्ण होना है, ठीक

१. बु० च० १२. १८ साथ ही १२, २०. तथा परवर्ती पद्य।
२. बु० च० १२. ८१-८२।

उसी प्रकार संसार में शरीर व चित्त का स्वाभाविक धर्म दुःख है। अतः जब तक शरीर और चित्त है, तब तक दुःख रहेगा।

आकाशयोनिः पवनो यथा हि यथा शमीगर्भशयो हुताशः।
आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च दुःखं तथा चित्तशरीरयोनि॥
अपां द्रवत्वं कठिनत्वमुर्व्या वायोश्चलत्वं ध्रुव मौष्ण्यमग्नेः।
यथा स्वभावो हि तथा स्वभावो दुःखं शरीरस्य च चेतसश्च॥

(सौ० १६. ११-१२)

इस दुःखात्मक संसार से छुटकारा पाना ही निर्वाण या मोक्ष है। बौद्धों की निर्वाण या मोक्ष की धारणा सर्वथा नवीन है, उनके मतानुसार निर्वाण की स्थिति में क्लेशक्षय हो जाता है; किन्तु यह क्लेशक्षय नैयायिकों की दुःखाभाव वाली स्थिति की तरह नहीं। नैयायिकों की आत्मा की मोक्षदशा 'शिलात्वमुक्ति'-सी है, पर बौद्धों के निर्वाण की स्थिति में 'आत्मा निर्वाण की दशा में न पृथ्वी में जाती है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा में, न किसी विदिशा में; किन्तु क्लेश के क्षय से ठीक उसी तरह केवल शान्ति को प्राप्त होती है, जैसे दीपक निर्वृति की दशा में (बुझने पर) न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा में, न किसी विदिशा में, अपितु तैल के क्षय के कारण केवल शान्ति को प्राप्त होता है।'[1] मोक्ष या निर्वाण को यहाँ अश्वघोष ने बड़ी सरल भाषा के द्वारा दीपक के दृष्टान्त को उपन्यस्त कर समझाया है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को चेतना-प्रवाह मानते हैं तथा अन्य

---

१. दीपो यथा निर्वृति मभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृति मभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
(सौन्दरा० १६, २८-२९)

पदार्थों की भाँति वह भी क्षणिकवाद के सिद्धान्त से आबद्ध है। इसी को स्पष्ट करने के लिए वे 'दीपकलिकान्याय' या 'नदीप्रवाहन्याय' का आश्रय लेते हैं। दीपक की लौ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, किन्तु प्रतिक्षण परिवर्तित रूप तत्सदृश बना रहने से हमें तादूप्य की भ्रान्ति कराता है। नदी का प्रवाह बहता जाता है, पर हम उसे भ्रान्ति से वही पानी समझ बैठे हैं। जीवन कुछ नहीं, चेतना (आत्मा) की परिवर्तनशीलता या प्रवाहमयता है, और यही दुःख या क्लेश है। जब तक दीपक जलता रहता है, तब तक दीपक को खुद को तो जलन का अनुभव होता ही रहता है। परम शान्ति तभी होगी, जब आत्मा की क्षणिकता, चेतनाप्रवाह की प्रवहणशीलता शान्त हो जाय और दूसरे शब्दों में 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' सदा के लिए मिट जाय। इस दशा में आत्मा (चेतना) कहीं नहीं जाती, कोई दूसरा रंगरूप नहीं बदलती, न प्रस्तरवाली दुःखाभावमय दशा को ही प्राप्त होती है, अपितु स्वयं शान्त हो जाती है। पर यह शान्ति बौद्धों के मतानुसार सर्वथा निषेधात्मक (Negative) स्थिति नहीं जान पड़ती। सम्भवतः इसीलिए बाद के माध्यमिक आचार्य नागार्जुन ने 'शून्य' की धारणा को जन्म दिया हो, जो वस्तुतः निषेधात्मक स्थिति न होकर (जैसा कि लोग समझ बैठते हैं), 'चतुःकोटिविनिर्मुक्त सत्य (परमार्थ या तथता)' है।

निर्वाण का इच्छुक दार्शनिक संसार को काम (मार) का राज्य समझता है, उसका जय करने पर ही वह परमशान्ति को प्राप्त हो सकता है। यही कारण है, वह काम को जीतने के लिए बद्धपरिकर रहता है। बुद्धचरित के ग्यारहवें सर्ग और सौन्दरानन्द के सातवें, आठवें तथा नवें सर्ग में स्थान स्थान पर काम की निन्दा की गई है, उसकी भ्रान्त्युत्पादक मरीचिका की निःसारता बताई गई है। सौन्दरानन्द के अष्टम सर्ग में जगत् के जाल से छुटकारा पाये नन्द की फिर से उसमें फँसने की चेष्टा के कारण

जनित दयनीय दशा को अन्योक्ति के सुन्दर आलंकारिक ढंग से चित्रित किया गया है।

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद्विनिःसृतः।
प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः॥ (सौन्द० ८.१५)

'बड़े दुःख की बात है कि महान् व्याध के भय से छुटकारा पाया हुआ चंचल मृग, झुंड की लालसा से युक्त होकर तथा गीतध्वनि से वञ्चित होकर फिर से जाल में फँसना चाहता है।'

बौद्धधर्म के चार आर्यसत्यों का संकेत सौन्दरानन्द के सोलहवें सर्ग के आरम्भ में मिलता है।[1]

बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द दोनों में अश्वघोष का दार्शनिक तथा धार्मिक उत्साह, काव्य का हाथ पकड़ कर आया है, किन्तु दोनों की शैली में स्पष्टतः अन्तर दिखाई देता है। बुद्धचरित के अन्तर्गत उपन्यस्त दार्शनिक सिद्धान्त विशेष पाण्डित्यपूर्ण पारिभाषिक शैली में निबद्ध हैं, फलतः वहाँ काव्यत्व नष्ट हो जाता है; पर सौन्दरानन्द के लिए यह नहीं कहा जा सकता। सौन्दरानन्द के दार्शनिक स्थलों में भी शैली की सरसता, स्वाभाविकता तथा कोमलता अक्षुण्ण बनी रहती हैं। बुद्धचरित का दार्शनिक बौद्धिक प्रमाणों व शास्त्रार्थों को लेकर चलता है, सौन्दरानन्द का दार्शनिक लौकिक जीवन से गृहीत युक्तियों को लेकर गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को हलके फुलके ढंग से समझा देता है। पहले काव्य के दार्शनिक स्थल विद्वानों की चीज हैं, जब कि दूसरे काव्य के दार्शनिक स्थल जनसामान्य तथा रसिक सहृदय की भी चीज हो गये हैं। सम्भवतः अश्वघोष ने

---

१. बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं, दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयम्।
दुःखक्षयो निःशरणात्मकोऽयं, त्राणात्मकोऽयं प्रशमस्य मार्गः॥
(सौ० १६.४ तथा परवर्ती पद्य)

बुद्धचरित की रचना के इस दोष को पहचान लिया था और यही कारण है, सौन्दरानन्द में उन्होंने इन सिद्धान्तों को इस तरह उपन्यस्त किया कि 'मोक्षविधि' को वे जनसामान्य (Layman) के लिये सरल से सरल ढंग से समझा सकें। अश्वघोष का यह दूसरा प्रयास पूर्णतः सफल हुआ है। सौन्दरानन्द शैली की दृष्टि से भी बुद्धचरित के बाद की रचना सिद्ध होती है।[1] बुद्धचरित का कवि परम शान्ति के मन्दिर तक कभी कभी रमणीय और अधिकतर शुष्क पार्वत्य प्रदेश से पाठकों को ले जाना चाहता है, सौन्दरानन्द का कवि एक सीधे मार्ग से ले जाता है, जहाँ चाहे कुछ स्थलों पर मार्ग के दोनों किनारे सुरभित कुसुम से लदी पादपावलियाँ न हों, फिर भी मार्ग की सरलता स्वतः पथिक के पैरों को आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करती रहती है।

४. अश्वघोष की कलात्मक मान्यता

काव्य के सम्बन्ध में अश्वघोष की धारणा निश्चित रूप से ठीक वही नहीं जान पड़ती, जो कालिदास की, या भारवि, माघ और श्रीहर्ष की है। कालिदास शुद्ध रसवादी कवि हैं, भारवि तथा उनके दोनों साथी निश्चित रूप से चमत्कारवादी या कलावादी (अलंकारवादी)। अश्वघोष को इन दोनों खेवों में नहीं डाला जा सकता, उनका कलात्मक दृष्टिकोण निश्चितरूपेण उपदेशवादी या प्रचारवादी है। वे काव्यानन्द को, रस को, साधन मानते हैं, कालिदास उसे साध्य मानते हैं। तभी तो अश्वघोष अपने काव्य की रचना का एक मात्र लक्ष्य 'शान्ति' मानते हैं तथा बौद्ध धर्म के मोक्षपरक सिद्धान्तों

---

१. कुछ विद्वान् बुद्धचरित को बाद की रचना मानते हैं। डॉ० कीथ का यही मत है (सं. सा. का इतिहास पृ. २२)। चट्टोपाध्यायजी का भी यही मत है। किन्तु म. म. हरप्रसाद शास्त्री इसे निश्चित रूप से पहली रचना मानते हैं, जो सौन्दरानन्द की शैली की परिपक्वता से स्पष्ट हो जाता है।

को सामान्यबुद्धि व्यक्तियों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते हैं। अश्वघोष ने बताया है कि मोक्ष को लक्ष्य मान कर इन सिद्धान्तों को काव्य के व्याज से इसलिए वर्णित किया जा रहा है, कि काव्य सरस होता है, दर्शन या उपदेश कटु। कड़वी औषधि शहद में मिला देने पर मीठी हो जाती है, इसी तरह कड़वा उपदेश भी काव्य के आश्रय से मधुर बन जायगा।[1] अश्वघोष के काव्य का लक्ष्य 'रतये' नहीं, 'व्युपशान्तये' है। इस तरह लक्ष्य की दृष्टि से अश्वघोष दान्ते या मिल्टन के नजदीक, या जायसी के समीप आते हैं; पर शैली की दृष्टि से नहीं। शैली की दृष्टि से मिल्टन 'कलावादी' हैं; दान्ते कुछ-कुछ अश्वघोष की भाँति हैं। शैली की दृष्टि से अश्वघोष का मत कालिदास के इस मत से मिलता जुलता है:—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।' यही कारण है कि अश्वघोष अलंकार तथा कलात्मक शैली के ज्यादा शौकीन नहीं। अश्वघोष की कला उपदेशवादी होने पर भी कोरा नीतिग्रन्थ नहीं बन जाती, जो दयनीय परिणति अति-उपदेशवादी कवियों में देखी जाती है। यह इस बात को पुष्ट करती है, कि अश्वघोष कवि-हृदय अवश्य थे। आंग्ल साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक व कवि मैथ्यू ऑर्नल्ड ने 'उदात्त' काव्यों (Classics) की परख के लिए एक मापदण्ड उपस्थित किया है। वे काव्य में जीवन का उदात्त दृष्टिकोण देखना पसन्द करते हैं, जो निश्चित रूप से नैतिक मर्यादा तथा मान्यता पर आधृत होगा। इस तरह के काव्य ही साहित्य में स्थायित्व प्राप्त कर सकते हैं तथा 'उदात्त कृतियों' की कोटि में आ सकते हैं। 'उदात्तता' के चिह्न हमें अश्वघोष की

---

१. इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः,
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम्,
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥ (सौन्द० १८.६३)

कृतियों में निश्चित रूप से दिखाई देते हैं, यह दूसरी बात है कि अश्वघोष का बौद्ध धार्मिक दृष्टिकोण उनकी व्यापक दृष्टि को रोक देता है, जो व्यापक जीवन दृष्टि कालिदास में पाई जाती है, उसका यहाँ अभाव है।

अश्वघोष की काव्यप्रतिभा तथा उनके काव्यों का सौन्दर्य

अश्वघोष के पूर्व संस्कृत साहित्य की विशाल काव्य-परम्परा आदिकवि की अमरकृति तथा व्यास के महाभारत के रूप में विद्यमान थी। यही नहीं, सम्भवतः इन आर्ष काव्यों के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत काव्य-परम्परा भी रही हो। किंवदंती है कि पाणिनि ने 'जाम्बवती-परिणय' तथा 'पाताल-विजय' नामक दो महाकाव्यों की रचना की थी तथा कुछ सुभाषित ग्रन्थों में इनके दो तीन पद्य भी मिलते हैं। पर क्या वे प्रसिद्ध वैयाकरण अष्टाध्यायीकार पाणिनि के ही हैं? संभवतः वे दाक्षीपुत्र पाणिनि की रचना नहीं। कालिदास को अश्वघोष से पूर्व (प्रथम शताब्दी ई० पू० में) मानने वाला विद्वानों का दल अश्वघोष को निश्चित रूप से कालिदास का ऋणी मानता है।[1] पर इस विषय में मेरा निजी मत भिन्न है। कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि अश्वघोष आदिकवि के महाकाव्य से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। शैली की दृष्टि से भी अश्वघोष की शैली आदिकवि की शैली की तरह सरल व सरस है तथा उन्हीं की तरह अश्वघोष भी अनेकों छन्दों का प्रयोग करते हुए भी अनुष्टुप् का प्रयोग अधिक करते हैं, जो कालिदास के दोनों महाकाव्यों में अश्वघोष जितना ज्यादा प्रयुक्त नहीं हुआ है।

---

१. इस मत के लिए दे० Date of Kalidasa—Kshetresa Chandra Chattopadhyaya. (Reprint from the Allh. Uni. Studies Vol. II 1926) जहाँ पृ० ८२ से १०६ तक प्रो० चट्टोपाध्याय ने कालिदास के प्रति अश्वघोष के ऋण को विस्तार से प्रदर्शित करने की चेष्टा की है।

अश्वघोष के काव्यों की कथा बौद्ध अवदानों से गृहीत है तथा उन्होंने कई स्थानों पर कथा में मामूली हेरफेर भी किया जान पड़ता है। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के द्वारा नन्द को प्रदर्शित बँदरी बिना नाक व बिना कान की है, किन्तु अश्वघोष उसे कानी बताते हैं। अश्वघोष के प्रथम महाकाव्य बुद्धचरित में कथाप्रवाह तथा वर्ण्य विषय दार्शनिक स्थलों से इतर स्थानों पर अक्षुण्ण दिखाई देता है। ठीक यही बात सौन्दरानन्द में है। भारवि, माघ या श्रीहर्ष की भाँति यहाँ कथाप्रवाह कोरे शृङ्गारी वर्णनों या चित्रमत्ता के द्वारा रोका नहीं जाता। कथावस्तु-संविधान की दृष्टि से अश्वघोष, कालिदास तथा बाद के पतनोन्मुख महाकाव्यकर्ताओं में जो भेद है, वह यह है कि कालिदास का वस्तु-संविधान अत्यधिक स्वाभाविक, प्रवाहमय, सरस तथा प्रभावोत्पादक है, कालिदास का कवि न तो अश्वघोष की तरह दार्शनिक सेतु बाँध कर ही कथा की सरिता के प्रवाह को यत्र तत्र रोक देता है, न भारवि, माघ या श्रीहर्ष की तरह कथा के इतिवृत्त को छोड़ कर बीच में फूले कमल व उन पर उड़ते भौंरों के देखने में ही इतना उलझ जाता है, कि दो-दो तीन-तीन सर्ग तक कथाप्रवाह रुक-सा जाता है। भट्टि में यह दोष नहीं है, किन्तु वहाँ व्याकरण के नियमों के प्रदर्शन की रुचि, अलङ्कारों का प्रदर्शन, भाषाश्लेष की चित्रमत्ता पाठक का ध्यान अपनी ओर खींच कर कथाप्रवाह में बाधा डाल देती है। जैसा कि स्पष्ट है, दार्शनिक स्थलों से इतर अंश में अश्वघोष के काव्यों के इतिवृत्त में निःसन्देह प्रवाह है।

आर्य भदन्त अश्वघोष मूलतः शान्त रस के कवि हैं। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द में ही नहीं, तुर्फान से मिले दो प्रकरणों तथा एक अन्यापदेशी (Allegorical) नाटक के खण्डों से भी यही पुष्ट होता है। पर शान्त रस के रूप में, या विरोधी के रूप में अश्वघोष ने दोनों काव्यों में वीर, करुण तथा शृङ्गार रस का निबन्धन किया है। बौद्ध भिक्षु की कृतियाँ होते हुए भी

शृङ्गार रस का जो सरस वर्णन बुद्धचरित के तृतीय सर्ग के आरम्भ, चतुर्थ तथा पञ्चम सर्ग में तथा सौन्दरानन्द के चतुर्थ सर्ग तथा दशम सर्ग में मिलता है, वह अश्वघोष के कवित्व को प्रतिष्ठापित करने में अलम् है। यह दूसरी बात है कि भिक्षु अश्वघोष का मन अपने काव्य के नायक सिद्धार्थ की भाँति ही इनमें नहीं रमता। पर अश्वघोष ने नारी के सौन्दर्य को शान्त वैराग्य-शील भिक्षु की निगाह से ही नहीं देखा है। पहले वह उसे सरस लौकिक दृष्टि से देखते हैं, पर जहाँ वे शान्त रस के प्रवाह में बहते हैं, नारी उनके लिए 'जर्जरभाण्ड के समान' दूषित, कलुषित एवं कुरूप हो जाती है। फिर भी शान्त रस के लिए शृङ्गार की सरसता को सर्वथा न कुचल देना भिक्षु अश्वघोष की सबसे बड़ी ईमानदारी है। शृङ्गार के चित्र सरस, भावमय तथा प्रभावोत्पादक हैं और माघ या श्रीहर्ष की तरह ऐन्द्रिय विलासमय (Voluptuous) नहीं। शृंगार के रंगीन वर्णनों में अश्वघोष कालिदास के ही सम्प्रदाय के जान पड़ते हैं, जहाँ सरसता तो है, पर वह कुत्सित ऐन्द्रिय रूप धारण नहीं करती।[1] अश्वघोष के शृङ्गार रस के वर्णन से कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा, जहाँ शृङ्गार रस की तरलता रसिक पाठकों के हृदय को आप्लावित करती रहती है:—

मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्तनीलांशुकापरा।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा॥ (बु० च० ४. ३३)

१. सम्भवतः कुछ विद्वान् कालिदास के शृङ्गार वर्णनों में कुछ ऐन्द्रिय स्थल ढूँढ निकालें, (विशेषतः कुमारसं० का अष्टम सर्ग तथा रघु० का १९ वां सर्ग), किन्तु मैं यहाँ कालिदास के समग्र शृङ्गारवर्णन में स्थित अन्तःप्रवृत्ति का संकेत करना चाहता हूँ, जो सरस विलासमय शृङ्गार होते हुए, भी दूषित मनोवृत्ति से समवेत नहीं है। यह दूसरी बात है कि अश्वघोष में शृङ्गार कहीं कहीं धार्मिक नैतिकता (Puritanism) से अभिभूत हो जाता है, कालिदास में नहीं।

'नशे के बहाने बार बार अपने नील अंशुक को गिराती हुई, कोई स्त्री, जिसकी करधनी दिखाई देती थी, चमकती बिजली वाली रात के समान सुशोभित हो रही थी।'

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादवविस्रंसितचारुपाशमन्या ।
सविलासरतान्ततान्तमूर्वोर्विवरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये ॥ (बु. च. ५. ५६)

'दूसरी सुन्दरी, जिसके गले की सुन्दर डोरी (हार) कन्धे से गिर गई है, सविलास सुरत के अन्त में थके प्रिय के समान पणव (वाद्ययन्त्रविशेष) को दोनों जाँघों की बीच में दबाकर सो गई।'

सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरुत्थापयामास निपीडय दोर्भ्याम् ।
कथं कृतोसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन ॥ (सौन्दरा० ४. १६)

'क्षमा माँगने के लिए, पैरों पर गिरते हुए नन्द को; स्तनों के भार से हार को हिलाती हुई (जिसका हार स्तनों के कारण हिल रहा था), सुन्दरी ने दोनों हाथों से आलिङ्गनपाश में आबद्ध कर 'कैसा बनाया है' यह कह कर टेढे कुण्डलवाले मुख से जोर से हँस दिया।'

शृङ्गार के उद्दीपन के लिए नारीसौन्दर्य एक महत्त्वपूर्ण अंग है। विभाव-पक्ष में नारी सौन्दर्य का वर्णन अश्वघोष में कई स्थलों पर मिलता है। सौन्दरानन्द के दशम सर्ग में अप्सराओं तथा हिमालय की तलहटी में विचरती किन्नरियों का सौन्दर्यवर्णन सरस है। यहां पर तथा बुद्धचरित में रमणियों के सौन्दर्यवर्णन में अश्वघोष ने अलंकृत शैली का प्रयोग किया है। किन्तु उनकी अप्रस्तुत योजना स्वाभाविक है, दूरारूढ नहीं।

कासाञ्चिदासां वदनानि रेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि ।
व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्यः पद्मानि कादम्बविघट्टितानि ॥ (सौन्द० १०.३८)

'इनमें से कुछ अप्सराओं के चञ्चल कुण्डल वाले मुख; वन के बीच

इसी तरह सुशोभित हो रहे थे, जैसे घने पत्तों वाले कमलाकरों (तालावों) के बीच हंसों के द्वारा हिलाये हुए कमल।'

शृङ्गार के बाद दूसरा कोमल रस करुण है। अश्वघोष के दोनों काव्यों में दो स्थल[1] करुण रस के हैं। बुद्धचरित में छन्दक सूने घोड़े को लेकर लौटता है। उस स्थल में नागरिक, सिद्धार्थ के पिता-माता तथा यशोधरा का विलाप अत्यधिक मार्मिक है, तथा अश्वघोष ने आसपास के वातावरण की करुण दशा को चित्रित कर उसकी तीव्रता को बढ़ा दिया है। नीचे की वस्तूत्प्रेक्षा सहोक्ति तथा रूपक केवल आलङ्कारिक चमत्कार न होकर करुण के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर अन्तः पुरिकाओं की करुण दशा का चित्र और अधिक मार्मिक बना देते हैं।

इमाश्च विक्षिप्तविटङ्कबाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिःस्वनाः।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तयः॥
(बु. च. ८.३७)

'कपोत-पालिका रूपी भुजाएँ फटकारती हुई, बैठे हुए कबूतरों के चिल्लाने के दीर्घ निःस्वास वाली ये प्रासाद-पंक्तियाँ, सिद्धार्थ से वियुक्त होने के कारण (दुखी होकर) अन्तःपुरिकाओं के साथ मानो अत्यधिक रो रही हैं।'

ठीक यही चित्र हम सौन्दरानन्द में भी देख सकते हैं, जहाँ श्येन के द्वारा घायल बनाये हुए चक्रवाक के कारण दुःखी चक्रवाकी के समान सुन्दरी अत्यधिक विलाप करती है और प्रासाद में स्थित, चञ्चल कण्ठ वाले कबूतर मानों उसकी स्पर्धा करते हुए कूजन कर रहे हैं।

सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाका।
विस्पर्द्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजनलोलकण्ठैः॥ (सौन्दरा० ६.३०)

---

१. बुद्धचरित अष्टम सर्ग, तथा सौन्दरानन्द षष्ठ सर्ग।

दोनों चित्रों में कितनी अधिक समानता है, यह सहृदय भावुकों को स्पष्ट हो गया होगा। अश्वघोष का करुण सरस है, पर कालिदास जितना मार्मिक[1] नहीं। भवभूति का करुण जिसकी संस्कृत साहित्य में बड़ी चर्चा रही है, कालिदास तथा उसी पद्धति के अश्वघोष के करुणरस की अपेक्षा अधिक भावुक दिखाई देता है। भवभूति का करुण रोता-चिल्लाता बहुत है, यह उसका सबसे बड़ा दोष है; चाहे उससे पत्थर का कठोर हृदय भी पिघल जाय। इस वाच्य पद्धति की अतिशयता से वहाँ करुण की पैनी शक्ति कुछ कुण्ठित हो जाती है, जो कालिदास की व्यञ्जनात्मक शैली में है। अश्वघोष के करुण रस के चित्र भी व्यञ्जनावृत्ति का प्रयोग करते जान पड़ते हैं।

वीर रस का समावेश अश्वघोष के दोनों काव्यों के मार-जय[2] में रूपक के रूप में हुआ है, जहाँ एक साथ शान्त रस तथा वीर रस का साम्यविवक्षा की दृष्टि से प्रयोग किया गया है। सिद्धार्थ तथा नन्द मार की सेना को, किस सेना तथा युद्ध-सज्जा से जीतते हैं, रूपक अलङ्कार का प्रयोग करते हुए इसका अच्छा वर्णन है। एक उदाहरण दे देना काफी होगा।

ततः स बोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनैः क्लेशचमूं जगाहे ॥ (सौ० १७.२४)

'तब ज्ञान के तीक्ष्ण शस्त्रवाले, सम्यक् चारित्र्य के उत्तम वाहन पर

---

१. वैसे कुछ लोगों के मत से कुमारसम्भव का रतिविलाप, कालिदास के करुण मार्मिक स्थलों में माना जाने पर भी उतना मार्मिक नहीं है, जितना मार्मिक अजविलाप, रघुवंश के चौदहवें सर्ग का सीतासन्देश वाला स्थल तथा शाकुन्तल के सप्तम अङ्क में शकुन्तला की विरहव्यथा वाली दशा का वर्णन। रतिविलाप में करुण की अति उसकी मार्मिकता को खो देती है। इस विषय के विवेचन के लिए दे० 'महाकवि कालिदास' वाला परिच्छेद।

२. बु० च० सर्ग १३, सौ० सर्ग १७।

स्थित, नन्द ने मार्गाङ्ग रूपी हाथी से युक्त सेना के द्वारा, (शत्रुओं की) क्लेशसेना को धीरे धीरे आक्रान्त कर लिया।'

यहाँ पर कवि का प्रधान लक्ष्य शान्त रस ही है, वीर रस नहीं। शान्त रस के विभाव के रूप में संसार की दुःखमयता तथा नारी के सौन्दर्य की बीभत्सता का जो वर्णन बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द में हुआ है, वह बड़ा तीव्र है। नन्द को घर जाने के लिए तड़फते देखकर कोई भिक्षु नारी के सौन्दर्य की बीभत्सता का वर्णन करके कहता है 'अगर तुम्हारे सामने तुम्हारी सुन्दरी को नंगी मलपङ्क से युक्त, लम्बे नाखून, दाँत व बालों वाली दशा में रख दिया जाय, तो वह तुम्हारे लिए सुन्दर न रहेगी। कौन सघृण व्यक्ति फूटे घड़े के समान अपवित्रता का स्रवण करती हुई नारी का स्पर्श करे, यदि वह मक्खी के पंख के समान झीनी चमड़ी से ढँकी न हो।'

मलपङ्कधरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोमभिः।
यदि सा तव सुन्दरी भवेन् नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत्॥
स्रवतीमशुचिं स्पृशेच्च कः सघृणो जर्ज्जरभाण्डवत् स्त्रियम्।
यदि केवलया त्वचावृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया॥ (सौ० ८.५१-५२.)

प्रकृति-चित्रण में अश्वघोष का मन रमता नहीं दिखाई देता। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द[1] में कुछ स्थल ऐसे आते हैं, जहाँ कवि प्रकृति के मनोरम दृश्यों की योजना कर सकता था, किन्तु अश्वघोष वहाँ प्रकृति का वर्णन बड़े चलते ढंग से कर देते हैं। सौन्दरानन्द के सप्तम सर्ग की प्रकृति प्रियाविरह का अनुभव करते नन्द के लिए उद्दीपन का काम करती है।[2] अश्वघोष में प्रकृति के प्रति वाल्मीकि तथा कालिदास जैसा मोह नहीं

१. दे० बु० च० सर्ग ३, सर्ग ७, सौ० सर्ग ७, सर्ग १०।

२. स्थितः स दीनः सहकारवीथ्या मालीनसंमूर्च्छितषट्पदायाम्।
भृशं जजृम्भे युगदीर्घबाहुः ध्यात्वा प्रियां चापमिवाचकर्ष॥ (सौ० ७.३)

दिखाई देता। भिन्नु अश्वघोष के लिए सम्भवतः प्रकृति भी विकृति का कारण रही हो। पर इतना तो निश्चित है, कि प्रकृतिवर्णन का जो भेद हमें वाल्मीकि तथा कालिदास में मिलता है, उसके बीज अश्वघोष में भी हैं। मेरा तात्पर्य यह है कि वाल्मीकि प्रकृति को प्रकृति के शुद्ध लावण्य की दृष्टि से अधिक देखते हैं; अर्थात् वाल्मीकि की प्रकृति आलम्बन अधिक बन कर आती है, उद्दीपन कम। कालिदास में प्रकृति मानव-स्वभाव से आक्रान्त होती है, वह मानव के दुःख-सुख से दुःखी-सुखी होती दिखाई जाती है, साथ ही मानव के उद्दीपन की सामग्री को विशेष लाती है। कालिदास की प्रकृति कुछ स्थलों को छोड़ कर उद्दीपन का रूप लेकर अधिक आती जान पड़ती है। अश्वघोष का ऊपर का (सौन्द० सप्तम सर्ग का) प्रकृति-वर्णन इसी प्रवृत्ति का सङ्केत करता है। अश्वघोष ने जहाँ सौन्दरानन्द के दशम सर्ग के आरम्भ में हिमालय का वर्णन किया है, उसकी तुलना कुछ विद्वान् कालिदास के कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग के हिमालय वर्णन से करना चाहें। इस विषय में मेरा निजी मत यह है कि कालिदास के हिमालय-वर्णन-सी दृश्यों की विविधता, प्रकृति चित्र के बिम्ब को उपस्थित कर देने की क्षमता, अश्वघोष के इस वर्णन में नहीं; उसके पढ़ लेने पर सौन्दरानन्द का यह वर्णन शुष्क तथा नीरस (Bore and dry) लगता है।[1]

हम बता चुके हैं, अश्वघोष की कलावादी दृष्टि किस प्रकार की है। यही कारण है, अश्वघोष का प्रमुख ध्यान प्रतिपाद्य विषय (Matter) की ओर अधिक है, शैली, अलङ्कार या छन्दोविधान की अभिव्यञ्जना-प्रणाली (Manner) की ओर कम। किस अलङ्कार का या छन्द का कहाँ प्रयोग

---

१. दे० सौन्दरानन्द दशम सर्ग ५-१४, यहाँ अश्वघोष अप्रस्तुत विधान में ही अधिक फँस गये हैं। कालिदास के हिमालय वर्णन-सा अनलंकृत, स्वाभाविक किन्तु अत्यधिक प्रभावोत्पादक चित्र यहाँ नहीं है।

करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अश्वघोष इतने अधिक चिन्तित नहीं हैं। इसीलिए अश्वघोष के अलङ्कार या छन्दःप्रयोग अपने आप बनते जाते हैं, इनकी कृत्रिमता लक्षित नहीं होती। किन्तु काव्य में धार्मिक तथा दार्शनिक वस्तु (Theme) होने के कारण अश्वघोष के विषय (Matter) तथा विषय-व्यञ्जना (Manner) में कुछ स्थलों पर विचित्र असमानता दिखाई पड़ती है, और इसका प्रमुख कारण एक ओर कवि तथा कलाकार, दूसरी ओर दार्शनिक तथा धार्मिक उपदेशक का विचित्र समन्वय जान पड़ता है। अश्वघोष स्वयं इन काव्यों को विशाल जनता के लिए लिखते हैं, कुछ साहित्यिकों के लिए नहीं, अतः शुद्ध कलावादिता की दृष्टि से इन काव्यों के कलापक्ष की परख करना ठीक नहीं होगा। पर इतना तो निःसन्देह है कि अश्वघोष कवि हैं तथा रसिक साहित्यिक को उनकी कृतियों में कुछ अनुपम गुण दिखाई देंगे। अश्वघोष का वर्ण्य विषय सर्वथा नीरस नहीं है, उनकी शैली कृत्रिम तथा परिश्रमसाध्य नहीं है, तथा अश्वघोष की अभिव्यञ्जना शैली सरस सरलता से रहित नहीं। यह दूसरी बात है कि अश्वघोष कालिदास की तरह परिपूर्ण कलाकार नहीं है, तथा उच्च कलात्मक गुणों को ढूँढने पर प्रथम कोटि के कवियों में भी नहीं गिने जा सकते, किन्तु अश्वघोष की काव्यप्रतिभा स्वाभाविक है, तथा वे कभी भी कठिन शैली का आश्रय नहीं लेते। यही कारण है, अश्वघोष में शास्त्रीय संगीत की कलात्मक पद्धति न हो, हृदय से निकली हुई तान अवश्य विद्यमान है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा, कि अश्वघोष 'अलङ्कारों के लिए अलङ्कारों का प्रयोग' नहीं करते। इतना होने पर भी अश्वघोष में प्रायः सभी प्रमुख साधर्म्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग मिलता है। उपमा,[1]

---

१. दे० सौ० ५. ५२-५३,

रूपक,[1] उत्प्रेक्षा,[2] व्यतिरेक,[3] अप्रस्तुतप्रशंसा,[4] आदि साधर्म्यमूलक अलङ्कारों के अतिरिक्त यत्र तत्र अनुप्रास[5] तथा यमक[6] जैसे शब्दालङ्कार भी अश्वघोष में मिल जायँगे, यद्यपि अश्वघोष में ये शब्दालङ्कार भी स्वाभाविक रूप से ही आते हैं। यहाँ अश्वघोष के अत्यधिक सुन्दर किन्तु स्वाभाविक अलङ्कारों के एक-दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। निम्न पद्य में उपमा का स्वाभाविक प्रयोग देखिए—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥ (सौ० ४. ४२)

'बुद्ध का गौरव नन्द को एक ओर खींच रहा था, प्रिया का प्रेम दूसरी ओर। अनिश्चय के कारण लहरों में तैरते हंस की तरह वह न तो जा ही सका, न ठहर ही सका।'

यहाँ उपमा के द्वारा अश्वघोष को केवल चमत्कार बताना अभीष्ट न होकर नन्द की मनोदशा का चित्र खींचना तथा मनके अन्तर्द्वन्द्व का संकेत करना अभीष्ट है। ठीक इसी तरह बुद्ध के बिना भिक्षा लिए लौट जाने की सूचना पाने पर, नन्द को जो मनोव्यथा (मनःकम्प) होती है, उसको बताने के लिए भी अश्वघोष ने ऐसी ही स्वाभाविक उपमा का प्रयोग किया है:—

'चचाल चित्राभरणाम्बरस्रक् कल्पद्रुमो धूत इवानिलेन'। (सौ० ४. ३१)

रूपक का सुन्दर प्रयोग भी इसी सर्ग के चौथे पद्य में हुआ है:—

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनाभ्युन्नतपद्मकोषा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण॥ (सौ० ४. ४)

'हास्यरूपी हंसवाली, नेत्ररूपी भौंरों से युक्त, पीनस्तन रूपी उठे हुए कमल

---

१. सौ. ३. १४ साथ ही ४. ४, २. बु० च० ८. ३७, ३. सौन्द० ९.१३, ४. सौ० ८.१५-२१, ५. सौ० १०. ११, ६. सौ. ९.१३।

कोष वाली, वह सुन्दरी रूपी पद्मिनी अपने कुल में उदित नन्दरूपी सूर्य के द्वारा (फिर से) अत्यधिक प्रकाशित हुई।'

अश्वघोष की भाषा कोमल तथा सरल है, चार या पाँच शब्दों से अधिक लम्बे समास नहीं मिलते। अश्वघोष की भाषा में कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो बाद के साहित्य में नहीं पाये जाते। अश्वघोष में तर्ष, धर्म्मन्, पुष्पवर्ष, प्रविद्ध जैसे प्रयोग मिलते हैं। इसी प्रकार 'पैदा होने के लिए' उप+पद का, समय व्यतीत करने के लिए परि+नी का, तथा निश्चल खड़े होने के लिए स्था का प्रयोग अश्वघोष में मिलता है। अश्वघोष की शैली प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति से युक्त है, तथा इस दृष्टि से उनकी शैली कालिदास के समीप है। अश्वघोष के छन्दोविधान में एक आध छन्द ऐसे भी हैं, जैसे सुवदना, उद्गता (सौन्द० तृतीय सर्ग) जिनका प्रयोग कालिदास ने नहीं किया है। अश्वघोष ने सुवदना, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, प्रहर्षिणी, रुचिरा, उद्गता, सुन्दरी, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, पुष्पिताग्रा, अनुष्टप् आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है। अनुष्टुप् के प्रति अश्वघोष की अधिक रुचि है, पर संगीत की दृष्टि से अश्वघोष की प्रहर्षिणी व रुचिरा विशेष सफल हुई हैं।[१] सर्ग के अन्त को जहाँ कहीं विशेष प्रभावोत्पादक बनाना होता है, वहाँ अश्वघोष खास तौर पर रुचिरा या प्रहर्षिणी का प्रयोग करते हैं।

संस्कृत महाकाव्यों में अश्वघोष की परम्परा

अश्वघोष का स्थान निश्चितरूप से संस्कृत महाकाव्यकारों की पहली पङ्क्ति में नहीं आ पाता, जिसमें एक ओर रसवादी कालिदास, दूसरी ओर अलङ्कारवादी भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष इन चार कवियों का नाम लिया जा सकता

१. दे० सौ० ११.७३ तथा वही १०.६४ तथा बुद्ध च० ३.६४-६५ तथा अन्यस्थल।

है। पर अश्वघोष का अपना एक महत्त्व है, जिसका संकेत हम कर चुके हैं। अश्वघोष में ही सर्वप्रथम हमें कुछ ऐसी काव्यरूढियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक मिलता है। इन रूढ़ियों में से प्रमुख दो रूढ़ियों का संकेत कर देना आवश्यक होगा। बुद्धचरित के तीसरे सर्ग में वनविहार के लिए जाते राजकुमार को देखने के लिए लालायित ललनाओं का वर्णन[1] अश्वघोष की स्वयं की उद्भावना न भी हो, किन्तु यह परम्परा सर्वप्रथम यहीं मिलती है। यही परम्परा या रूढि हमें रघुवंश के सप्तम सर्ग, तथा कुमारसम्भव के भी सप्तमसर्ग में, माघ के तेरहवें सर्ग में तथा श्रीहर्ष में नैषध के सोलहवें सर्ग के अन्त में मिलती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण रूढि वृक्षों के द्वारा वस्त्राभरणों को देने की है, जो कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के चौथे अङ्क[2] में भी पाई जाती है। इसका संकेत हम सौन्दरानन्द के दशमसर्ग के निम्न पद्य में पाते हैं:—

हारान् मणीनुत्तमकुण्डलानि केयूरवर्याण्यथ नूपुराणि।
एवं विधान्याभरणानि यत्र स्वर्गानुरूपाणि फलन्ति वृक्षाः॥ (सौ० १०.२३)

'जहाँ वृक्ष स्वर्ग के योग्य हार, मणि, उत्तम कुण्डल, सुन्दर अङ्गद, नूपुर तथा ऐसे ही अन्य आभूषणों को फलित करते हैं।'

संस्कृत साहित्य की महाकाव्य परम्परा के अध्येता के लिए अश्वघोष का महत्त्व केवल इसीलिए नहीं कि वे कवि थे, अपितु इसलिए भी है कि कालिदास की कवित्व-प्रतिभा के अध्ययन के लिए अश्वघोष का वही महत्त्व है, जो शेक्सपियर की नाट्य-प्रतिभा के अध्ययन के लिए मार्लो के नाटककर्तृत्व का।

---

१. दे० बु० च० ३. १२-२४। २. अभिज्ञानशाकुन्तल ४. ४।

महाकवि कालिदास

संस्कृत साहित्याकाश के ग्रहों तथा उपग्रहों की पङ्क्ति में कालिदास के 'आदित्य' का ज्वलन्त 'विक्रम' अपनी द्युति से सभी की कान्ति को ध्वस्त कर देता है। उसके तेज में वसन्त के आरम्भ में 'कुवेरगुप्ता दिक्' की ओर मुड़ते हुए 'उष्णरश्मि' की प्रातःकालीन सरसता तथा कोमलता है, उसकी कविता के स्पन्दन में 'दक्षिणा दिक्' से बह कर आते हुए 'गन्धवह' की मानस-इन्दीवर को गुदगुदाने की चञ्चलता। उसकी भाव-सम्पत्ति तथा कल्पना अनेकों अनुगामी कवियों के द्वारा उपजीव्य बनाई जाने पर भी, शकुन्तला की तरह, किसी के द्वारा न सूंघे गये फूल की ताजगी, किन्हीं कठोर कररुहों से अकलुषित किसलय की दीप्त कोमलता, वज्र से बिना बिंधे रत्न का पानिप, किसी भी लोलुप रसना के द्वारा अनास्वादित अभिनव मधु का माधुर्य तथा अखण्ड सौभाग्यशाली पुण्यों के फल का विचित्र समवाय लेकर उपस्थित होती है। सहृदय रसिक 'भोक्ता' के लिए कालिदास में इससे बढ़ कर क्या चाहिए? किन्तु, आज का विद्यार्थी, जो कभी रसिकता को छोड़ कर समाज-विज्ञान के परिपार्श्व में किसी कलाकार की कला को देखना पसन्द करता है, केवल इतने भर-से कालिदास को प्रथम श्रेणी का कलाकार घोषित न करेगा। वह कालिदास में उसके युग की चेतना ढूँढ़ना चाहेगा और कालिदास का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है, कि संस्कृत कवियों में वही अकेला ऐसा कवि है (बाण को छोड़ कर), जिसने अपने युग की चेतना को अपने काव्यों में तरलित कर दिया है। यदि कालिदास संस्कृत साहित्य का चोटी का रससिद्ध कवि है, तो दूसरी ओर भारत के प्राचीन इतिहास के ज्वलन्तमय युग का दीपस्तम्भ और पौराणिक ब्राह्मणधर्म तथा वर्णाश्रमधर्म का सच्चा प्रतीक। इस दूसरे पक्ष को

छोड़ देने पर हम कालिदास की कविता की सरस अठखेलियाँ देख कर अपने आपको उसकी करवटों में उलझाते रहें, संस्कृत के इस महान् कवि के व्यक्तित्व को पूरी तरह न समझ पायँगे तथा कभी-कभी उसके व्यक्तित्व को न जानने के कारण उसके दृष्टिकोण को समझने में भ्रान्त मार्ग का आश्रय ले सकते हैं। कालिदास के व्यक्तित्व को उसके युग से विच्छिन्न करके देखने में भी इसी तरह की भ्रान्ति हो सकती है। कालिदास की कला तथा उसके कलाकार के व्यक्तित्व को उसके युग के परिपार्श्व में देखना एक निष्पक्ष आलोचक के लिए नितान्त आवश्यक हो जाता है।

महाराज कनिष्क के पश्चात् भारत का प्राचीन इतिहास कुछ काल के लिए अन्धकार की परतों के नीचे दबा पड़ा रहता है। इस तामसी निशा का भेदन कर गुप्तवंश का बालसूर्य उदित होता है, जो क्रमशः अपने तेज को प्राप्त करता हुआ, एक ओर कविता, सङ्गीत, चित्र, नृत्य आदि कलाओं तथा अन्य शास्त्रों के कमल-वन को विकसित करता है, दूसरी ओर प्रजा में समृद्धि, शान्ति तथा अनुराग को संक्रान्त कर देता है। गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-काल कहा जाता है। एक दृष्टि से यह उपाधि ठीक जान पड़ती है। गुप्तकाल में ही मौर्यों के बाद सर्वप्रथम समस्त उत्तरी भारत को (कुछ दक्षिणी भाग को भी) 'एकातपत्र' की छाया में लाया गया, अन्य सभी छोटे राजाओं को जीत कर उन्हें करद स्वीकार कर लिया गया, पर 'उनकी मेदिनी का हरण नहीं किया गया।' समुद्रगुप्त के दिग्विजय के बाद सारा उत्तरी भारत गुप्तों के साम्राज्य में था। प्रजा के प्रति गुप्त सम्राटों की नीति उदार थी। यही कारण है, इतिहास में वे 'उदार सम्राट्' (बेनेवोलेन्ट मोनर्क्स) के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'प्रकृति का रञ्जन' वे अपना प्रमुख धर्म समझते थे तथा प्रजा के सुख-दुःख के लिए अपने सुख-दुःख की उपेक्षा करना उनके चरित्र का एक अङ्ग था। दुष्टों को, चोर-डाकुओं को, अपराधियों

को, चाहे वे प्रिय व्यक्ति ही क्यों न हों, दण्ड देने में वे अत्यधिक कठोर थे। फलतः देश में अपराध, अत्याचार, चोरी आदि समाप्त हो गई थी। गुप्त सम्राटों के समय की भारत की आर्थिक दशा अत्यधिक उन्नत थी। चीन, ब्रह्मदेश, चम्पा, बाली, यवद्वीप आदि पूर्वी देशों तथा मिस्र, रोम, ईरान आदि पश्चिमी देशों के साथ जलमार्ग से व्यापार चलता था, तथा देश में स्थलमार्ग के द्वारा व्यापार-व्यवसाय की समृद्धि का पता चलता है। कृषि अत्यधिक उन्नतिशील थी और राजा भूमि की उत्पत्ति का 'षष्ठांश' ग्रहण किया करते थे। गुप्तकाल में नागरिकों का जीवन अत्यधिक सुखी तथा विलासमय था। कालिदास के काव्यों में नागरिक जीवन का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे उस काल की आर्थिक दशा पर प्रकाश पड़ सकता है। नागरिक जीवन कालिदास से सम्भवतः दो या तीन शती पूर्व से ही एक खास 'पैटर्न' (संस्थान) में ढल चुका होगा, जिसका परिपक्व रूप हमें इस काल में मिलता है। वात्स्यायन का कामसूत्र जो निश्चित रूप से कालिदास से कम से कम दो शती पूर्व की रचना होनी चाहिए, नागरिकों के वृत्त का जैसा सुन्दर विलासमय चित्र अङ्कित करता है,[1] वह कपोलकल्पना तो हो नहीं सकता।

ईसा से दो शताब्दी पहले से ही भारतीय समाज एक निश्चित ढाँचे में ढलने लग गया था। महाभारत के रचनाकाल में (सम्भवतः छठी शती ई० पू०), जो सामाजिक स्वतन्त्रता पाई जाती है, वह धीरे धीरे संयत होने लग गई थी। ऐसे सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक मापदण्डों की रचना होने लगी, जो समाज को एक ढाँचे में ढाल सकें। सम्भवतः व्रात्य आर्यों के उत्थान के द्वारा, उनके क्रान्तिकारी विचारों के द्वारा, वैदिक धर्म की ब्राह्मण अवस्था को, वर्णाश्रम धर्म की मान्यता को, जो धक्का लग

१. दे० वात्स्यायनः कामसूत्र प्रथम अधिकरण, चतुर्थ अध्याय, पृ० ४२-५८

रहा था, उसे रोकने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था। ईसा की दूसरी शती पूर्व के लगभग ही मनु ने अपने धर्मशास्त्र का प्रणयन किया था, जिसमें वर्णाश्रम धर्म की पुनरुत्थापना की चेष्टा की गई है। यहीं समाज के नैतिक स्तर को उन्नत करने के लिए दण्ड, प्रायश्चित्त आदि के विधान का सङ्केत किया गया। प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के निश्चित कर्तव्य, विवाहादि के निश्चित सम्बन्ध का सङ्केत करना मनु का सामाजिक दृष्टिकोण स्पष्ट करता है। यद्यपि इस काल का नैतिक आन्दोलन धर्मसूत्रों व गृह्यसूत्रों को ही आधार बनाकर चला था, तथापि कुछ ऐसे परिवर्तन पाये जाते हैं, जो इस काल के निश्चित धार्मिक तथा नैतिक ढाँचे का संकेत कर सकते हैं। राजा की दैवी उत्पत्ति वाली धारणा जोर पकड़ने लगी थी, तथा प्रजा को यह शिक्षा दी जाने लगी थी कि राजा उनका पिता है, साथ ही दूसरी ओर राजधर्म की व्यवस्था कर राजा के आदर्श को भी प्रतिष्ठापित किया गया। यह वह काल था, जब राजतन्त्र अत्यधिक जोर पकड़ रहा था। रहे सहे गणतन्त्र आपस के झगड़ों तथा राजतन्त्र के विरोध के कारण लड़खड़ा रहे थे। कौटिल्य ने बहुत पहले ही गणतन्त्रों को निकृष्ट कोटि की शासनप्रणाली घोषित कर दिया था। मौर्यों ने स्वयं इनके समाप्त करने में हाथ बँटाया था और रहे सहे गणतन्त्रों का नाश कर राजतन्त्र के उन्नायक गुप्तों ने 'गणारि' की उपाधि धारण की थी। राजतन्त्र की धारणा गुप्तों के समय तक अत्यधिक मजबूत हो गई थी।

इस काल तक भारतीय संस्कृति एक नया रूप धारण कर चुकी थी। आर्यों से इतर कई जातियाँ आर्य-समाज में सम्मिलित कर ली गई थीं। द्रविड, नाग, यक्ष, गन्धर्व, शक आदि अनेकों विजातीय तत्त्वों ने भारतीय संस्कृति के रूपनिर्माण में अपूर्व सहयोग दिया था। द्रविडों की शिवपूजा तथा यक्षों एवं गन्धर्वों की वृक्ष-पूजा भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण

अङ्ग बन गई थी। पुराणों में इन सबका समावेश कर एक नये 'भागवतधर्म' की नींव पड़ चुकी थी। कालिदास में विष्णु तथा शिव की इस समन्वय रूप उपासना का संकेत मिलता है तथा उन्हें एक ही परम सत्ता के भिन्न भिन्न रूप माना गया है। वृक्षों की पूजा का संकेत कालिदास में कई स्थानों पर मिलता है। दोहद के लिए कामिनियों के द्वारा तत्तत् प्रकार से अशोकादि वृक्ष की पूजा में, कलात्मक दृष्टि से वसन्तोत्सव कारण रहा हो, किन्तु विद्वानों ने उर्वरता के देवता, यक्ष की उपासना के बीज ढूंढे हैं। विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि कामदेव का सम्बन्ध भी इन्हीं यक्षों से रहा है, तथा वे उर्वरता के प्रतीक हैं। गुप्तकाल तथा उससे कुछ पहले की शिलामूर्तियों के आधार पर भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है।

ईसा से दो तीन शताब्दी पूर्व से ही भारतीय कला का विकास अपनी चरम परिणति की ओर बढ़ने लगा होगा। इसके पहले लक्षण कनिष्क के काल की गान्धार कला में देखे जा सकते हैं। गान्धार कला में यूनानी कला तथा रोमन कला का मिश्रण था। पर यह कलाशैली भारत में इतनी व्यापक न हो पाई। गुप्तों के काल में हमें स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला तथा चित्र-कला में एक निश्चित शैली मिलती है। इन कलाओं के अतिरिक्त संगीत तथा नृत्य में भी अत्यधिक उन्नति हुई थी। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसकी मूर्ति में हाथ में वीणा देखी जाती है। समुद्रगुप्त स्वयं कुशल संगीतज्ञ था। उसके शिलालेख से पता चलता है कि वह स्वयं कवि तथा कवियों का आश्रयदाता था। इस काल में काव्यकला को अत्यधिक प्रश्रय मिला था। गुप्तकाल में हरिषेण, कालिदास, वातास भट्टि जैसे प्रसिद्ध कवि उत्पन्न हुए थे। वैसे भारवि भी गुप्त-काल के अन्तिम दिनों में अवश्य विद्यमान थे। काव्य के अतिरिक्त दर्शन, शास्त्र आदि का भी इस काल में प्रणयन तथा विवेचन तीव्र गति से पाया जाता है। बौद्ध भिक्षु दार्शनिक

असंग, दिङ्नाग, वसुबन्धु इसी काल में हुए हैं। याज्ञवल्क्य की स्मृति भी इसी काल की रचना है। आस्तिक दर्शनों में सांख्य तथा योग की मान्यताएँ पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थीं तथा पौराणिक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी प्रायः सांख्य की दार्शनिक धारणा में विश्वास करते थे, ऐसा कालिदास के ग्रन्थों से ही स्पष्ट है। सांख्य दर्शन निश्चित रूप से सबसे पुराना आस्तिक दर्शन है। ऐसा जान पड़ता है, गुप्त-काल से पहले ही सांख्य दर्शन की मान्यताओं में कुछ परिवर्तन हो चुका था। मूलरूप में सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन था, किन्तु इस काल तक उसमें 'ईश्वर' को स्थान मिल चुका था।

इस प्रकार गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का ज्वलन्ततम काल है, जिसमें एक ओर समाज का नैतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्तर उन्नत दिखाई देता है, दूसरी ओर कला, काव्य, शास्त्र और विज्ञान की उन्नति। इस काल की युग-चेतना को अपने काव्यों में प्रतिबिम्बित करने में कालिदास पूर्णतः सफल हुए हैं।

कालिदास का काल व जीवनवृत्त

कविकुलचूड़ामणि कालिदास के जीवन तथा तिथि के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। उनके जीवन तथा काल के विषय में निश्चित मत न बन पाने के कई कारण हैं :—(१) कालिदास ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है, (२) कालिदास के नाम के साथ कई किंवदन्तियाँ तथा कृत्रिम रचनाएँ जुड़ गई हैं, (३) संस्कृत साहित्य में बाद में चलकर कालिदास नाम न रहकर उपाधि हो गया है। कालिदास के जीवन के विषय में निश्चित रूप से हम कुछ नहीं जानते। किंवदन्तियाँ उन्हें मूर्ख बताती हैं तथा काली के प्रसाद से किस प्रकार वे महान् कवि बने, इसका संकेत

देती है। कुछ किंवदन्तियाँ उन्हें विक्रम की सभा के नवरत्नों में से एक घोषित करती हैं,[1] तो कुछ भोजदेव का दरबारी कवि।[2] कई किंवदन्तियाँ उन्हें लङ्का के राजा धातुसेन या कुमारदास का मित्र बताती हैं, तो कई उन्हें 'सेतुबन्ध' महाकाव्य के रचयिता काश्मीरराज प्रवरसेन का मित्र तथा मातृचेट से अभिन्न मानती हैं। ठीक यही बात कालिदास के जन्म स्थान, के विषय में है। कुछ उन्हें काश्मीरी मानते हैं, कुछ बंगाली, कुछ मालव-निवासी। मेरे मत से कालिदास मालव-निवासी थे। कालिदास के ऋतुसंहार में जो उनकी आरम्भिक काव्य-कृति है इसके संकेत मिल सकते हैं। ऋतुसंहार में वर्णित प्रचण्ड ग्रीष्म काश्मीर में देखने को नहीं मिल सकता, साथ ही ऋतुसंहार में कवि स्वयं कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से विन्ध्य पर्वत के वनप्रदेशों का वर्णन करता है।[3] पं० चन्द्रबलीजी पाण्डेय ने मुझे बताया था कि वे कालिदास की जन्मभूमि आम्रकूट के आसपास कहीं मानते हैं, खास उज्जयिनी नहीं, जैसा कि अधिकतर लोग समझा करते हैं। हाँ, उज्जयिनी से कालिदास को मोह अवश्य है। कालिदास ने अपने जीवन में अत्यधिक पर्यटन किया था। यही कारण है, उनके हिमालय के वर्णन स्वाभाविकता और सजीवता लिये हैं, वे आँखों देखे स्थलों के वर्णन हैं।

कालिदास की तिथि के विषय में कई मत रहे हैं, जिनमें प्रमुख मत निम्न हैं:—

(१) फर्ग्युसन, डॉ० हार्नली आदि विद्वानों के मतानुसार कालिदास

---

१. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

२. दे० भोजप्रबन्ध।

३. वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषणान्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः। ऋतुसंहार

मालवराज यशोधर्मन् के समकालीन थे, जिसने छठी शती में हूणों पर विजय प्राप्त की थी तथा हूणों पर प्राप्त विजय की स्मृति में ६०० वर्ष पहले की तिथि देकर मालव सम्वत् का आरम्भ किया था, जो बाद में विक्रम सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। ये लोग अपने मत के पक्ष में रघुवंश के चतुर्थ सर्ग से रघुदिग्विजय में हूणों का वर्णन उपस्थित करते हैं।[1] किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यद्यपि चौथी शती में हूण भारत में नहीं आये थे, तथापि उत्तर पश्चिमी सीमा में आ चुके थे और कालिदास ने उनका वर्णन वहीं किया है। कालिदास को छठी शती ईसवी में मानने की धारणा अब खण्डित हो चुकी है।

(२) दूसरा प्रसिद्ध मत कालिदास को ई० पू० प्रथम शती में मानने का है। इन लोगों के मतानुसार कालिदास मालवराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। पर पूर्वोदाहृत प्रसिद्ध पद्य के नवरत्नों में कुछ नाम अनैतिहासिक हैं तथा कुछ इतिहास की दृष्टि से चौथी या पाँचवीं शती ईसवी में सिद्ध होते हैं। इस मत के पक्ष में जो प्रमाण दिये जाते हैं, उनमें खास-खास प्रमाण ये हैं, (१) कालिदास ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग में अवन्तिनाथ का वर्णन करते समय उनके 'विक्रमादित्य' विरुद का सङ्केत किया है[2] तथा उस वर्णन से अवन्तिराज के प्रति कवि की विशेष श्रद्धा व्यक्त होती है; (२) रघुवंश के उसी सर्ग में पाण्ड्य देश के राजा का वर्णन मिलता है। यदि कालिदास का समय चौथी शती माना जाय, तो उस समय पाण्ड्यों का राज्य समाप्त हो चुका था, जब कि ई० पू० प्रथम शती में

---

१. तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥ (रघुवंश ४.६८)

२. अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहु.........यन्त्रोल्लिखितो विभाति (रघुवंश ६.३२)

पाण्ड्य विद्यमान थे।[1] किन्तु, कालिदास ने मगध के राजा का भी उतना ही प्रतापी व्यक्तित्व चित्रित किया है, 'जिसके कारण पृथ्वी राजन्वती कहलाती है' तथा जो राजाओं की नक्षत्रपङ्क्ति में चन्द्रमा के समान द्योतित होता है।[2] पाण्ड्यों के राजा का वर्णन कालिदास में कुछ काल्पनिक भी माना जा सकता है। यदि इस तरह के सभी वर्णनों को सत्य माना जाने लगेगा, तो श्रीहर्ष में नैषध के स्वयम्वर वर्णन के राजाओं का भी अस्तित्व मानने का प्रसंग उपस्थित होगा।

(३) तीसरा मत कालिदास को गुप्तकाल में मानता है। इसमें दो मत हैं, कुछ लोग इन्हें कुमारगुप्त का राजकवि मानते हैं, कुछ चन्द्रगुप्त द्वितीय का। मेरे मत से कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही राजकवि थे। इस मत की पुष्टि में विद्वानों ने निम्न प्रमाण उपन्यस्त किये हैं। (क) कालिदास में कुछ ऐसे ज्योतिःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों, यथा 'जामित्र'[3] आदि का प्रयोग मिलता है, जो भारतीय ज्योतिष को यवनों की देन है; (ख) कालिदास का रघुदिग्विजय समुद्रगुप्त के दिग्विजय का सङ्केत करता है; (ग) कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीय' का नामकरण सम्भवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सङ्केत करता है[4] तथा 'कुमारसम्भव' की रचना कुमारगुप्त के जन्म पर की गई होगी; (घ) मालविकाग्निमित्र का अश्वमेध यज्ञ समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ का व्यञ्जक हो सकता है; (ङ) शैली की दृष्टि से कालिदास की रचना निश्चित रूप में अश्वघोष से परवर्ती है, (च) कालिदास स्वयं अपने मालविकाग्निमित्र में भास, सौमिल्ल तथा

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः·····सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः (वही ६.६०)

२ कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये··ज्योतिष्मती चन्द्रमसेवरात्रिः (वही ६.२२)

३. 'तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्' (कुमारसम्भव ७.१)

४ साथ ही मिलाइये 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' (विक्रमोर्वशीयः पृ० ३२)

कविपुत्र का सङ्केत करते हैं[1], वैसे इन कवियों की निश्चित तिथि का पता नहीं, पर भास का समय उसके नाटकों की प्राकृत के आधार पर ईसा की दूसरी शती माना जा सकता है; (छ) वातास भट्टि के मन्दसौर शिलालेख की शैली से पता चलता है, कि वह कालिदास का ऋणी है। मन्दसौर का शिलालेख ४७३-४ ई० का है। इससे यह अनुमान हो सकता है कि कालिदास इससे पुराने हैं, (ज) ऐहोल के शिलालेख में कालिदास तथा भारवि का नाम मिलता है, जो ६३४ ई० का है[2]।'

इस सब विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रघुवंश आदि सात काव्यों (तीन नाटकों व चार काव्यों) के रचयिता 'दीपशिखा' कालिदास चौथी शती के आसपास रहे होंगे। बाद के साहित्य से हमें पता चलता है कि बाण के समय तक कालिदास अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुके थे। बाण ने स्वयं हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशंसा की है।[3] उसके बाद वाक्पतिराज, राजशेखर आदि कवियों ने भी कालिदास की प्रशंसा की है। बाद में जाकर कालिदास का नाम इतना प्रसिद्ध हो गया था, कि यह एक उपाधि बन बैठा। राजशेखर लिखते हैं कि उनके समय तक (शृङ्गारी कवि) तीन कालिदास हो चुके थे।[4] भोजदेव के समय में भी एक कालिदास हुए थे, जिनकी उपाधि 'परिमल कालिदास' थी, तथा जो 'नवसाहसाङ्कचरित' के रचयिता थे।

संस्कृत साहित्य के अन्य कालिदासों से रघुवंशादि के रचयिता कालिदास को अलग करने के लिए इन्हें 'दीपशिखा' कालिदास कहना

---

१. भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्ध··· किं कृतोऽय बहुमानः (मालवि० पृ० २)

२. स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।

३. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥ (हर्षचरित)

४. शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

विशेष ठीक होगा। संस्कृत के प्राचीन पण्डितों ने इन्हें एक सुन्दर उपमा-प्रयोग के कारण यह उपाधि दे दी है। रघुवंश के षष्ठ सर्ग में स्वयम्वरवर्णन में कालिदास ने बताया है कि जब इन्दुमती हाथ में वरमाला लिए किसी राजा के पास पहुँचती है, तो वह इसी तरह जगमगा उठता है, जैसे रात में सञ्चारिणी दीपशिखा के प्रकाश में राजमार्ग का प्रासाद चमक उठता है और जब वह उसे छोड़ कर आगे बढ़ जाती है, तो वह विवर्ण हो जाता है।[१]

कालिदास की कृतियाँ

वैसे तो कालिदास के नाम से कई कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु 'दीपशिखा' कालिदास की रचनाएँ केवल ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल ही हैं। इनमें प्रथम चार काव्य हैं, बाक़ी तीन नाटक।[२] कालिदास के नाटकों के विषय में

---

१. सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ (रघु० षष्ठ सर्ग ६७)

२. किंवदन्तियाँ 'नलोदय' 'राक्षसकाव्य' 'श्रृङ्गारतिलक' काव्यों को, श्रुतबोध नामक छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ को, 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ज्योतिःशास्त्र की रचना को तथा प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत महाकाव्य को भी कालिदास की ही रचना घोषित करती हैं। सेतुबन्ध के टीकाकार रामसिंह ने इसे कालिदास की रचना मानते हुए लिखा है---'यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबन्धम्।' पर इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं। सेतुबन्ध की शैली में पतनोन्मुखकाल का यमक आदि अलङ्कारों का मोह विशेष पाया जाता है। यही बात नलोदय तथा राक्षसकाव्य में भी बहुत अधिक पाई जाती है। सरस स्वाभाविक शैली का पथिक कालिदास इस तरह के चित्रकाव्य को जन्म नहीं दे सकता:—

कश्चिद्वनं बहुवनं विचरन् वयस्थो वश्यां वनात्मवदनां वनितां वनार्द्राम्।
तर्वर्यरिप्रदमुदीक्ष्य समुत्थितं खे ना गामिमां मदकलः सकलां बभाषे॥ (राक्षसकाव्य)

(बहुत से कमलों से भरे वन में घूमता हुआ कोई मस्त नवयुवक आकाश में बादल (पेड़ के शत्रु (अग्नि) के शत्रु (जल) को देने वाले) को घिरा देखकर जल से भीगी, कमल के समान मुखवाली नायिका से इस प्रकार की कलापूर्ण वाणी में बोला।)

यहाँ कुछ नहीं कहना है, क्योंकि कालिदास के नाटककर्तृत्व पर हम नाटककारों की श्रेणी में एक स्वतन्त्र परिच्छेद देने जा रहे हैं। यहाँ हम कालिदास के दो महाकाव्यों तथा दो इतर काव्यों के विषय में कुछ कहना चाहेंगे। पहले यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि कालिदास के काव्यों तथा नाटकों के सूक्ष्म अध्ययन पर पता चलता है कि कवि की प्रतिभा किस तरह क्रमशः अभिवृद्ध हुई है, और उसकी कलात्मक परिणति के बीज प्रारम्भिक रचनाओं में ही दृष्टिगोचर होते हैं। ऋतुसंहार कवि की आरम्भिक रचना है, यही कारण है वह कलात्मक प्रौढि से रहित है। मेघदूत या कुमारसम्भव की कलात्मक स्निग्धता का वहाँ अभाव है। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे कालिदास की रचना नहीं मानते। वे इस विषय में कुछ दलीलें भी देते हैं कि यदि यह कालिदास की रचना होती, तो मल्लिनाथ इसकी टीका क्यों न लिखते तथा आलङ्कारिक अपने लक्षणग्रन्थों में इसके पद्यों को क्यों न उद्धृत करते। पर ये दलीलें थोथी हैं, ऋतुसंहार की सरलता के कारण न तो मल्लिनाथ ने ही इस पर टीका करना आवश्यक समझा होगा, न वे अलङ्कार शास्त्री ही इसके प्रति आकृष्ट हुए होंगे, जो सदा प्रौढ कलात्मकता के प्रशंसक रहते हैं। ऋतुसंहार के कुछ ही बाद की रचना मालविकाग्निमित्र है। कुमारसम्भव, मेघदूत तथा विक्रमोर्वशीय कवि की तरुणता का संकेत करते हैं। ये कवि के जीवन के मध्यकाल से सम्बद्ध जान पड़ते हैं। तारुण्य का जो

'नलोदय' महाकाव्य को प्रायः सभी विद्वान् कालिदास की रचना नहीं मानते। नलोदय काव्य में यमक के सभङ्गरूप का मोह अत्यधिक पाया जाता है। श्रीरामनाथ अय्यर के मतानुसार 'नलोदय' की रचना दक्षिण के किसी कवि 'वासुदेव' ने की थी, जिसने दूसरे यमक-काव्य 'युधिष्ठिरविजय' (काव्यमाला से प्रकाशित) की भी रचना की है। यह कवि कुलशेखर तथा उसके पुत्र राम की राज-सभा में नवीं शती के अन्त (?) में रहा होगा। (दे० रायल एशियाटिक सोसायटी, जर्नल १९२५, पृ० २६३)

अंकुर प्रथम काल की रचनाओं में मिलता है, वह यहाँ विकसित हो गया है। रघुवंश तथा शाकुन्तल अन्तिम काल की रचनाएँ जान पड़ती हैं, इनमें भी सम्भवतः रघुवंश सबसे अन्तिम रचना है। रघुवंश ही वह रचना है, जिसमें कालिदास की युग-चेतना पूर्णतः प्रतिबिम्बित मिलती है। आदर्श समाज के जो चित्र कालिदास ने रघुवंश में यत्र तत्र संकेतित किये हैं, वे कालिदास की वर्णाश्रमधर्म की मान्यता को पुष्ट करते हैं।

ऋतुसंहार

ऋतुसंहार छः सर्ग का एक छोटा-सा काव्य है। इसका प्रतिपाद्य विषय प्रकृतिचित्रण है। पर ऋतुसंहार की प्रकृति वाल्मीकि की भाँति आलम्बन प्रधान न होकर, उद्दीपन प्रधान है। ऋतुसंहार में कवि ने अपनी प्रिया को सम्बोधित कर छहों ऋतुओं का वर्णन किया है, तथा उसके उद्दीपन पक्ष का स्वर यत्र तत्र स्पष्ट मुखरित हो उठता है। यह दूसरी बात है कि कुछ ऐसे भी चित्र आ जाते हैं, जो प्रकृति के आलम्बनपक्ष-से लगते हैं। कवि ने काव्य को ग्रीष्म की प्रचण्डता से आरम्भ किया है और वसन्त की सरसता के साथ काव्य की परिसमाप्ति की गई है। ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है।

विशुष्ककण्ठाहृतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः।
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति॥ (१. १५)

'सूखे कण्ठ से सीकर-जल को ग्रहण करते हुए; सूर्य की किरणों से तपाये हुए, बहुत ज्यादा प्यास से सताये, जल के इच्छुक हाथी शेर से भी नहीं डरते हैं।'

ऋतुसंहार के वर्णनों में अलङ्कारों की सुन्दर छटा है। कालिदास का वर्षाकाल राजा की तरह ठाट-बाट से आता दिखाई पड़ता है, वह पानी से भरे बादल के मस्त हाथी पर बैठ कर आता है, आकाश में उसकी बिजली की

ध्वजा फहराती रहती है, और वज्रनिर्घोष के 'मादल' बजा करते हैं। वह उद्धत कान्ति से कामिजनों का प्रिय बनकर प्रकृति के प्रांगण में अवतरित होता है।[1] इसी तरह कालिदास की शरत् काश की नई साड़ी पहन कर, खिले कमलों के मुख की सुन्दरता लिए, मस्त हंसों के कूजन रूपी नूपुरों से मनोहर बनी, फल के भार से झुकी हुई पकी शालि की तरह लज्जा (या यौवनभार) से झुके कोमल शरीरवाली नववधू बनकर आती दिखाई देती है।[2] ऋतु-संहार की कला के भोलेपन तथा 'बचकानेपन' में भी अपना सौन्दर्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मेघदूत

मेघदूत कालिदास की उन दो रचनाओं में से एक है जिनके कारण कालिदास ने विश्वख्याति प्राप्ति की है। कवि ने १११ या ११८ पद्यों[3] के इस छोटे से काव्य की गागर में अपनी भावना के सागर को उडेल दिया है। कुबेर के शाप के कारण रामगिरि पर वर्ष भर के वनवास को गुजारता हुआ कोई यक्ष, वर्षाकाल के आरम्भ में आकाश में घिरे बादल को देखकर वियुक्त प्रिया की याद से तड़फ उठता है, और बादल से प्रार्थना करता है कि वह अलकापुरी जाकर उसकी प्रिया को संदेश पहुँचा दे, तो बड़ा उपकार होगा। पूर्वमेघ में रामगिरि से अलकापुरी तक के उस मार्ग का वर्णन है, जिससे बादल को जाना है। इस मार्ग में बादल कहीं उसका इंतजार करती, जनपदवधुओं की सरस आँखों का पात्र बनेगा, तो कहीं

---

१. ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये॥ (ऋतु० २. १)

२. काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा, सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥ (ऋतु० ३.१)

३ वल्लभदेव के अनुसार मेघदूत में १११ पद्य हैं, मल्लिनाथ के मत से ११८। सम्भवतः ये ७ पद्य बाद के प्रक्षेप है।

आकाश में उड़ती बलाकाओं को गिनती हुई सिद्धकामिनियों को अपने गर्जन से डराकर उनके प्रियों को आलिंगन का अपूर्व आनन्द उठाने में सहायता देगा। वह कहीं नीपकुसुमों से खिले नीच पर्वत को देखेगा, तो कहीं विन्ध्य की तलहटी में 'हाथी के शरीर पर चित्रित पत्रावली' की तरह पहाड़ियों के कारण इधर उधर छिटकी हुई रेवा की धाराओं को।[१] उज्जयिनी में पहुँच कर वह महाकाल के दर्शन करेगा और इस बात का स्मरण रखेगा कि रात के अंधेरे में अभिसरण करती नायिकाओं को 'सोने की रेखा के समान चमकती' बिजली से आलोक दिखाये, लेकिन गरजकर डराये नहीं।[२] इसके बाद 'विवृतजघना' गम्भीरा के रस का 'ज्ञातास्वाद' रसिक की तरह पान कर, वह ब्रह्मावर्त, क्रौंचपर्वत आदि मार्ग से होता हुआ, उस अलका में पहुँचेगा, जहाँ कन्याएँ मणियों को रेती में छिपा छिपाकर खेला करती हैं, जहाँ की कामिनियों की चूर्णमुष्टि मणिदीपों को नहीं बुझा पाती, और जहाँ सूर्योदय के समय राजमार्ग पर पैरों से कुचले हुए मन्दारपुष्प, कानों से गिरे कनक-कमल, सूत्र के टूटने से बिखरे हुए हार, रात में अभिसरण करती 'कामिनियों' की सूचना दिया करते हैं।[३] इसी सम्बन्ध में यक्ष बादल को अपने निवासस्थान का सरस, विलासमय विवरण देता है तथा उस यक्षिणी की विरह-विदग्ध क्लान्तदशा का मार्मिक

---

१. रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य॥ (पूर्वमेघ, १९)

२. सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम्।
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ताः॥ (पूर्वमेघ, ३७)

३. गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥ (उत्तरमेघ, ९)

वर्णन करता है, जो विधाता की प्रथम स्त्री-सृष्टि है।[१] तदनन्तर यक्ष का वह प्रसिद्ध संदेश है, जिसमें कालिदास ने अपने प्रेमी हृदय की भावना को भर दिया है। काव्य का प्रामाणिक कलेवर यहीं समाप्त हो जाता है। किसी कवि ने काव्य को सुखान्त बना देने के लिए दो पद्य प्रक्षिप्त कर दिये हैं, जिनमें संकेत मिलता है, कि कुबेर ने यक्ष के संदेश की बात सुनकर प्रसन्न होकर दोनों बिछुड़े प्रेमियों को मिला दिया।

संस्कृत पण्डित-परम्परा मेघदूत को खण्डकाव्य मानती है। पर खण्ड-काव्य के लिए जिस इतिवृत्त की आवश्यकता होती है, वह मेघदूत में नगण्य है। मेघदूत में वर्णित यक्ष का इतिवृत्त इतना नगण्य है कि उसका काव्य में कोई महत्त्व नहीं। यदि यहाँ यक्ष न होकर कोई दूसरा भी होता, तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। साथ ही खण्ड काव्य में, इतिवृत्त की जो गत्यात्मकता किसी हद तक आवश्यक है, उसका मेघदूत में अभाव है। खण्डकाव्य विषयप्रधान (Objective) रचना होती है, जब कि मेघदूत में विषयिप्रधान (Subjective) दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित होता है। कुछ विद्वान् मेघदूत को करुणगीति या 'एलिजी' (Elegy) मानने के पक्ष में हैं। डॉ० कीथ का यही मत है। मेरे मत से मेघदूत करुण-गीति नहीं है। 'एलिजी' प्रायः निधन से संबद्ध करुणगीतियाँ होती हैं, जब कि मेघदूत का करुण कुछ नहीं विप्रलंभ का अंग है। मेघदूत का रस श्रृंगार है, करुण नहीं, इसे कभी नहीं भूलना होगा। मेघदूत न खण्डकाव्य है, न करुणगीति ही, वह विषयिप्रधान भावात्मक गीतिकाव्य (Lyric poem) है। इस दृष्टि से मेघदूत की तुलना हम हिन्दी के छायावादी कवि पन्त की

---

१. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ (उत्तरमेघ १९)

'ग्रन्थि' तथा प्रसाद के 'आँसू' से कर सकते हैं, जिन्हें भी कुछ लोग भ्रांति से खण्डकाव्य या 'एलिजी' मान लेते हैं, यद्यपि वे स्पष्टतः 'गीतिकाव्य' हैं। किसी काव्य में सूक्ष्म कथा-सूत्र का संकेत देने मात्र से वह इतिवृत्तात्मक या विषयप्रधान नहीं बन सकता। मेघदूत में गीतिकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं। गीतिकाव्य से हमारा तात्पर्य संगीत के आधार पर 'गेय' काव्य से नहीं है। गीतिकाव्य हम उसे कहते हैं, जिसमें कवि के निजी भावों तथा कल्पनाओं का अकृत्रिम प्रवाह हो, जिसमें कवि की वैयक्तिकता, उसके निजी सुख-दुख, हास-अश्रु, उल्लास-विषाद की तरलता हो, जहाँ कवि अपने आप को भावुक सहृदयों के सामने कविता के माध्यम से रख रहा हो।

मेघ को दूत बना कर भेजने की कल्पना का बीज संभवतः हनुमान् को दूत बनाने की रामायण की घटना में है। मेघ को दूत बनाने में कुछ विद्वान् आस्वाभाविकता का दोष मानते हैं, किंतु कालिदास ने स्वयं ही 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाश्चेतनेषु' कह कर इसका उत्तर दे दिया है। मेघ को दूत बनाने में काव्य दुष्ट नहीं हुआ है, अपितु इसकी काव्यमत्ता और अधिक निखर उठी है। पूर्वमेघ में इस काव्यमत्ता का कल्पनापक्ष अधिक है, उत्तरमेघ में भावनापक्ष। कल्पनापक्ष तथा भावनापक्ष की प्रचुर तरलता के ही कारण यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इस कविता में कवि के स्वयं के वैयक्तिक अनुभवों का स्पंदन है। मेघदूत की कलात्मक चारुता में संस्कृत के भावी कवियों का मन इतना रमा है कि कई कवियों ने इसके ढंग पर 'सन्देश' काव्य लिखे हैं, इनमें 'नेमिदूत' (विक्रमकृत) 'पवनदूत' (धोयीकृत) 'हंसदूत' 'उद्धवदूत' 'हनुमद्दूत' आदि प्रसिद्ध हैं।[१] पर मेघदूत की रमणीयता को ये दूतकाव्य नहीं पा सके हैं।

---

१. मेघदूत के ही ढंग पर आज से लगभग दस वर्ष पूर्व इन पंक्तियों के लेखक

समझा हो, क्योंकि 'कुमारसम्भव' के कारणरूप शिव-पार्वती-संभोग से स्कन्द के भावी जन्म की सूचना मिल जाती है। इसके अतिरिक्त कवि का प्रमुख लक्ष्य पार्वती की तपस्या के 'क्लेश की सफलता बता कर उसे क्लेशहीन नवीनरूप देना' जान पड़ता है।

कुमारसंभव में हम कालिदास की प्रमाणिक कृति केवल प्रथम आठ सर्गों को ही मानते हैं। इन सर्गों में कवि ने एक समग्र एवं समन्वित कथावस्तु को चित्रित किया है। शिव तथा पार्वती जैसे देवताओं की प्रणय-गाथा के विषय को लेकर उस पर काव्य लिखना निश्चित रूप से साहसपूर्ण कार्य था। कालिदास ने इन दोनों देवताओं के प्रणय को दैवीरूप न देकर शुद्ध मानवीरूप दिया है। शिव तथा पार्वती देवता होते हुए भी मानवीरूप में दिखाई पड़ते हैं। कुमारसंभव की कथा का स्रोत संभवतः महाभारत (३.२२५) रहा है, किन्तु कालिदास ने उसमें कुछ आवश्यक हेरफेर अवश्य किये हैं। आरंभ में हिमालय का सजीव वर्णन, तृतीय सर्ग का वसन्त वर्णन, चतुर्थ सर्ग का रतिविलाप तथा पंचम सर्ग का पार्वती-ब्रह्मचारी-संवाद कुमारसंभव के अत्यधिक मार्मिक स्थल हैं। कुमारसंभव की कृति पूर्णतः रसवादी जान पड़ती है, रघुवंश की भाँति कवि यहाँ किसी नैतिक व्यवस्था का पोषक नहीं दिखाई देता। यौवन की सरस क्रीडा का वर्णन ही कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य जान पड़ता है, जिसे कवि ने पौराणिक इतिवृत्त को लेकर व्यक्त किया है। कुमारसंभव का कोई गंभीर उद्देश्य नहीं और यदि कोई है भी, तो वह काव्य की प्रभावोत्पादकता में पूरी तरह दब जाता है। हम देखेंगे कि रघुवंश की रचना का उद्देश्य सर्वथा भिन्न रहा है।

रघुवंश

रघुवंश कुमारसंभव की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र को लेकर आता है। यही कारण है कि यहाँ कालिदास की कला का पूर्णरूप दिखाई देता है।

कालिदास की कला ने इस काव्य में कई इतिवृत्त को लेकर इस तरह बुन दिया है कि वे सब हमारे सामने एक ही ताने-बाने के रूप में आते हैं। रघुवंश को हम एक समग्र इतिवृत्तात्मक काव्य न कह कर कई चरित्रों की चित्रशाला कह सकते हैं, जिसमें दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक कई चरित्र हमारे सामने आते हैं। इनमें से कुछ चित्रों में कवि का मन अत्यधिक रमा है, कुछ के चरित्रों को वह चलते ढंग से अंकित कर देता है। समग्र काव्य में कालिदास की तूलिका रघु तथा राम के चरित्रों को ही अपनी समस्त संपदा दे सकी है और सारी चित्रशाला में रघु तथा राम के चित्रों के बाद हमें तपस्यारत दिलीप का गंभीर चरित्र और अज का कोमलरूप अधिक आकर्षित करता है। रघुवंश के पूर्वार्ध में रघु का आदर्श चरित्र अत्यधिक उदात्त है और दिलीप तथा अज के चरित्र उसी के अंगरूप में आये हैं; उत्तरार्ध में राम के चरित्र का ठीक वही स्थान है, जिसके अंग दशरथ तथा कुश के चरित्र हैं। कुश के बाद के कई राजा हमारे सामने छायाकृति में आते हैं और बड़ी तेजी से काव्य के रंगमंच से ओझल हो जाते हैं। अग्निवर्ण के विलासी जीवन का करुण अंत दिखा कर काव्य का अंत होता है और रघु के वंश के भावी उत्तराधिकारी का, अग्निवर्ण की गर्भवती पत्नी के गर्भ का, अभिषेक कर काव्य का अंत कर दिया जाता है:—

> तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
> 　　दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः।
> निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
> 　　वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः॥ (१९. ५६)

'राजा अग्निवर्ण की क्षयरोगजनित मृत्यु की विपत्ति के शोक से उत्पन्न रानी के गरम आँसुओं से पहले तपाया हुआ गर्भ, बाद में सोने के

कलशों के द्वारा मुक्त अभिषेक-विधि के ठंडे जल के द्वारा शीतल बना दिया गया।'

रघुवंश की इस विविध इतिवृत्तात्मक एकता में रामचन्द्र का चरित्र निश्चित रूप से सर्वश्रेष्ठ है। दिलीप, रघु, अज तथा राम के चरित्र का प्रमुख बिन्दु तपःपूत निःस्वार्थ भावना है, तो रघु में वीरता तथा दानशीलता के गुण सर्वोत्कृष्ट जान पड़ते हैं। अज का चरित्र एक दूसरा पहलू लेकर आता है, जहाँ प्रजा की सेवा के लिए राजा अपनी वैयक्तिक हृदय-पीडा को सहता हुआ, विरह-विदग्ध मन को न चाहते हुए भी कुचल देता है। इन्दुमती की मृत्यु के बाद अज को उसके वियोग की कडवी घूँट, जीवित रह कर, इसलिए सहनी पड़ती है, कि दशरथ उस समय तक बालक थे। राम का चरित्र पितृ-भक्ति, दुष्ट-शास्तृत्व तथा स्वार्थ-त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार कालिदास ने ये चरित्र 'आदर्श सम्राट्' के रूप में चित्रित किये हैं। इन चरित्रों में कुछ सीमा तक कालिदास अपने काल के गुप्त सम्राटों तथा उस काल के वैभव से भी प्रभावित हुए हैं और यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि कालिदास ने अपने ही समय के समृद्धिशाली समाज का चित्र अंकित किया है, यद्यपि उसमें कल्पना का समावेश अवश्य है। कालिदास के रघुवंश के राजचरित्र सर्वथा दोषहीन हैं; इसलिए हम उन्हें 'आदर्श' अवश्य कह सकते हैं; किन्तु आदर्श चरित्र होते हुए भी कालिदास ने जिस वाता-वरण में उन्हें चित्रित किया है, वह सर्वथा मानवी वातावरण है, तथा वे चरित्र हमें अस्वाभाविक, अलौकिक या दूसरे जगत् के प्राणी नहीं लगते। अपनी कला के प्रदर्शन के लिए कालिदास ने अतीत काल की पौराणिक गाथा को चुना है, पर जिस रूपरंग के साथ उसका प्रदर्शन किया गया है, वह यथार्थवादी दृष्टिकोण न होते हुए भी यथार्थ प्रतीत होता है। रघुवंश तथा कुमारसम्भव दोनों ही काव्यों में कवि कालिदास का कथा-प्रवाह अन्य

पतनोन्मुख काल के महाकाव्यों की तरह केवल वर्णन या अलङ्कारप्रेम के द्वारा अवरुद्ध नहीं कर दिया जाता। रघुवंश की कथावस्तु की गति कहीं मन्द नहीं पड़ती। इसके बीच कई सरस स्थल आते हैं, जो कथा प्रवाह को गति देते हैं। वर्ण्यविषय, दृश्ययोजना, चरित्र-चित्रण, भाव-सन्तति, घटनाएँ तथा दार्शनिक संकेत सब मिल कर काव्य की एकरूपता में सहायक होते हैं।

रघुवंश के प्रथम दो सर्गों में हमें पुत्रहीन दिलीप के द्वारा नन्दिनी की सेवा का त्यागपूर्ण चित्र देखने को मिलता है, तो तीसरे तथा चौथे सर्गों में रघु की वीरता का वर्णन। पञ्चम सर्ग में भी रघु की वीरता देखने को मिलती है, पर वह युद्धवीरता की नहीं, दानवीरता की झाँकी है। इसी सर्ग के अन्त में हमारे सामने एक नया चरित्र आता है। अज के चरित्र के परिपार्श्व के रूप में ही इन्दुमती-स्वयंवर, अज-इन्दुमती का प्रेम तथा उनके करुण चिरवियोग के चित्र हमारे दृष्टिपथ में आते हैं। अज का चित्र अष्टम सर्ग तक चलता है। नवम सर्ग में दशरथ का वर्णन है। इसके बाद दस से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक रामचन्द्र का उदात्त चरित्र अंकित है। बाकी चार सर्गों में कुश से लेकर अग्निवर्ण तक के २२ राजाओं का वर्णन मिलता है। प्रश्न होता है कि क्या कालिदास ने काव्य को यहीं समाप्त कर दिया था? किंवदन्ती है कि इस काव्य में २५ सर्ग थे; किन्तु केवल १९ सर्ग ही उपलब्ध हैं तथा मल्लिनाथ ने भी केवल इन्हीं सर्गों पर टीका की है। मल्लिनाथ के पूर्व के टीकाकार वल्लभदेव ने भी १९ सर्गों पर ही टीका की है। कुछ लोगों के मतानुसार अग्निवर्ण के विलासितापूर्ण जीवन की झाँकी बता कर काव्य को समाप्त कर देने में कालिदास का यह उद्देश्य रहा है कि जिस वंश में रघु, राम जैसे उदात्तचरित्र सम्राट् हुए थे, उसी वंश का विलासपूर्ण होने के कारण कितना करुण अन्त हुआ।

कालिदास का व्यक्तित्व और मान्यताएँ

मूलतः कालिदास पौराणिक ब्राह्मणधर्म तथा वर्णाश्रमधर्म के प्रबल पोषक हैं। अपने काव्यों तथा नाटकों की कथावस्तुओं को उन्होंने पुराणों से लिया है तथा गुप्तकाल के ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थानवाद का स्वर उनकी कृतियों में स्पष्ट सुनाई देता है। अपने काव्यों की कथावस्तु में कालिदास ने जीवन को एक खास ढाँचे (पैटर्न) में अंकित किया है। हम देख चुके हैं कि गुप्तकाल में समाज एक खास ढाँचे में ढल चुका था। कालिदास उसी सामाजिक व्यवस्था के चित्रकार हैं। पौराणिक धर्म में विष्णु तथा शिव एक ही सत्ता के अंश माने जाने लगे थे। कालिदास ने उन्हें इसी रूप में चित्रित किया है। कालिदास स्वयं शिवभक्त जान पड़ते हैं। कालिदास की शिवभक्ति उनके काव्यों तथा नाटकों के मङ्गलाचरण से स्पष्ट है, पर विष्णु के प्रति भी कालिदास की वही भक्ति है। यहाँ यह संकेत करना अनावश्यक न होगा कि गुप्त-सम्राट् विष्णु के भक्त थे। इस समय तक राम, कृष्ण, वराह आदि अवतारों की प्रतिष्ठापना हो चुकी थी। कालिदास के काव्य पौराणिक अवतारवाद के पोषक हैं। कालिदास के राम वाल्मीकि के राम की भाँति आदर्श मानव नहीं, 'हरि' के अवतार हैं।[१] कालिदास ने रघुवंश के दशम सर्ग में तथा अन्यत्र भी इस बात का संकेत किया है कि राम विष्णु के अवतार हैं। इसी तरह वराह, कृष्ण आदि अन्य अवतारों का भी संकेत मिलता है।[२] सृष्टि तथा प्रलय के विषय में कालिदास

---

१. रामाभिधानो हरिरित्युवाच। (रघुवंश १३.१)

२. रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः। (रघुवंश १३.८)
(और) बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः (मेघदूत)

की ठीक वही मान्यताएँ हैं, जो पुराणों की।[1] पौराणिक आख्यानों के संकेत कालिदास में यत्र तत्र मिलते हैं।

पौराणिक धर्म की भाँति ही, कालिदास में मनु आदि स्मृतिकारों के द्वारा निर्दिष्ट वर्णाश्रमधर्म के प्रति आदर है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के निश्चित कर्तव्यों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के निश्चित आश्रमों पर कालिदास ने जोर दिया है। समाज की उन्नति के लिए वे इनका पालन जरूरी समझते हैं। उनके राजा प्रथम वय में ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, तो तृतीय वय में पुत्र को राज्य देकर पत्नी सहित वन की 'तरुच्छाया' का सेवन करते हैं।[2] द्वितीय वय में वे गृहस्थ जीवन का पालन केवल इसलिए करते हैं कि उन्हें प्रजा का पालन करना है तथा पितृऋण चुकाना है। कालिदास के ब्राह्मण चरित्र भी आश्रमधर्म का पालन करते हैं, इसके लिए हम वरतन्तु और कौत्स के चरित्र को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। प्रजा में वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था करना राजा का प्रमुख धर्म है।[3]

कालिदास साम्राज्यवाद के पोषक हैं। वे राजाओं के 'दैवी अधिकारों' को मानते हैं। कालिदास का समय वह है, जब स्मृतिकार राजा को अपना पिता समझने की शिक्षा प्रजा को दे रहे थे तथा नीतिग्रंथ 'बालक राजा के भी सम्मान का उपदेश इसलिए दे रहे थे, कि वे उसे मनुष्य नहीं, 'महती देवता' समझते थे।' कालिदास के छः वर्ष के राजा सुदर्शन का भी प्रजा पिता के समान आदर करती देखी जाती है।[4] किन्तु

---

१. अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते (रघु १३. ६)

२. रघु. ३. ७०

३. नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः (रघु० १६,६७)

४. तं राजवीथ्यामधिहस्तियान्तमाधोरणालंबितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ (रघु० १८.३९)

कालिदास यहीं तक नहीं रुकते। उनके राजाओं का भी प्रजा के प्रति कुछ कर्त्तव्य था। वे ब्राह्मणों के भक्त, प्रजा के भरणपोषण की चिन्ता करने वाले तथा प्रजा के सच्चे बन्धु थे। रघुवंश के प्रथम, पञ्चम, अष्टम तथा चतुर्दश सर्ग में कालिदास ने सम्राट् के इसी आदर्श को बार-बार संकेतित किया है। प्रथम सर्ग में बताया गया है कि सम्राट् प्रजा से इसलिए कर लेते थे कि वे प्रजा के कल्याण का विधान करते थे तथा प्रजा के भरणपोषक के चिन्तक होने के कारण प्रजा के सच्चे मातापिता थे। इस प्रकार कालिदास ने स्मृतिकारों के द्वारा निर्दिष्ट राजधर्म के द्वारा प्रजा तथा राजा के राजनीतिक संबंध को नैतिक तथा धार्मिक रूप देकर उसे मजबूत बना दिया है।

कालिदास प्रकृति से नागरिक-जीवन के कवि हैं। नगर के समृद्ध विलासी-जीवन का वर्णन करने में उनका मन जितना रमता है, उतना ग्रामीण वर्णनों में नहीं। यह दूसरी बात है कि दिलीप के लिए हाथों में मक्खन लेकर उपस्थित होते ग्रामवृद्ध, रघु के चरित को गाती हुई ऊख के खेत की रखवाली करती शालिगोपिकाएँ, मेघ की प्रतीक्षा करती जनपद-वधुएँ उनके चित्रों में यत्रतत्र दिखाई पड़ जाती हैं; पर इनमें कवि का मन विशेष नहीं रमता। उनका मन अधिकतर उज्जयिनी, अलका या अयोध्या के राजमार्ग पर अंधेरी रात में अभिसरण करती कामिनियों, नीच पर्वत पर पण्यस्त्रियों के साथ क्रीडा करते नागरिकों तथा नागरिक जीवन की अत्यधिक समृद्ध झाँकी दिखाने में विशेष अनुरक्त है। उन्हें नाव में तैरते नागरिकों; नगर के आसपास के उपवनों तथा समृद्ध राजमार्ग में विशेष दिलचस्पी है[1] और उजड़ी हुई अयोध्या के लुप्त नागरिक जीवन के प्रति करुण भाव।[2]

---

१. रघु० १४.३० ।

२. आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् (रघु० १६.१३)

यही कारण है, गुप्तकाल के ग्रामीण जीवन की सच्ची स्थिति का पता हमें कालिदास के काव्यों में नहीं मिल पाता। वैसे ऋषियों के तपोवनों में एक झाँकी मिलती है, पर ऐसा अनुमान होता है कि वह वर्णन 'आदर्श' अधिक है 'यथार्थ' कम; साथ ही वह भी सच्चे ग्रामीण जीवन का संकेत देने में असमर्थ है।

कालिदास का अध्ययन गंभीर था। उनके काव्यों में ज्योतिःशास्त्र, राजनीति, दर्शन आदि के ज्ञान का संकेत मिलता है। कालिदास के राजनीतिक संकेतों में शक्तित्रय,[1] षड्गुण[2] आदि परिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है; पर भारवि या माघ की तरह वे राजनीतिक पाण्डित्य के प्रदर्शन में नहीं फँसते। कालिदास के दार्शनिक पर मुख्य रूप से सांख्य तथा योग दर्शन का प्रभाव है। कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग तथा रघुवंश के दशम सर्ग की ईशस्तुति में यत्र तत्र सांख्य सिद्धान्तों का संकेत मिलता है।[3] कुमारसंभव के शिववर्णन में तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग में अज की योगसाधना के वर्णन में कालिदासने योग-साधना का भी संकेत किया है।[4] कालिदास के आदर्श चरित्र इस जीवन को क्षणिक मानते हैं तथा इसकी अपेक्षा चिरस्थायी यशःशरीर में अधिक विश्वास रखते हैं।[5]

कालिदास का कलावादी दृष्टिकोण शुद्ध रसवादी है। रघुवंश को छोड़कर

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान्।
सद्योहतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे॥ (१६.१५)

१. रघु० ३.१३। २. ८.१९;२१।

३. त्वा मामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिन मुदासीनं त्वा मेव पुरुषं विदुः॥ (कु० २.१३)

४. कुमारसंभव. ३, ४५-५०; रघुवंश. ८; १९-२४।

५. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥ (रघु० २.५६)

उनके सभी काव्य कोरे रसवादी हैं, जिनमें किसी सन्देश का लेश भी नहीं। रघुवंश में भी सन्देश का स्वर मन्द तथा व्यङ्ग्य ही है। रघुवंश की आदर्शवादिता ने किसी कदर तक उसकी कलात्मकता में विघ्न नहीं डाला है। हम बता चुके हैं कि कालिदास का कलावादी दृष्टिकोण भारवि, माघ या श्रीहर्ष की तरह नहीं। न तो वे भारवि की भाँति अर्थ के नारिकेल-जल को चहारदीवारी के भीतर छिपा कर रखते हैं, न माघ की भाँति अलङ्कारों के मोह में ही फँसते हैं, न श्रीहर्ष की तरह कल्पना की दूर की कौड़ी ले आने में ही अपनी पाण्डित्यपूर्ण कलात्मकता का प्रदर्शन करते हैं। कालिदास का कवि हृदय का कवि है, मधुर आकृति का कवि है, आत्मा की सरसता का कवि है, जिसे किसी बाह्य 'अलंकृति' की जरूरत नहीं। कालिदास की कला का एक मात्र प्रतिपाद्य—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' है।

कालिदास की काव्य-प्रतिभा

कालिदास की कला रसवादी है। कालिदास कोमल रसों के सरस-चित्रकार हैं, गम्भीर रसों के प्रति कालिदास की उतनी अभिरुचि नहीं दिखाई देती, जितनी भवभूति की। यही कारण है, कि लोग कालिदास को प्रधानतया शृङ्गार का कवि मानते हैं। शृङ्गार, प्रकृतिवर्णन तथा विलासी नागरिक जीवन के चित्रण में कालिदास संस्कृत साहित्य में अपना सानी नहीं रखते। शृङ्गार के संयोग पक्ष ही नहीं, वियोग पक्ष के चित्रण में भी कालिदास की तूलिका अत्यधिक दक्ष है तथा वियोग पक्ष के चित्रण में कालिदास की पङ्क्तियाँ सहृदय पाठक के हृदय को करुणा से गीला बना देती हैं। वियोग पक्ष की दृष्टि से मेघदूत के उत्तरार्ध का सन्देश वाला अंश तथा रघुवंश के चतुर्दश सर्ग की राम की करुण अवस्था का वर्णन अतीव सूक्ष्म होते हुए भी हृदय के अन्तराल तक पैठने की क्षमता रखता है। इन दोनों स्थलों पर

कवि कालिदास ने जिस सूक्ष्म, किन्तु पैनी व्यञ्जना शक्ति का आश्रय लिया है, वह वियोग की तीव्रता को बढ़ा देती है। अज-विलाप तथा रति-विलाप के करुण वर्णन मार्मिक होते हुए भी इतने प्रभावोत्पादक नहीं बन पाये हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार उन दोनों करुण-गीतियों में शृङ्गार के चित्र ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। कुमारसम्भव के रतिविलाप में तो भारतीय आलङ्कारिकों ने भी दोष माना है, जहाँ करुण को वार वार उभार कर उद्दीप्त कर दिया गया है। फलतः उसमें 'पुनः पुनः दीप्ति' नामक रस-दोष पाया जाता है। राम के वियोग वर्णन में यह बात नहीं है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राम के हृदय में दुःख और वेदना का महासमुद्र हिलोरें ले रहा है, पर वे उसे केवल दो बूंद आँसू के द्वारा ही व्यञ्जित करना चाहते हैं। राम के वियोग का वर्णन केवल एक श्लोक (१४. ८४)[1] में कर, कालिदास ने उसकी अभिव्यञ्जना को तीव्र बना दिया है, जिसके आगे 'पत्थर को पिघला देने वाले' भवभूति के सैकड़ों करुण वर्णनों को न्यौछावर किया जा सकता है।

कालिदास के शृङ्गार वर्णन अत्यधिक सरस हैं। मेघदूत में शृङ्गार के कई सुन्दर चित्र हैं। मेघदूत का यक्ष मेघ के द्वारा गन्तव्य मार्ग का वर्णन करते समय नीचपर्वत पर क्रीडा करती पण्यस्त्रियों के रतिपरिमल,[2] चाटुकार प्रिय की तरह प्रातःकाल में स्त्रियों की रतिग्लानि को हरते हुए सिप्रा-

---

१. बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥ (रघु० १४. ८४)

२. नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो
स्त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥ (पूर्वमेघ, २५)

वात[1] आदि के रमणीय चित्रों को बीच बीच में चित्रित कर काव्य की प्रभावोत्पादकता बढ़ा देता है। यह दूसरी बात है कि कई स्थलों पर, नीतिवादी की दृष्टि में, वे कुछ अमर्यादित-से दिखाई पड़ें। कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग का शिव-पार्वती-सम्भोगवर्णन भारतीय आचार्यों के द्वारा कटु दृष्टि से देखा गया है; किन्तु सहृदय आलोचकों का, जिनमें कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी हैं, यह कहना है कि काव्य की दृष्टि से वह कालिदास की अपूर्व देन है। कालिदास ने मानव-प्रकृति ही नहीं, अचेतन प्रकृति को भी चेतन के रूप में चित्रित कर प्रकृति के शृङ्गार के कई चित्र दिखाये हैं। शृङ्गार के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य वर्णन में कालिदास बेजोड़ हैं। कुमारसम्भव के प्रथम, तृतीय तथा सप्तम सर्ग का पार्वती के रूप का वर्णन तथा मेघदूत की यक्षिणी का वर्णन कालिदास के नखशिखवर्णन की जान है। उनके अप्रस्तुत विधान पिटे पिटाये न होकर एक अपूर्व व्यञ्जनाशक्ति लेकर आते हैं। कालिदास के शृङ्गार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों के कुछ उदाहरणों से कालिदास का भावपक्ष और अधिक स्पष्ट हो जायगा।

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥ (कुमार० ३. ६७)

'कामदेव के बाण से विद्ध होने पर शिव के हृदय का धैर्य कुछ कुछ उसी तरह विचलित हो गया, जैसे चन्द्रोदय के समय समुद्र का अन्तःस्तल ईषत्तरल हो उठता है। शिव ने हृदय में इस तरह की चञ्चलता को लेकर अपने तीनों नेत्रों से बिम्ब के फल के समान ओठ वाले पार्वती के मुख की ओर देखा।'

---

१. दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥ (पूर्वमेघ, ३१)

इस पद्य में कवि ने व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेकर शिव के पूर्वानुराग की स्थिति का बड़ा सरस वर्णन किया है। साथ ही पद्य में 'तु' का प्रयोग 'और शिव की तो यह दशा थी' इस भाव की व्यञ्जना कराता है, तो शिव के धैर्यलोप के साथ 'किञ्चित्' का प्रयोग उनकी जितेन्द्रियता का भी संकेत करता है। आलङ्कारिकों ने पार्वती के अधर की ओर नेत्रव्यापार के द्वारा 'चुम्बनेच्छा' की व्यञ्जना मानी है। समुद्रवाली उपमा शिव की ईषद्धैर्यच्युति के भाव की पुष्टि करने में पूर्णतः समर्थ है।

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलंबितांशुका।
सेवते स्म शयने पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥ (कुमा० ८. २)

'शिव के द्वारा बातचीत किये जाने पर, पार्वती उन्हें कोई प्रत्युत्तर नहीं देती थी; उनके द्वारा रोकने के लिए वस्त्र को पकड़ लिये जाने पर, वहाँ से चली जाना चाहती थी; तथा एक ही शय्या पर सोने पर भी दूसरी ओर मुँह करके सोती थी। इस तरह शिव की रति में विघ्न करने पर भी, पार्वती उनके प्रेम को बढ़ाती ही थी।'

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषुसुप्तः॥ (रघु० १३. ३५)

'हे सीते, आज मैं उस घटना की याद कर रहा हूँ, जब मृगया से निवृत्त होकर थका हुआ मैं, इस गोदावरी के किनारे पर लहरों के संसर्ग से शीतल वायु के कारण थकावट दूर किया हुआ—तुम्हारी गोद में सिर रख कर वेतस के कुञ्ज के एकान्त में सो गया था।'

संयोग शृङ्गार के आलम्बन पक्ष तथा उद्दीपन पक्ष का जितना सुन्दर वर्णन कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग के वसन्त वर्णन में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। फूलों से सजी हुई पार्वती का वर्णन आलम्बन पक्ष का सरस वर्णन है।

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥
आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्य्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥
(कुमार० ३. ५३-४)

'पार्वती के द्वारा अशोक पुष्प के पहने हुए आभूषण पद्मराग मणि की सुन्दरता को लज्जित कर रहे थे, कर्णिकार पुष्प के आभूषण सुवर्ण की कान्ति का अपहरण कर रहे थे तथा निर्गुण्डी (सिन्दुवार) के पुष्प मोतियों की लडी बने दिखाई देते थे। इस तरह के वसन्तपुष्पों के आभरण को धारण करती हुई, लाल रंग के वस्त्र वाली पार्वती, जो स्तनों के भार से कुछ कुछ झुकी सी दिखाई देती थी, (शिव के सामने आकर इस तरह खड़ी हो गई) जैसे घने फूलों के गुच्छे से झुकी हुई, कोमल किसलय वाली चलती फिरती (संचारिणी) लता हो।'

यहीं उद्दीपन पत्त का प्रकृति-वर्णन कालिदास की कला के बेजोड़ नमूने में से एक है। वसन्त के आविर्भाव पर प्रकृति में भी शृंगार का आविर्भाव हो आता है। प्रिय सूर्य को विदेश जाते देखकर दत्तिण दिशा निःश्वास छोड़ने लगती है, तो मदमस्त वनस्थलियाँ अपने प्रिय वसन्त से रतिक्रीडा कर अर्धचन्द्राकार पलाश पुष्पों के नखत्ततों को प्रकाशित करती सुशोभित होती हैं, हस्तिनी सूँडमें कमलपराग से सुगंधित जल भरकर अपने प्रिय गज को पिलाने लगती है, और चक्रवाक आधे खाये बिसतन्तु को अपनी प्रिया को खिलाने लगता है। भौंरा अपनी प्रिया के पीछे पीछे घूमता हुआ एक ही फूल के कटोरे से मधु-पान करता है और काला हिरन स्पर्श से आनंदित, बन्द आँखों वाली हिरनी को अपने सींग से खुजलाने लगता है।'

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

(कुमार० ३.३६)

शृंगार का दूसरा पक्ष हमें मेघदूत में दिखाई देता है। यक्ष के द्वारा यक्षिणी के पास भेजा गया सन्देश अत्यधिक मार्मिक बन पड़ा है !

अलका से दूर विदेश में पड़ा हुआ यक्ष प्रिया को शरीर से तो आलिंगन कर नहीं सकता। दुष्ट भाग्य ने शत्रु बनकर उसकी इन अभिलाषाओं के मार्ग में रोड़ा अटका दिया है। अब अपनी अभिलाषाओं की मानसिक पूर्ति—पूर्ति की मानसिक कल्पना—करने के सिवाय वह कर ही क्या सकता है। वह विरह के कारण तपाए हुए दुबले अंग से तुम्हारे (यक्षिणी के) अत्यधिक दुर्बल तप्त अंग के आलिंगन करने की कल्पना कर रहा है। उसे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे वियोग के कारण वह आँसू से भरे, उत्कण्ठा पूर्ण और अधिक उच्छ्वास वाले अपने अंगों से आँसू के कारण पिघलते हुए उच्छ्वसित एवं अविरलोत्कण्ठित तुम्हारे अंगों को भेंट रहा है।

अंगेनागं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्त्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥

(उत्तरमेघ ४०)

जब वह यक्षिणी को कोपाविष्ट दशा में पर्वत की शिलाओं पर गैरिकराग से चित्रित कर, उसे मनाने के लिए अपने मस्तक को उसके पैरों पर रखना चाहता है, ठीक उसी समय बार बार आँखों में आँसू भर आते हैं, और इस तरह दोनों का कल्पित मिलन भी नहीं हो पाता। सचमुच निष्ठुर विधाता उन दोनों का मिलन इस प्रकार भी सहन नहीं कर पाता।

त्वा मालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया

मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ (उत्तरमेघ ४२)

और भाग्य यक्ष से शत्रुता करने में कोई कसर नहीं रखता। रामगिरि पर रहते हुए यक्ष को प्रिया का दर्शन बड़ा दुर्लभ हो गया है। उसे यक्षिणी के तत्तदंग के उपमान तो दिखाई पड़ जाते हैं, पर यक्षिणी का पूरा सौंदर्य समस्त रूप में नहीं दिखाई पड़ता। प्रियंगुलता की कोमलता में उसे यक्षिणी की झलक दिखाई पड़ती है, पर वहाँ तो केवल यक्षिणी के कोमल अंगों की ही झाँकी मिलती है। चकित हरिणी की चंचल आँखें भी यक्षिणी की याद दिलाती हैं, पर केवल उसके दृष्टिपात की ही। आकाश में उदित निर्मल चन्द्रमा में केवल यक्षिणी की मुखशोभा है, तो मयूर के पुच्छभार में यक्षिणी के खाली केशपाश का रमणीय विस्तार। रामगिरि के प्रान्तभाग में इठलाकर बहती हुई तरंगवती नदियाँ अपनी नन्हीं नन्हीं चञ्चल लहरों से यक्षिणी के भ्रूविलास का स्मरण करा देती हैं। पर दुःख की बात तो यह है, कि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो एक साथ यक्षिणी की सारी विशेषताओं को उपस्थित कर यक्ष के दिल को कुछ तसल्ली दे सके।

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं

वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्,

हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्तिः ॥ (उत्तरमेघ)

यक्ष को एक तसल्ली जरूर है। आखिर विष्णु के शेष-शय्या को छोड़ने के साथ साथ उसका शाप भी समाप्त होने वाला है, और फिर तो वे शरद

की चाँदनियों में उन्मुक्त विहार करेंगे। अच्छा हो यक्षिणी भी इस आशा को लेकर विरह वेदना को कुछ हल्का कर लें।[1] पर सदा के लिए बिछुड़े हुए अज तथा रति को तसल्ली हो कैसे सकती है? इन्दुमती के साथ की गई सरस क्रीडाएँ अज को रह रह कर सताती है, 'हाय, जिस इन्दुमती ने उसके मुँह से मधुपान किया था, वह आँसुओं से दूषित जलाञ्जलि को कैसे पी सकेगी।' क्रूर विधाता अज के प्रति अत्यधिक कठोर रहा है, उसने उस इन्दुमती का हरण कर लिया है, जो अज के लिए गृहिणी, मन्त्री, प्रियसखी तथा ललित कलाओं में शिष्या सभी कुछ रही है। भला क्रूर मृत्यु ने उसकी कौन सी चीज का अपहरण नहीं किया है?

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ (रघु० ८.६६)

अज को इस बात का दुःख है कि उसकी वदनमदिरा को पीने वाली इन्दुमती अश्रुदूषित निवापांजलि को कैसे पी सकेगी? हाय, जिस इन्दुमती का कोमल शरीर कोमल पत्तों की सरस शय्या पर भी उसकी कठोरता के कारण दुःख पाता था, वह चिता की कठोर काष्ठ-शय्या को और अग्नि की असह्य ज्वाला को कैसे बर्दाश्त कर सकेगी?

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदंगमर्पितम्।
तदिदं विसहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम्॥ (रघु० ८.७७)

और काम के दग्ध होने से छटपटाती रति तो उस लता की तरह निराधार छोड़ दी गई है, जिसके आश्रयद्रुम को किसी मस्त हाथी ने भग्न कर दिया है। कामदेव तो उससे कभी नाराज नहीं हुआ था, पर आज

---

१. पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं।
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥ (उत्तरमेघ)

उससे बिना पूछे हमेशा के लिए चले जाने का कारण क्या है, क्या वह गोत्रस्खलित के समय किये गये मेखला बन्धन को याद कर रूठ गया है, या कान में खोसे हुए कमल से पीटे जाने पर आँखों में पराग गिर जाने से नाराज हो गया है ? रति को अपना ही दुःख नहीं है, उसे अभिसारिकाओं की दशा पर भी दुःख हो आया है, जिन्हें रात्रि के सघन अन्धकार से घिरे राजमार्ग पर प्रिय के घर तक पहुँचाने में कामदेव ही सहायता करने वाला था, उसे इस बात का दुःख है कि कामदेव के न रहने पर 'वारुणीमद' प्रमदाओं के लिए केवल विडम्बना रह गया है ? और सबसे बढ़कर दुःख तो उसे अपनी दशा का है। काम से वियुक्त रति की दशा तो बुझी हुई दीप-दशा की तरह धूमाविल हो गई है।

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
अहमस्य दशेव पश्य मा मविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ॥ (कुमार० ४.३०)

'हे वसन्त, वायु के झोंके से बुझाये दीपक की तरह, तुम्हारा मित्र (कामदेव) चला ही गया, अब लौट कर आता ही नहीं, और इधर उसकी (उस दीपक की) बाती की तरह असहनीय दुःख तथा वेदना के धुएँ से व्याकुल मुझे देखो।'

काम के बिना रति जीवित रह ही कैसे सकती है ? जब अचेतन पदार्थ ही इस तरह का संबंध व्यंजित करते हैं, कि चन्द्रमा की प्रिया ज्योत्स्ना उसके अस्त होते ही आकाश से ओझल हो जाती है, मेघ के नभोमण्डल से विलीन होने के साथ ही साथ उसकी सहगामिनी बिजली भी लुप्त हो जाती है, तो फिर चेतनतासम्पन्न रति भला अपने प्रिय का साथ कैसे छोड़ सकती है ? 'स्त्रियाँ तो पति के मार्ग का ही अनुसरण करती हैं' इस सिद्धान्त की शाश्वतता को अचेतन पदार्थ भी अपनी क्रिया से पुष्ट करते हैं।

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥ (कुमार० ४.३३)

और सती होने के लिए तैयार रति वसन्त को दो बातें बता देना जरूरी समझती है, कि वह उन्हें सहकारमञ्जरियों का निवाप दे, क्योंकि काम को आम के बौर बड़े पसन्द हैं, और दूसरे यह कि काम और रति को अलग अलग जलांजलि न देकर एक ही जलांजलि दे, ताकि वे दोनों एक ही जलांजलि को बाँट कर पी सकें।

अज-विलाप तथा रति-विलाप में कई ऐसे करुण पद्य हैं, जो एक बारगी सहृदय भावुक के मन को झकझोर डालते हैं। अतीत की प्रणय-केलि की स्मृति के चित्र रह रह कर इन करुणगीतियों की तन्त्री को विहाग की राग से झंकृत कर देते हैं, पर राम वाले विरह की तरह कालिदास का पाठक यहाँ केवल दो बूँद आँसू नहीं गिराता, उसका शोक सेतु को तोड़कर बहते हुए जलसंघात (क्षतसेतुबन्धनो जलसंघातः) की तरह अनवरुद्ध गति से निःसृत हो जाता है। इसी लिए करुणरस की व्यंजना यहाँ गूढ़ नहीं रह पाती, किन्तु निधन के समय करुणरस को इतना तीव्र रूप देना कुछ लोगों के मत से दोष हो, कालिदास के मत में गुण ही दिखाई पड़ता है। रति के विलाप की तीव्रता के कारण-रूप वसन्त का प्रकट होना तथा कालिदास का यह कहना कि 'स्वजन व्यक्ति को देखकर दुःख के दरवाजे खुल पड़ते हैं और वह तेजी के साथ निकल पड़ता है' (स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते) कालिदास में रसदोष को मानने के विपक्ष में मत देता है। राम तथा अज और रति के वियोग की विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखने पर संभव है, सहृदय आलोचकों को रति-विलाप तथा अज-विलाप कम सरस न लगें, जिन्हें कालिदास की उत्कृष्ट (करुण) निधनगीतियाँ (Elegies) माना जा सकता है।

श्रृंगार तथा करुण के अतिरिक्त कालिदास में वीर[१], बीभत्स[२] आदि के भी चित्र देखे जा सकते हैं।

कालिदास का प्रकृतिवर्णन

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् रस्किन के मतानुसार कला की उत्कृष्टता, किसी चीज को अच्छी तरह से देखकर उसे हूबहू वर्णित कर देने में हैं। कालिदास का प्रकृति वर्णन इस विशेषता से युक्त है। कालिदास में प्रकृति का आलंबन तथा उद्दीपन दोनों तरह का रूप मिलता है। रघुवंश के द्वितीय सर्ग तथा कुमारसंभव के प्रथम सर्ग का हिमालयवर्णन प्रकृति के आलंबन रूप का वर्णन है। इन वर्णनों में कालिदास की प्रकृति अधिकतर स्वाभाविक है, यहाँ उसके अनलंकृत लावण्य की रमणीयता है। कवि की सूक्ष्म दृष्टि यहाँ स्वतः रमणीयता संक्रान्त कर देती है।

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥ (रघु० २.१७)

'राजा दिलीप उन हरे वनों को देखते जा रहे थे, जिनमें छोटे-छोटे जलाशयों से वराह निकल कर आ रहे थे, जहाँ मोर अपने निवास-वृक्ष की ओर उड़ रहे थे, और हिरन हरी घास पर बैठे हुए थे।'

कुमारसंभव का हिमालय वर्णन भी इसी तरह के अनलंकृत सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। यह दूसरी बात है कि किन्नरमिथुनों के सरस विलासमय चित्र उस वर्णन को रंगीन बना देते हैं, पर निम्न पद्य के स्वाभाविक चित्रण में अपना अलग सौंदर्य जान पड़ता है।

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः । (कुमार० १.१५)

---

१. रघुवंश ३.५२-६१ तथा ७.३६-६२ ।   २. ११.२० ।

'जिस हिमालय में गंगा के झरनों के जलकणों को लेकर बहने वाला वह वायु, जिसने देवदारु के पेड़ों को कँपा दिया है, और मोरों के पंखों को तेजी से झकझोर कर बिखेर दिया है, हिरनों की खोज करते हुए किरातों के द्वारा सेवित किया जाता है।'

इस पद्य में कालिदास की व्यञ्जनाशक्ति ने एक साथ वायु की शीतलता, प्रचण्डता तथा (अचेतन वृक्षों तक को) कँपा देने की कठोरता के द्वारा किरातों की करुण दशा की ओर भी संकेत किया है।

कालिदास का उद्दीपन वाला प्रकृति वर्णन प्रसंग के अनुकूल सुख-दुःख से युक्त दिखाया गया है। वहाँ पर उत्प्रेक्षा या समासोक्ति के द्वारा प्रकृति में चेतनता का आरोप करने की चेष्टा दिखाई देती है। कुशल कवि प्रकृति वर्णन में कुछ खास अलंकारों का ही प्रयोग करता है। इनमें प्रमुख वस्तूत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति हैं, जो प्रकृति के चित्र को सरस बनाने तथा उस पर मानवीय आरोप करने में सहायता करती हैं।[1] उपमा तथा रूपक का स्वाभाविक प्रयोग भी प्रकृतिवर्णन में कलात्मक बन पड़ता है, किन्तु श्लेप तथा यमक का प्रयोग प्रकृतिवर्णन को विकृत कर देता है। माघ तथा श्रीहर्ष के प्रकृतिवर्णन दूरारूढ़ कल्पनाओं अथवा श्लेष एवं यमक के प्रयोग के कारण सुन्दर नहीं बन पड़े हैं। रघुवंश के नवम सर्ग वाले वसन्तवर्णन में कालिदास भी यमक के प्रयोग में फँस गये हैं। पर कालिदास के इस यमक प्रयोग की एक निजी विशेपता यह है कि वह अधिक क्लिष्ट नहीं है। फलतः अर्थबोध की प्रसाद-वृत्ति में विघ्न उपस्थित

---

१. कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज॥ (कुमार० ३.२५)
बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ (कुमार० ३.२९)

नहीं होता। ऋतुओं में कालिदास को ग्रीष्म तथा वसन्त से विशेष मोह है। रघुवंश के १६ वें सर्ग का ग्रीष्मवर्णन तथा नवम सर्ग का वसन्तवर्णन प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

कालिदास के काव्यों का नाटकीय संवाद

कालिदास केवल कवि ही नहीं, सफल नाटककार हैं। कालिदास के दोनों प्रवन्ध काव्यों में कई सुंदर नाटकीय संवाद दिखाई पड़ते हैं। रघुवंश के द्वितीय सर्ग का सिंह-दिलीपसंवाद, तृतीय सर्ग का रघु-इन्द्रसंवाद, पंचम सर्ग का कौत्स-रघुसंवाद तथा सोलहवें सर्ग का कुश-अयोध्यासंवाद कवि की नाटकीय संवादशैली का संकेत कर सकते हैं, यद्यपि प्रबंध काव्य के अंग होने के कारण इन संवादों की शैली में उससे कुछ भिन्नता मिलेगी, जो कालिदास के नाटकों में पाई जाती है। कुमारसंभव के पंचम सर्ग का शिव-पार्वती-संवाद कालिदास के दोनों प्रबन्धकाव्यों में इस दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। रघुवंश का सिंह-दिलीप संवाद कालिदास के नाटकीय संवाद का एक रूप है, कुमारसंभव का शिव-पार्वती संवाद दूसरा। पर इतना होते हुए भी इनकी पद्धति में एक समानता देखी जा सकती है। एक गाय के लिए बहुमूल्य जीवन को बलिवेदी पर चढ़ाते दिलीप को सिंह बेवकूफ समझता है, तो नंगे, दरिद्र, अकुलीन शिव को वरण करने की इच्छा वाली पार्वती को ब्रह्मचारी अपरिपक्वबुद्धि घोषित करता है। दोनों तर्क के द्वारा उन्हें समझाते हैं, पर दिलीप और पार्वती के उत्तर तर्कप्रणाली का आश्रय न लेकर हृदय की आवाज को सामने रखते हैं। सिंह और ब्रह्मचारी की दलीलों का उनके पास कोई जवाब है ही नहीं। दिलीप के पास केवल इतना सा उत्तर है कि वह 'यशःशरीर' को स्थूल शरीर से अधिक समझता है तथा अपनी रक्षणीय निधि के लिए भौतिक देह को बलि पर रख कर कीर्ति की रक्षा करना चाहता है, और

भोलीभाली पार्वती पहले तो दलीलों का जवाब देने लगती है, पर बाद में दिल की आवाज को सामने रख देती है:—'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'।

रघुवंश के सिंह की दलीलें बड़ी पक्की हैं। वशिष्ठ की एक गाय मर जायगी, तो राजा करोड़ों 'घटोघ्नी' गायें देकर गुरु के क्रोध को शान्त कर सकता है। पर दिलीप उसे कामधेनु से अन्यून मानता है, अतः मामूली गायों से उसका बदला चुकाना बड़ा कठिन है। सिंह को दिलीप के उत्तर सन्तुष्ट नहीं करते। सिंह को उस पर बड़ी तरस आ रही है। वह समस्त पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा है, नवीन यौवनावस्था में है और सुंदर शरीर वाला है। पता नहीं, उसे क्या सनक सवार हो गई है, कि गाय जैसी छोटी-सी वस्तु के लिये इतनी महान् संपत्ति—एकातपत्र प्रभुत्व, अभिनव यौवन और रमणीय शरीर-को छोड़ रहा है, और सिंह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है, कि दिलीप अक्ल का कच्चा (बेवकूफ) मालूम देता है।

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥ (रघु० २.४७)

कुमारसंभव का ब्रह्मचारी रघुवंश के सिंह से भी अधिक मुँहफट नजर आता है। उसे पार्वती के सौंदर्य को देखकर दया आ जाती है। भला ऐसा सौंदर्य किसी जौहरी को खोजने के लिये इधर-उधर भटकेगा। रत्न किसी जौहरी को ढूंढने नहीं जाता है, उसे तो ढूंढने को जौहरी खुद दौड़े आते हैं (न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्) और फिर उचित वर को ढूंढने के लिए पार्वती की यह तपश्चर्या या दौड़धूप किस बहुमूल्य वर के लिये है, इसको जानने के लिये ब्रह्मचारी के कर्णकुहर लालायित हो जाते हैं। पार्वती की सखी उसे शिव का संकेत करती है।[1] और 'चतुर्दिगीशों' की अवमानना

---

१. इयं महेंद्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति॥ (कुमार० ५.५३)

करने वाली मानिनी पार्वती का मान ब्रह्मचारी को हठधर्मिता दिखाई पड़ता है। काश, वह उस श्मशानवासी के हाथों न पड़ पाती। अच्छा हो कि वह अब भी समझ ले। सुबह का भूला शाम को भी घर लौट आये, तो अच्छा। उसे यह पता होना चाहिये कि शिव के बूढ़े बैल पर उसे बैठे देख कर लोग मुस्कराने लगेंगे। उस बूढ़े बैल पर बैठने से पार्वती के उस सौंदर्य की विडम्बना होगी, जो विवाहोपरांत हाथी पर बैठ कर पतिगृह जाने योग्य है। उस दरिद्र के पास हाथी कहाँ से आयेगा, वहाँ तो केवल बूढ़ा बैल है और पार्वती को उसी पर बैठना पड़ेगा।[1] खप्पर को धारण करने वाले (कपाली) उस श्मशानवासी शिव के साथ रहने से अब तक तो केवल चन्द्रमा की कला ही शोचनीय समझी जाती थी, अब उसके समान सुन्दर पार्वती भी उसी कपाली के पास रहना चाहती है, तो संसार में दो वस्तुएँ शोचनीय हो जायँगी। कहाँ वह खप्परधारी अमंगलवेश वाला श्मशानवासी और कहाँ संसार के नेत्रों को चन्द्रमा की कला के समान आह्लादित करने वाली पार्वती?[2] शिव में तो पार्वती के वर बनने के लायक एक भी गुण नहीं है। वर को ढूंढने में सुन्दरता, कुलीनता, और सम्पत्ति का ध्यान रखा जाता है। शिव के पास इनमें से एक भी गुण है? उसका शरीर भौंडा है, उसके तीन-तीन आँखें हैं। उसके मा-बाप तक का पता नहीं है, अतः उसे कुलीन भी नहीं कह सकते, और न उसके पास रुपया-पैसा ही है, वह तो निरा नंग धडंग है। पता नहीं, पार्वती ने कौन सा गुण पाकर उसे चुनने का निश्चय कर लिया है। वर में ये तीनों गुण ढूँढे जाते हैं; क्या शिव में उनमें से एक भी गुण दिखाई देता है?

---

१. इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥ (कुमार० ५.७०)

२. द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥ (कुमार० ५.७१)

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥

(कुमार० ५.७२)

और कलावादी आलोचक इस पद्य में 'मृग्यते' क्रिया के साथ पार्वती के 'बालमृगाक्षि' संबोधन में इस भाव की अभिव्यंजना मानेगा कि जिस तरह मृग किसी वस्तु को ढूँढने के लिये-जलादि के लिए-इधर उधर भटकता है, उसी तरह तुम भी पति को ढूँढने निकली हो, पर तुम्हारी आँखें मृग शिशु की तरह चंचल होने के कारण किसी वस्तु की वास्तविकता को नहीं देख पाती। 'बाल' शब्द पार्वती के भोलेपन और अपरिपक्वबुद्धित्व का संकेत करता है। भला कुरूप, अकुलीन तथा दरिद्र पति को वरण करने वाली बालिका को चंचल बुद्धि वाला न कहा जायगा, तो क्या कहें ?

पार्वती ब्रह्मचारी की दलीलों का जवाब देकर कपाली की 'अशिवता' को 'शिवता' सिद्ध करती है और महादेव की उस विभूति का संकेत करती है, जो स्वयं दिगंबर रहते हुये भी भक्त देवताओं को सिद्धि प्रदान करते हैं। पार्वती को बड़ा अफसोस है कि शिव की वास्तविकता को जानने वाले लोग संसार में हैं ही नहीं (न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः)। पर मूर्ख और जिद्दी ब्रह्मचारी के आगे इन दलीलों को रखने से क्या लाभ ? इसके साथ विवाद करना व्यर्थ है, अगर वह शिव को बुरा समझता है, तो उसके लिये वे वैसे रहें, उससे हमें क्या ? जब हमारा मन शिव में अनुरक्त है, तो दूसरे के लिये वह कैसे ही हों। मनमानी करने वाला निंदा की पर्वाह थोड़े ही करता है[1]।

---

१. अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु नः ।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ (कुमार० ५.८१)

कालिदास का अलङ्कार-प्रयोग

संस्कृत साहित्य में कालिदास उपमा के लिये विशेष प्रसिद्ध रहे हैं (उपमा कालिदासस्य)। हम कालिदास की उस प्रसिद्ध उपमा को पहले उद्‌धृत कर आये हैं, जिसके प्रयोग से चमत्कृत होकर विद्वानों ने उन्हें 'दीपशिखा' कालिदास की उपाधि दे दी थी। उपमा के एक से एक सुन्दर प्रयोग कालिदास में देखे जा सकते हैं, एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेव गच्छत्सु बालां,
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥ (उत्तरमेघ २०)

'हे मेघ! अपने प्रिय के (मेरे) दूर रहने के कारण दुखी प्रिया को, जो अकेली चक्रवाकी की तरह अल्पभाषिणी है, तुम मेरा दूसरा जीवित (प्राण) समझना। वियोग से भारी दिनों को गुजराती हुई, अत्यधिक उत्कण्ठा से भरी प्रिया इसी तरह हो गई होगी, जैसे शिशिर ऋतु के पाले के द्वारा कुचली हुई कमलिनी ठीक दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाती है।'

उपमा के अतिरिक्त कालिदास के अन्य प्रिय अलङ्कार वस्तूत्प्रेक्षा,[1] समासोक्ति तथा रूपक हैं। इनके अतिरिक्त कालिदास में अपह्नुति[2] अतिशयोक्ति,[3] व्यतिरेक[4], दृष्टान्त[5], तुल्ययोगिता,[6] अर्थान्तरन्यास[7] आदि अर्थालङ्कारों का सुन्दर प्रयोग मिलता है। पतनोन्मुख काल के परवर्ती कवियों की भाँति कालिदास चित्रकाव्य या शब्दालङ्कार की बाहरी तड़क-

---

१. कु० ३. २५ तथा ३. २९, साथ ही रघु० १३. ३३ तथा १३. ६३ आदि।
२. रघु० १२. २. ३. रघु० ४. ४, ४. रघु० ४. ४९, ५. रघु० ५.१३,
६. रघु० २. १५, ७. मेघदूत. पूर्वमेघ पद्य ५, ६, २० आदि।

भड़क में नहीं फँसते। रघुवंश में केवल एक सर्ग (नवम सर्ग) में कालिदास ने यमक के प्रति रुचि दिखाई है।[१] पर ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने यह प्रयोग इसलिए किया है कि वे चित्रकाव्यों के शौकीनों के सामने यह सिद्ध कर सकें कि वे उस प्रकार के प्रयोग भी कर सकते हैं। किन्तु कालिदास भाव को प्रधानता देते हैं, तथा अलंकारों के मोह में फँस कर उसका हनन करना नहीं चाहते। उनके साधर्म्यमूलक अलंकारों के प्रयोग कहीं कहीं विषय के अनुरूप बन पड़े हैं, और वातावरण की सृष्टि में बड़े सहायक होते हैं; जैसे:—

१. प्रगाम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः। (रघु० २.२१)

२. यथावनुद्धातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन॥ (रघु० २.७२)

३. आसंजयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥ (रघु० ६.८३)

कालिदास ने उपमा के चित्रों में कहीं कहीं अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय दिया है। जब कटुवादी ब्रह्मचारी से रुष्ट होकर, पार्वती जाने के लिये तैयार होती है, तो भगवान् शंकर निज रूप में प्रकट होकर उसे रोक लेते हैं। उन्हें देखकर कोमल व सरस शरीर वाली पार्वती काँपने लग जाती है, वहाँ से जाने के लिए उठाया हुआ उसका पैर उठा ही रहता है। उसकी दशा मार्ग में पर्वत के द्वारा रोकी हुई क्षुब्ध नदी की तरह हो जाती है, जो न तो आगे बढ़ पाती है, न ठहर ही पाती है।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

(कुमार० ५. ८५)

---

१. किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः॥ (रघु० सर्ग ९)
(और) अमदयत् सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि॥ (रघु० सर्ग ९)

कालिदास की शैली अत्यधिक कोमल तथा प्रसादगुण युक्त है। वे वैदर्भी रीति के मूर्धन्य कलाकार हैं। कालिदास की भाषा व्यञ्जनाप्रधान है, तथा आलोचकों ने उनके कई प्रयोगों में अपूर्व वक्रता, और अभिव्यञ्जना शक्ति मानी है। सीता के द्वारा राम के प्रति भेजे गये सन्देश (चतुर्दश सर्ग) में जहाँ सीता 'वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा' कहती है, वहाँ राम के लिए प्रयुक्त 'राजा' शब्द तथा उसके साथ 'स' का प्रयोग 'राम कोरे राजा ही है, राजा के कर्तव्य के अतिरिक्त उनका पति के रूप में भी कुछ कर्तव्य था, जिसे वे भूल चुके हैं' इस भावको व्यञ्जित करता है। इसी तरह सीता को रोती देख कर जब वाल्मीकि उसके पास आते वर्णित किये जाते हैं, तो कविवर कालिदास वाल्मीकि का परिचय 'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः' इस तरह देते हैं, जिससे वे वाल्मीकि की करुण प्रकृति का परिचय देना आवश्यक समझते हैं, जो वर्ण्य विषय के उपयुक्त है। आलङ्कारिकों ने तपस्या करती हुई पार्वती के वर्णन में, जहाँ प्रथम मेघ की बूँदे उसके सघन पक्ष्म वाले नेत्रों पर गिर कर कुछ देर रुक कर, ओठों पर गिरते हुए, कठोर पयोधरों पर गिरने से चूर्णित होकर, त्रिवली पर लुढने के बाद गम्भीर नाभि में जा घुसती हैं, ध्वनि काव्य की चमत्कृति का उत्कृष्ट उदाहरण माना है। इस वर्णन में एक ओर पद्मासन की योगाभ्यास वाली स्थिति, दूसरी ओर पार्वती के तत्तदंगों की सुन्दरता और सुडौलपन की व्यञ्जना पाई जाती है।[1]

कालिदास के काव्यों में कई ऐसी काव्यरूढियाँ पाई जाती हैं, जो आगे के काव्यों का मार्ग दर्शन करती हैं। कुमारसम्भव तथा रघुवंश के सप्तम सर्ग में महादेव तथा अज को देखने के लिए लालायित पुरसुन्दरियों का वर्णन, रघुवंश के पञ्चम सर्ग का प्रभात वर्णन, षष्ठ सर्ग का स्वयंवर वर्णन और

१. स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदविन्दवः॥ (कु० ५.२४)

अशोक, बकुल आदि के वर्णन में दोहदसम्बन्धिनी[1] रूढियाँ कालिदास में ही सबसे पहले स्पष्टरूप में दिखाई पड़ती हैं। वैसे पुरसुन्दरियों वाले वर्णन का संकेत हम अश्वघोष में भी पाते हैं, पर कालिदास का यह निजी प्रिय विषय रहा जान पड़ता है। कालिदास की इन रूढियों का प्रभाव माघ तथा श्रीहर्ष में स्पष्टरूप से दिखाई देता है, जिसका संकेत हम इन कवियों की आलोचना में करेंगे।

अन्त में हम देखते हैं, कि क्या रस-प्रवणता, क्या आलङ्कारिक अप्रस्तुत विधान, क्या प्रकृति वर्णन की बिम्बमत्ता, क्या शैली की व्यञ्जनाप्रणाली तथा शब्दों की प्रसादमयता, सभी कलावादी दृष्टिकोण से कालिदास की बराबरी कोई भी अन्य संस्कृत कवि नहीं कर पाता, और हमें पीयूष वर्ष जयदेव के साथ कालिदास को कविताकामिनी का विलास घोषित करने में कोई हिचक नहीं होती।

---

१. दे० रघु० ८. ६३; ९. ३०; १८. १२ तथा मेघदूत (उत्तरमेघ० १५)

महाकवि भारवि

कालिदास की काव्यकला के दाय को ग्रहण करने वाले कवियों ने उनकी काव्यपरम्परा को ठीक उसी दिशा में आगे नहीं बढ़ाया। कालिदास के उत्तराधिकारियों ने कालिदास की काव्यपरम्परा के 'रीति' (Rhetoric) पक्ष को, उनकी अभिव्यञ्जना शैली के दाय को ही ग्रहण किया; और अभिव्यंग्य, कथावस्तु के निर्वाह तथा भावपक्ष की मार्मिकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया। कालिदास की कला में भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो समन्वय, महाकाव्य के इतिवृत्त की जो अनवहेलना पाई जाती है, वह कालिदास के पश्चाद्भावी कवियों में धीरे धीरे मिटती गई और कोरा कलापक्ष इतना बढ़ता गया, कि महाकाव्य नाम मात्र की दृष्टि से महाकाव्य रह गये। मानव-जीवन का जो विस्तृत सर्वांगीण चित्र महाकाव्य के लिये आवश्यक है, वह यहाँ लुप्त हो गया। महाकाव्य केवल पाण्डित्य तथा कला-प्रदर्शन के क्षेत्र रह गये। भारवि, भट्टि, माघ तथा श्रीहर्ष इन चारों कवियों में यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन काव्यों में महाकाव्य की 'रूढ' शैली दिखाई पड़ती है, जिसमें इतिवृत्त और कथा-संविधान को आधार बनाकर काव्य-कला का सुन्दर ताना-बाना बुनना ही कवियों का चरम लक्ष्य रह गया। भामह तथा दण्डी ने अपने अलंकार ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण तथा विशेषताएँ बताई हैं, बाद के कवियों में वे विशेषताएँ अधिक रूढ़ रूप में पाई जाती हैं। भामह तथा दण्डी की परिभाषा इन पिछले खेवे के काव्यों के आधार पर बनाई गई थी। संभवतः भारवि के 'किरातार्जुनीय' के आधार पर ही भामह तथा दण्डी ने महाकाव्य का लक्षण निबद्ध किया हो, और बाद के काव्यों के लिये वह पथप्रदर्शक बन गया हो। इस प्रकार संस्कृत महाकाव्यों में भारवि एक नई शैली, एक नई

प्रवृत्ति को जन्म देने वाले हैं। इसी पद्धति पर कम या अधिक रूप में भट्टि, कुमारदास (जानकीहरण के कवि), माघ, रत्नाकर आदि के काव्य चलते दिखाई पड़ते हैं।

कालिदास की कला के रूप में हमें काव्य का चरम परिपाक उपलब्ध होता है। उसे गुप्तकाल के वैभवशाली काल का प्रतीक माना जा सकता है। गुप्तों के ह्रास के साथ भारत कई छोटे छोटे राज्यों में बँट जाता है। उत्तरी भारत में हर्षवर्धन तथा दक्षिणी भारत में पुलकेशी द्वितीय के समय तक, कोई सार्वभौम सम्राट् इतिहास में नहीं दिखाई पड़ता। भारतीय समाज निश्चित पौराणिक तथा नैतिक साँचे में ढल चुका था, शास्त्रों का प्रणयन ऐहिक और पारमार्थिक समस्याओं का समाधान करने लगा था। भाषा की कलात्मकता, अर्थालंकार, शब्दालंकार और प्रहेलिकादि काव्यों के द्वारा राज-वर्ग, सामन्त, तथा पण्डित मनोरंजन करते थे, और उस काल के अभिजात वर्ग का विलासी जीवन कामशास्त्र के सिद्धान्तों का सहारा लेकर काव्य में भी प्रतिबिंबित हो रहा था। कालिदास के काव्यों में ही इन विशेषताओं के बीज ढूँढे जा सकते हैं। गर्हित चित्रकाव्यों का प्रणयन कालिदास के समय में ही चल पड़ा होगा,—यदि घटखर्पर काव्य की रचना कालिदास की समसामयिक ही है तो, और कालिदास का यमकप्रयोग भी इसका संकेत कर सकता है। कालिदास तथा भारवि के बीच निश्चित रूप से १५० वर्ष का समय माना जा सकता है। इस बीच काव्य के कलापक्ष को अधिक से अधिक कृत्रिम सौंदर्य प्रदान करने की अभिरुचि ने कवियों को नई दिशा में प्रेरित किया होगा। कालिदास तथा भारवि के बीच के काव्यों का पता नहीं, केवल वातास भट्टि वाला मन्दसौर शिलालेख ही इस बीच की कड़ी का उपलब्ध प्रमाण है। कालिदास की काव्यसरणि से हट कर काव्य की विषय वस्तु की अपेक्षा वर्णनशैली के सौंदर्य, भाव-

पक्ष की ओर ध्यान न देकर कहने के ढंग पर महत्त्व देने की प्रणाली का सर्वप्रथम प्रौढ रूप जिस काव्य में मिलता है, वह है महाकवि भारवि का किरातार्जुनीय।

भारवि का समय तथा जीवनवृत्त

कालिदास की भाँति ही भारवि के समय तथा जीवनवृत्त के विषय में निश्चित रूप से हम कुछ नहीं जानते। कुछ किंवदन्तियाँ भारवि को भी भोज के साथ जोड़ देती हैं तो कुछ के अनुसार भारवि पिता से रुष्ट होकर ससुराल चले गये थे, जहाँ वे जंगल में जाकर गायें चराने का काम किया करते थे। किंवदन्तियों के ही आधार पर भारवि दण्डी के पितामह या प्रपितामह थे। संभवतः भारवि दाक्षिणात्य थे, और इसी कारण दण्डी के साथ उनका संबन्ध जोड़ दिया गया हो। भारवि का उल्लेख ऐहोल शिलालेख में मिलता है,[1] जो ६३४ ई० में उत्कीर्ण हुआ था। इसके अतिरिक्त भारवि के किरातार्जुनीय का उद्धरण वामन तथा जयादित्य की 'काशिका वृत्ति' में उपलब्ध होता है। भारवि कालिदास से प्रभावित हैं, तथा माघ भारवि से प्रभावित रहे हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारवि का समय छठी शती का मध्य रहा होगा। भारवि बाणभट्ट के पूर्व थे। बाणभट्ट ने भारवि का उल्लेख, संभवतः इसलिये नहीं किया होगा कि उनके समय तक भारवि की काव्यकला ने इतनी ख्याति और प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त की होगी। भारवि के समय को ५५० ई० के लगभग मानने का अनुमान करते समय हम सत्य से अधिक दूर नहीं माने जा सकते। भारवि के जीवनवृत्त के विषय में हम कुछ भी नहीं

---

१. येनायोनिजवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास-भारवि-कीर्तिः॥

(ऐहोल शिलालेख)

जानते। अनुमान होता है कि भारवि किसी राजा के दरबारी कवि अवश्य रहे होंगे। अवन्तिसुन्दरी कथा के अनुसार वे पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। पर कुछ विद्वान् इसकी प्रामाणिकता पर पूरा विश्वास नहीं करते।

किरातार्जुनीय

किरातार्जुनीय की कथा का मूलस्रोत महाभारत रहा है। इन्द्र तथा शिव को प्रसन्न करने के लिये की गई अर्जुन की तपस्या को आधार बना कर कवि ने १८ सर्ग के महाकाव्य का वितान पल्लवित किया है। इतिवृत्त का आरंभ द्यूतक्रीडा में हारे हुये पाण्डवों के द्वैतवनवास से होता है। युधिष्ठिर यहाँ रह कर भी दुर्योधन की ओर से निश्चिन्त नहीं हैं। वे एक वनेचर को दुर्योधन की प्रजापालनसंबन्धी नीति को जानने के लिये 'चर' बनाकर भेजते हैं। ब्रह्मचारी बना हुआ वनेचर लौट कर आता है, और उसके युधिष्ठिर के पास पहुँचने से काव्य का इतिवृत्त चलता है। वनेचर दुर्योधन के शासन की पूरी जानकारी देता है, और इस बात का संकेत देता है कि जुए के बहाने जीती हुई पृथ्वी को वह नीति से भी जीत लेने की चेष्टा में लगा है।[1] सारी बातें बताकर वनेचर लौट जाता है, और द्रौपदी आकर युधिष्ठिर को युद्ध के लिये उत्तेजित करती है। वह कटु शब्दों का प्रयोग करती हुई युधिष्ठिर की तपस्विजनोचित शान्ति, दूसरे शब्दों में कायरपन, की भर्त्सना करती है। दूसरे सर्ग के आरंभ में भीम द्रौपदी की सलाह की पुष्टि करता है, और युधिष्ठिर को इस बात का विश्वास दिलाता है कि उसके चारों भाइयों के आगे युद्ध में कोई नहीं ठहर सकता?[2] पर

---

१. दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥ (१.७)

२. प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः॥ (२.२३)

नीतिविशारद युधिष्ठिर एक कुशल हस्तिपक की तरह मदमस्त हाथी के समान भीम को नीतिमय उक्तियों से शान्त कर देते हैं[१]। वे इस बात का संकेत देते हैं कि उन्हें उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब पाण्डवों के मित्र पाण्डवों की सहिष्णुता की अत्यधिक प्रशंसा करने लगे, तथा दुर्योधन के अभिमानी व्यवहार से अपमानित कई राजा उससे अलग हो जायँ। इसी सर्ग में भगवान् व्यास आते हैं। तीसरे सर्ग में वे अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्ति के लिये इन्द्र की तपस्या करने को कहते हैं। व्यास के भेजे गये गुह्यक के साथ अर्जुन तपस्यार्थ इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचता है। उसकी कठिन तपस्या से डर कर इन्द्र अप्सराओं को अर्जुन की तपस्या भंग करनेके लिये भेजता है। पर अर्जुन का व्रत भंग नहीं होता। खुश होकर स्वयं इन्द्र अर्जुन के पास आता है, तथा शिव की तपस्या का उपदेश देता है। अर्जुन पुनः तपस्या करता है। इधर एक मायावी दैत्य अर्जुन को मारने लिये सूअर का रूप धारण करता है। इस बात को जान कर भगवान् शिव अर्जुन की रक्षा के हेतु किरात का मायावी वेश धारण करते हैं। तेरहवें सर्ग में सूअर के प्रवेश का वर्णन है। किरात तथा अर्जुन दोनों सूअर पर एक साथ बाण छोड़ते हैं। अर्जुन का बाण सूअर को मार कर पृथ्वी में घुस जाता है। बाद में बचे हुए बाण के लिये किरात तथा अर्जुन का वादविवाद चलता है, जो पंचदश सर्ग में युद्ध का रूप धारण कर लेता है। युद्ध में पहले दोनों अस्त्रों शस्त्रों से लड़ते हैं, बाद में कुश्ती पर उतर आते हैं। इसी समय अर्जुन की वीरता से प्रसन्न हो कर भगवान् शिव प्रकट होते हैं, तथा अर्जुन की पाशुपतास्त्र-प्राप्ति की अभिलाषा के साथ काव्य की पूर्ति होती है।

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्, गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो, धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम॥ (१८.४८)

---

१. उपसान्त्वयितु महीपतिर्द्विरद दुष्टमिवोपचक्रमे॥ (२.२५)

'जाओ, अपने शत्रुओं को जीतो' इस प्रकार शिव के द्वारा आशीर्वाद दिया गया अर्जुन,—जो उनके चरणकमलों में नत था—देवताओं के द्वारा प्रशंसित होकर महान् जयलक्ष्मी को धारण कर अपने घर लौट आया और उसने युधिष्ठिर को प्रणाम किया।'

इस प्रकार 'श्रीः' शब्द के मंगलाचरण से आरंभ भारवि का 'श्रीकाव्य' लक्ष्मी शब्द की विजयशंसना के साथ परिसमाप्त होता है। भारवि का काव्य जैसे 'लक्ष्म्यन्त' काव्य कहलाता है, ठीक उसी तरह माघ का काव्य 'श्र्यन्त' तथा श्रीहर्ष का नैषध 'आनन्दान्त' है'। भारवि ने मंगलसूचक 'लक्ष्मी' शब्द को प्रत्येक सर्ग के अंतिम पद्य में अवश्य रखा है, जो काव्य के तत्तत् पद्यों में देखा जा सकता है।

भारवि के किरातार्जुनीय का इतिवृत्त हम देख चुके हैं। यदि कोई कवि कोरी कथात्मकता को ही लेकर चलता, तो यह कठिनता से चार या पाँच सर्ग की सामग्री सिद्ध होती। पर भारवि के कलावादी कवि ने बीच-बीच में अद्भुत संवाद, रमणीय कल्पनापूर्ण वर्णन आदि का समन्वय कर इसके 'केन्वेस' (फलक) को बढ़ा दिया है। चौथा और पाँचवा सर्ग पूरे के पूरे शरद्वर्णन और हिमालय वर्णन से भरे पड़े हैं, तो सातवें, आठवें, नवें और दसवें सर्ग में अप्सराविहार तथा अर्जुन के तपस्याभंग की चेष्टा का वर्णन है। ग्यारहवें सर्ग में जाकर पुनः कवि ने इतिवृत्त के सूत्र को पकड़ा है, और वह अतीव मन्थर गति से कथा की ओर बढ़ता है। किरातार्जुनीय के कथा-तत्त्व की प्रवाहावरोधकता के विषय में आगे संकेत करेंगे।

शास्त्रीय दृष्टि से किरात का नायक धीरोदात्त अर्जुन तथा मुख्य रस वीर है। अप्सराविहारादि वाला शृंगार इसी वीर रस का अंग बन कर आता है। महाकाव्यों की रूढ परिभाषा की नज़र से देखने पर इसमें १८ सर्ग हैं, तथा छहों ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत, नदी, जलक्रीडा, सुरत

आदि का वर्णन पाया जाता है, और इस तरह दण्डी तथा विश्वनाथ के द्वारा संकेतित महाकाव्य के सभी लक्षण[1] यहाँ देखे जा सकते हैं।

भारवि के काव्य से उस काल का कुछ सङ्केत

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, भारवि का काल भारतीय इतिहास के उस अंश का सङ्केत करता है, जब कई छोटे मोटे राजा अपने आसपास के दूसरे राजाओं को सामादि उपायों से करद बनाने में ही नहीं, उसके राज्य का अपहरण करने की ताक में लगे हुए थे। भारवि से लेकर श्रीहर्ष तक के भारत की यही दशा रही है। माघ तथा विशाखदत्त की कृतियाँ भी इसका संकेत दे सकती हैं। भारवि तथा माघ के इतिवृत्त पौराणिक होते हुए भी यदि उस काल की राजनीतिक दशा के प्रतिबिम्ब माने जायँ, तो कोई दूरारूढ कल्पना न होगी। कालिदास की व्यावहारिक उदार राजनीति गुप्तों के ऐश्वर्य के साथ समाप्त हो गई थी। जहाँ शास्त्रों में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्रनीति तथा कामन्दकीय नीतिसार राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष का विधान कर रहे थे, वहाँ राजनीति व्यवहार में उन्हीं का उलथा लेकर आ रही थी। शत्रुपक्ष के भेदन के लिये चार एवं 'स्पशों' की महत्ता मानी जाने लगी थी, तथा रुक कर विपक्ष की भावी अवनति की प्रतीक्षा की जाती थी। माघ ने स्पशों के बिना राजनीति की निर्मूलता मानी है, और भारवि तथा माघ दोनों ने राजनीति को ठंडे दिमाग से सोचने का विषय माना है, जल्दबाजी का नहीं। भारवि के किरातार्जुनीय की राजनीतिपटुता उस काल में राजनीति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान का संकेत कर उस काल की राजनीतिक दशा का चित्र उपस्थित करने में समर्थ है।

किरातार्जुनीय से भारवि के समय की लोकसामान्य की दशा का संकेत

---

१. महाकाव्य के इन लक्षणों के लिये देखिये दण्डीका काव्यादर्श १, १४-२२.

मिलना असंभव है । यही नहीं, भारवि का समाज माघ तथा श्रीहर्ष की भाँति बहुत संकीर्ण समाज है, वे राजप्रासाद के परकोटे, तथा पण्डित-मण्डली से बाहर झाँकते नजर नहीं आते। कालिदास राजप्रासाद में रहते हुए भी अपनी पैनी निगाह से समस्त नागरिक जीवन का अध्ययन करते हैं, चाहे उनकी दृष्टि भी नगर के गोपुर के बाहरी जन-समाज को उस सहानुभूति से न देखती हो, जिस सहानुभूति से उन्होंने प्रकृति को देखा है। भारवि का समाज मन्त्रणागृह में मन्त्रणा करते नीतिविशारदों, युद्धस्थल के काल्पनिक वर्णनों में वाक्युद्ध और शस्त्रयुद्ध करते योद्धाओं, चित्र-काव्य तथा अर्थगांभीर्य से गद्गदायमान होते पण्डित श्रोताओं, तथा सामन्तों के विलासगृहों तक ही सीमित है । उनका प्रकृतिवर्णन (चतुर्थ सर्ग को छोड़ कर) ठीक वैसा ही है, जैसा कुर्सी पर बैठ कर किसी व्यावहारिक विषय पर की गई गवेषणा का अन्तःज्ञानशून्य फल । सारांश यह कि भारवि का समाज, उनके काव्य के चरित्रों की दुनिया का दायरा, बड़ा तंग है, और ठीक इसी तरह भारवि की भावनावृत्ति का भी, जो कला तथा अर्थगांभीर्य के परकोटे में बन्द रह कर 'असूर्यंपश्या राजदारा' के समान रह गई है, जिसे देखने की ललक हर एक को होती है, किन्तु जो उपभोग की वस्तु नहीं रह जाती।

भारवि का व्यक्तित्व

पर इसका अर्थ यह नहीं कि भारवि में कवि-हृदय नहीं था। भारवि के कवि होने के विषय में सन्देह नहीं; यह दूसरी बात है कि शुद्ध रसवादी दृष्टि से, तथा समाजवैज्ञानिक दृष्टि से भी, भारवि निश्चित रूप से दूसरी कोटि के कवि हैं, और जहाँ तक भारवि के अपने क्षेत्र का, काव्य के कलावादी दृष्टिकोण का प्रश्न है, वहाँ भी माघ तथा श्रीहर्ष के प्रतिमल्ल निःसंदेह बाजी मार ले जाते हैं । भारवि पण्डित हैं, राजनीति के निष्णात हैं,

कलाचक्षु हैं, और सब से बढ़ कर थोड़े से शब्दों में अर्थ का गौरव भरने वाले हैं, और भारवि के व्यक्तित्व का सच्चा प्रदर्शन यदि कहीं हुआ है, तो मेरी समझ में, न तो वह पंचम सर्ग का यमकप्रयोग या पंचादश सर्ग का चित्रकाव्य है, न उनका विलासवर्णन या प्रकृतिवर्णन ही; अपितु प्रथम और द्वितीय सर्ग की द्रौपदी, भीम तथा युधिष्ठिर की उक्तियाँ और तेरहवें और चोदहवें सर्ग की किरातदूत तथा अर्जुन की उक्तिप्रत्युक्तियाँ हैं।

भारवि राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित हैं, इस बारे में दो मत नहीं हो सकते। उनका राजनीति-विषयक ज्ञान स्वयं युधिष्ठिर की उक्तियों में मूर्तिमान् हो उठा है। दुर्योधन से तत्काल युद्ध करने की सलाह देने वाले भीम को जो नीति युधिष्ठिर के द्वारा दिलाई गई है, उसका मूल यही है कि हमें किसी भी काम में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए; बिना सोचे समझे कोई काम करने से अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति सोच विचार कर काम करता है, उसके गुणों से आकृष्ट सम्पत्ति स्वयं उसके पास चली आती है।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ (२. ३०)

वीर पुरुष को अपने प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करने के लिये क्रोध के अंधेरे को दबा कर प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति का संचय करना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह इन तीनों शक्तियों से उसी तरह हाथ धो बैठता है, जैसे कृष्णपक्षीय चन्द्रमा अपनी कलाओं से।

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः॥ (२. ३७)

राजनीति की भाँति ही भारवि कामशास्त्र के भी अच्छे पण्डित हैं; पण्डित

जाय, वाणी के अर्थ में पौनरुक्त्य न होने पाय और अर्थ-सामर्थ्य (अपेक्षा) को कुचल न दिया जाय।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ (२. २७)

इस कसौटी को लेकर भारवि के सोने की परख करेंगे, तो वह खरा सिद्ध होगा। पर कसौटियाँ तो युग के साथ बदलती हैं, देश के साथ बदलती हैं, यही नहीं, हर मस्तिष्क के साथ बदलती हैं।

किरातार्जुनीय के इतिवृत्त पर दृष्टिपात करते समय कालिदास की इतिवृत्त-निर्वाहकता से तुलना करने पर पता चलता है, कि कालिदास जैसा कथाप्रवाह भारवि के काव्य में नहीं। माना कि महाकाव्य की कथावस्तु में नाटक जैसी घटनाचक्र की गत्यात्मकता अपेक्षित नहीं, तथा महाकाव्य की कथावर्णन शैली मन्द मन्थर गति से आगे बढ़ती है, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह कई स्थानों पर इतने लंबे लंबे ब्रेक लगाती चले, कि सहृदय पाठक ऊबने लगे। कालिदास की कथावस्तु क्या कुमारसंभव, क्या रघुवंश दोनों में ही निश्चित रूप से मन्थर गति से बढ़ती है, बीच बीच में एक से एक सुंदर वर्णन आते हैं, पर कालिदास का कवि अपने सहृदय पाठक की मनोवैज्ञानिक स्थिति को खूब पहचानता है, और इसके पहले कि पाठक एक ही वर्णन के पिष्टपेषण को पढ़ पढ़कर ऊबे, वह कथासूत्र पकड़ कर आगे बढ़ जाता है। संभवतः अपनी सफल नाट्य-कला से उसे यह चतुरता मिली है। भारवि, माघ या श्रीहर्ष में यह बात नहीं, वे जहाँ जमते हैं, आसन बाँधकर बैठ जाते हैं, किसी वर्ण्य विषय पर दिमाग का (दिल का नहीं) सारा गुब्बार निकाल लेते हैं, और जब एक विषय से संबद्ध शब्द-संहति, अलंकार-वैचित्र्य, कल्पना-संपत्ति का खजाना पूरा खाली हो जाता है, तब आगे बढ़ने का नाम लेते हैं। भारवि में फिर भी

गनीमत है, माघ तथा श्रीहर्ष इस कला के पूरे उस्ताद हैं, और इनसे भी बढ़ चढ़कर माघ के एक चेले 'रत्नाकर' (हरविजय काव्य के कर्ता), जिनके ५० सर्ग में लगभग ५० स्थल ही ऐसे हैं, जहाँ कथा ही नहीं, सहृदय पाठक के मस्तिष्क को भी ब्रेक लगाना पड़ता है। प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य) में कथा का प्रवाह बार बार रोकना उसकी प्रभावोत्पादकता में विघ्न डालता है, इसका प्रमाण सहृदय पाठकों का स्वानुभव है।

पर भारवि में कई स्थल प्रभावोत्पादकता से समवेत हैं। समग्र काव्य चाहे रघुवंश जैसा स्थिर प्रभाव (Lasting effect) न डाले, ये स्थल सहृदय पाठक के दिल और दिमाग दोनों पर प्रभाव डालने में पूर्णतः समर्थ हैं। भारवि वीर तथा शृङ्गार के कवि हैं। आरम्भ में दूसरे सर्ग की भीम की उक्तियाँ वीर रसोचित दर्प से भरी पड़ी हैं। भीम यह कभी नहीं चाहता कि उन्हें दुर्योधन की कृपा से राज्य मिल जाय। उसके मत में, अपने तेज से सारे संसार को तुच्छ बनाने वाला महान् व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की कृपा से ऐश्वर्य प्राप्ति नहीं करना चाहता। सिंह अपने ही हाथों से मारे हुए दान जल से सिक्त हाथियों को अपनी जीविकावृत्ति बनाता है।

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।

लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥ (२.१८)

इसके साथ ही मध्यम पाण्डव की वीरता का निम्न चित्र भी देखिये:—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।

गाण्डीवी कनकशिलातलं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः॥ (१७.६२)

'अर्जुन तेजी से बाणों की नदी के सामने निकलकर उसी तरह आया, जैसे मगर वेग से गंगा के पानी को चीरकर सतह के ऊपर उठ आता है, और उसने तीन आँखों वाले शिव के सोने की शिला के समान दृढ़ और विस्तीर्ण वक्षःस्थल पर दोनों हाथों से जोर से प्रहार किया।'

यह पद्य भारवि में एक और गुण का संकेत करता है। भारवि के पद्यों में नादानुकृति (Rhythm) बहुत कम पाई जाती है, पर इस पद्य में उसका सुंदर चित्र है। पूर्वार्ध की 'लय' स्वयं उछलते अर्जुन का चित्र खींचती है, तो 'आजघ्ने' की 'रिदिम' ऐसी है, जैसे सचमुच किसी कठोर वस्तु पर चोट पड़ रही हो। वर्णन की चित्रमत्ता में प्रहर्षिणी छंद भी सहायता देता है, जो तीन अक्षरों पर रुक कर फिर तेजी से आगे बढ़ता है, जैसे उछलने के पहले थोड़ा रुककर अर्जुन वेग से उछल गया हो।[1]

किरातार्जुनीय के आठवें, नवें तथा दशवें सर्ग में शृंगार के कई सरस

---

१. 'उन्मज्जन्' के उच्चारण से उछलने का भाव स्वतः व्यक्त होता है। इस पद्य में 'वेगेन' तक पानी को चीरकर आते मगर की चित्रमत्ता है, तो 'न' का गुरुत्व (वेगेन प्रतिमुखमेत्य, नद्याः) का उच्चारण ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे अर्जुन उछलकर एकदम शिव के समक्ष कूद पड़ा है। उत्तरार्ध के 'भुजाभ्यां' 'आजघ्ने' 'नस्य' और पद्य के अन्त का (वक्षः) ऐसा समा बाँधता है जैसे सचमुच 'विषमविलोचन' की छाती पर प्रहार हुआ है। 'क्षः' के अन्तिम का विसर्ग जो उच्चारण में (अहह) जैसा सुनाई देता है, ऐसा मालूम होता है, जैसे चोट की गूंज अभी घण्टी के अनुस्वान की तरह कुछ देर तक चलती रहती है। एक और मार्के की बात यह है कि 'जाभ्यां' के बाद एक अक्षर रुककर 'जघ्ने' का उच्चारण, उसके बाद थोड़ा अधिक रुककर 'नस्य' का उच्चारण और फिर 'वक्षः' का उच्चारण इस बात की चित्रमत्ता देता है, जैसे अर्जुन ने शिव के वक्ष पर एक ही चोट नहीं की है, थोड़ा रुक रुककर तीन चार बार प्रहार किया है और 'वक्षः' के विसर्ग की गंभीरता शायद अंतिम चोट का संकेत करती है, जिसके उच्चारण में उतना ही पूरा जोर लगाना पड़ता है, जितना पूरा जोर अर्जुन ने आखिरी प्रहार में लगाया था। उपर्युक्त पद्य भारवि का उत्कृष्ट 'रिदमिक' पद्य है तथा भारवि के कवित्व का सफल प्रमाण है।

मैंने यहाँ संस्कृत के काव्यों के 'रिदमिक' मूल्य का अंकन करने के दिङ्मात्र का संकेत किया है। शायद इस दृष्टि से विचार करना हमारे प्राचीन कवियों के आलोचन में कुछ नई चीज जोड़ सकता है।

स्थल हैं। अप्सराओं का वनविहार, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा तथा रतिकेलि का वर्णन भारवि के प्रणय-कला-विशारदत्व को प्रतिष्ठापित करने में अलम् है। माघ के श्रृंगार वर्णन और उसके चन्द्रमा दोनों की तरह भारवि का श्रृंगार वर्णन दिल को भले ही कम गुदगुदाये, 'नर्मसाचिव्य'[1] करने में पूरा पटु है। मेरा निजी मत ऐसा है, कि भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष के श्रृङ्गार वर्णन वासना और विलास वृत्ति को जितने उभारते हैं, उतने कालिदास के वर्णन नहीं। इस दृष्टि से इन पिछले खेवे के कवियों के वर्णन विशेष वासनामय तथा ऐंद्रिय (Voluptuous and sensuous) जान पड़ते हैं। कालिदास से इनमें वही अन्तर है, जो सूर तथा बाद के रीतिकालीन हिंदी कवियों के श्रृंगार में। भारवि के श्रृङ्गार का एक चित्र देखिये :—

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ॥ (८.५१)

'जलविहार के समय किसी नायिका ने हाथ में पानी लेकर नायक पर उछालना चाहा, इसे देख कर प्रिय ने हँस कर उसका हाथ पकड़ लिया। स्पर्श के कारण नायिका का मन कामासक्त हो गया, उसका नीवीबंधन ढीला हो गया, पर पानी से सिमटी हुई करधनी ने उसके अंशुक को इसी तरह रोक लिया, जैसे वह सखी के समान ठीक समय पर नायिका की सहायता कर रही हो।'

किरात के इन तीन सर्गों का श्रृङ्गार वर्णन समग्ररूप में न दिखाई देकर कई मुक्तक श्रृंगार वर्णनों का समूह-सा दिखाई देता है। अलग अलग नायिका की तत्तत् मुग्धादि या खण्डितादि अवस्था के चित्रण पर मुक्तकत्व की छाप ज्यादा पाई जाती है। यहाँ नायक की परांगनासक्ति से रुष्ट खण्डिता

---

१. दे० कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना (माघ० १.५९)

मुग्धा का एक चित्र देखिये। नायक फूल तोड़ कर नायिका को दे रहा है, पर फूल देते समय उसके मुँह से गलती से दूसरी नायिका का नाम निकल जाता है, वह उसे गलत नाम से संबोधित कर देता है। नायिका समझ जाती है कि वह नायक की कनिष्ठा प्रिया है और मान कर बैठती है। पर वह नायक से कुछ नहीं कहती, खाली आँखों में आँसू भर कर पैर से जमीन खुरचने लग जाती है। मानव्यंजना का यह भी एक ढंग है।

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम्॥

(८.१४)

इस भोलेपन के विपरीत ठीक दूसरा चित्र देखिये, जो भारवि के छुँटे हुए ऐन्द्रिय वर्णनों में से एक है, जहाँ प्रगल्भा नायिका की 'रतिविशारदता' व्यञ्जित की गई हैं।

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी॥

(८.१९)

'प्रिय को अपने नेत्र में गिरे हुए पुष्प-पराग को मुँह की हवा से निकालने में असमर्थ पाकर, किसी नायिका ने उन्मत्त होकर अपने उन्नत तथा कठोर (पुष्ट) स्तनों के द्वारा प्रिय के वक्षःस्थल पर (इसलिए) जोर से मारा (कि नायक उसकी आँख से पराग निकालने के बहाने चुम्बन करना चाहता था)।'

भारवि में उद्दीपन तथा आलंबन दोनों ढंग का प्रकृति वर्णन मिलता है। अप्सराविहार में सूर्यास्तवर्णन,[1] रात्रिवर्णन,[1] प्रभातवर्णन,[1] शृंगार के

१. दे० किरातसर्ग ९।

उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आयँगे। आलम्बन वाला प्रकृतिवर्णन चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में मिलता है। पिछले खेवे के कवि प्रकृति के आलंबन पक्ष के वर्णन में बड़े कच्चे हैं। इनमें वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति जैसा प्रकृति के प्रति मोह नहीं दिखाई देता। आलंबन पक्ष के वर्णन में कालिदास की भारती सदा अनलंकृत रमणीयता लेकर आती हैं, पर प्रकृति में दिल को न रमाने वाले भारवि[1] या माघ,[2] यमक के फेर में पड़ जाते हैं। इतना होते हुए भी भारवि के चतुर्थ सर्ग के शरद्वर्णन के कुछ चित्र बड़े मार्मिक बन पड़े हैं। चतुर्थ सर्ग के प्रायः सभी वर्णन अलंकृत हैं। दो तीन पद्य जिनमें गायों का वर्णन है, अनलंकृत होते हुए भी सरस तथा स्वाभाविक हैं:—

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरोधसः। (४.१०)

'रात के पहले पहर में चरागाह से लौटती हुई गायें तेजी से दौड़ना चाहती थीं, पर पृथ्वी पर इसलिये तेज नहीं दौड़ पाती थीं, कि उनके हृदय में उन बछड़ों को देखने की बहुत उत्कण्ठा थी, जो स्वयं माँ को देखने के लिए उत्सुक थे और उनके पुष्ट स्तनों से अपने आप दूध की धारा छूट रही थी।'

यह वर्णन भारवि की पैनी दृष्टि का प्रमाण देता है, पर अधिकतर पद्यों के प्रकृतिवर्णन में अलंकार और अप्रस्तुतविधान का ही महत्त्व हो गया है। ऐसे ही एक अप्रस्तुतविधान के लिए पण्डितोंने भारवि को 'आतपत्रभारवि' की उपाधि इसीलिए दे दी थी कि इस तरह का अप्रस्तुतविधान भारवि की मौलिक कल्पना है। गुलाब (स्थलकमल) के वन से उड़ कर गुलाब के फूलों का पराग आकाश में छिटक गया है। हवा उसे आकाश में चारों ओर फैला कर मण्डलाकार बना देती है और मण्डलाकृति

---

१. किरात, पंचम सर्ग। २. माघ, चतुर्थ सर्ग।

पराग-संघात ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सोने के छत्र की शोभा को धारण कर रहा हो।

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसंभवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ (५.३९)

भारवि की यह 'निदर्शना' निःसंदेह एक अनूठी कल्पना है।

अर्थालंकारों के, विशेषतः साधर्म्यमूलक अलंकारों के, प्रयोग में भारवि कुशल हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, निदर्शना के अतिरिक्त यमक, श्लेष तथा प्रहेलिकादि चित्रकाव्यों की नक्काशी करने में भारवि की टाँकी पूर्ण दक्ष है। यहाँ दो तीन उदाहरण देना पर्याप्त होगा। नीचे के पद्य में उपमा का सरस श्रृङ्गारी प्रयोग है:—

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम्।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम्॥ (४.१)

'तब लोकप्रिय अर्जुन कृषकादिजनों से युक्त पृथ्वी के पास उसी तरह गया, जैसे कोई नायक प्राप्तयौवना प्रेयसी के पास जाता है। शरद्भूमि पर कलहंस उसी तरह कूज रहे थे, जैसे नायिका की करधनी झणझणायित हो रही हो और उसके पके धान्य की पाण्डुता नायिका के गौरवर्ण के समान दिखाई दे रही थी।'

प्रकृति के वर्णन में रूपक का अप्रस्तुत विधान निम्न पद्य में उत्कृष्ट है:—

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः॥ (४.२८)

'अर्जुन ने उन वनपंक्तिरूपी युवतियों को देखा, जो वायु से बिखेरे हुए सप्तपर्ण के पीले पराग को वायु से उड़ते उत्तरीय की तरह सम्हाल रही थीं, जिनके सुन्दर बाणपुष्पों के निर्मल नेत्र विकसित हो रहे थे, तथा जो पुष्पों के विकासरूपी हास से युक्त थीं।

पंचम सर्ग में कवि यमक के फेर में फँस गया है, जहाँ हर दूसरा पद्य यमक का है। यमक के कई तरह के रूप यहाँ देखे जा सकते हैं।[1] किरात में माघ की भाँति शुद्ध श्लेष (अर्थश्लेष) का प्रयोग नहीं मिलता। यहाँ श्लेष किसी न किसी अर्थालंकार का अंग बन कर आता है। श्लेष का एक रूप भारवि के प्रसिद्ध निम्न पद्य में देखें, जो उपमा (श्लेषानुप्राणितोपमा) का अंग है:—

कथाप्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥ (१. २४)

'जिस तरह सर्प विषवैद्य के द्वारा पढ़े गये असह्य मन्त्र को सुनकर— जिसमें गरुड़ तथा वासुकी का नाम (तवाभिधान) होता है—विष्णु के पक्षी गरुड़ के पराक्रम का स्मरण कर (अनुस्मृताखण्डसुनूविक्रमः) अपने फण को नीचे गिरा देता है, उसी तरह जब दुर्योधन बातचीत में लोगों के मुँह से युधिष्ठिर का नाम सुनता है, तो अर्जुन की वीरता को याद कर चिन्ता के कारण सिर झुका लेता है।'

भारवि की इससे भी अधिक चित्रमत्ता प्रहेलिकादि-गोमूत्रिका-बन्धादि-काव्यों में मिलती है। इस तरह के कूट काव्यों का एक उदाहरण

---

१. दे० ५, ७, ९, ११, १३, २०, २३ आदि। उदाहरण के लिए द्वितीयचतुर्थपादवृत्ति यमक का नमूना यह है:—

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम्।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम् ॥ (५. १३)

'अर्जुन ने विकसित कमल वाले, राजहंसों से युक्त, शुद्ध मानसरोवर को धारण करते हिमालय को देखा, जो प्रणय-मान की ईर्ष्या वाली पार्वती से कलह करते पवित्र मनवाले, सगण (गणों से युक्त) शिव को भी धारण करता है। हिमालय में एक ओर स्वच्छ मानसरोवर है और दूसरी ओर शिव का पवित्र निवासस्थान है।

देखें, जहाँ प्रत्येक पद में एक ही व्यञ्जनध्वनि पाई जाती है। यह एकाक्षर-पद चित्रकाव्य है।

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायः।

ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥ (१५. ५)

खड्ग (सासिः) बाण (सासुसूः) तथा धनुष (सासः) से युक्त होकर, यानसाध्य[1] तथा अयानसाध्य लाभादि को प्राप्त करने वाले, शोभा-सम्पन्न (ललः) निश्चल प्रकृति वाले (अलोलः) अर्जुन ने, जिसने चन्द्रमा के स्वामी (शिव) के पुत्र (कार्तिकेय) को हरा दिया था (शशीशशिशुशीः), (खरगोश की-सी) प्लुतगति से युक्त होकर (तेजी से फुदक कर), अपूर्व शोभा को प्राप्त किया।'

काव्यरसिकों के लिए भारवि के चित्रकाव्यों का कोई महत्त्व न हो, काव्यरूढियों का अध्ययन करने वाले आलोचकों के लिए ये कम महत्त्व नहीं रखते। भारवि की इन कलाबाजियों में उस जादूगरी का आरम्भ पाया जाता है, जिसकी शिष्यपरम्परा हिन्दी के केशव, सेनापति जैसे कई रीति-कालीन कवियों तक चली आई है।

भारवि की उक्तियाँ स्वाभाविकता, व्यंग्य तथा पाण्डित्य से भरी पड़ी हैं। द्रौपदी की उक्ति में युधिष्ठिर को तीखे व्यंग्य सुनाने की क्षमता है, तो भीम की युक्ति वीरता के घमण्ड से तेज और तर्राट। युधिष्ठिर की कायरता पर संकेत करती द्रौपदी कहती है कि (युधिष्ठिर के सिवाय) ऐसा राजा कौन होगा, जो अपनी सुन्दर पत्नी के समान गुणानुरक्त (सन्धि आदि गुणों से युक्त), कुलीन राज्यलक्ष्मी को, स्वयं अनुकूल साधन से युक्त तथा कुला-

---

१. 'यान' राजनीति का पारिभाषिक शब्द है, तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय, इन छः गुणों में से एक है। आक्रमण के लिए शत्रु के प्रति विजिगीषु का प्रस्थान 'यान' कहलाता है (शत्रुं प्रति विजिगीषोर्यात्रा यानं)।

भिमानी होते हुए भी दूसरे के हाथों छिनती हुई देखे। आप समस्त साधन सम्पन्न तथा कुलाभिमानी हैं, पर अपनी राज्यलक्ष्मी को छिनते देखकर भी आपका स्वाभिमान जागृत नहीं होता, यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो इस तरह शान्त नहीं बैठ पाता। भला अपनी पत्नी को छिनते देख कोई बर्दाश्त कर सकता है, और उस पर यह कि वह (लक्ष्मी, पत्नी) स्वयं आपके पास रहना चाहती है।

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्॥ (१.३१)

इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी ने युधिष्ठिर के द्वारा उसे जुए के दाँव पर लगाने तथा दुःशासन के द्वारा उसके अपमान की घटना की व्यञ्जना कराकर युधिष्ठिर को तीखा व्यंग्य सुनाया है।

द्रौपदी यहीं नहीं ठहरती। वह साफ कहती है कि यदि युधिष्ठिर की क्षत्रियोचित वीरता अस्त हो गई हो, और वे क्षमा को ही सुख का साधन मानते हों, तो राजा के चिह्नरूप धनुष को फेंक दें, और जटा धारण कर वन में अग्निहोम किया करें। क्षमा ब्राह्मणों और तपस्वियों का गुण है, राज-पुत्र होकर उसका आश्रय लेने से युधिष्ठिर क्षत्रियत्व की विडम्बना क्यों करा रहे हैं?

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं जटाधरः सन् जुहुधीह पावकम्॥ (१.४४)

अब तक के विवेचन और प्रसंगवश उद्धृत पद्यों से यह सिद्ध हो जाता है, कि कालिदास जैसा प्रसाद गुण भारवि में नहीं मिलता। यद्यपि भारवि की शैली माघ की भाँति विकट-समासान्त-पदावली का आश्रय नहीं लेती, तथापि कालिदास जैसी ललित वैदर्भी भी नहीं। भारवि का अर्थ

कालिदास के अर्थ की तरह अपने आप सूखी लकड़ी की तरह प्रदीप्त नहीं हो उठता। कालिदास की कविता में द्राक्षापाक है, अंगूर के दाने की तरह मुँह में रखते ही रस की पिचकारी छूट पड़ती है, जब कि भारवि के काव्य में नारिकेलपाक है, जहाँ नारियल को तोड़ने की सख्त मेहनत के बाद उसका रस हाथ आता है, और कभी कभी तो उसे तोड़ते समय इधर उधर जमीन पर बह भी जाता है, और उसमें से बहुत थोड़ा बचा खुचा सहृदय की रसना का आस्वाद्य बनता है। मल्लिनाथ ने इसीलिए भारवि की उक्तियों को 'नारिकेलफलसम्मित'[1] कहा है। मल्लिनाथ को धन्यवाद, जिसने बड़ी कुशलता से इस नारिकेल को तोड़कर रस को निकाल लिया है, जिसमें से थोड़ा बहुत सहृदय रसिक के बाँट में भी पड़ सकता है। भारवि की रीति गौडी तो नहीं कही जा सकती, पर वह ठीक वही वैदर्भी रीति नहीं है, जो कालिदास में पाई जाती है। शायद कालिदास से माघ तक जाने के बीच में काव्यशैली अपना रूप बदलने की चेष्टा कर रही है, भारवि की शैली से ऐसा मालूम होता है।

भारवि कालिदास की अपेक्षा पाण्डित्यप्रदर्शन के प्रति अधिक अनुरक्त हैं। वे अपने व्याकरण-ज्ञान का स्थान स्थान पर प्रदर्शन करते हैं, और यही प्रवृत्ति भट्टि, माघ तथा श्रीहर्ष में अत्यधिक हो चली है। भट्टि ने तो काव्य लिखा ही व्याकरण-ज्ञान-प्रदर्शन के लिए था। भारवि में 'तन्' धातु का प्रयोग अत्यधिक पाया जाता है, उन्हें कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के प्रयोग बड़े पसन्द हैं। इनके साथ ही 'शास्' धातु का द्विकर्मक[2] प्रयोग,

---

१. नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥
किरात (घण्टापथव्याख्या)

२. चिब्रूशासुजिमन्थमुषाम् कर्मयुक्स्यादकथितं। (कारिका)

'दर्शयते' का प्रयोग,[1] अनुजीविसात्कृत, स्तनोपपीडं जैसे पाणिनीय प्रयोग मिलते हैं; तथा भारवि में ही सबसे पहले काकु वक्रोक्ति का और विध्यर्थ में निषेधद्वय का प्रयोग अधिक पाया जाता है। इसके साथ ही अतीत की घटना का वर्णन करने में भारवि खास तौर पर परोक्षभूते लिट्[2] का प्रयोग करते हैं, जब कि लङ् तथा लुङ् का प्रयोग अपरोक्षभूत के लिए करते हैं। भारवि की सामान्यभूते लुङ् के साथ उतनी आसक्ति नहीं है, जितनी माघ की। व्याकरण की त्रुटियाँ भारवि में बहुत कम हैं, किन्तु 'आजघ्ने' (१७.६२) का आत्मनेपदी प्रयोग खटकता है।

विविध छन्दों के प्रयोग में भारवि कुशल हैं। वंशस्थ भारवि का खास छन्द है, तथा इसके लिए क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में भारवि की प्रशंसा की है।[3] इसके अतिरिक्त उपजाति (इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा), वैतालीय (द्वितीय सर्ग), द्रुतविलंबित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी (षष्ठ सर्ग), स्वागता (नवम सर्ग), उद्गता (द्वादश सर्ग), पुष्पिताग्रा (दशम सर्ग) के अतिरिक्त औपच्छंदसिक, अपरवक्त्र, जलोद्धतगति, चन्द्रिका, मत्तमयूर जैसे कई अप्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग भी किया गया है। कालिदास के खास छन्द छः हैं, भारवि के बारह, तो माघ के सोलह।

अन्त में हम डॉ० डे के साथ यही कहेंगे:—'भारवि की कला प्रायः अत्यधिक अलंकृत नहीं है, किन्तु आकृति-सौष्ठव की नियमितता व्यक्त करती है। शैली की दुष्प्राप्य कांति भारवि में सर्वथा नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा, किन्तु भारवि उसकी व्यंजना अधिक नहीं कराते। भारवि

---

१. स संततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥ (१,१०)

२. दे० ३.३२-३८.

३. वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिमा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

का अर्थगौरव, जिसके लिये विद्वानों ने उनकी अत्यधिक प्रशंसा की है उनकी गंभीर अभिव्यंजना शैली का फल है, किन्तु यह अर्थगौरव एक साथ भारवि की शक्ति तथा दुर्बलता (भावपक्ष की दुर्बलता) दोनों को व्यक्त करता है। भारवि की अभिव्यंजना शैली का परिपाक अपनी उदात्त स्निग्धता के कारण सुन्दर लगता है, उसमें शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है, किन्तु महान् कविता की उस शक्ति की कमी है, जो भावों की स्फूर्ति तथा हृदय को उठाने की उच्चतम क्षमता रखती है।'

भट्टि

भारवि में कालिदासोत्तर काव्य की पाण्डित्य-प्रदर्शन-प्रवृत्ति और कलात्मक सौष्ठव का एक पक्ष दिखाई देता है, भट्टि में दूसरा। भारवि मूलतः कवि हैं, जो अपनी कविता को पण्डितों की अभिरुचि के अनुरूप सजाकर लाते हैं, भट्टि मूलतः वैयाकरण तथा अलङ्कारशास्त्री हैं, जो व्याकरण और अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों को व्युत्पित्सु सुकुमारमति राजकुमारों तथा भावी काव्यमार्ग के पथिकों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते हैं। भारवि तथा भट्टि के काव्यों का लक्ष्य भिन्न भिन्न हैं। इनके लक्ष्य में ठीक वही भेद है, जो कालिदास तथा अश्वघोष में। कालिदास रसवादी कवि हैं, तो भारवि कलावादी कवि; अश्वघोष दार्शनिक उपदेशवादी कवि हैं, तो भट्टि व्याकरण-शास्त्रोपदेशी कवि। इस दृष्टिकोण को लेकर चलने पर ही हम भट्टि के कार्य की प्रशंसा कर सकेंगे। भट्टि के काव्य का लक्ष्य निश्चित रूप से व्याकरण शास्त्र के शुद्ध प्रयोगों का संकेत करना है।

गुप्तों के पतन के बाद पाटलिपुत्र तथा अवन्ती का साहित्यिक महत्त्व अस्त हो गया था। संस्कृत साहित्य के विकास-काल के अन्तिम दिनों (छठी-सातवीं शती) में संस्कृत साहित्य के केन्द्र वलभी तथा कान्यकुब्ज थे। वलभी का केन्द्र कुछ दिनों तक प्रदीप्त रहा; किन्तु कान्यकुब्ज केन्द्र की परम्परा बाण से लेकर श्रीहर्ष तक अखण्ड रूप में पाई जाती है, जिसमें भवभूति, वाक्पतिराज (गउडवहो प्राकृत काव्य के रचयिता) जैसे साहित्यिक व्यक्तित्व भी आते हैं। वलभी के राजा पण्डितों के आश्रयदाता थे। भट्टि ही नहीं, भट्टि से लगभग पचास साल बाद में होने वाले माघ भी

सम्भवतः वलभी के राजाओं के ही आश्रित थे। वलभी गुप्त–साम्राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने पर गुजरात के राजाओं की राजधानी थी। गुजरात की पुरानी सीमा ठीक आज वाली नहीं है तथा इसमें मारवाड़ और राजस्थान का दक्षिणी पार्वत्यप्रदेश (डूँगरपुर, बाँसवाडा आदि) भी सम्मिलित था। वलभी सम्भवतः डूँगरपुर, बाँसवाडा के आसपास दक्षिणपश्चिमी गुजराती भाग में स्थित थी। गुजरात की साहित्यिक परम्परा भट्टि से लेकर हेमचन्द्र ही नहीं, बाद तक अखण्ड रूप से चलती आई है। मेकडोनल के 'संस्कृत साहित्य' के गुजराती अनुवादक ने माघ को गुजरात का सर्वप्रथम संस्कृत कवि माना है, किन्तु यदि कोई गुजरात का सर्वप्रथम संस्कृत कवि माना जाना चाहिए, तो वह भट्टि है, माघ नहीं। माघ भट्टि के कई स्थानों पर ऋणी हैं, इसे हम माघ के परिच्छेद में बतायंगे।

भट्टि के काल में प्राकृत भाषाओं का साहित्य समृद्ध होने लग गया था। भट्टि से पहले ही प्रवरसेन का 'सेतुबन्ध' महाकाव्य लिखा जा चुका था, और भट्टि स्वयं अपने काव्य–निबंधन में उससे प्रभावित रहे हैं। प्राकृत भाषाओं की समृद्धि से निश्चित रूप से संस्कृत साहित्य को, विशेषतः संस्कृत व्याकरण को, ठेस पहुँच रही थी। पाणिनि के सूत्रों को रट रट कर पदों की रूपसिद्धि पर ध्यान देना, पाणिनि के नियमों के अपवादरूप या पूरकरूप वार्तिकों तथा उनके पल्लवन–पातञ्जल महाभाष्य की फक्किकाओं को–याद कर उन पर शास्त्रार्थ करना, हर एक के बस का रोग नहीं था। पर संस्कृत साहित्य के महा–समुद्र में प्रविष्ट होने के लिये व्याकरण–ज्ञान की तरी के बिना काम नहीं चल सकता था। आज के आंग्ल पद्धति के संस्कृत–पाठकों की तरह उस काल के संस्कृत–छात्रों को भी पाणिनि महाराज के नियम–दण्ड से बड़ा डर लगता होगा। भट्टि ने इस बात को खूब पहचाना था और

सुकुमारमति छात्रों को सम्भवतः वलभी के राजा श्रीधरसेन के पुत्रों[1] को काव्य के द्वारा व्याकरणशुद्ध प्रयोगों को सिखाने के ढंग का आश्रय लिया होगा। राजकुमारों को संस्कृत सिखाने का ढंग बाद के कई कवियों और पण्डितों ने अपनाया है। १२ वीं शती के प्रारंभ में काशीराज (कान्यकुब्जेश्वर) गोविंदचन्द्र के पुत्रों को उस काल की देशभाषा के द्वारा संस्कृत की शिक्षा देने के लिए दामोदर ने 'उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्' की रचना की थी। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में दामोदर ने कोसली (कौशली) अपभ्रंश के द्वारा संस्कृत सिखाने के ढंग को ठीक उसी तरह अपनाया है, जैसे भट्टि ने काव्य के द्वारा व्याकरणसम्मत प्रयोगों और अलंकारों को सिखाने का ढंग अपनाया है। यही नहीं, भट्टि ने दामोदर से उलटा ढंग भी अपनाया है। जहाँ दामोदर कोसली के द्वारा संस्कृत की शिक्षा देते हैं, वहाँ भट्टि संस्कृत के द्वारा प्राकृत (महाराष्ट्री प्राकृत) सिखाने का ढंग भी अपनाते हैं, जो भट्टिकाव्य के त्रयोदश सर्ग के भाषासम-प्रयोग से स्पष्ट है। जहाँ तक भट्टि के उद्देश्य का प्रश्न है, वे दामोदर से किसी कदर कम सफल नहीं हुए हैं। व्याकरण को लक्ष्य बनाकर चलने वाले काव्यों में अन्य काव्य भी पाये जाते हैं, जिनमें भट्टभौम का 'रावणार्जुनीय'[2] तथा वासुदेव का 'वासुदेवचरित' प्रसिद्ध हैं। वासुदेव ने कृष्ण की कथा को लेकर संस्कृत व्याकरण के धातुपाठ के अनुसार सभी धातुओं का तत्तत् लकारगत प्रयोग बताने के लिए इस अंतिम काव्य की रचना की थी।

---

१. मेरी ऐसी कल्पना है कि भट्टि श्रीधरसेन के राजकुमारों के अध्यापक थे, तथा उन्हीं को पाणिनीय व्याकरण का व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए उन्होंने यह काव्य लिखा था।

२. ये दोनों काव्य काव्यमाला में प्रकाशित हुए थे। भट्टभौम संभवतः काश्मीरी थे, दूसरे 'काव्य' के रचयिता दाक्षिणात्य।

भट्टि-तिथि तथा जीवनवृत्त

भट्टि ने स्वयं काव्य के अन्त में अपने आश्रयदाता राजा का संकेत किया है। वे बताते हैं कि भट्टिकाव्य (रावणवध) की रचना राजा श्रीधरसेन की राजधानी वलभी में की गई थी। राजा श्रीधरसेन प्रजाओं का कल्याण करने वाले हैं, अतः उनकी कीर्ति प्रसारित हो।[1] वलभी के ये भट्टिवाले श्रीधरसेन कौन थे, इसका निर्णय करना इतना सरल नहीं, क्योंकि शिलालेखों से पता चलता है कि वलभी में श्रीधरसेन नाम वाले चार राजा हो चुके हैं। श्रीधरसेन प्रथम का काल ५०० ई० के लगभग है, तो श्रीधरसेन चतुर्थ का ६५० ई० के लगभग। भट्टि किस राजा के सभापण्डित थे, इसका थोड़ा संकेत यों मिलता है। एक शिलालेख में श्रीधरसेन द्वितीय के द्वारा किसी भट्टि नामक विद्वान् को कुछ भूमि दान में देने का उल्लेख है। क्या ये भट्टि तथा 'रावणवध' काव्य के कवि एक ही हैं? इन्हें एक मानने में कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलता, किन्तु यह सम्भव हो सकता है। इसे मान लेने पर भट्टि का समय सातवीं शती का प्रथम पाद (६१० ई०-६१५ ई० के लगभग) सिद्ध होता है। इस प्रकार भट्टि को बाण से एक पीढ़ी (२०-२५ वर्ष) पूर्व का माना जा सकता है।

भट्टि के जीवनवृत्त का कुछ पता नहीं।[2] हमारा निजी अनुमान है, भट्टि गुजराती या श्रीमाली ब्राह्मण थे और श्रीधरसेन के सभा पण्डित ही नहीं, राजकुमारों के गुरु भी थे।

---

१. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्
(भट्टिकाव्य २२. ३५ पृ० ४७९)

२. कुछ विद्वानों ने भट्टि को मन्दसौर शिलालेख वाले वातास भट्टि से अभिन्न माना है। पर वातास भट्टि के अव्याकरणसम्मत प्रयोग वैयाकरण भट्टि के नहीं हो सकते। कुछ लोगों के मतानुसार भट्टि तथा भर्तृहरि दोनों एक ही व्यक्ति के

भट्टि का रावणवध

भट्टि ने अपने काव्य का इतिवृत्त रामायण से लिया है। रामचन्द्र के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की रामायण कथा को २२ सर्गों के काव्य में निबद्ध किया गया है। भट्टि का ध्येय काव्य के इतिवृत्त पर विशेष ध्यान देना नहीं है, यही कारण है घटना-चक्र में औत्सुक्य की कमी दिखाई पड़ती है। किन्तु कथा राम के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध होने के कारण क्षेत्र की दृष्टि से किरात या माघ की कथा से लम्बी है, साथ ही भट्टि की कथा में लम्बे लम्बे वर्णनों वाली प्रवाहावरोधकता नहीं मिलती। कालिदास तथा भारवि के सर्ग विशेष लम्बे नहीं होते, माघ के सर्ग भी अधिक लम्बे नहीं दिखाई पड़ते, जब कि नैषध के सर्ग बहुत लम्बे होते हैं और उसके अधिकतर सर्गों में १०० से ऊपर पद्य पाये जाते हैं। भट्टि के कोई कोई सर्ग तो बहुत ही छोटे होते हैं, कालिदास तथा भारवि से भी छोटे। उदाहरण के लिए पहले इक्कीसवें और बाइसवें सर्ग में क्रमशः २७, ३० तथा ३५ पद्य हैं। अन्य सर्ग भी अधिक लम्बे नहीं है। भट्टि ने इन २२ सर्गों को निश्चित ढंग से चार काण्डों में विभक्त किया है:—

नाम हैं तथा भट्टि संस्कृत भर्तृ० का प्राकृतरूप है। भट्टि ही भर्तृहरि थे और हरिकारिका, वाक्यपदीय तथा श्रृङ्गार-नीति-वैराग्य शतकत्रय के रचयिता थे। यह कल्पना दोनों के प्रकाण्ड वैयाकरण होने के कारण कर ली गई होगी, जो निःसार प्रतीत होती है। क्या वाक्यपदीयकार भर्तृहरि तथा शतकत्रयकार भर्तृहरि एक ही थे? इस प्रश्न का उत्तर भी निश्चितरूप से नहीं दिया जा सकता। कुछ लोग इन्हें भी दो अलग अलग व्यक्ति मानते हैं। सम्भवतः कवि भर्तृहरि तथा वैयाकरण भर्तृहरि एक ही हैं। चीनी यात्री इत्सिंग ने भर्तृहरि के विषय में लिखा है, जिससे यह पता चलता है कि इत्सिंग के भारत आने के कुछ ही दिनों पूर्व भर्तृहरि का देहावसान हुआ था, तथा भर्तृहरि अपने अन्तिम दिनों में बौद्ध धर्मानुयायी बन गये थे। (दे० कीथ: हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर पृ० १७५-१७७)

१. प्रकीर्ण काण्ड

प्रथम पाँच सर्ग प्रकीर्ण काण्ड के नाम से विख्यात हैं। इसमें रामजन्म से लेकर रामप्रवास तथा सीताहरण तक की कथा है। व्याकरण के नियमों की दृष्टि से प्रथम चार सर्गों में कोई निश्चित योजना नहीं दिखाई देती, तथा कवि में जो कुछ कवित्व है, इन्हीं चार सर्गों तथा प्रसन्न काण्ड के सर्गों में दिखाई पड़ता है। पंचम सर्ग में अधिकतर पद्य प्रकीर्ण हैं, केवल दो स्थलों पर क्रमशः ट प्रत्यय (टाधिकार ९७–१००) तथा आमधिकार (१०४–१०७) के प्रयोगों का संकेत मिलता है।

२. अधिकार काण्ड

षष्ठ, सप्तम, अष्टम तथा नवम सर्ग अधिकार काण्ड के नाम से विख्यात हैं। इनमें भी कई पद्य प्रकीर्ण हैं। किन्तु अधिकतर पद्यों में व्याकरण के नियमों में, दुहादिद्विकर्मक धातु (६, ८–१०), ताच्छीलिककृदधिकार (७, २८–३३), भावे कर्तरि प्रयोग (७.६८–७७), आत्मनेपदाधिकार (८.७०–८४), अनभिहितेऽधिकार (३.९४.१३१); आदि पर भट्टि का खास ध्यान पाया जाता है।

३. प्रसन्न काण्ड

तीसरा काण्ड व्याकरण से संबद्ध न होकर अलंकारशास्त्र से संबद्ध है। यही कारण है कि इसका नाम प्रसन्न काण्ड रखा गया है। इसमें दशम, एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश सर्ग आते हैं। दशम सर्ग में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के अनेकों भेदोपभेदों का प्रयोग (व्यावहारिक रूप) है। एकादश और द्वादश सर्ग में क्रमशः माधुर्य तथा भाविक का और त्रयोदश सर्ग में भाषासम नामक श्लेष-भेद का प्रदर्शन है।

४. तिङन्त काण्ड

तिङन्त काण्ड में संस्कृत व्याकरण के नौ लकारों[1] लिङ्, लुङ्, लृट्, लङ्, लट्, लिङ्, लोट्, लृङ्, लुट्—का क्रमशः १४ वें सर्ग से लेकर २२ वें सर्ग तक एक एक सर्ग में (एक एक लकार का) व्यावहारिक दिग्दर्शन है।

इस प्रकार भट्टि ने व्याकरण के अनेकों प्रयोगों पर व्यावहारिक संकेत कर दिया है। भट्टि के प्रकीर्ण पद्य भी व्याकरण की दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं। पर प्रकीर्ण पद्यों के व्याकरणात्मक प्रयोगों में भट्टि कोई निश्चित योजना लेकर नहीं आते, जो अधिकार काण्ड तथा तिङन्त काण्ड में पाई जाती है।

भट्टि का व्यक्तित्व

भट्टि प्रकृति से पण्डित हैं, उनमें वैयाकरण तथा आलंकारिक का विद्वत्तापूर्ण समन्वय है। यदि हमें भट्टि के व्यक्तित्व को पहचानना है, तो भट्टि के वैयाकरण से आँख नहीं मूँदना होगा, और यह देखना होगा कि वैयाकरण भट्टि ने अपने काव्य में इस पाण्डित्य का प्रदर्शन कहाँ तक किया है। भले ही रसवादी दृष्टि से भट्टि के काव्य का यह पहलू कोई महत्त्व न रखे, एक निष्पक्ष आलोचक का उस बिन्दु पर कुछ न कहना भट्टि के साथ अधिक अन्याय होगा, साथ ही आलोचक की एकांगी दृष्टि का साक्षी बनेगा। अतः यहाँ भट्टि के व्याकरण विषयक पाण्डित्य पर सप्रमाण कुछ विवेचना कर देना अनुचित न होगा। स्वयं भट्टि के ही शब्दों में भट्टिकाव्य व्याकरण की आँख वाले लोगों के लिये दीपक के समान ज्ञान-प्रदर्शक है, क्योंकि

---

१. भट्टि ने संस्कृत के दसों लकारों को दस सर्गों में नहीं लिया है। विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् दोनों को वे एक ही 'लिङधिकार' के अन्तर्गत १९ वें सर्ग में लेते हैं। जयमंगलाकार ने 'विध्यादिषु लिङ्' कह कर दोनों लिङों का संकेत किया है।
(दे० १९. २, ६ आदि)

शब्दानुशासन के ज्ञान के बिना शब्दादि का परिचय उसी तरह होता है, जैसे अन्धों को हाथ से टटोलने पर घड़े आदि पदार्थ का पता चलता है[1]; और भट्टि का काव्य व्याकरणविदों के लिए सचमुच दीपक तुल्य है, किन्तु व्याकरण न जानने वालों के लिए अंधे के हाथ में दिये गए दर्पण के समान। भट्टि ने यह काव्य केवल विद्वानों के लिए ही लिखा है, व्याकरण ज्ञानहीन 'मूर्खों' (दुर्मेधसः) के लिए नहीं।[2]

भट्टि के व्याकरणसंबंधी पाण्डित्य का पूरा पता तो काव्य के पढ़ने पर ही चल सकता है, यहाँ केवल उसका दिङ्मात्र निदर्शन किया जा रहा है।

जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, प्रकीर्णकाण्ड के पद्यों में भट्टि की कविता निश्चित व्याकरण-नियम-योजना लेकर नहीं आती। किन्तु वहाँ भी भट्टि में कई ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं, जो किन्हीं कठिन रूपों का, प्रकृति-प्रत्यय का, संकेत करते हैं।

(१) प्रयास्यतः पुण्यवनाय जिष्णो रामस्य रोचिष्णुमुखस्य धृष्णुः। (१.२५)

इस पद्यार्ध में 'जिष्णोः' (जिष्णु का षष्ठी ए० व०), रोचिष्णु, धृष्णुः रूप क्रमशः √ जि, √ रुच् √ धृष् धातुओं के साथ ग्स्नु,[3] इष्णुच्[4] तथा

---

१. दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्द-लक्षण-चक्षुषाम्।
हस्तामर्ष इवाऽन्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥ (२२.३३)

२. व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥ (२२.३४)

३ ग्लाजिस्थश्च ३।२।१३९ सूत्र से जिधातु के साथ ग्स्नु प्रत्यय से 'जिष्णुः' सिद्ध होता है।

४. अलंकृञ् ३।२।१३६ इत्यादि सूत्र से इष्णुच् प्रत्यय के द्वारा 'रोचिष्णुः' बनता है। इष्णुच् में ग्स्नु तथा क्नु प्रत्यय से यह भेद है कि यह धातु के स्वर में गुण कर देता है।

क्नु[1] प्रत्यय से बने हैं। इन तीनों का प्रयोग प्रायः ताच्छील्य अर्थ में होता है। इन तीनों का प्रयोग एक साथ करने का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि भट्टि एक ही रूप के, आपाततः एक ही तरह के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले, अनेक प्रत्ययों में अर्थ की दृष्टि से तथा व्याकरण सिद्धि की दृष्टि से कौन-सा तात्त्विक भेद है, इसका संकेत करना चाहते हैं।

(२) लताऽनुपातं कुसुमान्यगृह्णात् स नद्यवस्कन्दमुपास्पृशच्च।
कुतूहलाच्चारुशिलोपवेशं काकुत्स्थ ईषत्स्मयमान आस्त॥ (२.११)

राम ने प्रत्येक लता के पास जा जाकर (लतानुपातं) फूलों को चुना, उन्होंने प्रत्येक नदी में घुस घुसकर (नद्यवस्कंदं) उसके जल का स्पर्श किया या आचमन किया। ककुत्स्थ के वंश में उत्पन्न रामचन्द्र कुतूहल से हर सुन्दर शिला पर बैठ बैठ कर (शिलोपवेशं) कुछ मुसकुराते रहते थे।

इस पद्य के लतानुपातं, नद्यवस्कंन्दं, तथा शिलोपवेशं के प्रयोग भट्टि ने खास तौर पर किये हैं। ये प्रयोग भी व्याकरण के नियमों के प्रदर्शन की प्रवृत्ति है। इनके द्वारा भट्टि इस बात का संकेन करना चाहते हैं कि √विश्, √पद् (पत्), √स्कन्द् आदि धातुओं से वीप्सार्थ में णमुल् प्रत्यय होता है।[2]

(३) सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनताप्सीत् सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च॥ (१. २)

---

१. त्रसि-गृधि-धृषि क्षिपेः क्नुः ३।४।१४० सूत्र से क्नु प्रत्यय से 'धृष्णुः' सिद्ध होता है। ग्स्नु तथा क्नु में धातु के स्वर में गुण नहीं होता।

२. इन रूपों में पाणिनि के 'विशि-पति-पदि-स्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः' ३।४।५६ तथा 'नित्यवीप्सयोः' ८।१।५६ सूत्रों की ओर संकेत किया गया है, जिनके द्वारा लतानुपातं, नद्यवस्कंन्दं तथा शिलोपवेशं रूप सिद्ध होते हैं, जिनका विग्रह क्रमशः लतां लतां अनुपात्य (इति लतानुपातं), नदीं नदीं अवस्कन्द्य (इति नद्यवस्कन्दं), शिलां शिलां (यद्वा शिलाः शिलाः) उपविश्य (इति शिलोपवेशं) होगा।

वे दशरथ वेदों का पाठ, देवताओं का यजन, पितरों का तर्पण तथा बांधवों का आदर करते थे। उन्होंने काम क्रोधादि षड्रिपुओं को जीत लिया था, वे नीति में दिलचस्पी लेते थे और उन्होंने शत्रुओं को जड़ से हटा दिया था (मार डाला था)।

इस पद्य में भट्टि ने अध्यैष्ट, अयष्ट, अताप्सीत्, सममंस्त, व्यजेष्ट, अरंस्त, न्यवधीत् सभी क्रिया रूपों में सामान्य भूते लुङ् का प्रयोग किया है। साथ ही पहली तथा सातवीं क्रिया के अतिरिक्त बाकी पाँच प्रयोग आत्मनेपद के हैं। सभी प्रयोग प्रथम पुरुष ए० व० के हैं। यही नहीं √तृप् धातु के लुङ् रूप में सिच्[1] के कारण 'अताप्सीत्' रूप बनता है। इसी तरह √मन् तथा √रम् धातु के लुङ् में धातु तथा तिङ् प्रत्यय के बीच में 'इ' का प्रयोग न होने से 'न्' तथा 'म्' दोनों ध्वनियाँ अनुस्वार बन जाती है।[2]

(४) बलिर्बबन्धे जलधिर्ममन्थे; जह्रेऽमृतं दैत्यकुलं विजिग्ये।

कल्पान्तदुःस्था वसुधा तथोहे, येनैष भारोऽतिगुरुर्न तस्य ॥ (२. ३६)

सुबाहु आदि राक्षसों को मार गिराने पर ऋषि राम की स्तुति कर रहे हैं। तुमने बलि को बाँधा था, समुद्र का मंथन किया था, (मोहिनीरूप में) अमृत का हरण किया था, तथा दैत्यकुल को जीत लिया था

---

१. 'स्पृश-मृश-कृश-तृप-दृपां च्लेः सिज्वक्तव्यः' (२४०२) इस वार्तिक से तृप्+सिच्+लुङ् होगा। इसके बाद 'सिचि वृद्धिः ७।२।१ सूत्र से धातु का √तृप् वृद्धि से ताप् बन जायगा, तब ताप्+सिच्+लुङ् से अताप्सीत् रूप सिद्ध होगा।

२. ध्यान दीजिये मनिष्ट, या रमिष्ट जैसे रूप अशुद्ध हैं। ऐसे रूप नहीं बनते। √मन्+लुङ्, √रम्+लुङ् से क्रमशः (अ) मं (स्त) = अमंस्त, तथा (अ) रं (स्त) = अरंस्त रूप बनते हैं। क्योंकि धातु तथा तिङ् प्रत्यय के बीच 'इ' नहीं पाया जाता। इसी तरह √यज्' (यजते) से भी यजिष्ट रूप अशुद्ध होगा। उससे √यज्+लुङ् से (अ) यज् (त) से 'अयष्ट' रूप सिद्ध होगा।

तुमने प्रलय के कारण दुःखित (पानी में डूबी) पृथ्वी को (वराह रूप से) धारण किया था, तुम्हारे लिए इन राक्षसों को जीत लेना कोई बहुत बड़ा काम (बोझा) नहीं।

इस पद्य में सभी क्रिया रूप कर्मवाच्य के परोक्षभूते लिट् के प्रयोग हैं, यथा—बबन्धे, ममन्थे, जह्रे, विजिग्ये, ऊहे, जो क्रमशः √बन्ध्, √मन्थ् √हृ, √वह् (सम्प्रसारण से ऊहे रूप बनेगा), तथा विपूर्वक √जि धातु के रूप हैं। साथ ही ध्यान देने की बात यह है कि भूतकाल की बन्धनादि क्रिया तत्तदवतार में ऋषियों के परोक्ष में होने के कारण परोक्षभूते लिट् का प्रयोग हुआ है।

भट्टि की निश्चित योजना का इतना संकेत पर्याप्त है। विशेष के लिये जिज्ञासुगण काव्य तथा उसकी जयमंगला टीका देखें।

भट्टि का आलङ्कारिक पाण्डित्य १०, ११, १२ तथा १३ वें सर्ग में मिलता है। इनमें भी शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार की दृष्टि से दशम सर्ग महत्त्वपूर्ण है। भट्टि का काल कुछ विद्वानों के मत से दण्डी तथा भाहम से लगभग एक-दो पीढी पूर्व का है। यदि वे दण्डी या भामह के समसामयिक हैं, तो भी भट्टि का साहित्यशास्त्र की दृष्टि से कम महत्त्व नहीं। आलङ्कारिकों ने भट्टि को साहित्यशास्त्र के आचार्यों में स्थान दिया है। यद्यपि भट्टि ने किसी भी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की है, पर तत्तदलङ्कार के लक्ष्यरूप में उपन्यस्त पद्य उनके आचार्यत्व को प्रतिष्ठापित करते हैं।

भट्टि की कविता

इतना सब होते हुये भी सहृदय आलोचक भट्टि से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भट्टि कवि हैं, किन्तु इस दृष्टि से वे भारवि से भी बहुत निम्न कोटि के सिद्ध होते हैं। पर भट्टि में कवि-हृदय है ही नहीं, ऐसा निर्णय

देना मूर्खता होगी। भट्टि के पास कुछ कवि-हृदय अवश्य है, और जहाँ वे व्याकरण की तंग गली से निकल कर बाहर आते हैं, तो उनमें कभी कभी काव्य के दर्शन होते हैं। भट्टि काव्य के द्वितीय सर्ग का वनवर्णन, तथा एकादश सर्ग का प्रभातवर्णन भट्टि के प्रति निर्णय देने में सहायता कर सकते हैं। प्रथम, दशम तथा द्वादश सर्ग में भी कुछ स्थल सुन्दर हैं, किन्तु दशम का यमक वर्णन इतना शास्त्रीय है, कि वहाँ काव्यत्व लुप्त हो गया है। तेरहवें सर्ग को छोड़कर बाकी सभी सर्ग काव्य की दृष्टि से किसी काम के नहीं हैं, तथा सहृदय पाठक उन्हें छोड़ सकता है।

भट्टि काव्य का रस वीर है, तथा प्रसंगवश शृङ्गार भी पाया जाता है। वीर तथा शृङ्गार का एक एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

अधिज्यचापः स्थिरबाहुमुष्टिरुदञ्चिताऽक्षोऽञ्चितदक्षिणोरुः।
तान् लक्ष्मणः सन्नतवामजङ्घो जघानशुद्धेषुरमन्दकर्षी॥

(२. ३१)

'धनुष को चढ़ाकर, स्थिर बाहुमुष्टि वाले लक्ष्मण ने, ऊपर आँखें उठाकर, दाहिनी जाँघ को सकुचा कर और वाम जंघा को फैला कर, तीक्ष्ण बाण को तेजी से (धनुष के साथ) खेंचते हुए उन राक्षसों को मार गिराया।'

यद्यपि भट्टि के इस पद्य में शास्त्रीय विद्वान् वीररस मानें, और हमने भी यही मानकर इसको उदाहृत किया है, पर दिल से पूछने पर यहाँ वीर रस का पता तक नहीं चलता। भट्टि भावपक्ष के चित्रण में कमजोर हैं, इसका संकेत उनके अनेकों युद्धवर्णन के चित्रों से मिल जायगा, जहाँ श्रुतिकटु शब्द भले ही आ जाय, वीररस पूर्ण चित्र का मानस पर कोई प्रतिबिम्ब पड़ता दिखाई नहीं देता।

भट्टि का शृङ्गार वर्णन, जो एकादश के प्रभातवर्णन के अन्तर्गत पाया जाता है, ठीक इसी तरह दिल को छूने में असमर्थ है । एकादश के प्रभात-वर्णन पर संभवतः भारवि की शृङ्गारी प्रवृत्ति का प्रभाव मिलता है, पर भट्टि का शृङ्गारवर्णन भारवि जितना भी सफल नहीं कहा जा सकता।

सामोन्मुखेनाच्छुरिता प्रियेण दत्तेऽथ काचित् पुलकेन भेदे ।
अन्तःप्रकोपापगमाद्विलोला वशीकृता केवल–विक्रमेण ॥ (११. १४)

'सामनीति का प्रयोग करते हुए किसी प्रिय के द्वारा नखक्षत (आच्छु-रित) कर दिये जाने पर कोई नायिका रोमांचित हो गई। उसके हृदय का क्रोध शान्त होने से वह चञ्चल हो उठी और नायक ने उसे केवल हठपूर्वक ही वश में कर लिया।'

इस पद्य में भी नखक्षत या रोमांच (सात्त्विक भाव) के नाम ले देने भर से न तो शृङ्गाररस की व्यंजना होती है, न सहृदय रसिक की तृप्ति ही । ऐसा प्रतीत होता है, भट्टि के हृदय की रसिकता को 'पाण्डित्यपूर्ण' (Academic) व्यक्तित्व ने कुचल दिया है ।

द्वितीय सर्ग के प्रकृतिवर्णन में चार पाँच सरस पद्य अवश्य हैं, जो भट्टि के कवित्व का संकेत कर सकते हैं। भट्टि के इन अपवादरूप सुन्दर पद्यों में खास पद्य निम्न है ।

विवृत्तपार्श्वं रुचिराङ्गहारं समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम् ।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपाङ्गनानृत्यमनन्दयत्तम् ॥ (२. १६)

'राम ने दही मथती हुई गोपियों के उस नृत्य को देखकर आनन्द प्राप्त किया, जिसमें वे अपने अंग के दोनों पार्श्वों को इधर उधर संचालित कर रही थीं, उनका अंग सुन्दर दिखाई पड़ रहा था, उनके सुन्दर नितम्ब-बिंब (गोल नितम्ब) इधर उधर हिलने से रमणीय लग रहे थे, तथा

उनके नृत्य को धीमी गम्भीर गति वाला दही मथने का शब्द ताल दे रहा था।'

इसी प्रकृतिवर्णन में कुछ और अच्छे पद्य हैं, जिनमें अलंकृत सौन्दर्य पाया जाता है। प्रातः काल का समय है, नदी के तीर पर खड़े पेड़ के पत्तों से ओस की बूँदें गिर रही हैं, पेड़ पर बैठे हुए पत्ती चहचहा रहे हैं। कवि उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा) करता है, मानों प्रिय चन्द्रमा के चले जाने से कुमुदिनी को दुखी देखकर नदी-तीर का पेड़ रो रहा है।

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्गः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ॥ (२.४)

इसी तरह का प्रातःकाल का दूसरा वर्णन यह है, जिसमें उत्प्रेक्षा (अर्थांतरन्यास भी) पाई जाती है।

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृतिः कुमुद्वतीरेणुपिशङ्गविग्रहम्।
निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम्॥ (१.६)

प्रातःकाल की मन्द मन्थर वायु के कारण काँपती हुई पद्मिनी, कुमुदिनी के पराग से पीले शरीर वाले भौंरे को मानो कुपित होकर उसी तरह निवारित कर रही है, जैसे कोई पद्मिनी नायिका (खण्डिता) अन्य नायिका के उपभोगादि के कारण लगे अंगराग से युक्त शरीर वाले धृष्ट नायक को प्रातः काल घर आने पर फटकार देती है, तथा उसे अपने पास आने को मना करती है। सच है, मानिनी नायिका पति की अन्यासक्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकती।

स्पष्ट है, इन दोनों पद्यों की सुन्दरता का एक मात्र कारण अलंकार प्रयोग है। कवि ने यहाँ मानव-जीवन से अप्रस्तुत विधान गृहीत किया है। पर कहना न होगा, कि दोनों अप्रस्तुत विधान भट्टि को पुराने कवियों की देन जान पड़ते हैं, तथा भट्टि को पिटे पिटाये रूढ अप्रस्तुतों के रूप में

मिले हैं। ये भट्टि की स्वयं की मौलिकता शायद ही हों। मुझे तो ऐसा मालूम देता है कि इस दूसरे पद्य की चतुर्थ पंक्ति 'न मानिनी संसहतेन्य-संगमम्' कहकर, अर्थान्तरन्यास[1] का प्रयोग कर, भट्टि ने सारा मजा किरकिरा कर दिया है, ऊपर की वस्तूत्प्रेक्षा का सारा गुड़गोबर कर दिया है। अर्थान्तरन्यास के बिना ही सारी कल्पना स्पष्ट थी, उसे अर्थान्तरन्यास के द्वारा और स्पष्ट कर देना भट्टि की सबसे बड़ी कमजोरी है। पद्य की अभिव्यंजना शक्ति लुप्त हो गई है। क्या 'पद्मिनी' के साथ 'कुपितेव' कहना पर्याप्त न था?

दशम सर्ग में भट्टि ने यमक के अनेक प्रकार के भेदों तथा अर्थालंकारों के लक्ष्य उपस्थित किये हैं। भट्टि के निम्न पद्य में उपमा अलंकार का अच्छा प्रयोग है।

हिरण्मयी साललतेव जंगमा च्युतादिवः स्थास्नुरिवाचिरप्रभा।
शशाङ्ककान्तेरधिदेवताकृतिः सुता ददे तस्य सुताय मैथिली॥ (२.४७)

'राजा जनक ने दशरथ के पुत्र रामचन्द्र के लिए चलती-फिरती स्वर्ण-साललता के समान सुंदर, आकाश से गिरी हुई स्थिर बिजली के समान

---

१. कुछ विद्वान् यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार न मानकर काव्यलिंग मानते हैं। जयमंगलाकार इसे ऊपर की तीन पंक्तियों का हेतु (हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं) मानते जान पड़ते हैं:—

सा किमिति निरस्यति—यतो मानिनी अन्यसंगमं अन्यया सह संगमं न संसहते। आत्मसंगमादन्यसंगमं न सहते। (दे० पृ० २२) पर इस तरह काव्यलिंग अलंकार मानने पर भी भट्टि दोष से न बचेंगे। यहाँ 'अन्यसंगमं' में पुनरुक्ति दोष होगा। जब 'कुमुद्वतीरेणुपिशङ्गविग्रहम्' कह दिया, तो उसी से अन्यासक्ति की व्यंजना हो जाती है। पद्मिनी की भृंगनिरसनक्रिया का हेतु वही स्पष्ट है। यों भी वह दोष बना का बना रहता है। कवि का कच्चापन ऐसे स्थलों पर पकड़ में आ ही जाता है।

देदीप्यमान, तथा चन्द्रकांति की मूर्त अधिष्ठात्री देवी के समान आह्लाददायक सीता को दे दिया।'

भट्टिकाव्य के द्वादश सर्ग की विभीषण की उक्तियाँ राजनीति का परिचय देती हैं। विभीषण तथा माल्यवान् रावण को अनेक नीतिमय उक्तियों से समझाते हैं। राम के दूत ने आकर लंका का दहन कर दिया है, तथा अक्ष को मार डाला है। यदि रावण इस समय भी समझ जाय, तो ठीक हो। रामचन्द्र सेना लेकर समुद्र तट पर आ गये हैं, पर सीता के लौटा देने पर वे लौट जायँगे, और युद्ध न होगा। सीता के अपहरण के कारण राम दुखी हैं, तथा राक्षस भी इसलिये दुखी हैं, कि अक्षादि बांधव मारे जा चुके हैं। अच्छा हो, कि दोनों दुखी होने के कारण एक दूसरे से संधि कर लें। जैसे तपे हुए दो लौह-पिण्ड एक दूसरे से संश्लिष्ट हो जाते हैं, उसी तरह दोनों तप्त (दुखी) व्यक्तियों—राम तथा रावण-में संधि हो जाय।

रामोऽपि दाराऽऽहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः।
तप्तेन तप्तस्य यथाऽऽयसो नः सन्धिः परेणाऽस्तु विमुञ्च सीताम्॥ (१२.४०)

भट्टि के त्रयोदश सर्ग का 'सेतुबन्धन' प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' महाकाव्य का प्रभाव है। त्रयोदश सर्ग का दो दृष्टि से महत्त्व है। पहले तो त्रयोदश सर्ग पर स्पष्ट रूप में 'सेतुबन्ध' की समुद्रवर्णन की कल्पनाओं का प्रभाव है, दूसरे शैली की दृष्टि से इसमें समासान्त पदावली पाई जाती है, जो भट्टि के अन्य सर्गों में साधारण रूप में पाई जाती है, और इसमें एक साथ संस्कृत तथा प्राकृत का भाषासम प्रयोग किया गया है। छन्द की दृष्टि से भी भट्टि यहाँ प्रवरसेन के काव्य से प्रभावित हैं। प्रवरसेन की भाँति ही यहाँ भट्टि ने स्कन्धक छन्द का प्रयोग किया है, जो सेतुबंध काव्य का खास छन्द है। डॉ० कीथ ने भट्टि के त्रयोदशसर्ग में आर्या का गीति नामक

भेद माना है, जो उनकी 'गजनिमीलिका' को व्यक्त करता है । इस सर्ग का छन्द गीति नहीं है, स्कन्धक (प्राकृतछन्द) है ।[1]

चारु-समीरण-रमणे, हरिणकलङ्क-किरणावली-सविलासा ।

आबद्धराममोहा, वेलामूले विभावरी परिहीणा ॥ (१२. १)

'रमणीय वायु से सुंदर समुद्र तट पर चन्द्रमा की किरणों के विलास से युक्त रात्रि, जिसने राम को निद्रा के मोह में बाँध रखा था, अब समाप्त हो गई ।'

इस पद्य में एक साथ संस्कृत तथा महाराष्ट्री प्राकृत रूपों का प्रयोग है । प्राकृत में भी इस पद्य का रूप यही रहेगा ।

तुङ्ग-मणि-किरण-जालं गिरिजलसङ्घट्टबद्धगम्भीररवम् ।

चारुगुहाविवरसमं सुरपुरसमममरचारणसुसंरावम् ॥ (१२. ३६)

'वह समुद्र उस अमरावती के समान प्रतीत हो रहा था, जहाँ गंधर्वों के गान हो रहे हों, उसमें अनेकों बड़ी बड़ी मणियों की किरणों का प्रकाश-जाल फैला हुआ था, और पर्वतों के द्वारा जल के टकराने से गंभीर ध्वनि वाली अनेक सुंदर गुफाओं के छिद्रों की सभाएँ (शालाएँ) थीं ।'

---

१. स्कंधक छन्द का लक्षण 'प्राकृतपैंगल' में यों है :—

चउमत्ता अट्ठगणा पुव्वद्धे उत्तद्ध होइ समरूआ ।

सो खन्धआ विआणहु पिंगल पभणेइ मुद्धि बहुसंभेआ ॥ (१. ६३)

'हे मुग्धे, जिस छन्द में पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में समान रूप से चार चार मात्रा वाले आठ गण हों; अर्थात् ३२ मात्रा हों, उसे स्कन्धक (खन्धआ) छन्द समझना चाहिये, ऐसा पिंगल कहते हैं, और उसके कई भेद होते हैं ।'

इसका प्राकृत उदाहरण 'सेतुबन्ध' काव्य का निम्न पद्य दिया जा सकता है ।

जं जं आणेइ गिरिं रइरहचक्कपरिघट्टणसहं हणुआ ।

तं तं लीलाइ णलो वामकरत्थंहिअं रएइ समुद्दे ॥

'सूर्य-रथ के पहिये से रगड़ खाने में समर्थ जिस जिस पर्वत को हनुमान् उठा कर लाते हैं, नल उसे लीला से बायें हाथ में थाम कर उससे समुद्र को पाट देता है ।'

भट्टि की शैली में प्रवाह का अभाव है। वैसे भट्टि में (१२ वें सर्ग को छोड़ कर) समासान्त पदों का प्रयोग बहुत कम है, पर समासान्त पदों का न होना प्रवाह से कोई संबंध नहीं रखता। भट्टि में एक-से व्याकरण सम्मत रूपों को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति शैली के प्रवाह को समाप्त कर देती है। प्रवाह की दृष्टि से भाषासम वाले पद्यों में समासान्त-पदावली के होने पर भी प्रवाह है, यह उपर्युद्धृत दो पद्यों से स्पष्ट है।

भट्टि में बहुत कम छन्दों का प्रयोग पाया जाता है। अधिकार तथा तिङन्त काण्ड वाले व्याकरण संबंधी सर्गों में भट्टि ने केवल अनुष्टुप् का प्रयोग किया है, जब कि प्रकीर्ण सर्गों में उन्होंने उपजाति, रुचिरा, मालिनी आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

भट्टिकाव्य संस्कृत की उस महाकाव्य-परंपरा का संकेत करता है, जिसमें महाकाव्यों के द्वारा व्याकरण के नियमों का प्रदर्शन कवि का ध्येय रहा है। भट्टि के बाद भट्ट भौम या भूमक (भूम) ने 'रावणार्जुनीय' काव्य में रावण और कार्तवीर्य की कथा के द्वारा पाणिनि के नियमों का प्रदर्शन किया था। उसके बाद हलायुध ने 'काव्यरहस्य' में राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज तृतीय की प्रशस्ति के साथ धातुपाठ का प्रदर्शन किया। जैनाचार्य हेमचंद्र ने भी 'कुमारपाल चरित' काव्य के द्वारा अपने व्याकरण (हैमव्याकरण, शब्दानुशास्त्र) के नियमों का प्रदर्शन किया और बाद में वासुदेव के 'वासुदेव चरित' तथा नारायणभट्ट के 'धातुकाव्य' में यही भी परंपरा पाई जाती है।

महाकवि माघ

महाकवि कालिदास से भावतरलता, भारवि से कलाप्रवीणता, तथा भट्टि से व्याकरण का पाण्डित्य, तीनों का विचित्र समन्वय लेकर माघ की कविता उपस्थित होती है। माघ भारवि से भी अधिक कलाबाज हैं, तथा भट्टि से किसी कदर कम पण्डित (वैयाकरण) नहीं; किन्तु जितने वे कलाबाज और पण्डित हैं, ठीक उसी अनुपात में कालिदास की भावतरलता से रहित हैं। भारवि और भट्टि से निःसन्देह माघ में भावपक्ष का पलड़ा भारी है, पर कालिदास के आगे माघ का हृदय-पक्ष नीचा दिखाई देता है। फिर भी, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष में (भट्टि को तो तुलना में मजे से छोड़ा जा सकता है) माघ का स्थान निश्चित है। माघ ने भारवि की कला को और अधिक अलंकृत तथा प्रौढ़रूप में रखा है। श्रीहर्ष जैसी कोरी दूर की कौड़ी माघ में कम मिलती हैं। श्रीहर्ष में पदलालित्य है, पर माघ में भी पदलालित्य की कमी नहीं, वैसे माघ का पदलालित्य वैदर्भी या पाञ्चाली रीति वाला पदलालित्य न होकर प्रायः गौड़ी वाले विकटबन्ध या गाढबन्ध का पदलालित्य है।

माघ के समय की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा का संकेत हमें भारवि और भट्टि के प्रास्ताविकों से मिल सकता है। माघ तथा भारवि में लगभग सौ साल का अन्तर है, तो भट्टि और माघ में केवल पचास वर्ष का। माघ के पितामह सुप्रभदेव भट्टि के समसामयिक रहे होंगे। माघ के काव्य को हम हर्षवर्धनोत्तर काल (६४७ ई०-१२५० ई०) के—जिसे हमने संस्कृत साहित्य का 'ह्रासोन्मुख काल' कहा है—काव्यों का पथप्रदर्शक ही नहीं, सर्वोत्तम काव्य कह सकते हैं। (भारवि का काव्य भी तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का संकेत करता है, किंतु माघ के काव्य में हमें समाज के अभिजातवर्ग का विलासी जीवन, राजाओं का पारस्परिक कलह,

कहीं अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है, जो वर्धन-साम्राज्य के पतन के बाद का मानचित्र देने में पूर्ण समर्थ है। भारवि के विलासी अभिजातवर्ग के चित्र की अपेक्षा माघ का समाज विलास में दो डग आगे ही जान पड़ता है। राजनीति के हथकंडे भी माघ में भारवि से अधिक पैंतरे वाले दिखाई देते हैं। रहा काव्य का प्रश्न, माघ का काव्य भारवि से भी अधिक कृत्रिम (Artificial) है, यदि माघ के रसिकों को 'कृत्रिम' शब्द का प्रयोग खटके, तो अलंकृत (Ornate) कहा जा सकता है, पर दोनों से यही ध्वनि निकलती है कि माघ संस्कृत साहित्य के कलावादी कवियों में मूर्धन्य हैं।

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद प्रत्येक छोटा मोटा राजा चक्रवर्ती बनने के सपने देख रहा था। पुलकेशी द्वितीय से प्राप्त पराजय के कारण हर्षवर्धन की रही सही धाक उसके अन्तिम दिनों में ही समाप्त हो चुकी थी। हर्ष-वर्धन के करद और मित्र राजा अपने पैर फैलाने की चेष्टा कर रहे थे। हर्ष के बाद वर्धन-साम्राज्य को सँभालने वाला कोई नहीं रहा, और उसका साम्राज्य कई भागों में बँट चुका था। गुजरात तथा राजस्थान में उस समय दो शक्तियाँ थीं। वलभी के राजाओं का संकेत भट्टि के सम्बन्ध में किया जा चुका है। गुजरात का अधिकांश भाग-संभवतः पूर्वी तथा दक्षिणपूर्वी भाग, मरुभूमि का कुछ अंश, और अरावली पर्वतश्रेणी में स्थित दक्षिणी प्रदेश-डूँगरपुर आदि वलभी के राजाओं के आश्रित थे। वलभी के राजाओं के ही राज्य के अन्तर्गत भीनमाल था। पूर्वी राजस्थान के उत्तरी भाग में कुछ छोटे मोटे राजा थे, जो बाद में 'सपादलक्ष' के शासकों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पूर्वी राजस्थान का दक्षिणी भाग जिसमें उदयपुर का दक्षिणी पूर्वी भाग, कोटा, बूँदी, तथा कुछ मालव का भाग सम्मिलित है, इस काल में मौर्यों के हाथ में था। चित्तौड़, कोटा[1] आदि स्थानों पर मौर्यों के सातवीं-

१. मौर्यों का एक शिलालेख कोटा से ८ मील दूर कनसवाँ स्थान पर प्राप्त हुआ है।

स्थानों पर माघ में स्वभावोक्ति का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, जो माघ के पूरे काव्य में अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है। यदि यह मान लिया जाय कि यहाँ कृष्ण अपनी सेना के साथ राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने जा रहे हैं, फिर भी माघ की इस कल्पना का संकेत हम उस काल की राजनीतिक परिस्थिति में ढूंढते हैं। हाथी, घोड़े, रथ आदि के जमघट का जो सम्मर्द पञ्चम तथा द्वादश (साथ ही सप्तदश एवं अष्टादश) सर्ग में मिलता है, वह राज्य के साधारण समारोहों का नहीं हो सकता, निश्चितरूप से वह सेनाप्रयाण का वर्णन है, कोरा काल्पनिक वर्णन नहीं, प्रत्युत आँखों देखा वर्णन।[1] सारांश यह कि माघ उस काल के अभिजात वर्ग की—सामन्त वर्ग की—सामाजिक दशा को देने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होते हैं।

माघ की तिथि और जीवनवृत्त

माघ ने स्वयं अपने पिता, पितामह तथा पितामह के आश्रयदाता राजा का वर्णन किया है। इसी के आधार पर माघ की तिथि के विषय में कुछ कहा जा सकता है। वैसे 'भोजप्रबन्ध' की किंवदन्तियों के अनुसार माघ धारानरेश भोज के राजकवि और परम मित्र थे। माघ बड़े दानी थे, तथा इन्होंने एक बार अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे डाली थी। निर्धन होने पर इन्होंने 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं, त्यजति मुदमूलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः' (११. ६४) इत्यादि पद्य को लिखकर अपनी पत्नी को राज-सभा में भेजा। भोज ने पद्य को पढ़कर प्रचुर धन दिया। ठीक ऐसी ही किंवदन्ती 'प्रबन्धचिन्तामणि' में भी मिलती है।

---

१. निम्नानि दुःखादवतीर्य सादिभिः सयत्नमाकृष्टकशाः शनैः शनैः ।
उत्तमरुत्तालखुरारवं द्रुताः श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजाः ॥ (१२. ३१)
साथ ही १२. ५, ६, ९, २२ आदि।

भोज का समय ईसा की ग्यारहवीं शती (१०१०–५० ई०) है। माघ धाराधीश भोज के समसामयिक कदापि नहीं हो सकते।

माघ के समय निर्धारण में हमें कुछ अन्य प्रमाण सहायक सिद्ध हो सकते हैं। हम देखते हैं कि वामन तथा आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक) ने माघ के कुछ पद्यों को उद्धृत किया है। वामन ने माघ के 'रम्या इति प्राप्तवतीः पताका' (३. ५३) पद्य को तुल्ययोगिता के प्रसंग में उद्धृत किया है। साथ ही आनन्दवर्धन ने इसी पद्य को, और 'त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्' (५. २६) आदि पद्य को भी उद्धृत किया है। माघ निश्चित रूप से वामन तथा आनन्दवर्धन से प्राचीन हैं। आनन्दवर्धन का समय नवीं शती का मध्य है। अतः माघ इससे पुराने हैं।

माघ के द्वितीय सर्ग में एक पद्य मिलता है, जिसके अन्तःसाक्ष्य पर माघ की तिथि निश्चित करने में सहायता मिल सकती है। राजनीति की विशेषता बताते समय उद्धव की उक्ति में राजनीति तथा शब्दविद्या का एक साथ श्लिष्ट उपमा में वर्णन किया गया है।[1] इस पद्य में व्याकरण सूत्रों के साथ ही, महाभाष्य (निबन्धन), काशिका वृत्ति तथा जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास का भी संकेत मिलता है। जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध वैयाकरण थे। इत्सिंग के यात्राविवरण में जिनेन्द्रबुद्धि का नाम नहीं मिलता, जब कि भर्तृहरि की मृत्यु का उल्लेख मिलता है। अतः जिनेन्द्रबुद्धि की रचना इत्सिंग के जाने के साल (६९५ ई०) तक नहीं लिखी गई थी। संभवतः 'न्यास' की रचना ७०० ई० के लगभग हुई थी। यदि इस मत को माना जाय, तो माघ का समय आठवीं शती के मध्य में मानना होगा। किन्तु, विद्वानों के एक दल का यह भी मत है कि माघ ने 'न्यास' का संकेत किया है, इसका

१. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ (२.११४)

यह तात्पर्य नहीं कि वह जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास ही हो सकता है। जिनेन्द्र-बुद्धि ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती न्यास ग्रन्थों (कुणि, चुल्लि, और नल्लूर के न्यास ग्रन्थों) का निर्देश किया है। 'न्यास' का संकेत बाणभट्ट ने भी किया हैं—'कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि' जो निश्चित रूप से जितेन्द्रबुद्धि से पुराने हैं। इसलिए माघ का तात्पर्य जितेन्द्रबुद्धि से पहले के न्यास ग्रन्थों से ही है। इस तरह माघ का समय सातवीं शती के उत्तरार्ध (६७५ ई०) में भट्टि से लगभग ५० साल बाद मानना अधिक संगत दिखाई देता है।

माघ के दादा सुप्रभदेव किसी धर्मनाभ (वर्मलात ? वर्मनाभ ? धर्मलात ?) नामक राजा के मंत्री थे।[1] संभवतः धर्मनाभ (?) या तो वलभी के ही राजा थे, या उनके सामन्त होंगे। सुप्रभदेव के पुत्र दत्तक थे, और दत्तक के पुत्र माघ। माघ निश्चित रूप से धनाढ्य थे, और इनका शैशव एवं यौवन विलासपूर्ण वातावरण में व्यतीत हुआ था, इसका प्रमाण माघ के उत्तेजक विलास वर्णन हैं। माघ संभवतः श्रीमाली ब्राह्मण थे, और राजस्थान के पार्वत्य प्रदेश डूंगरपुर-बाँसवाडा के निवासी थे। माघ के जीवनवृत्त के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि भारवि की तरह माघ भी दरबारी कवि थे।

शिशुपालवध

भारवि की भाँति माघ की भी केवल एक ही रचना हमें प्राप्त हुई है। पर माघ का अकेला शिशुपालवध उनके उत्कृष्ट कलावादी कवित्व को प्रतिष्ठापित करने में अलम् है। शिशुपालवध की कथा भी भारवि के किरातार्जुनीय की तरह महाभारत से गृहीत है। कृष्ण तथा शिशुपाल के

---

१. सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीधर्म्मनाभस्य बभूव राज्ञः।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा॥ (कविवंशवर्णन १)

वैर की, तथा युद्ध में कृष्ण के द्वारा शिशुपाल के वध किये जाने की कथा काव्य में वर्णित है। कथा में शिशुपाल को हिरण्यकशिपु तथा रावण का इस जन्म का अवतरण माना है,[१] और शिशुपाल को कंस से भी बढ़कर नृशंस राजा के रूप में चित्रित किया गया है, जो पुराणों की उस मान्यता की ओर संकेत करता है, जहाँ हिरण्यकशिपु, रावण तथा शिशुपाल को विष्णु के पार्षद 'जय'–जिसे सनत्कुमारों ने शाप दे दिया था–का अवतरण माना गया है। पर इस काव्य में शिशुपाल तथा कृष्ण के पुराने वैर–रुक्मिणीहरण वाली कथा–का वर्णन नहीं किया गया है; इसका संकेत केवल एक ही पद्य में मिलता है[२]। इस तरह शिशुपालवध में कवि ने द्वारिका से युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए कृष्ण के प्रस्थान और वहाँ शिशुपाल के द्वारा किये गये कृष्ण के अपमान तथा बाद में युद्ध के फलस्वरूप शिशुपाल के मारे जाने की कथा है।

प्रथम सर्ग का आरंभ देवर्षि नारद के आगमन से होता है, जो आकाश मार्ग से नये बादलों के नीचे नीचे उतरते आ रहे हैं, उनकी पीली जटायें हिमालय पर्वत पर उगी पकी पीली लताओं–सी नजर आ रही हैं, तो शरीर पर पड़ा हुआ मृगचर्म ऐरावत पर पड़ी रंगबिरंगी झूल–सा दिखाई देता है। वे अपनी अंगुली से वीणा को बजाते आ रहे हैं, और वीणा की ध्वनि में स्वर–ग्राम तथा मूर्च्छना स्पष्ट सुनाई दे रही है। वीणा को निरन्तर बजाने से उनकी अंगुलियों और अंगूठे के नाखून की रक्त–कांति से हाथ की स्फटिक माला भी लाल हो गई है। धीरे धीरे नारद अस्त होते सूर्य की तरह कृष्ण के सम्मुख बढ़ते हैं, और उनके पृथ्वी पर उतरने के पहले ही

१. अथोपपत्ति छलनापरो परामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम्।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः॥ (१.६९)

२. त्वयाविप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः॥ (२.३८)

कृष्ण आदर के लिए उठ खड़े होते हैं। सत्कार के बाद कृष्ण उनसे आने का कारण पूछते हैं। नारद बताते हैं कि शिशुपाल के अत्याचार से डरे इन्द्र ने उन्हें भेजा है। कृष्ण उसका वध करें और इन्द्र के हृदय को भयरहित बनाकर, उसे आमोद-प्रमोद से उल्लासित बनायें। नारद चले जाते हैं। द्वितीय सर्ग में कृष्ण, बलराम और उद्धव मंत्रणागृह के तीन सिंहासनों पर बैठे उसी तरह प्रविष्ट होते हैं, जैसे त्रिकूट पर्वत की तीनों चोटियों पर तीन शेर बैठे हों। कृष्ण अपनी समस्या उपस्थित करते हैं। शिशुपाल का वध करना आवश्यक है, किन्तु इसी समय युधिष्ठिर के राजसूय का निमन्त्रण भी मिला है। इन दोनों कार्यों में से पहले किस काम को करना चाहिये। राजसूय में सम्मिलित न होने पर पाण्डव बुरा मानेंगे। बलराम की राय है कि शिशुपालकी राजधानी चेदि पर आक्रमण कर दिया जाय, युधिष्ठिर यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्ग का राज करें, सूर्य तपें, और हम भी शत्रुओं को मारें, प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है।[1] उद्धव इस मत के विरुद्ध हैं। वे बलराम की हर दलील का जवाब देते हैं, और यह राय देते हैं कि इस समय शिशुपाल पर आक्रमण करना ठीक न होगा। अच्छा हो, हम जासूसों को नियुक्त कर शत्रु की शक्ति का पता लगाते रहें, तथा उसके पक्ष का भेदन करें। अंत में यही निश्चय होता है कि युधिष्ठिर के राजसूय में सम्मिलित होना ठीक होगा। तीसरे सर्ग में कृष्ण की सेना इन्द्रप्रस्थ के लिये रवाना होती है। चतुर्थ सर्ग में वह रैवतक पर्वत पर पहुँचती है, तथा पर्वत का अलंकृत वर्णन है। पाँचवे सर्ग में सेना के रैवतक पर्वत पर पड़ाव डालने का वर्णन है। छठे सर्ग में कृष्ण की सेवा के लिये छहों ऋतुएँ रैवतक पर्वत पर अवतीर्ण होती हैं—यमक अलंकार के

---

१. यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपस्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥ (२.६५)

साथ छहों ऋतुओं का वर्णन है। सप्तम सर्ग में यदुदम्पतियों का विलासपूर्ण वनविहार वर्णित है, अष्टम सर्ग में जलक्रीडा। नवम सर्ग का आरंभ सूर्यास्त से होता है। सूर्यास्त के बाद कहीं दम्पतियों और प्रणयी नायक–नायिकाओं को मिलाने के लिए दूतीकर्म का वर्णन है; तो कहीं उनके केलि-नाटक के पूर्वरंग के रूप में आहार्य–प्रसाधन की शोभा का वर्णन। दशम सर्ग में सुरा तथा सुन्दरी के सेवन का अत्यन्त विलासपूर्ण वर्णन है। एकादश सर्ग में प्रातःकाल का वर्णन है। इस सर्ग में एक साथ कवि की प्रौढोक्ति–कुशलता, तथा स्वभावोक्ति की चित्रमत्ता का अपूर्व समन्वय है। एकादश सर्ग माघ के बेजोड़ सर्गों में से है, जिसके समान वर्णन संस्कृत साहित्य के अन्य काव्यों में ठीक इसी पैमाने पर मिलना दुर्लभ है। बारहवें सर्ग में फिर वही पाँचवें सर्ग–सा (कुछ अधिक विस्तृत) सेनाप्रयाण का वर्णन है। इसी सर्ग में यमुना को पार करने का बड़ा सुन्दर चित्रण है। तेरहवें सर्ग में कृष्ण को देखने के लिये उत्सुक इन्द्रप्रस्थ की पुरनारियों का सरस वर्णन है। चौदहवें सर्ग में यज्ञ का वर्णन है, जिसके पूर्वार्ध में कवि ने अपने दर्शन, मीमांसा और कर्मकाण्ड संबन्धी ज्ञान[1] का पूरा परिचय दिया है। इसी सर्ग में कृष्ण की पूजा की जाती है। पन्द्रहवें सर्ग में कृष्ण की पूजा से रुष्ट होकर शिशुपाल कृष्ण, भीष्म तथा युधिष्ठिर को खरी खोटी सुनाता है। सोलहवें सर्ग में शिशुपाल का दूत आकर कृष्ण को द्व्यर्थ (श्लिष्ट) संदेश सुनाता है, जिसका आशय यह है कि या तो कृष्ण शिशुपाल की अधीनता मान लें, या लड़ने के लिये तैयार हो जायँ। दूत की उक्ति का उत्तर

१. जैसे निम्न पद्यों में:—

शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाक्यया।
याज्यया यजनकर्मिणोऽत्यजन् द्रव्यजातमपदिश्य देवताम्॥ (१४.२०)
बद्धदर्भमयकाञ्चिदामया वीक्षितानि यजमानजायया।
शुष्मणि प्रणयनादिसंस्कृते तैर्हवींषि जुहुवाम्बभूविरे॥ (१४.२२)

सात्यकि देता है। सतरहवें और अठारहवें सर्ग में सेना की तैयारी का एवं योद्धाओं के सन्नद्ध होने का वर्णन है। उन्नीसवें तथा बीसवें सर्ग में युद्ध का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग में चित्रकाव्य का आश्रय लेकर (भारवि के पन्द्रहवें सर्ग की तरह) युद्ध का वर्णन है। बीसवें सर्ग में उपसंहार रूप में युद्ध का वर्णन कर शिशुपाल के जीवन के साथ काव्य समाप्त होता है।

माघ को उपलब्ध पूर्व कवियों का दाय

माघ को निश्चित रूप से कालिदास, भारवि तथा भट्टि का दाय प्राप्त हुआ था। कालिदास की कविता का प्रभाव माघ के कई वर्णनों पर स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। माघ के एकादश, तथा त्रयोदश सर्ग पर खास तौर पर कालिदास की वर्णनशैली का प्रभाव है। (माघ को प्रभातवर्णन की प्रेरणा रघुवंश के पंचम सर्ग से मिली थी। माघ के प्रभातवर्णन और कालिदास के प्रभातवर्णन में प्रमुख भेद यही है कि माघ का वर्णन पैमाने में बड़ा तथा अत्यधिक अलंकृत (कृत्रिम) है, जब कि कालिदास का वर्णन छोटा होने पर भी मार्मिक है, तथा पिष्टपेषण से युक्त नहीं। कालिदास का प्रभातवर्णन केवल दस पद्यों का है, किंतु माघ का वर्णन पूरे ६७ पद्यों के लंबे सर्ग में फैला हुआ है।) हाथियों के दोनों ओर करवट बदल कर सोने का वर्णन, घोड़े के निद्रा को छोड़ने का वर्णन, दोनों काव्यों में स्वभावोक्ति के सुन्दर चित्रों में से हैं। रघुवंश में घोड़े जाग कर सामने पड़ी सैन्धवशिला को मुँह की भाप से मलिन बनाते हैं, तो शिशुपालवध में घोड़ा आधी आँखें बन्द कर, थोड़ी थोड़ी नींद का अनुभव करता हुआ, नथना हिलाता हुआ, चंचल ओठों से सामने पड़े घास को खाने की इच्छा करता है।[1] त्रयोदश

१. दे० रघुवंश ५.७२ तथा माघ ११.७ (साथ ही)

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु, निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैंधवशिलाशकलानि वाहाः॥
(रघु० ५.७३)

सर्ग का पुरसुन्दरियों का वर्णन कुमारसंभव और रघुवंश के सप्तम सर्ग में शिव तथा अज को देखने के लिये लालायित स्त्रियों के वर्णन से निश्चित रूप से प्रभावित है। हम संकेत कर चुके हैं कि कालिदास के निजी वर्णनों में से यह वर्णन भी एक खास महत्त्व रखता है। कालिदास की पुरसुन्दरियों में से एक अलता लगाती हुई दासी के हाथ से अलते से सने पैर को खींच कर, अज को देखने को चल पड़ती है, और इससे उसके पैर से झरोखे तक के फर्श पर निशान हो गये हैं। माघ की पुरसुन्दरी भी दासी के हाथ से यावक से रँगे एक पैर को हटाकर कृष्ण को देखने के लिये दौड़ पड़ी है, उसके एक पैर का चिह्न जमीन पर दिखाई दे रहा है, जैसे शिव के अर्धांग भाग में स्थित गिरिजा का यावक-सिक्त एक पैर पृथ्वी पर चित्रित हो गया हो।[1] कालिदास के पुरसुन्दरी-औत्सुक्यवर्णन का एक दूसरा भाव भी माघ को प्रभावित कर सका है। कालिदास की किसी पुरसुन्दरी की नीवी जाने की तेजी से टूट गई है, और वह कंकण की मणि-प्रभा से नाभि को विद्योतित करती हुई, अपने हाथ से उसे रोक कर खड़ी रहती है।

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥ (रघु० ७.६)

माघ की पुरसुन्दरी अपने कंकण में जड़े नीलम की कांति से सूक्ष्म

परिशिथिलितकर्णग्रीवमामीलिताक्षः क्षणमयमनुभूय स्वप्नमूर्ध्वज्ञुरेव।
रिरसयिषति भूयः शष्पमग्रे विकीर्णं पटुतरचपलोष्ठः प्रस्फुरत्प्रोथमश्वः॥
(माघ० ११.११)

१. प्रसाधिकालंबितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥ (रघु० ७.७)
व्यतनोदपास्य चरणम्प्रसाधिकाकरपल्लवाद्रसवशेन काचन।
द्रुतयावकैकपदचित्रितावनिं पदवीं गतेव गिरिजा हरार्धताम्॥(माघ० १३.३३)
ध्यान दीजिये दोनों पद्यों के कई पदप्रयोगों में भी समानता है, भाव में ही नहीं।

रोमराजि को और सघन बनाती हुई, हाथ के पल्लव से गलित वस्त्र को रोक लेती है।

वलयार्पितासितमहोपलप्रभाबहुलीकृतप्रतनुरोमराजिना।

हरिवीक्षणाक्षणिकचक्षुषान्यया करपल्लवेन गलदम्बरं दधे (माघ० १३.४४)

दोनों वर्णन एक-सा चित्र उपस्थित करते हैं। एक में पुरसुन्दरी 'गवाक्ष की ओर दृष्टि लगाये तेजी से जा रही है', तो दूसरे में 'कृष्ण को देखने में उसकी स्थिर दृष्टि व्यस्त है'। इतना होते हुए भी कालिदास का वर्णन व्यञ्जना-शक्ति का बेजोड़ वर्णन है, तथा उतना वासनापूर्ण नहीं जान पड़ता,[1] जब कि माघ का वर्णन उससे अधिक विलासमय है। माघ के जड़िया ने कंकण में नीलम को जड़ कर नई उद्भावना कर दी है, किन्तु उसीसे व्यञ्जना शक्ति कुछ नष्ट हो गई है। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि अश्वघोष ने भी इस तरह का वर्णन किया है, पर उसमें एक तात्त्विक भेद है। कालिदास का वर्णन सरस (Romantic) है, माघ का विलासमय (Voluptuous), जब कि अश्वघोष की नैतिक प्रवृत्ति उसे नीतिवादी (प्यूरीटन) बना देती है। अश्वघोष के निम्न चित्र से ऊपर के दोनों चित्रों की तुलना कीजिए, जहाँ उसमें ऐसा चित्र नहीं मिलता। केवल पुरसुन्दरियों की गति-मन्थरता का ही सकेत मिलता है, जिसका कारण एकान्त में पहने हुए आभूषणों को छिपाना है।

---

१. कालिदास के इस वर्णन को कुछ विद्वानों ने थोड़ा असुन्दर माना है, किन्तु यह कालिदास की वर्णन शैली की विशेषताओं में से एक है, साथ ही उतना असुन्दर नहीं, जितना माघ का १३.४४ वाला पद्य। दोनों पद्यों की सूक्ष्म तुलना करने पर पता चलेगा कि कालिदास की नायिका का नीवीत्रुटन केवल समारोह को देखने की उत्सुकता की तेजी से है (प्रस्थानभिन्नां), जब कि माघ ने पद्य में कोई कारण न देकर नायिका को विलासिनी बना दिया है, जो कृष्ण को देखने से रोमांचित हो उठी है।

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ न तूर्णम् ।
ह्रिया प्रगल्भानि निगूहमाना रहः प्रयुक्तानि विभूषणानि ॥ (बु० च० ३.१७)

इस सारे विवेचन का तात्पर्य उन दो प्रमुख काव्यरूढियों की ओर संकेत करना था, जो माघ को ही नहीं, समस्त संस्कृत साहित्य को कालिदास की देन है,[1] तथा माघ में इन रूढियों का अधिक प्रयोग मिलता है ।

माघ भारवि के जरूरत से ज्यादा ऋणी हैं । माघ के काव्य की कथावस्तु भारवि के किरातार्जुनीय की ही 'प्रतिमूर्ति' (Replica) कही जा सकती है । इतिवृत्त की सजावट, सर्गों के विभाजन, और वर्ण्य विषयों के उपस्थापन में माघ कुछ कुछ भारवि के पदचिह्नों पर चलते दिखाई देते हैं । भेद इतना है कि भारवि ने शिवभक्त होने के कारण महाभारत से शिवसम्बन्धी इतिवृत्त को चुना है, तो माघ ने विष्णुभक्त होने के कारण कृष्णसम्बन्धी इतिवृत्त को । जैसा कि हम शिशुपालवध के इतिवृत्त पर संकेत करते समय बतायँगे, माघ का इतिवृत्त भारवि के इतिवृत्त से भी छोटा है, और इतने से इतिवृत्त को लेकर २० सर्गों का महाकाव्य लिख देना माघ की कृत्रिमता और कलावादिता का प्रमाण है ।

भारवि के काव्य की तरह ही माघ का काव्य भी 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है ।[2] भारवि के काव्य का प्रत्येक सर्ग 'लक्ष्मी' शब्द से समाप्त होता

---

१. कालिदास के अन्य प्रभाव भी माघ में देखे जा सकते है, यथा—
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान् मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ (रघु० ६. २३)
तत्र नित्यविहितोपहूतिषु प्रोषितेषु पतिषु व्रयोषिताम् ।
गुम्फिताः शिरसि वेणयोऽभवन्न प्रफुल्लसुरपादपस्रजः ॥ (माघ० १४. ३०)

२. श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीं, प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ, युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ (किरा० १.१)
श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भांगभुवं मुनिं हरिः ॥ (माघ० १. १)

है, तो माघ के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'श्री' शब्द का प्रयोग मिलता है। दोनों काव्य का वर्णन-क्रम समान है। किरात के प्रथम सर्ग में वनेचर युधिष्ठिर के पास आता है, जब कि माघ में नारद कृष्ण के पास आते हैं। किरात का कवि एक दम इतिवृत्त के वर्णन में लग जाता है, किन्तु माघ लगभग १२-१३ पद्यों तक नारद के वर्णन में ही व्यस्त रहते हैं। नारद आते हैं और फिर कई पद्यों में उनके स्वागत का वर्णन है। तब वे अपने आने का कारण बताते हैं। कृष्ण व नारद की बातचीत में कुछ स्थानों पर युधिष्ठिर व व्यास की (किरात के तृतीयसर्ग की) शिष्टता का संकेत मिलता है।[१] किरात के दूसरे सर्ग में भीम तथा युधिष्ठिर का राजनीतिक वादविवाद है। माघ के दूसरे सर्ग में भी बलराम, उद्धव तथा कृष्ण की राजनीतिक मन्त्रणा है। माघ ने यहाँ भारवि से अधिक राजनीतिक पाण्डित्य बताने की चेष्टा की है। भारवि के राजनीतिक वादविवादों में शास्त्रप्रमाणों की अपेक्षा युक्तियों[२] का अधिक प्रयोग हुआ है, जब कि माघ के राजनीतिक वादविवादों में शास्त्रप्रमाणों[३] को अधिक उपन्यस्त किया गया है। भारवि के भीम तथा युधिष्ठिर राजनीतिपटु खूब दिखाई देते हैं, किन्तु माघ के बलराम और उद्धव ने शुक्रनीति तथा कामन्दकीय नीतिसार के पारिभाषिक राजनीतिग्रन्थों को अधिक परिशीलित किया जान पड़ता है। वे जब भी बात करते हैं, राजनीति के 'प्रोफेसर' की तरह बात करते हैं, जिसके साथ उनका व्याकरण, दर्शन तथा अलंकारशास्त्र का भी ज्ञान चलता है। माघ का राजनीतिक वाद-विवाद शास्त्रीय (Academic) अधिक जान पड़ता है,

१. दे० किरात ३. ९, तथा माघ. १. २९.

२. दे० किरात. १. ३१, १. ४२, २. ११, २. २०, २. २१, २. ३०, २. ३१, २. ३७, २. ४६ आदि।

३. माघ २. २६, २. २८, २. २९, २. ३०, २. ३६, २. ३७, २. ५४-५५-५६--५७, २. ७६, २. ८१-८२, २. ८८, २. ९२, २. ९३, २. १११-११२-११३ आदि।

भारवि का व्यावहारिक (Practical) अधिक। सम्भवतः भारवि से वैशिष्ट्य लाने के लिए माघ ने राजनीति के पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है, पर फिर भी भारवि के राजनीतिक वादविवाद का अपना खास महत्त्व है, जो माघ में नहीं मिलता।

इसके अनन्तर माघ के चतुर्थ सर्ग का रैवतक वर्णन, षष्ठ सर्ग का ऋतुवर्णन तथा ७ से १० सर्ग तक का वनविहारादि भारवि के चतुर्थ से नवम सर्ग तक के वर्णन से प्रभावित है। आगे जाकर माघ के १६ वें सर्ग का वादविवाद किरात के १३ वें तथा १४ वें सर्ग का प्रभाव है, और माघ के १९ वें सर्ग का युद्ध वर्णन चित्रकाव्य की दृष्टि से किरात के १५ वें सर्ग से प्रभावित हुआ है। इतना होते हुए भी माघ के सेनाप्रयाण वाले सर्ग (५, १२, १३) तथा प्रभातवर्णन (११ सर्ग) उसके अपने हैं, जिनमें कुछ स्थलों पर कालिदास का प्रभाव है। पर माघ का सच्चा कवित्व काव्य के रखने के ढंग में है। माघ की कलात्मक सजावट, कल्पना तथा शब्द-तति का भाण्डार[1] भारवि से बढ़ कर है। माघ के पास अलंकारों की लड़ी पर लड़ी है, शैली में धीर तथा गंभीर संगीत है, भारवि से भावपक्ष भी अधिक है और माघ की यह कुशलता उसे उत्कृष्ट सिद्ध कर देती है। माघ का कवि 'भाव-मलिम्लुच' तो नहीं कहा जा सकता। उसे भाव को लेकर अपनी प्रतिभा और पाण्डित्य के साँचे में ढालना खूब आता है। वह भारवि के चाँदी के गहने पर सोने का चमचमाता पालिश करना खूब जानता है, चाहे वह कालिदास का सोना न हो, पर कभी कभी कालिदास के सोने से भी मँहगा बिक सकता है। माघ के सुवर्णकार और जड़िया की कुशलता का इससे बढ़ कर क्या प्रमाण चाहिये?

माघ के भावों में भी भारवि का प्रभाव देखा जा सकता है, किंतु भारवि

---

१. नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।

के भावों को माघ ने अपनी मौलिकता से सजा कर रक्खा है।[1] भारवि के अतिरिक्त माघ भट्टि के भी ऋणी हैं। माघ का वैयाकरण भट्टि का प्रभाव है। सामान्यभूते लुङ् यङ्लुडन्त क्रियापद, तथा अन्य पाणिनिसंमत प्रयोगों का मोह माघ को भट्टि से ही मिला है।[2] पर इतना ही नहीं, एक स्थान पर माघ ने भट्टि के भाव को भी लिया है और अपनी कल्पना की खूँटियाँ कस कर निश्चित रूप से उसी राग को संगीत की अभिनव कलात्मकता दे दी है। माघ का पद्य यों है:—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
समुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः॥ (१.४७)

'हे नृसिंह, तुमने अयाल की शोभा से बादलों को छिन्न-भिन्न करने वाले सिंह का विशाल शरीर धारण कर अपने उन (कोमल) नखों से हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को चीर दिया था, जो मुग्धा रमणियों के (कठोर) स्तनस्पर्श से भी टेढ़े हो जाते हैं।'

भट्टि का इसी आशय का पद्य यों है:—

क्व स्त्रीविषह्याः करजाः क्व वक्षो, दैत्यस्य शैलेंद्रशिलाविशालम्।
संपश्यतैतद् द्युसदां सुनीतं बिभेद तैस्तन्नरसिंहमूर्तिः॥ (भट्टि० १२.५९)

---

१. दे० भारवि. ४. ३३ तथा माघ ६. ४९ एवं १३. ४८.

२. संस्कृत के पण्डित माघ को वैयाकरण मानते हैं। उनके व्याकरणनिष्ठ प्रयोगों के कुछ उदाहरण ये हैं:—

(अ) पर्यपूपुजत् (१. १४), अभिन्यवीविशत् (१. १५), अचूचुरत् (१.१६)
(आ) पारेजलं (३. ७०) मध्येसमुद्रं (३ ३३) (पारेमध्ये षष्ठ्या वा)
(इ) सस्मार वारणपतिः परिमीलिताक्षमिच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्॥
(५. ५० अधिगर्थदयेशां कर्मणि)
(ई) पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥ (१. ५१)
(क्रियासमभिहारे लोट)

'कहाँ तो स्त्रियों के द्वारा सहने लायक नख, कहाँ पर्वत की शिला के समान विशाल हिरण्यकशिपु का वक्षःस्थल ? देवताओं की नीति तो देखो कि उन नाखूनों से नृसिंह ने उसे (हिरण्यकशिपु के कठोर वक्षःस्थल को) फाड़ दिया।'

माघ का प्रस्तुत करने का ढंग, उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति, शैली (Diction) और ध्वन्यात्मक (Rhythmic) वातावरण ने इस भावमें एक नई जान फूँक दी है। पर जहां तक मेरा अनुमान है, माघ को एक काव्य का पता और था, और वह भर्तृमेण्ठ का 'हयग्रीववध'[1] था। 'हयग्रीववध' ने माघ को काव्य के शीर्षक बनाने में सहायता दी हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। सुना जाता है कि हयग्रीववध की सुन्दरता से मुग्ध होकर काश्मीरराज ने उसे रखने को एक सोने की तश्तरी दी थी, जिससे काव्य का रस पृथ्वी पर न चू पड़े। पर इतना होने पर भी उस काव्य में एक दोष था। वह यह कि वहाँ अङ्गभूत नायक (प्रतिनायक) हयग्रीव दैत्य का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया था, जो रसदोष माना जाता है।[2] माघ में अङ्गभूत नायक शिशुपाल का वर्णन बड़ी सतर्कता से किया गया है। शायद यह सतर्कता हयग्रीववध के वर्णन की आलोचना के कारण हो। मैं इस विन्दु पर जोर नहीं देता। ऐसा भी

---

१. भर्तृमेण्ठ के हयग्रीववध से उद्धृत दो तीन पद्य अलङ्कारग्रन्थों में मिलते हैं। आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में उन्हें उदाहरणों के रूप में उपन्यस्त किया है। इनमें भी अधिक प्रसिद्ध पद्य निम्न है:—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती॥

(शत्रुओं के मान को खण्डित करने वाले उस हयग्रीव को अपनी इच्छा से महल से निकला हुआ सुनकर अमरावती पुरी-जिसकी अर्गला को डरे हुए इन्द्र ने एक दम डलवा दिया है—मानों डर से आँखें बन्द कर लेती है।)

२. अंगस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम्। यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य।
(काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास पृ० ३६९)

हो सकता है कि भर्तृमेण्ठ माघ से प्रभावित रहा हो, और जब तक भर्तृमेण्ठ का खोया हुआ काव्य और उसकी तिथि का निश्चय पता नहीं लगता, हम अनुमान से आगे नहीं बढ़ सकते।

माघ का व्यक्तित्व

माघ का व्यक्तित्व कवि और पण्डित का अपूर्व समन्वय है। पाण्डित्य में माघ निश्चित रूपसे कालिदास, भारवि, भट्टि या श्रीहर्ष से अधिक दिखाई पड़ते हैं। कालिदास मूलतः कवि हैं, भारवि राजनीति के व्यावहारिक ज्ञाता, और भट्टि कोरे वैयाकरण; श्रीहर्ष का पाण्डित्य भी विशेषतः दर्शन में अधिक जान पड़ता है। किन्तु, माघ सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पाण्डित्य लेकर उपस्थित होते हैं। वे 'आल राउन्ड स्कॉलर' जान पड़ते हैं। व्याकरण,[१] राजनीति[२] सांख्य-योग[३] बौद्धदर्शन[४] वेद-[५]पुराण[६] अलङ्कारशास्त्र[७] कामशास्त्र[८] संगीत,[९] और यही नहीं, अश्वविद्या[१०] तथा हस्तिविद्या[११] के भी वे अच्छे जानकार हैं। इतनी विविध शाखा का पाण्डित्य किसी अन्य संस्कृत कवि में नहीं मिलता। पर माघ के कवि का महत्त्व इस पाण्डित्य के कारण नहीं है। उनका कवि किसी कदर कम नहीं है, पर जहाँ भी आता है, पाण्डित्य के घटाटोप को नहीं छोड़ पाता। माघ के साथ आलोचकों की सदा एकांगी दृष्टि रही है। पुराने पण्डितों ने माघ की इतनी प्रशंसा की कि वे 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' के फेर में पड़ उन्हें उच्चतम कवि घोषित कर गये,

---

१. २.११२, १४.२२,
२. देखिये पिछले संकेतित चिह्न.
३. १४.१९,
४. २.२८,
५. १४.२०, १४.२२, १४.२३
६. १३.११, ५.६६
७. २.८६, ९७
८. २.४४, ४.२९, ६.७७, ७.१५, ७.२०, १०.५७ आदि।
९. ११.१
१०. ५.४, ५.१०, ५.५६, ५.६०
११. १२.५

तो नये आलोचकों ने भी माघ को ठीक नहीं समझा। माघ के साथ सदा अन्याय हुआ है, चाहे वह अत्युक्ति वाला हो, या हीनोक्ति वाला। माघ में फिर भी कुछ ऐसे गुण हैं, जो सहृदय पाठक को अभिभूत कर लेते हैं।

माघ कलावादी कवि हैं। वे शब्द तथा अर्थ दोनों के सौंदर्य पर ध्यान देते हैं, तथा सत्कवि की कसौटी इसे ही मानते हैं।[१] माघ की अन्तः प्रकृति कवित्व-सम्पन्न है, किन्तु माघ का कवि रूढियों का दास है। यह काव्यमार्ग की दासता उनके भावपक्ष की मौलिकता को कुचल देती है। ऐसा प्रतीत होता है, माघ के पास काव्य-प्रतिभा का अखण्ड भाण्डार है, किन्तु वे उसे स्वतन्त्र परीवाह-मार्ग नहीं देते। यदि माघ की प्रतिभा अपने पूर्व कवियों की रूढ पद्धति का आश्रय न लेती, अभिनव सरणि को उद्भावित करती, तो संभवतः माघ का कवित्व और अधिक स्फुट हो सकता था। माघ का एक मात्र लक्ष्य अपने पूर्व कवियों की नकल करना, तथा उन्हें कलावादिता में पीछे छोड़ देना ही रहा है। यही कारण है, माघ में जहाँ भारवि के कई गुण और अधिक बढ़ गये हैं, वहाँ ठीक उसी अनुपात में भारवि के दोष भी घनीभूत दिखाई पड़ते हैं। माघ श्लेष, यमक, चित्रकाव्य जैसी कृत्रिम कलाबाजियों में भी भारवि से बढ़े चढ़े दिखाई पड़ते हैं। अर्थालंकारों की दूर की कौडी में भी माघ भारवि से कम नहीं है, और ऐसे ही एक अर्थालंकार (निदर्शना) के प्रयोग के कारण पण्डितों ने माघ को 'घण्टा-माघ' की उपाधि दे डाली थी। कृष्ण का रथ रैवतक पर्वत के समीप पहुँच रहा है। कृष्ण का सारथि दारुक रैवतक का वर्णन करते समय बता रहा है, 'जब प्रातःकाल के समय किरणों को फैलाता हुआ सूर्य इस पर्वत के एक ओर उदित होता है, तथा चन्द्रमा अपनी किरणों को समेटता-सा पर्वत के दूसरी ओर अस्त होता है, तब उस समय यह

१. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। (२.८६)

पर्वत उस हाथी की शोभा को धारण करता है, जिसके दोनों ओर रस्सी से बँधे दो बड़े घण्टे लटक रहे हों।

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥ (४.२०)

सचमुच इस 'निदर्शना' में एक अनूठी प्रौढोक्ति है। पर माघ का सच्चा कविहृदय मुझे उनकी स्वभावोक्तियों में—हाथी, घोड़े, खच्चर, ऊँट, और रथों के वर्णन में जितना फड़कता दिखाई पड़ता है, उतना इन प्रौढोक्तियों में नहीं।

माघ की काव्य-प्रतिभा

प्रबन्धकाव्य की इतिवृत्त-निर्वाहकता में माघ सफल नहीं कहे जा सकते। माघ का ध्यान इतिवृत्त की ओर है ही नहीं। इस दृष्टि से कालिदास तो क्या, भारवि जैसी थोड़ी बहुत इतिवृत्त-निर्वाहकता भी माघ में नहीं पाई जाती। माघ में कथा के कलेवर तथा प्रासंगिक वर्णनों का सन्तुलन नहीं मिलता, जो प्रबन्धकाव्य के लिए जरूरी होता है। शिशुपालवध की मूल कथावस्तु (Theme) में चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का विस्तृत वर्णन कहाँ तक अपेक्षित है, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यही कहना पड़ेगा कि माघ ने इसे आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया है। मूल कथा पहले-दूसरे, और चौदहवें से बीसवें सर्ग तक पाई जाती है, और यहाँ भी कई अप्रासंगिक गौण वर्णनों पर कवि ने अधिक ध्यान दिया है ऐसा जान पड़ता है। निष्पक्ष आलोचक की निगाह से देखने पर, माघ में यह बहुत बड़ा दोष दिखाई देता है, और शिशुपालवध के वीररस पूर्ण इतिवृत्त में अप्रासंगिक शृङ्गार लीलाओं का पूरे ६ सर्ग में विस्तार से वर्णन ऐसा लगता है, जैसे किसी पुरानी सूती रजाई के बीचों-बीच बड़ी-सी रेशम की बढ़िया थिकली

लगा दी है। माघ का श्रृंगार प्रबंध-प्रकृति का न होकर मुक्तक-प्रकृति का अधिक है, जिसे जबर्दस्ती प्रबंधकाव्य में 'फिट इन' कर दिया गया है। इस थिकली ने रजाई की सुन्दरता तो बढ़ा दी है, पर स्वयं की सुन्दरता कम कर दी है। माघ निश्चित रूप से एक सफल मुक्तक कवि (अमरुक की तरह) हो सकते थे। भारवि के इतिवृत्त में अप्सराओं की वनविहारादि श्रृंगार चेष्टाएँ फिर भी ठीक बैठ जाती हैं। पर राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने जाने वाले यदुओं की केवल पड़ाव की रात (रैवतक पर्वत पर का पड़ाव अधिक से अधिक दो तीन दिन रहा होगा[१]) में की गई ऐसी विलासपूर्ण चेष्टाएँ काव्य की कथा में कहाँ तक खप सकती हैं?

माघ के काव्य का अंगी रस वीर है, और श्रृंगार रस इसका अंग बनकर आया है, पर श्रृंगार रस ने वीर को अधिक दबोच लिया है। काव्य के मध्यभाग के पढ़ने पर सहृदय पाठक यह समझने लगता है कि यह आमूल-चूल श्रृंगार का काव्य है, और अगर यह अंगी रस की चर्वणा में बाधक माना जाय, तो अनुचित न होगा। पर इसका अर्थ यह नहीं कि माघ वीर रस के सफल चित्रकार नहीं हैं। माघ वीर तथा श्रृंगार दोनों के सफल चित्रकार हैं। पर माघ की वीर रस की व्यञ्जना उन वीर रसात्मक रूढियों का संकेत करती है, जिन्हें हम 'चरित-काव्यों' से होते हुए हिन्दी के वीरगाथात्मक काव्यों तक आती हुई देखते हैं। माघ स्वयं 'चरित कवि' नहीं हैं, किन्तु 'चरित-काव्यों' यथा, विक्रमांकदेवचरित, नवसाहसांकचरित, राष्ट्रौढवंशमहाकाव्य, आदि की वर्णनपरंपरा के बीज माघ में मिलते हैं। भूलना न होगा, माघ स्वयं दरबारी कवि थे। वीर रस का निम्न उदाहरण लीजिये—

१. यद्यपि सूक्ष्म अध्ययन से यह भी सदेह होने लगता है कि शायद यह एक ही रात का पड़ाव रहा हो।

आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिना-
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्म्मिमद्भिः ।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम् ॥ (१८.८०)

'एक दूसरे की ओर बड़ी तेजी से बढ़ती हुई, शत्रु राजाओं की उद्धत सेनाओं का श्रीकृष्ण की प्रबल तरंग वाली सेना से, बड़े जोर का शब्द करते हुए दोलायुद्ध (जयपराजय की अनिश्चितता वाला गंभीर युद्ध) हुआ, जैसे तेजी से आती हुई नदी की, गंभीर तरंगों वाले समुद्र के प्रवाह से, टक्कर होने पर धीरध्वनि का संघात पाया जाता है।'

माघ का अष्टादश सर्ग हमें 'चरितकाव्यों' के युद्ध-वातावरण के मूलस्रोत का संकेत कर सकता है। आलोचकों ने हिन्दी के वीरगाथाकाव्यों तथा मिश्रण सूर्यमल्ल के 'वंशभास्कर' के युद्धवर्णनों के पूर्वरंग की साज-सज्जा, सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियों के चिंघाड़ने, योद्धाओं के द्वन्द्वयुद्ध में पिल पड़ने के चित्रवत् वर्णन की प्रशंसा की है। यह माघ के १८ वें सर्ग का खास गुण है। अन्यत्र भी माघ के वीररस के चित्र सुन्दर' तथा प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। माघ के पदविन्यास की धीर और गंभीर गति उनके चित्र में नई 'शेड' डाल कर, उसका सौंदर्य बढ़ा देती है। रावण से युद्ध करते समय वरुण ने उस पर नागपाश फेंका है। नागपाश रावण की ओर चला आ रहा है। रावण क्रोध से हुंकार करता है, और उस हुंकार से डर कर नागपाश लौट जाता है। रावण से भयभीत सर्पराज का पाश तेजी से प्रहार करने वाले वरुण के ही गले में जाकर चिपट जाता है।

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥ (१. ५६)

पर माघ का मन वीररस से भी अधिक श्रृङ्गार रस के वर्णन में रमता है। माघ का श्रृङ्गार भारवि के खेवे का विलासी श्रृङ्गार है। माघ भारवि से अधिक विलासी और वासनामय जान पड़ते हैं। भारवि के साथ कालिदास की तुलना करते समय दोनों के श्रृङ्गारवर्णन के बारे में जो बातें हम कह चुके हैं, वे माघ पर पूरी तरह लागू होती हैं। माघ का कामशास्त्री 'नर्मसाचिव्य' करने में पूर्णतः सफल है, वह अपने प्रथम सर्ग के वायु की तरह विलासवृत्ति का उद्बोध कर रावण के हाथों देवताओं को दण्ड से छुड़वा सकता है।[1] पर कालिदास जैसी श्रृंगार की सरसता का उनमें अभाव है। वे कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक वाच्य प्रणाली का आश्रय ले लेते हैं, फलतः सरसता को छोड़कर वे अश्लीलता धारण कर लेते हैं। ऐसे अनेकों चित्र माघ में देखे जा सकते हैं।[2] माघ की 'शातोदरी' की तरह उनकी कविता भी कहीं कहीं अपनी रमणीयता को खुले आम दिखाकर सौन्दर्यभावना में विघ्न डाल देती है।[3] स्पष्टता के विलासमय कारण माघ की कविता 'शातोदरी' की ही तरह सिर्फ एक क्षण चमत्कृत कर पाती है (क्षणमुत्सवोऽभूत्), कालिदास की कविता की तरह वह दिल की तह तक नहीं पैठती, कि हम उसे जननान्तरसौहृद भाव की तरह सदा वहन करते रहें (तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि)। सारांश यह है, माघ का श्रृंगार क्षण भर की उत्तेजना भले ही पैदा कर दे, कालिदास की तरह शाश्वत प्रभाव नहीं डालता। माघ हिंदी के रीतिकालीन कवियों

---

१. प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥ (१.६१)

२. दे० १.७४, २.१६–१७, २.४४, ३.५५, ४.२९, ४.६७, ५.२३, १०.४७, १०.६६, ११.५, ११.२९ आदि।

३. प्रस्वेदवारिसविशेषविषक्तमङ्गे कूर्पासकं क्षतनखक्षतमुत्क्षिपन्ती।
आविर्भवद्घनपयोधरबाहुमूला शातोदरी युवदृशां क्षणमुत्सवोऽभूत् ॥ (५.२३)

के भी आचार्य हैं, और माघ को हम प्रेम का कवि न कहकर, प्रेम-कला (Art of love) का कवि कहना विशेष उपयुक्त समझते हैं।

इस दृष्टि से, माघ के ऋतुवर्णन, वनविहार, जलविहार, सूर्यास्तवर्णन, रतिवर्णन तथा प्रभातवर्णन में कई सरस चित्र मिल सकते हैं। दो एक पद्यों को उद्धृत करना पर्याप्त होगा। कोई मुग्धा नायिका ऊँचे पेड़ के ऊपर खिले फूलों को माँग रही है। नायक भी उसे आलिंगन करना चाहता है। उसे यह बहाना मिल जाता है। वह पुष्ट कुचों वाली नायिका को दोनों हाथों से उठाकर उससे कहता है 'अच्छा, तुम्हीं तोड़ लो।'

उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोन्यः।
प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदासदोर्भ्याम्॥ (७.४८)

प्रातःकाल हो गया है। रात्रि-केलि के कारण थककर सुख की नींद सोये हुए दम्पतियों में नायिकाएँ पहले जग गई हैं, किन्तु फिर भी वे अपने शरीर को इसलिए नहीं हिलाती डुलातीं कि कहीं उनके हाथ के हटा लेने से प्रिय की नींद टूट न जाय। संभवतः वे स्वयं भी आश्लेषजनित सुख का भंग नहीं चाहतीं।

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः॥
(११.१३)

माघ के श्रृंगार का विस्तार से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि माघ का कवि श्रृङ्गार के आलंबन विभाव तथा अनुभाव का सफल चित्रकार है। आलंबन विभाव की हावादि उद्दीपन सामग्री को उपस्थित करने में भी वे सफल हैं। किन्तु श्रृङ्गार के संचारियों का चित्रण करने में माघ उतने सफल नहीं कहे जा सकते। कालिदास संचारी भाव के वर्णन

में अत्यधिक सफल हुए हैं। 'प्रेम' का कवि संचारी का मार्मिक वर्णन करने में अधिक सफल होता है, जब कि 'प्रेम-कला' का कवि ज्यादा जोर नखशिखवर्णन, नायिका के हाव-भाव, बिब्बोक, कुट्टमित, किलकिंचित या आश्रय के अनुभावों के चित्रण पर देता है, और इस तरह वह भावपक्ष की कमी को पूरा करता जान पड़ता है।

माघ का प्रकृतिवर्णन

भारवि में हम प्रकृतिवर्णन की कृत्रिमता का संकेत कर चुके हैं। माघ का प्रकृतिवर्णन भी उसी ढर्रे का है। चतुर्थ सर्ग के प्रकृतिवर्णन में माघ दूर की कल्पना और यमक में फँस गये हैं, तो षष्ठ सर्ग के प्रकृतिवर्णन में पूरा सर्ग यमक से भरा है। पर इतना होते हुए भी षष्ठ सर्ग का प्रकृति वर्णन सरस है। नवम सर्ग का सूर्यास्तवर्णन और एकादश का प्रभातवर्णन भी अप्रस्तुत विधान से बहुत लदा हुआ है। कालिदास का अनलंकृत आलम्बनभूत प्रकृतिवर्णन माघ में नहीं मिलेगा। द्वादश सर्ग के कुछ चित्र-गाँव के लोगों, खेतों और गायों के चित्र-अपवाद माने जा सकते हैं। माघ की प्रकृति प्रायः उद्दीपन पक्ष की प्रकृति है, और वह भी सम्भोग शृङ्गार की प्रकृति। पर बीच में कहीं कहीं वियोग के चित्र भी आ जाते हैं। वैसे, कदम्ब के फूल अपने पराग के पटवास को उड़ाकर वियोगिनी नायिकाओं के प्राणों का अपहरण करते हैं[1], पर अधिकतर उनका ध्येय प्रणयकोप युक्त कामिनियों को प्रसन्न करना, तथा मानिनियों के मान को खण्डित और उनके मन का नमन करना ही रहता है।[2] माघ के प्रकृतिवर्णन को तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है:—(१) यमक वाले प्रकृतिवर्णन, (२) शृङ्गारी अप्रस्तुतविधान वाले प्रकृतिवर्णन, (३) अन्य अप्रस्तुत विधान

---

१. दे० प्रियवियुक्तवधूजनचेतसामनवनी नवनीपवनावलिः॥ (६. ३७)

२. दे० नमयति स्म वनानि मनस्विनीजनमनोनमनो घनमारुतः॥ (६. ३०, ३८)

वाले प्रकृतिवर्णन। पहली कोटि में चतुर्थ सर्ग का यमक वाला प्रकृतिवर्णन दो कौड़ी का है, जब कि छठे सर्ग का प्रकृतिवर्णन सुन्दर है, क्योंकि यहाँ कई सुन्दर पद्य हैं, जिनमें यमक सरल होने के कारण अर्थप्रतिपत्ति में बाधा नहीं डालता। इस सर्ग में एक साथ दूसरी दो कोटियों का भी समावेश मिलता है। यमक, श्लेष और श्रृङ्गारी अप्रस्तुत विधान के साथ वर्षा का यह वर्णन सुन्दर हुआ है।

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥ (६. २५)

'चमकती हुई चञ्चल बिजली वाली, सघन बादलों से भरी, मेघराजि, अपने उचित समय पर रैवतक पर्वत पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई, जैसे चञ्चल नेत्रोंवाली, पुष्टयौवनवती नायिका, अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्रतीक्षा की अधीरता में न डालती हुई, उसके पास अभिसरणार्थ उपस्थित होती है।'

कवि ने प्रकृति पर मानवोचित श्रृङ्गारी चेष्टाओं का आरोप बहुत किया है। वह इन अप्रस्तुत विधानों में भी अपने श्रृङ्गारी पाण्डित्य का पूरा परिचय देता है। पश्चिमदिशा अस्त होते निस्तेज सूर्य को इसी तरह घर से निकाल देती है, जैसे गणिका धनरहित व्यक्ति को[1]; और प्रातःकाल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा से इसी तरह भगता नजर आता है, जैसे पति के आने पर उपपति पिछले दरवाजे से भग निकला हो।[2] अप्रस्तुत विधान में इस तरह के प्रयोग भी माघ की विलासी प्रकृति का संकेत देने में सहायक सिद्ध होते हैं।

माघ के दूसरे ढंग के अप्रस्तुत विधान से अलंकृत वर्णन एकादश सर्ग में अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। प्रातःकाल का समय है, बाल सूर्य उदित हो

---

१. निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका। (९. १०)
२. उपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः॥ (११. ६५)

रहा है। वह उदय पर्वत की चोटियों के आँगन में (छोटे बच्चे की तरह घुटनों के बल) रेंगता है, पद्मिनियाँ (सुन्दरियाँ) अपने कमल के मुखों से हँसती हुई उसकी बाललीला देख रही हैं। वह अपनी कोमल किरणों (हाथों) को फैलाता हुआ, पक्षियों के कलरव से पुकारती हुई द्यौ (आकाश-रूपिणी माता) की गोद में लीला से आ गिरता है। इस पद्य में श्लेष, अतिशयोक्ति तथा रूपक का संकर पाया जाता है। पद्य का वास्तविक सौन्दर्य वह बालचित्र है, जिसे कवि ने अप्रस्तुत के रूप में चुना है।

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन् सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः परिपतति दिवोङ्के हेलया बालसूर्यः।

कहना न होगा, माघ के प्रकृति वर्णन का खास सौन्दर्य सर्वत्र अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है। माघ का पदविन्यास भी कहीं कहीं प्रकृतिवर्णन के वातावरण का निर्माण करने में सहायक सिद्ध होता है।[1]

स्वभावोक्ति और प्रौढोक्ति

माघ स्वभावोक्ति के कुशल चित्रकार दिखाई पड़ते हैं। स्वभावोक्ति को आचार्यों ने अलङ्कारों में से एक माना है। किन्तु स्वभावोक्ति के विषय में राजानक कुन्तक का मत मुझे अधिक ठीक जँचता है, जो इसे अलङ्कार नहीं मानते।[2] स्वभावोक्ति के वर्णन में सबसे बड़ी सफलता तब मानी जायगी, जब वर्ण्य विषय का चित्र ठीक इस तरह वर्णित किया जाय कि पाठक के दिल की फिल्म पर वह हू-ब-हू उतर जाय। माघ के स्वभावोक्तिमय वर्णनों में यह कुशलता है, जो 'ह्रासोन्मुख काल' के अन्य कवियों में नहीं पाई जाती। कालिदास स्वभावोक्ति के सफल चित्रकार हैं। महाकाव्य

---

१. लीलाचलस्त्रीचरणारुणोत्पलस्खलत्तुलाकोटिनिनादकोमलः।
शौरेरुपानूपमपाहरन्मनः स्वनान्तरादुन्मदसारसारवः॥ (१२. ४४)

२. वक्रोक्तिजीवित, तृतीय उन्मेष, पृ. १३५-६.

में कालिदास के बाद माघ का स्वभावोक्ति वर्णन आता है। पञ्चम, एकादश, द्वादश तथा अष्टादश सर्ग में स्वभावोक्ति के कई अच्छे चित्र हैं। एक दो उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

गण्डूषमुज्झितवता पयसः सरोषं नागेन लब्धपरवारणमारुतेन।
अम्भोधिरोधसि पृथुप्रतिमानभागरुद्धोरुदन्तमुसलप्रसरं निपेते॥ (५.३६)

'कोई हाथी नदी के किनारे पानी पी रहा है। इसी समय उसे दूसरे मस्त हाथी के मदजल की सुगन्ध आ जाती है। वह गुस्से में होकर सूँड़ में भरे पानी को वापस गिरा देता है, और तेजी से अपने दाँतों को जमीन पर अड़ा कर, दाँतों के बीच के भारी भाग (प्रतिमान) से रुका हुआ जमीन पर गिर पड़ता है।'

दुर्दान्तमुत्प्लुत्य निरस्तसादिनं सहासहाकारमलोकयज्जनः।
पर्याणतस्स्रस्तमुरोविलम्बिनस्तुरङ्गमं प्रद्रुतमेकया दिशा॥ (१२.२२)

'किसी बिगड़ैल घोड़े का लंबा लटकता हुआ पल्ययन (काठी) ढीला हो गया है। उसने तेजी से उछल कर अपनी पीठ पर बैठे सवार को जमीन पर फेंक दिया है, और वह एक ओर भग चला है। लोग घोड़े की इस स्थिति को देखकर हा हा करते हुए हँस रहे हैं।'

एक चित्र और देखिये—खच्चरों की गाड़ी चली जा रही है। पीछे से कोई हाथी आ रहा है, और उसके सूत्कार (सूँ सूँ) को सुनकर खच्चर डर जाते हैं। वे बिगड़ खड़े होते हैं। गाड़ी चलाने वाला व्याकुल होकर लगाम छोड़ देता है। खच्चरों को ढील मिल जाती है, वे उछल कर गाड़ी में बैठी अन्तःपुरिकाओं को गिरा देते हैं। सड़क से दूर जाकर टकराने से गाड़ी टूट जाती है।[1]

---

१. इसी तरह का एक दूसरा चित्र निम्न है, जहाँ हाथी से डरे खच्चर (खरः-गधा नहीं) पर बैठी अन्तःपुरिका जमीन पर अस्तव्यस्त दशा में फेंक दी जाती है।

त्रस्तौ समासन्नकरेणुसूत्कृतान्नियन्तरि व्याकुलमुक्तरज्जुके ।
व्धिसावरोधाङ्गनमुत्पथेन गां विलङ्घ्य लघ्वीं करभौ बभञ्जतुः ॥ (१२.२४)

एकादश सर्ग के प्रातःकालवर्णन में स्वभावोक्तिमय चित्र बहुत कम हैं। पर इस चित्र में कितनी स्वाभाविकता है। एक पहरेदार ने अपना पहरा पूरा कर दिया है। वह अब सोना चाहता है। इसलिए दूसरे पहरेदार को—जिसकी बारी आ रही है—बार बार जगा रहा है। वह व्यक्ति नींद से शून्य स्पष्ट शब्दों में उत्तर तो दे रहा है, पर जागता नहीं।

प्रहरकमपनीय स्वं निनिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां ददद‌पि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥ (११.४)

यद्यपि माघ के इन वर्णनों में किसी अलंकार का कोई रेशा भी नहीं, तथापि स्वभावोक्ति स्वयं काव्य में रमणीयता संक्रान्त कर देती है। माघ का सच्चा कवि-हृदय इन वर्णनों से व्यक्त हो जाता है।

प्रौढ़ोक्तिमय अलंकारों के प्रयोग में माघ अत्यधिक कुशल हैं, इसका संकेत हम प्रकृतिवर्णन की अलंकृत कोटि के प्रसंग में दे चुके हैं। उपमा,[1] उत्प्रेक्षा,[2] रूपक,[3] अतिशयोक्ति,[4] सहोक्ति,[5] तुल्ययोगिता,[6] समासोक्ति,[7] काव्यलिंग,[8] विरोध[9] जैसे अनेकों अर्थालंकारों का सुन्दर प्रयोग माघ में मिल जाता है। माघ श्लेष के बड़े शौकीन हैं। श्रीहर्ष को अपनी 'परीरम्भक्रीडा' (श्लेष) का घमण्ड है, पर माघ के शब्द-विलास की 'परीरम्भक्रीडा' अपना अलग सौंदर्य रखती है। श्लेष-प्रयोग में माघ भारवि

त्रस्तः समस्तजनहासकरः करेणोर्यावत्खरः प्रखरमुल्लयाञ्चकार ।
तावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्बविस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात ॥ (५.७)

१. १.२८ ११.९, २० । २. ४.४७ । ३. ११.४७ । ४. १२.२७, २९, ५६ । ५. १४.३७ । ६. ३.५३, ३, ६० १२.३६ । ७. १२.५९ । ८. १२.५ । ९. ३.५०, १२.६७ ।

से अधिक कुशल हैं। माघ के अन्य अलंकार भी श्लेष का सहारा लेकर आते हैं। कभी कभी तो उपमानोपमेय, प्रस्तुताप्रस्तुत, प्रकृताप्रकृत पक्षों के अर्थद्वय को लेने में विभक्तिपरिणाम के बिना अर्थ प्रतीति नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए निम्न पद्य ले लें, जहाँ केवल श्लेष है, क्योंकि दोनों पक्ष प्रस्तुत हैं:—

हस्तस्थिताखण्डितचक्रशालिनं द्विजेंद्रकान्तं श्रितवक्षसं श्रिया ।
सत्यानुरक्तं नरकस्य जिष्णवो गुणैर्नृपाः शार्ङ्गिणमन्वयासिषुः ॥ (१२.३)

'हाथ में चक्र की रेखा धारण करने वाले, शोभायुक्त वक्षःस्थल वाले, चन्द्रमा के समान सुंदर, सत्यशील, पुण्यात्मा (नरकस्य जिष्णवः) राजा लोगों ने हाथ में सुदर्शन को धारण करने वाले, चन्द्रमा के समान सुंदर, नरकासुर के जेता श्रीकृष्ण का-जिनके वक्षःस्थल पर लक्ष्मी का निवास है, और जो सत्यभामा में अनुरक्त हैं—उनके गुणों की दृष्टि से अनुगमन किया। समानगुणशील राजा कृष्ण के गरुड़ के समान रथ पर चढ़ कर रवाना होने पर (दे० १२.२) उनके पीछे पीछे रवाना हुए।'

यद्यपि माघ के अधिकतर श्लिष्ट प्रयोग किसी अन्य अलंकार के अंग बन कर आते हैं, तथापि माघ में शुद्ध श्लेष के भी अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1]

शब्दालङ्कारों के अन्य प्रयोग भी माघ में मिलते हैं। यमक तथा चित्रकाव्य का संकेत हम कर चुके हैं। अनुप्रास की दृष्टि से माघ का पद-विन्यास बड़ा सुंदर है, उनके अस्सी प्रतिशत पद्यों में अनुप्रास की सुंदरता मिलती है। अनुप्रास तथा यमक का निम्न उदाहरण विशेष प्रसिद्ध है। वसन्त का वर्णन है। वसन्त के आगमन से समृद्ध माधवी लता के पराग से

१. दे०—३.५७, ५.४५ आदि।

मस्त भ्रमरी उन्मत्त ध्वनि को धारण करती हुई स्थिर और मधुर अक्षरों में गा रही है।

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥ (६.२०)

छन्दों के प्रयोग में माघ, भारवि तथा कालिदास से भी अधिक कलावादी हैं। हम बता चुके हैं, कालिदास के खास छंद ६ हैं, भारवि के १२, माघ के १६। चतुर्थ सर्ग में माघ ने अनेकों छन्दों का प्रयोग किया है। हरविजय के कवि रत्नाकर के वसन्ततिलका छंद की क्षेमेन्द्र ने प्रशंसा की है। माघ का वसन्ततिलका छंद का प्रयोग उससे कम सुंदर नहीं है। वसन्ततिलका (पंचम सर्ग) तथा मालिनी (एकादश सर्ग) माघ के अत्यधिक सुंदर प्रयोग हैं।

माघ का पदविन्यास और शैली संस्कृत कवियों में अपना सानी नहीं रखतीं। कालिदास की शैली सरल, स्वाभाविक और कोमल है, माघ की शैली धीर और गम्भीर। माघ का समासान्तपद-विन्यास उनकी शैली को गंभीरता और उदात्तता (Sublimity and grandeur) प्रदान करता है। कालिदास की शैली मालव की समतल भूमियों की याद दिलाती है, जहाँ पाठक को उतार-चढ़ाव के साथ नहीं चलना पड़ता। माघ की शैली अरावली पर्वतमाला की याद दिलाती है, जहाँ सघन निकुञ्ज, उज्ज्वल अधित्यकाएँ, संदर उपत्यकाएँ, विशाल चोटियाँ और कोमल शिलायें हैं,[1] जिनके सेवन के लिए पर्वत पर उतार-चढ़ाव करने की मेहनत करने की ज़रूरत है। पर पर्वत की यात्रा का भी अपना अलग मज़ा है। माघ की

---

१. संकेतः—

दन्तोज्ज्वलासु विमलोपलमेखलान्ताः सद्रत्नचित्रकटकासु बृहन्नितम्बाः।
अस्मिन् भजन्ति घनकोमलगण्डशैला नार्योऽनुरूपमधिवासमधित्यकासु ॥(४.४०)

शैली में इसी कोटि का आनन्द मिलता है। कालिदास की शैली में कोकिल की काकली है, पर माघ 'प' को छोड़ कर 'ध' पर बढ़ गये मालूम देते हैं। उसका संगीत पंचम की कोमलता की अपेक्षा धैवत की गंभीर धीरता को व्यक्त करता है। कृष्ण के मागधों की भाँति माघ की रागिनी भी 'पंचम' का 'पीडन' (परित्याग) करती जान पड़ती है।[1]

माघ के पदविन्यास में गौड़ी की विकटबन्धता होते हुए भी एक आकर्षण है। माघ के पश्चाद्भावी कई कवि उनकी वर्ण्य शैली एवं पदविन्यास से प्रभावित हुए हैं। रत्नाकर का 'हरविजय'[2] तथा हरिचन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय[3] माघ की शैली ही नहीं, भावों एवं कल्पनाओं के ऋणी हैं। ये दोनों माघ से पिछले खेवे के प्रसिद्ध महाकाव्यों में गिने जाते हैं।[4] इन

---

१. संकेत—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः परिणतिमितिरात्रेर्मागधा माधवाय ॥
(११. १)

२. तुलना की दृष्टि से रत्नाकर की शैली देखिये—

कण्ठश्रियं कुवलयस्तबकाभिरामदामानुकारिविकटच्छविकालकूटाम् ।
बिभ्रत्सुखानि दिशतामुपहारपीतधूपोत्थधूममलिनामिव धूर्जटिर्वः ॥
(हरविजय, १. १)

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिंबविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुषावतारबद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥
(वही. १९. १)

३. हरिचन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय की शैली देखिये—

अवाप्य सर्पाधिपमौलिमैत्रीं छत्रद्युतिं तन्वति यत्र वृत्ते ।
धत्ते समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभां काञ्चन काञ्चनाद्रिः ॥ (१. ३६)

४. माघ की शैली में एक क्षणिक नशा है, जो नये अभ्यासशील व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। रत्नाकर ने यह दावा किया था कि उसके काव्य को पढ़ने पर अकवि शिशु भी कवि हो सकता है, और कवि तो महाकवि बन सकता है

काव्यों के अतिरिक्त नेमिचरित, चन्द्रप्रभचरित जैसे अनेक जैन काव्यों में माघ का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में कालिदास के बाद दूसरा सशक्त व्यक्तित्व माघ का है। कालिदास का काव्य शेक्सपियर की भाँति भावप्रधान है, माघ का काव्य मिल्टन की भाँति अत्यधिक अलंकृत है। शैली के शब्दों में, जो उसने मिल्टन के लिए प्रयुक्त किये हैं, माघ को हम अलंकृत शब्दों का उद्भावक (Creator of ornate members) कह सकते हैं।

(अपि शिशुरकविः कविः प्रसादाद्भवति कविश्च महाकविः क्रमेण)। जहाँ तक कलावादी कवितापद्धति का प्रश्न है, निःसन्देह माघ उस ढर्रे की कविता बनाने के अभ्यास को देने में रत्नाकर से कम सफल नहीं है। आज से लगभग ७-८ वर्ष पूर्व माघ की शैली का नशा इन पङ्क्तियों के लेखक पर भी छा गया था और एक महाकाव्य लिखने की योजना की गई थी, किन्तु चार सर्ग लिखने के बाद सौन्दर्य-शास्त्रीय विचारों के परिवर्तन के कारण उसे छोड़ देना पड़ा। पाठकों के मनोरञ्जन के लिए यहाँ तीन चार पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

काश्मीरजामृगमदोल्लसितं शरीरं नीत्वाऽमरं धनपतेर्गृहिणी सुवेरम।
हित्वा कुबेरमनुरञ्जयति स्म नूनं सौन्दर्यवर्यमृगयाभिरता रमण्यः॥ (१. १५)
दिग्दक्षिणा यमकलत्रमिवात्र हृद्यसान्द्रानुलिप्तमलयागुरुशोभि शुम्भम्।
मत्तेभकुम्भयुगमादधती सलीलं रोमाञ्चिचन्दनलतातनुरालिलिङ्ग॥ (१. १६)
गम्भीरधीरनिनदध्वनिताम्बुदानामालोक्य मेवकमयीं ततिमम्बुवर्षे।
अद्यापि तद्गजघटापटलस्य शेते भीत्या स्मरन् हरिरहोऽतलमन्दुरायाम्॥ (१. २०)
रम्भापि तद्भवननिष्कुटमेत्य सद्यो रोमाञ्चिताऽत्र कुचसूनगुलुच्छकम्पैः।
किम्पाणिपल्लवविलासभरैरिभस्य वामुष्य नो दितिसुतस्य जहार चेतः॥ (१. ३८)
('शुम्भवधम्' से)

महाकवि श्रीहर्ष

संस्कृत महाकाव्यों में माघ ह्रासोन्मुख काल के काव्यों के पथप्रदर्शक रहे हैं। माघ में हमने अश्वघोष और कालिदास की काव्यपरम्परा से विच्छेद देखा था, और माघोत्तर काल के महाकाव्यों में यह विच्छेद अधिक से अधिक बढ़ता गया। माघ की कृत्रिम आलंकारिक शैली की ओर बाद के महाकाव्य जितने आकृष्ट हुए, उतने उनकी काव्यशक्ति की ओर नहीं। महाकाव्य शाब्दिक चमत्कार, विविध छन्दःप्रयोग, आलंकारिक ज्ञान के प्रदर्शन और पाण्डित्यप्रकाशन के क्षेत्र समझे जाने लगे। माघोत्तर काल के महाकाव्यों में हम दो तरह के काव्य देखते हैं, एक कोटि के काव्य आमूलचूल चित्रकाव्य हैं, जिनमें नलोदय, युधिष्ठिरविजय आदि यमककाव्यों को, तथा 'राघवपाण्डवीय,' 'राघवनैषधीय' जैसे श्लेष-काव्यों को लिया जा सकता है। इन चित्रकाव्यों में कविराज के 'राघवपाण्डवीय' ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। दूसरी कोटि के काव्यों में चरित काव्यों का समावेश किया जा सकता है। यद्यपि चरितकाव्यों के अतिरिक्त अन्य काव्य भी लिखे जा रहे थे, और कई चरित काव्य, राजाओं से संबद्ध न होकर (जैसे मङ्ख का श्रीकण्ठचरित) पौराणिक इतिवृत्तों से संबद्ध थे, तथापि इस काल में कवियों का ध्यान अपने आश्रयदाता और उसके वंश पर महाकाव्य लिखने की ओर भी जाने लगा था। संभवतः इस कोटि का प्रथम काव्य वाक्पतिराज का 'गउडबहो' माना जा सकता है। माघ के बाद लिखे गये चरितकाव्यों में विह्लण का विक्रमाङ्कदेवचरित, तथा पद्मगुप्त का नवसाहसाङ्कचरित प्रसिद्ध हैं। श्रीहर्ष के ही समय के आसपास जयानक ने 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य लिखा था। चरित काव्यों की परम्परा संस्कृत में १६-१७ वीं शती तक चलती

रही है। माघोत्तर काल के इन महाकाव्यों में पाण्डित्य प्रदर्शन, कल्पना की उड़ान और शृङ्गार के विलासपूर्ण चित्रण के कारण जो काव्य अत्यधिक प्रसिद्ध हो सका, वह है—श्रीहर्ष का नैषधीयचरित।

श्रीहर्ष के समय में उत्तरी भारत कई राज्यों में बँटा हुआ था। इन राज्यों में प्रमुख शक्तियाँ अजमेर व दिल्ली के चौहान, कन्नौज (या काशी) के गहडवाल या राठौड़, बुन्देलखण्ड के परमार, और बंगाल के सेन थे। ये परस्पर लड़ा करते थे। श्रीहर्ष के आश्रयदाता जयचन्द्र का दिल्ली के पृथ्वीराज, तथा बुन्देलखण्ड (कालिंजर) के परमारों से वैमनस्य था। ये एक दूसरे के राज्य को हड़पने की चेष्टा में थे। इधर मुसलमानों के आक्रमण होते जा रहे थे और इसी काल में दिल्ली, कन्नौज, तथा बंगाल को मुसलमानों ने जीत कर भारत में इस्लामी साम्राज्य की नींव डाली थी। राजाओं का परस्पर वैमनस्य और विलासिता ही उनके अधःपतन का कारण बनी थी। वे वीर थे, किन्तु विलासिता ने उनकी वीरता को क्षुण्ण बना दिया था। जयचन्द्र (जयन्तचन्द्र) के पितामह गोविन्दचन्द्र के अन्तःपुर में ५७० रानियाँ थी। बंगाल के सेन भी अत्यधिक विलासी थे, इसका संकेत हम जयदेव के परिशीलन पर लिखते समय करेंगे। पृथ्वीराज वीर होते हुए भी कम विलासी न थे, और यदि चन्द के पृथ्वीराजरासो की सभी कथाओं में कुछ भी सत्यता हो, तो ऐसा कहा जा सकता है कि उनके कई रानियाँ थी। राजा ही नहीं, सामन्तों तथा सभासदों का, सभापण्डितों और कवियों का—समस्त अभिजातवर्ग का—जीवन इतना विलासी हो गया था, कि वह समाज के भावी अधःपतन का साक्षात् कारण माना जा सकता है। श्रीहर्ष का नैषधीय उस काल के विलासी वातावरण के चित्रण में माघ से भी अधिक बढ़ा चढ़ा दिखाई देता है। नैषधीयचरित का समाज हिन्दुओं की गिरती हुई दशा का चित्र देने में सहायक सिद्ध होता है।

श्रीहर्ष की तिथि और व्यक्तित्व

श्रीहर्ष की तिथि के विषय में हम अन्धकार में नहीं हैं। श्रीहर्ष ने स्वयं यह बताया है कि वे कान्यकुब्जेश्वर के सभापण्डित थे, और इन्हें सभा में दो बीड़े पान के दिये जाने का सम्मान प्राप्त था।[1] नैषधचरित की भूमिका में महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त जी दाधिमथ ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है, कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र तथा उनके पुत्र जयन्तचन्द्र के सभापण्डित थे। ये जयन्तचन्द्र ही इतिहास में जयचन्द के नाम से विख्यात हैं, जिनकी पुत्री संयोगिता का अपहरण महाराज पृथ्वीराज ने किया था। श्रीहर्ष के समय इनकी राजधानी कन्नौज न होकर काशी थी, यद्यपि ये कन्नौज के ही राजा कहलाते थे। विजयचन्द्र तथा जयन्तचन्द्र का राज्यकाल ११५६ ई० से लेकर ११९३ ई० तक माना जाता है। अतः निश्चित है कि श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

श्रीहर्ष ने काव्य में अपने वैयक्तिक परिचय के विषय में लिखा है। ये 'हीर' तथा 'मामल्लदेवी' के पुत्र थे।[2] किंवदन्तियों के अनुसार न्याय-कुसुमांजलि के प्रसिद्ध लेखक नैयायिक उदयनाचार्य के साथ इनके पिता श्रीहीर का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें वे परास्त हो गये। इस पराजय से लज्जित होकर हीर ने अपना देह छोड़ दिया और मरते समय पुत्र से यह कहा कि वह उसके शत्रु को शास्त्रार्थ में हरा कर बदला ले। श्रीहर्ष ने पण्डितों से शास्त्रों का अध्ययन किया और त्रिपुरसुन्दरी की आराधना के

---

१. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् ॥ (२२. १५३)

२. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतम् ।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ॥ (१. १४५)

लिए 'चिन्तामणि' मंत्र का एक वर्ष तक जप किया।[1] देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें अपराजेय पाण्डित्य प्रदान किया। श्रीहर्ष वर प्राप्त कर विजयचन्द्र की सभा में गये, पर उनकी वाक्शैली को कोई भी न समझ पाया। फलतः निराश होकर उन्होंने पुनः देवी की आराधना की। देवी ने प्रसन्न होकर कहा 'अच्छा रात को सिर गीला कर दही पी लेना, कफ के गिरने के साथ तुम्हारा पाण्डित्य कम हो जायगा।' श्रीहर्ष ने ऐसा ही किया। इसके बाद श्रीहर्ष विजयचन्द्र की सभा में गये, और वहाँ उन्होंने निम्न पद्य में राजा की स्तुति की—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च मास्मिन् नृपे कुरुत काममियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीरस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥

तरुणियाँ राजा विजयचन्द्र को केवल इसीलिये कामदेव न समझ लें, कि यह गोविन्द का पुत्र है (कामदेव भी प्रद्युम्नरूप में गोविंद (कृष्ण) के

---

१. नैषधीयचरित के चतुर्दश सर्ग में श्रीहर्ष ने इस 'चिन्तामणि' मन्त्र का संकेत किया है। सम्भवतः इसी के आधार पर इस किंवदन्ती की रचना की गई हो। नैषध के चतुर्दश सर्ग के ८८, ८९, तथा ९० पद्य में सरस्वती के मुँह से श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मन्त्र की अद्भुत शक्ति का परिचय दिलाया है। ८८ वें पद्य की टीका में नारायण ने इस मन्त्र को ढूंढना भी चाहा है, जिसका स्वरूप गुप्तरूप से इस पद्य में दिया गया माना जाता है। नारायण ने इसे 'ह्रीं' या 'क्लीं' दोनों में से कोई एक माना है। मन्त्र की अद्भुत शक्ति का संकेत ९० पद्य में स्वयं सरस्वती के मुँह से यों दिलाया गया है:—'साल भर इस मन्त्र का जप करने वाला जिस किसी के सिर पर हाथ रख दे, वह भी एकदम कवि बन जाता है और रमणीय पद्यों की रचना करने लगता है।'

तत्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते।
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान्कौतुकं दृश्यमस्याः॥ (१४.९०)

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि इस तरह की किंवदन्ती का बीज स्वयं नैषध में ही है।

पुत्र हैं), और शरीर से (कामदेव जैसे) सुन्दर है। कामदेव में और इस राजा में एक तात्त्विक भेद है। कामदेव तो संसार को जीतने के लिये स्त्रियों को अस्त्र बनाता है, और यह राजा युद्ध में लड़ने आये हुए अस्त्रधारी शत्रु-वीरों को पराजित कर (या भगा कर) स्त्री के समान पुरुषत्वरहित बना देता है।

इसके बाद श्रीहर्ष ने अपने पिता के शत्रु उस पण्डित को देख कर भी एक पद्य पढ़ा, जिसका भाव यह था कि श्रीहर्ष की सुकुमार साहित्य तथा दृढ न्यायबन्ध से जटिल तर्क में एक-सी क्षमता है,[1] वे किसी भी क्षेत्र में उसे परास्त कर सकते हैं। श्रीहर्ष के पाण्डित्य से झेंप कर वह पण्डित भी उनकी स्तुति करने लग गया, और राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें अपना सभापण्डित बना लिया।

सुना जाता है कि राजा के कहने पर कवि श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित की रचना की। काव्य की परीक्षा के लिए श्रीहर्ष को काश्मीर जाना पड़ा, जहाँ स्वयं देवी शारदा ने पहले तो इसलिए रुष्ट होकर काव्य को फेंक दिया कि लोक में कुमारी के रूप में प्रसिद्ध सरस्वती को श्रीहर्ष ने विष्णु की पत्नी घोषित किया था,[2] पर बाद में प्रसन्न होकर काव्य को स्वीकार कर लिया। यह भी किंवदंती है कि प्रसिद्ध आलंकारिक मम्मट श्रीहर्ष के मामा थे। श्रीहर्ष ने काश्मीर यात्रा के समय यह ग्रन्थ उन्हें भी बताया था, और मम्मट ने काव्य को देखकर कहा कि यदि यह ग्रंथ पहले मिलता, तो काव्यप्रकाश

---

१. साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

२. इस पद्य को आगे पदलालित्य के उदाहरण रूप में देखिये।

के दोषप्रकरण के लिए लक्ष्य (उदाहरण) ढूंढने की दौड़धूप न करनी पड़ती । इस किंवदन्ती में तात्त्विक आधार यह जान पड़ता है कि पाण्डित्य, पदलालित्य, कल्पना की अनूठी सूझ के होते हुए भी नैषध में कई दोष हैं। इनमें से पुनरुक्ति (दमयन्ती के नखशिख का बार बार वर्णन), छन्दोभंग, च्युतसंस्कृति आदि अनेक दोष देखे जा सकते हैं। नैषध के दोषों में पण्डित-मण्डली में निम्न पद्य विशेष प्रसिद्ध है, जहाँ हंस को दमयंती के पास भेजते समय नल की उक्ति में ऐसे पदों का प्रयोग है, जिनके पदच्छेद में थोड़ा हेर फेर करने पर ही अमंगलाश्लील की व्यंजना होती है ।

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥ (२.६२)

'हे हंस ! तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो । हमारा समागम शीघ्र ही हो । जाओ, हमारी इच्छा को पूर्ण करो । दमयन्ती से मिलते समय हमारी याद रखना ।'

इसी का दूसरा अर्थ यह होगा—'हे हंस ! तुम्हारे मार्ग का कल्याण हट जाय (तव शिवं वर्त्म निवर्तताम्), तुम फिर लौटकर न आओ (स त्वं मा आगमः) हे रोगग्रस्त हंस ! हमारी इच्छा को पूरा न करना (हे साधे! ईप्सितं असाधय); और हमें हमारे बाद याद करते रहना (वयं समये स्मरणीयाः)।'

नैषधीयचरित एवं अन्य कृतियाँ

नैषध के प्रत्येक सर्ग के अंतिम पद्य में कवि ने अपनी अन्य रचनाओं का संकेत किया है। इनमें स्थैर्यविचारप्रकरण, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति, नवसाहसांकचरितचम्पू, शिवशक्तिसिद्धि और खण्डनखण्डखाद्य प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओं में केवल अंतिम रचना ही उपलब्ध है, जिसमें श्रीहर्ष ने नैयायिक तर्कशैली के द्वारा न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन कर

अद्वैत वेदान्त की स्थापना की है। शंकरोत्तर वेदान्त के ग्रन्थों में खण्डन-खण्डखाद्य का अत्यधिक आदर है। कहने को तो यह ग्रन्थ 'मिश्री का खाद्य' है, पर दर्शन, विशेपतः दर्शन की नैयायिक शैली, को न जानने वाले लोगों के लिये ये मिश्री के टुकड़े बड़े मँहगे हैं, जो अनभ्यस्त खाने वाले के दाँत भी तोड़ सकते हैं। श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्त के अपूर्व पण्डित हैं, उन्हे सच्चे शब्दों में दार्शनिक कहना तो ठीक न होगा। अद्वैत वेदान्त ही नहीं न्याय, मीमांसा, आदि आस्तिक दर्शन चार्वाक, और बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शन, व्याकरण आदि सभी शास्त्रों का प्रगाढ पाण्डित्य उनके काव्य में स्पष्टतः परिलक्षित होता है, तथा इनके आवश्यक ज्ञान के बिना श्रीहर्ष के काव्य का चमत्कार बुद्धि की पकड़ में आना मुश्किल है। जैसा कि हम आगे बतायँगे, श्रीहर्ष के काव्य के कई अप्रस्तुतविधान इसी विशाल शास्त्रीय ज्ञान से लिए गए हैं, जिनकी कल्पना उनके मूल स्रोत को जाने बिना समझ में नहीं आ सकती। इस दार्शनिक ज्ञान के अतिरिक्त श्रीहर्ष में कामशास्त्र का भी प्रगाढ पांडित्य है और इस दृष्टि से वे भारवि और माघ को भी पीछे छोड़ देते हैं।

नैषधीयचरित २२ सर्ग का बहुत बड़ा काव्य है, जिसके प्रत्येक सर्ग में सौ से ऊपर पद्य हैं। १३ वें और १९ वें सर्ग को छोड़ कर, जिनमें केवल ५५ तथा ६६ पद्य हैं, बाकी सभी सर्ग बड़े हैं, कई में तो १५० पद्यों के लगभग हैं। महाकाव्य के इस विशाल आलवाल को देखते हुए श्रीहर्ष ने नलचरित से सम्बद्ध जितनी-सी कथा ली है, वह छोटी है। दमयन्ती तथा नल के प्रेम को लेकर उनके विवाह और विवाहोपरान्त क्रीड़ाओं आदि का वर्णन कर काव्य को समाप्त कर दिया गया है। प्रथम सर्ग में नल का वनविहार वर्णित है। दूसरे सर्ग में हँस के द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन तथा नल के कहने पर कुण्डिनपुरी जाने का उल्लेख है। तीसरे सर्ग में हंस दमयन्ती के पास जाकर उसे नल के प्रति अनुरक्त बना देता है। चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती

कर देने का था। पर महाभारत की कथा को नैषध ने तत्कालीन लोक साहित्य की प्रणय गाथाओं से मिश्रित कर दिया जान पड़ता है। श्रीहर्ष के काल में अपभ्रंश, तथा देशभाषा के काव्यों में कई लोक कथाओं की प्रणय गाथाएँ स्थान पा रही थीं। नलदमयन्ती की कथा पौराणिक होते हुए भी लोककथा के रूप में भी प्रचलित थी। श्रीहर्ष को इन दोनों स्रोतों से प्रेरणा मिली ही होगी। यद्यपि श्रीहर्ष जैसे प्रकाण्ड पण्डित में, जिनका समाज अत्यधिक संकुचित था, लोक-साहित्य का प्रभाव ढूँढ़ना कुछ लोगों को जबर्दस्ती लगे, तथापि हमने श्रीहर्ष में ही सर्वप्रथम कुछ ऐसे भावों को देखा है, जो लोक साहित्य से लिये जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्न पद्य ले लें:—

न काकुवाक्यैरतिवाममंगजं द्विषत्सु याचे पवनं तु दक्षिणम्।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधिः॥ (९.९३)

इन्द्रादि के संदेश को सुन कर दुखी दमयन्ती कामदेव को उपालम्भ दे चुकने के बाद कह रही है। मुझे विरही के शत्रु चन्द्रादि के प्रति काकुवाक्यों का प्रयोग कर शत्रुभूत (वाम) कामदेव की याचना नहीं करनी चाहिए। यदि मुझे किसी से कुछ माँगना है, तो मैं उदारहृदय (दक्षिण) पवन से ही याचना क्यों न करूं? यह दक्षिण दिशा से बहने वाला पवन मेरे जल जाने के बाद मेरी भस्म को उसी ओर उड़ा दे, जिस दिशा में मेरा प्रिय है। यदि कोई यह शंका करे कि दक्षिण पवन भी तो तेरा शत्रु है, वह तेरी याचना स्वीकार क्यों करेगा, तो शत्रुता केवल मरने तक ही रहती है, शत्रु के मर जाने पर शत्रुता का भी अन्त हो जाता है। अतः पवन मेरा शत्रु होने पर भी आखिर उदारहृदय है, इसलिए मेरे मर जाने पर वैर भूल कर मेरी याचना को पूरी कर देगा।

इसी तरह का भाव हमें जायसी के पद्मावत में मिलता है, जहां नागमती पवन से ठीक ऐसी ही प्रार्थना करती है:—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उडाय।
मकु तेहि मारग उडि परै, कंत धरै जेहि पाय॥ (नागमती विरहवर्णन)

ऐसा प्रतीत होता है, यह भाव लोकगीतों से लिया गया है। श्रीहर्ष ने इसे इसी परम्परा से पाया होगा, और जायसी को भी यह भाव अपने काल की लोकगीत परम्परा से प्राप्त हुआ है। जायसी को श्रीहर्ष का ऋणी मानने की भूल में फँसना भ्रांति होगी। दोनों का मूलस्रोत एक ही है।

श्रीहर्ष कालिदास तथा माघ से पूर्णतः प्रभावित हैं। नैषध के ११,१२, १३ तथा १४ वें सर्ग का स्वयंवर वर्णन रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर वर्णन प्रभाव है। रघुवंश के स्वयंवर में इतना दूर की उडान नहीं है, जितनी नैषध में, जहां नाग, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, देवता सभी सम्मिलित होते हैं। रघुवंश के स्वयंवर वर्णन का प्रभाव फिर भी कई स्थानों पर स्पष्ट है। रघुवंश में पाण्ड्य को काले रंग का बताया गया है,[1] नैषध में भी पाण्ड्य देश का राजा काले ही रंग का वर्णित है।[2] इतना होते हुए भी रघुवंश का स्वयंवर कथाप्रवाह को गति देता है, वह कथा का एक अंग-सा है, जब कि नैषध का वर्णन मुक्तक राज-स्तुतिपाठों का रूप लेकर आता है। मेरा अनुमान है, श्रीहर्ष ने राजा की स्तुति में समय समय पद्य लिखे होंगे, और अनेक समय उन्हें सभा में सुनाया होगा। ऐसे ही कई पद्य १२ वें सर्ग में जोड़ दिये गये हैं। १२ वें सर्ग के शार्दूलविक्रीडित छन्दों के विषय में मेरी यही धारणा है। स्वयंवर का इतना अधिक विस्तार से वर्णन कथाप्रवाह को बिलकुल रोक देता है। कालिदास का दूसरा प्रभाव १५ वें सर्ग के दमयन्ती शृङ्गारवर्णन में

---

१. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु॥ (रघु० ६.६५)

२. शशंस दासींगितविद् विदर्भजामितो ननु स्वामिनि पश्य कौतुकम्।
यदेष सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः॥ (नै० १२.२१)

है, जहां विवाह के पूर्व वधू को सजाया जा रहा है। इस पर कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग का प्रभाव है। नैषध का अष्टादश सर्ग स्पष्टतः कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग से प्रभावित है। यहां पर यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि कालिदास तथा श्रीहर्ष के अतिरिक्त केवल एक ही संस्कृत कवि ऐसा है, जिसने इस तरह वरवधू के प्रथम समागम का वर्णन किया है–वह है, कुमारदास। कुमारदास ने जानकी हरण के अष्टम सर्ग में उसी पद्धति का आश्रय लिया है, जो कुमारसंभवके अष्टम सर्ग में पाई जाती है। खाली वर्णन ही नहीं, श्रीहर्ष ने इस सर्ग में कालिदास के रथोद्धता छन्द को भी चुना है। दोनों का आरंभ भी एक-सा है। कालिदास के कुमारसंभव का एक और प्रभाव नैषध में ढूँढा जा सकता है। कुमार के पञ्चम सर्ग का शिवपार्वती-संवाद तथा नैषध के नवम सर्ग का दमयन्तीनल-संवाद तुलना के लिए लिया जा सकता है। दोनों में शिव और नल अपने को छिपा कर आते हैं, बाद में प्रकट होते हैं। पर कालिदास का सरस कवि ऐसे स्थलों पर भावोद्रेक की व्यञ्जना कराता है, तो श्रीहर्ष का नल प्रिया को रोती देख कर भी पाण्डित्य के बोझ से दबा रहता है, उसमें हृदय की मार्मिक तीव्रता नहीं मिलती, उसे रोती हुई दमयन्ती ऐसी दिखाई देती है, जैसे वह आंसू की बूंदों को गिरा कर 'संसार' को 'ससार' बनाती हुई बिन्दुच्युतक काव्य (प्रहेलिकाकाव्य) की रचना कर रही हो।[1] कालिदास की पार्वती बहुत कम बोलती है, और ब्रह्मचारी की दलीलों का जवाब देने में उसके पास खास उत्तर यही है—'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते,' पर वह दमयन्ती की तरह रोती चिल्लाती नहीं। कुमारसंभव के ब्रह्मचारी की दलीलें पार्वती के दिल को छूने के लिए कही गई हैं, पर नैषध का नल साथ में अपना पाण्डित्य भी प्रदर्शन

---

१. चकास्ति विन्दुच्युतकातिचातुरी घनास्त्रविन्दुस्रुतिकैतवात्तव।
मसारताराक्षि ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः॥ (९.१०४)

करता जाता है। कालिदास के कई भावों के प्रति भी श्रीहर्ष ऋणी हैं।[1]

कालिदास के बाद दूसरा प्रभाव जो नैपध में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है, माघ का है। प्रथम सर्ग का घोड़े का वर्णन माघ के सेनाप्रयाण वर्णन से प्रभावित होते हुए भी दो कौड़ी का वर्णन है। यद्यपि कोरे चमत्कारवादियों को उसमें कल्पना की उड़ान, हेतूत्प्रेक्षा की दूर की सूझ, और श्रीहर्ष का प्रगाढ पाण्डित्य झलकता दिखाई पड़े, तथापि माघ जैसा स्वभावोक्तिपूर्ण वर्णन वहाँ ढूँढने पर भी न मिलेगा। श्रीहर्ष के सूर्योदय (१९ सर्ग) तथा सूर्यास्त (२२ सर्ग) के वर्णनों में माघ से प्रेरणा मिली होगी, पर फिर भी इनका ढंग कुछ दूसरा जान पड़ता है। नैषध के ये वर्णन पाण्डित्य के बोझ से बहुत लदे हैं, जैसा कि हम आगे श्रीहर्ष के प्रकृतिवर्णन के विषय में संकेत करेंगे। एक और प्रभाव २१ वें सर्ग के दशावतार वर्णन में दिखाई पड़ता है, जिसकी प्रेरणा माघ के चतुर्दश सर्ग की भीष्मकृत कृष्णस्तुति से मिली जान पड़ती है। माघ और श्रीहर्ष की तुलना में हम आगे बतायँगे कि माघ के अंतस् में फिर भी कविहृदय छिपा है, पर श्रीहर्ष की काव्योक्तियों को 'सूक्तियाँ' कहना विशेष ठीक होगा।

श्रीहर्ष के समय महाकाव्यों में एक ओर चरित काव्य, दूसरी ओर चित्रकाव्य का बहुत चलन हो चला था। नैपध को यद्यपि चरितकाव्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसके नाम तथा वर्णनशैली से पता चलता है कि नैपध में चरितकाव्य परम्परा का पूरा प्रभाव है। विक्रमांकदेवचरित तथा नवसाहसांकचरित में भी हम नायक की प्रणयगाथाओं का चित्रण पाते हैं। इसके साथ ही ११, १२, १३ वें सर्ग की राजस्तुतियाँ भी चरितकाव्यपरम्परा का ही प्रभाव है। संभवतः श्रीहर्ष का दर्पोन्मत्त पाण्डित्य उनके आश्रयदाता

---

१. दे०-'ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन' (रघु० २.७२)
मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन रथस्तदीयः पुरमाससाद ॥ (नै० ६.४)

पर काव्य लिखने में उनका बाधक बना हो, फिर भी उन्होंने गौडोर्वीश-कुलप्रशस्ति, नवसाहसांकचरितचम्पू जैसे चरितकाव्य भी लिखे थे। यह अनुमान भी अनुचित न होगा कि नैषध की रचना में पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रणय, और संयोगिता-स्वयंवर की घटना से कवि प्रभावित हुआ हो, और उसने नलदमयन्ती की प्रणय-गाथा के बहाने उसी का चित्रण किया हो। श्रीहर्ष पर स्पष्ट रूप में कविराज के 'राघवपाण्डवीय' का भी प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। वैसे तो श्रीहर्ष 'परीरम्भक्रीड़ा' (श्लेष) के बड़े शौकीन हैं, और काव्य में स्थान स्थान पर शाब्दी क्रीड़ा पाई जाती है; किन्तु १३ वें सर्ग की पञ्चनली का श्लिष्टवर्णन निश्चित रूप में किसी श्लिष्ट महाकाव्य का प्रभाव है। श्रीहर्ष का एक मात्र लक्ष्य कवियों और पण्डितों के समक्ष एक ऐसी कृति रखना है, जिसमें उस काल में प्रचलित महाकाव्य परम्परा के सभी गुण (? दोष) समाविष्ट हो जायँ, और इस कार्य में वे अन्य सभी महाकाव्यों को परास्त कर दें। श्रीहर्ष अपने इस लक्ष्य में पूर्णतः सफल हुए हैं। श्रीहर्ष का महाकाव्य माघोत्तर काल के सूक्तिवादी महाकाव्यों में मूर्धन्य है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। किन्तु श्रीहर्ष को कालिदास, भारवि या माघ की श्रेणी में बिठा देना, संभवतः कुछ नवीन आलोचकों को अखर सकता है।

श्रीहर्ष का दार्शनिक

श्रीहर्ष का कवित्व उद्भट पाण्डित्य का घटाटोप लेकर आता है। उनमें मुख्यतः दार्शनिक का पाण्डित्य है, माघ की भाँति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पाण्डित्य नहीं। पर दार्शनिक ज्ञान में श्रीहर्ष माघ से बहुत बढ़ चढ़ कर हैं। चार्वाक[1] बौद्ध[2], न्याय[3], वैशेषिक[4], सांख्य-योग[5], मीमांसा[6] तथा अद्वैत वेदान्त[7]

---

१. १७. ३७-४८; २. ९. ७१, ३. ३. ३२, ४. १८, १६. २४. ४. २२. ३५. ५. २. ७८ ६. ५. १३५. ७. २. १, ११. १२९, १३. ३६ आदि।

का प्रकाण्ड पाण्डित्य नैषध से व्यक्त होता है। कवि ने अपनी सूक्तियों में कई अप्रस्तुतविधान तक इस विशाल ज्ञान के क्षेत्र से चुने हैं। प्रत्येक सर्ग में ऐसे अनेकों पद्य मिल जायँगे, जो कवि के दार्शनिक पाण्डित्य का परिचय देते हैं। पर नैषध का सप्तदश सर्ग, जो नल की इस प्रणय गाथा में कुछ अटपटे ढंग से जोड़ा हुआ लगता है, कवि के दार्शनिक रूप को स्पष्ट रखता है। इस सर्ग में विभिन्न दर्शनों का ज्ञान प्रदर्शित हुआ है। दर्शन के अतिरिक्त पुराणों की विशाल जानकारी भी यहाँ दिखाई पड़ती है।

श्रीहर्ष स्वयं अद्वैतवेदान्ती हैं, यही कारण है, वे अन्य दर्शनों की कई जगह खिल्ली उड़ाते हैं। वैशेषिकों के द्वारा 'तम' नामक दसवें द्रव्य के माने जाने पर वे उन्हें उल्लू कहते हैं,तो बेचारे गोतम को सबसे बड़ा मूर्ख (गो-तम, बैल) सिद्ध कर देते हैं, क्योंकि उन्होंने न्याय दर्शन में मोक्ष की स्थिति को सुखदुःखरहित दशा माना है, जो केवल पत्थर जैसी स्थिति मानी जा सकती है।[1] पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त नास्तिक (चार्वाक) दर्शन का भी कवि को गम्भीर ज्ञान है। कलि के साथियों की दलीलें बड़ी मजेदार हैं, और ठीक वही हैं, जो प्रत्येक तर्कशील व्यक्ति पौराणिकों के सामने उपस्थित किया करता है। कलि के साथी वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था का डट कर खण्डन करते हैं। वे साफ कहते हैं, अनेकों पीढ़ियों से लोगों का एक दूसरी जाति से संसर्ग होता रहा है। किसी व्यक्ति को किसी जाति का तब माना जा सकता है, जब वह यह प्रमाणित कर सके कि सृष्टि के आरम्भ तक उसके पिता-माता और उनके पिता-माता, इस तरह सभी शुद्ध सन्तान रहे हैं, वर्णसंकर नहीं।[2] यही नहीं, वे यहां तक कहते हैं कि स्त्री का विश्वास करना बड़ा कठिन

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ (१७.७५)

२. शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः।
तदानन्त्यकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का॥ (१७. ४०)

है, पता नहीं, वह कब मार्गभ्रष्ट हो जाय, अतः जाति को अदुष्ट मानना कोरा ढोंग जान पड़ता है। वे पुरुषों की निन्दा करते हुए उस पद्धति का भी खण्डन करते हैं, जिसके द्वारा पुरुषों ने अनेकों विवाह करने का स्वाधिकार सुरक्षित रखा है, किन्तु स्त्रियों को इस तरह के अधिकारों से वञ्चित कर दिया है।[1] कलि के साथी अग्निहोत्र, त्रिदण्ड, वेदत्रयी, भस्म आदि की छीछालेदर करते हैं, और यज्ञादि में प्रचलित कई गर्हित प्रथाओं की कटु आलोचना करते हैं।[2] देहात्मवाद की प्रतिष्ठापना करते हुए वे 'कामदेव की आज्ञा' के पालन करने का सन्देश देते हैं, और प्रमाण रूप में पाणिनि महाराज को भी उपस्थित किये बिना नहीं मानते, जिन्होंने 'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र के द्वारा (नास्तिकों के मत से) यह व्यञ्जना कराई है, कि मोक्ष-साधन तो केवल तृतीया प्रकृति (स्त्रीपुरुषभिन्न नपुंसक) के लिए माना गया है।[3]

पर 'समाधि में ब्रह्मप्रमोद' का अनुभव करने वाले अद्वैतवादी पण्डित को सभी दार्शनिक विचार झूठे लगते हैं। हर्ष की बुद्धि भी दमयन्ती की तरह 'उपनिषदुपमा' है, जो पञ्चमहाभूत, दिक्, काल आदि के समान अनेकों तुच्छ देवताओं, राजाओं आदि को छोड़कर केवल नल के मनोवागगोचर 'पुरुष' (ब्रह्म) की ओर ही अग्रसर होती है।[4] श्रीहर्ष अन्य सभी

---

१. ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः॥ (१७. ४२)

२. दे० १७. ३९, ४६, २०३, २०४.

३. उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ (१७. ७०)

४. सानन्तानाप्यतेजः सखनिखिलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाजः
स्त्रित्तेनाशाजुषस्तान् सममसमगुणान्मुंचती गूढभावा।
पारेवाग्वर्तिरूपं पुरुषमनुचिदम्भोधिमेकं शुभांगी
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः॥ (११. ११९)

दार्शनिक विकल्पों को भ्रम या अज्ञान का क्षेत्र समझते हैं। पारमार्थिक ज्ञान को वे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मानते हैं। साधारण लौकिक व्यक्तियों को वे भ्रान्त दिशा का आश्रय लेता समझते हैं, जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त अद्वैत ब्रह्मतत्त्व के होते हुए भी अन्य तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हैं। दमयन्ती अपने सामने पाँच नलों को देख रही है। उनमें चार नल नकली हैं, पाँचवा असली। दमयन्ती उन्हें देखकर किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाती। वह असली नल को नहीं पहचान पाती है। आरम्भ के चार नकली नल उन चतुष्कोटिगत प्रतिभासिक तत्त्वों की तरह हैं, जो पञ्चमकोटि में स्थित (चतुष्कोटिविनिर्मुक्त) नल (ब्रह्म) तक दमयन्ती को ठीक उसी तरह नहीं पहुँचने देते, जैसे संसार में सत्, असत्, सदसत् या सदसद्विलक्षण, इन चार तरह के दार्शनिक मन्तव्य को लेकर चलने वाला जन-सामान्य या भ्रान्त दार्शनिक उस अद्वैत तत्त्व तक नहीं पहुँच पाता।

साक्षं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधौ निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यपरेऽपि लोकः॥ (१३.३६)

श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा

कालिदासोत्तर काल के कवियों का कलावादी दृष्टिकोण दूसरी कोटि का है, इसका संकेत हम कर आये हैं। ये लोग चमत्कारवादी या कलावादी हैं, कालिदास की तरह रसवादी नहीं। यह चमत्कारवाद इतना अधिक बढ़ता गया कि काव्य भी 'सूक्ति'-मात्र रह गया, और कभी कभी तर्कशास्त्र या दर्शन की पंक्तियों की तरह 'ग्रन्थग्रन्थि' से जटिल होने लगा। श्रीहर्ष काव्य को 'ग्रन्थग्रन्थि' प्रदर्शन का साधन मानते हैं। श्रीहर्ष ने अपना काव्य कोरे रसिक सहृदयों के लिए न लिख कर, पण्डितों के लिए लिखा है। वे इस बात की पर्वाह भी नहीं करते कि रसिक सहृदय उनके काव्य को भाव-

पक्ष से शून्य बतायें। उन्होंने तो इन लोगों को अप्रौढबुद्धि वाले बालक कहा है, जिनके हृदय में श्रीहर्ष की रमणीय कविता–कामिनी का लावण्य कोई आनन्द नहीं पैदा कर सकता। पर उन्हें विश्वास है कि उनकी कविता–कामिनी प्रौढ 'सुधी'–युवकों के दिल को (दिल को नहीं, तो कम से कम दिमाग को तो जरूर ही) गुदगुदाने में पूर्णतः सक्षम है। फिर अरसज्ञ मूर्ख बालक उनकी कविता की कद्र न करें, तो उन्हें चिन्ता क्यों?[1] यही कारण है कि श्रीहर्ष की कविता–कामिनी के सौंदर्य की प्रशंसा करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए बालक को पहले युवा होना पड़ेगा, संभवतः कुछ रतिशास्त्र का अध्ययन करना भी श्रीहर्ष जरूरी समझें। नैषध की रमणीयता का आस्वाद उसी व्यक्ति को हो सकता है, जो श्रद्धा के साथ गुरुचरणों में बैठ कर इस ग्रन्थ की उन जटिल गाँठों को ढीली करवाले, जिन्हें कवि ने स्थान स्थान पर काव्य में बड़े प्रयत्न और कुशलता से डाल दिया है। श्रीहर्ष का यह काव्य स्वयं बैठ कर काव्य का आनन्द प्राप्त करने की इच्छा वाले भावुक सहृदय के लिए नहीं। वे ऐसे व्यक्ति को पहले ही चेतावनी दे देते हैं कि अपने आपको विद्वान् समझने वाला (प्राज्ञंमन्यमना) दुष्ट मूर्ख इस काव्य के साथ जबर्दस्ती खिलवाड़ करने की कोशिश न करे, वह इन गाँठों को न सुलझा पायगा, और यदि वह इन्हें सुलझा कर काव्यतरंगों में अवगाहन करने का आनन्द प्राप्त करना चाहता है, तो गुरु के चरणों में बैठ कर इसका अध्ययन करे।[2] सच है, नैषध

---

१. यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः॥
(२२.१५०)

२. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥ (२२.१५२)

काव्य पढ़ कर रसास्वाद प्राप्त करने के बजाय, शास्त्र ग्रन्थों की तरह गुरुमुख से समझने की वस्तु है। संभवतः नैषध की टीकाओं के अभाव में-विशेषतः नारायणी टीका के बिना, काव्य को समझ कर इसकी रसतरंगों में डुबकी लगाने वाले दो चार ही विद्वान् मिल पाते। नारायण ने इन गाँठों को सुलझाकर काव्य को बोधगम्य बना दिया है, पर नारायण की टीका में स्वयं कई ग्रन्थियां डाल दी गई हैं, जो श्रीहर्ष जैसी जटिल न हों, पर उन्हें खोलना जरूरी है, और इस तरह नैषध 'प्राज्ञंमन्यमना पठिती' की दुष्टता का खिलवाड फिर भी नहीं रह पाता। नैषध के यशस्वी पण्डित (कवि) के काव्य संबंधी सिद्धान्त को लेकर चलने पर पता चलता है कि श्रीहर्ष अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुए हैं, चाहे इस उद्देश्यकी पूर्ति के लिए उन्होंने कई स्थानों पर काव्य के भावपक्ष को कुचल दिया हो। यही कारण है, श्रीहर्ष की कविता के विषय में आलोचकों में सदा दो दल बने रहे हैं, कुछ विद्वान् उन्हें भारवि तथा माघ से भी बड़ा मानते हैं,[१] और कुछ उन्हें प्रथम कोटि के कवियों में भी स्थान देना पसन्द नहीं करेंगे।[२] पर श्रीहर्ष के विरोधी भी उनके पाण्डित्य प्रदर्शन, उनकी सूक्तियों और दूर की कौड़ियों, उनकी कविता-दमयन्तिका के ललित पदविन्यास की दाद दिये बिना नहीं रहते।

श्रीहर्ष मूलतः श्रृङ्गार-कला के कवि हैं, भारवि और माघ से भी दो कदम बढ़कर। दर्शनों के ज्ञान की भाँति, वात्स्यायन का भी प्रगाढ अध्ययन करने के बाद कवि काव्यप्रणयन में प्रविष्ट हुआ जान पड़ता है, जिसके प्रमाण अठारहवें तथा बीसवें सर्ग के रतिकेलि वर्णनों के अतिरिक्त कई स्थानों पर

---

१. तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

२. दे०-Keith: History of Sanskirt Literature P. 140. और
Dasgupta: History of Sanskrit Literature P. 330.

अप्रस्तुत रूप में प्रयुक्त विलासी चित्र हैं। दमयन्ती का सप्तम सर्ग का नखशिखवर्णन अत्यधिक विलासमय है, और कई स्थानों पर मर्यादा का उल्लंघन कर देता है। यही नहीं, जहाँ कहीं कवि को मौका मिलता है, वह रतिविशारदता व्यक्त किये बिना नहीं मानता।[1] सोलहवें सर्ग के ज्यौनार वर्णन में वारयात्रिकों के साथ किए गए हँसी-मजाक में कवि आवश्यकता से अधिक अश्लील हो गया है, जो सहृदय पाठकों को खटकता है।[2] ज्यौनार के समय वारयात्रिकों तथा परिवेषिकाओं की कई हरकतें बड़ी भद्दी मालूम देती हैं। ये चित्र श्रीहर्ष जैसे वेदान्ती की घोर विलासिता का पर्दाफाश किये बिना नहीं रहते, और उस काल के समाज के चारित्रिक अधःपतन का चित्र देने में पूर्णतः समर्थ हैं, चाहे ये सब श्रीहर्ष के अपने ही दिमाग की खुराफात हों।[3]

श्रीहर्ष में शृंगार के संयोग तथा विप्रयोग दोनों पक्षों का चित्र मिलता है। प्रथम तथा द्वितीय सर्ग में दमयन्ती और नल के पूर्व राग का वर्णन है। इसी के अंतर्गत नल तथा दमयन्ती की विप्रलंभ दशा का भी वर्णन मिलता है। श्रीहर्ष का विप्रलंभ शृंगार हृदय को नहीं छू पाता। दमयन्ती के विरह वर्णन की चतुर्थ सर्ग वाली विरहोक्तियाँ ऊहोक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनमें कवि ने कल्पना का समावेश अधिक किया है। श्रीहर्ष के शृंगारवर्णन के नमूने के रूप में निम्न दो तीन पद्य दे देना पर्याप्त होगा।

तां मिथोऽभिदधतीं सखीं प्रियस्यात्मनश्च स निशाविचेष्टितम्।
पार्श्वगः सुखरादिपधा दधदृश्यतां श्रुतकथो हसन् गतः॥ (१८.६८)

दमयन्ती किसी सखी से नल के और अपने प्रेमालाप की बातें कह

---

१. दे० १६.१५। २. दे० १६.४९-५०।

३. घृतप्लुते भोजनभाजने पुरः स्फुरत्पुरंध्रिप्रतिबिम्बिताकृतेः।
युवा निधायोरसि लड्डुकद्वयं नखैर्लिलेखाथ ममर्द निर्दयम्॥ (१६.१०३)

रही है। नल इन्द्र से सीखी छिपने की विद्या का प्रयोग कर ये सारी बातें सुन लेता है, फिर सारी बातें सुनकर प्रकट हो जाता है, और हँसता हुआ दमयन्ती को दिखाई पड़ता है।

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः।
खग कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा॥ (२.५७)

नल, दमयन्ती के विरह से संतप्त अपनी दशा का वर्णन कर रहा है। हे हंस! दमयन्ती के सौंदर्य का श्रवण करने के बाद से ही यमराज की पत्नी-दिशा (दक्षिण दिशा) से बहकर आने वाला पवन, उसके विरह की अग्नि के इंधन से समिद्ध मुझे अत्यधिक असह्य लगा। मैंने ऐसा अनुमान किया कि वह मलय पर्वत पर रहने वाले साँपों की जहरीली फुफकार को लेकर बहता आ रहा है। पहले तो वह पवन साँपों की जहरीले फूत्कारके साथ है, दूसरे यमराज से संबद्ध है, इसलिए दक्षिण दिशा से बहता हुआ सुगंधित पवन मुझे अत्यधिक सन्तापदायक प्रतीत होता है, जैसे वह यमराज का भेजा हुआ मेरे प्राण लेने आ रहा है।

स्मरहुताशनदीपितया तया बहुमुहुः सरसं सरसीरुहम्।
अपितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम्॥ (४.२६)

कामदेव रूपी अग्नि के द्वारा संतप्त दमयन्ती बार बार सरस (गीले) कमल को शरीर से इसलिए लगाना चाहती थी कि वह मदनताप को शान्त कर सके, किन्तु इसके पहले कि वह कमल दमयन्ती के अंगस्पर्श को प्राप्त करे बीच में ही उसके निश्वासजनित तप्त वायु के द्वारा सूख कर पापड़-सा हो जाता था, और वह उसे फेंक देती थी। इसमें दमयन्ती के विरहताप की अधिकता व्यञ्जित की गई है। यद्यपि कल्पना बड़ी अनूठी है, पर दमयन्ती के विरह की भावना को व्यञ्जित करने में सफल नहीं कही जा सकती। उक्ति में ऊहाप्रणाली का प्रयोग पाया जाता है। हिन्दी के कवि

बिहारी ने भी एक स्थान पर नायिका के विरहताप से, शीतलता पहुँचाने के लिए औंधाये गुलाबजल के बीच में ही भाप बनकर उड़ जाने का चित्र उपस्थित किया है, जो इस चित्र की तुलना में रखा जा सकता है।

श्रीहर्ष के काव्य में विप्रयोग शृङ्गार के अनेकों स्थल हैं, पर सभी अप्रस्तुत विधान से इतने लद गये हैं कि विप्रयोग की भावना का रंचमात्र भी अनुभव सहृदय भावुक को नहीं हो पाता।'दमयन्ती आठ आठ आंसू रोती रहे, या चन्द्रमा, कामदेव या राहु को फटकारती-पुकारती रहे,' रसिक भावुक के हृदय पर कोई असर नहीं होता। ऐसे स्थलों पर सच्चा कविहृदय सदा श्लेष, यमक या दूरारूढ कल्पनाओं से बचता है, पर श्रीहर्ष का पाण्डित्य इन्हीं को अपनी सफलता के हथकंडे समझता है। नीचे के पद्य में बड़ी अनूठी कल्पना है, जिसका आधार श्लेष है, किन्तु दमयन्ती के विरह की सरस व्यञ्जना दिल को नहीं छू पाती।

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु प्रविश्य हृदि स्थितः॥ (४.११)

किसी के पैर में यदि छोटा-सा तिनका भी घुस जाय, तो वह कितना दर्द करता है? कोमल शरीर वाली दमयन्ती के हृदय में तो पहाड़ (राजा—नल) घुस गया, तो उसे व्यथा क्यों न होगी? यहाँ सारा चमत्कार 'अवनिभृत्' के द्व्यर्थ प्रयोग तक ही रह गया है, काव्य का भावपक्ष दिखाई भी नहीं पड़ता।

शृङ्गार के अन्तर्गत श्रीहर्ष का विशेष ध्यान नखशिखवर्णन पर जान पड़ता है। काव्य में दमयन्ती के नखशिखवर्णन का पिष्टपेषण देखकर कभी कभी तो पाठक झुंझला जाता है। यद्यपि श्रीहर्ष को इस बात का घमण्ड है कि उन्हों ने किसी भी नये अर्थ को नहीं छोड़ा है, (एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्), और यह डींग किसी हद तक ठीक भी है, पर दमयन्ती का नखशिख वर्णन इतिवृत्त तथा भाव, दोनों की दृष्टि से पुनरुक्तिदोष से रहित नहीं

कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि कवि अपने से प्राचीन कवियों के द्वारा व्यवहृत भाव को ही पाण्डित्य और कल्पना के साँचे में ढाल कर नये अलङ्कार की छाया देकर, अनूठापन दे देता है। सभी कवियों ने नायिका के स्तनों को घड़े की उपमा दी है, पर श्रीहर्ष उनमें अपने (निमित्त) कारण दण्ड का यह गुण भी संक्रान्त कर देते हैं, कि वह देखने वालों की आँखों को चाक की तरह घुमा दे[1], या विरहताप में रखकर कामदेवरूपी कुम्हार उन्हें पकाने की योजना कर रहा हो। दमयन्ती का नखशिखवर्णन, दूसरे, सातवें, दसवें, पन्द्रहवें, और बाईसवें सर्ग में मिलता है। इसमें भी सातवें सर्ग का नखशिखवर्णन अत्यधिक विस्तृत है। इसमें कवि ने दमयन्ती के अंगों के उपमान परम्परागत कविसमयोक्तियों, शास्त्रों, पुराणों और लोकव्यवहार की घटनाओं तक से चुने हैं[2]। दमयन्ती के सौन्दर्य को देखकर मुनि भी मोहित हो सकते हैं। उसके स्तनों पर भृगु ऋषि (अतटप्रपात) निवास करते हैं, तो उसका मुख नारद को भी प्रसन्न करने वाला है (नाना दाँतों से सुशोभित है) और उसका ऊरुयुगल महाभारत की रचना कर सकने में समर्थ वेदव्यास के द्वारा आश्रित है (उसके ऊरु सुन्दर (महाभ) तथा विशाल (रतसर्गयोग्य) हैं)।[3] दमयन्ती के इस नखशिख वर्णन में कोरा श्लेष का ही चमत्कार है। नखशिखवर्णन के लोकव्यवहारमूलक उपमान सुन्दर बन पड़े हैं। चन्द्रमा दमयन्ती के मुख से तुच्छ है, इसकी व्यञ्जना कराने में श्रीहर्ष की निम्न कल्पना निश्चित रूप में सुन्दर है। पर यहाँ भी चमत्कार सूक्ति के अनूठेपन का ही है :—

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डुरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्धमानकम्॥ (२. २६)

ऐसा मालूम होता है कि ब्रह्मा ने इस चन्द्रमा को दमयन्ती के मुख की

---

१. नैषध २. ३२. २. वही ४. ७. ३. वही ७. ९६.

आरती करने के लिए एक शराव बना रखा है, जिसे पीले रंग से लीप कर उसमें कलंकरूपी गोमय को रख कर वे दमयन्ती के मुख की आरती करने के लिए घुमा रहे हैं।

शृङ्गार के अतिरिक्त नैषध में वीर, करुण तथा हास्य के स्थल भी मिल जाते हैं। वीर रस के वर्णन ११, १२ तथा १३ वें सर्ग में राजाओं के वर्णनों में देखे जा सकते हैं। श्रीहर्ष का वीररस दरबारी कवियों का 'टिपिकल' वीर है, जिसमें शब्दच्छटा और अतिशयोक्ति का आडम्बर दिखाई पड़ेगा। एक उदाहरण लीजिये, जिसमें ऋतुपर्ण की वीरता के साथ साथ उसके वैरी राजाओं के शृङ्गार का चित्र है:—

> द्विष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी–
> कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद् गङ्गा रणप्राङ्गणे।
> तत्तस्मिन्विनिमज्ज्य बाहुजभटैरारंभि रम्भापरी–
> रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः॥ (१२.१२)

युद्ध स्थल में राजा ऋतुपर्ण के बाहुदण्ड की वीरता से उत्पन्न कीर्ति रूपिणी गंगा, शत्रुओं की अकीर्ति रूपिणी यमुना के साथ समागम को प्राप्त हुई। इस राजा के भुजदण्डों की वीरता के कारण शत्रु पराजित हो गये। इसकी कीर्ति हुई, उनकी अकीर्ति। कीर्ति सफेद गंगा है, अकीर्ति काली यमुना। दोनों के संगम के कारण रणस्थल प्रयाग बन बैठा। रणस्थल के उस प्रयाग में स्नान कर (मज्जन कर),—मारे जाकर—कई क्षत्रिय योद्धाओं ने स्वर्ग में जाकर नन्दन वन में रम्भा नामक अप्सरा के साथ परीरम्भादि (आश्लेषादि) क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त करने में आसक्ति प्रारम्भ की। प्रयाग में स्नान करने पर व्यक्ति पुण्यात्मा होने के कारण स्वर्ग को प्राप्त करता है, क्षत्रिय भी युद्ध में मर कर स्वर्ग में अप्सरादि का उपभोग करते हैं। इस पद्य का प्रस्तुत विषय ऋतुपर्ण की वीरता है, जिसके संचारी के रूप

में 'बाहुजभटों' (क्षत्रियवीरों) की नन्दनवनगत क्रीड़ा का शृङ्गारी चित्र प्रयुक्त हुआ है।

हास्य रस के कुछ उदाहरण सोलहवें सर्ग के वारयात्रिकोपहास में मिल सकते हैं, तो कुछ सतरहवें सर्ग की कलि की उक्तियों में। करुण का एक सरस स्थल नैषध के प्रथम सर्ग में मिलता है। नल के द्वारा पकड़े जाने पर हंस का विलाप निःसन्देह मार्मिक है, जहाँ हंस अपनी माता व प्रिया को याद कर रोता है:—

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः॥ (१. १३७)

हे प्रिये, मैं उस क्षण का अनुमान भी नहीं कर सकता, जब दूसरे हंसों को पास आया देखकर तुम मेरे लिए उनसे यह पूछोगी कि 'मेरा वह प्रिय कितना दूर है, जो मेरे लिए सन्देश भेजने तथा मृणाल लाने में बड़ा सुस्त जान पड़ता है', और इस प्रश्न का उत्तर वे कुछ न देकर केवल रोने लग जायँगे। पता नहीं, उन्हें रोते देख कर तुम्हें उस समय कितनी असह्य वेदना होगी?

प्रकृति वर्णन में श्रीहर्ष का प्रेम खास तौर पर अप्रस्तुत विधान की ओर ही है। जैसा कि हम आगे बतायँगे श्रीहर्ष के अप्रस्तुतविधान या तो शास्त्र से लिए होते हैं, या शृङ्गारी जीवन के विलासमय चित्रों से, या फिर लोक-व्यवहार से। श्रीहर्ष की प्रकृति संयोग या विप्रयोग की उद्दीपनगत प्रकृति है। प्रथमसर्ग का उपवन वर्णन नल को सन्ताप देता है, तो चतुर्थ सर्ग का प्रकृतिवर्णन दमयन्ती को। उनीसवें और बाईसवें सर्ग के प्रकृति वर्णन संयोग के उद्दीपन रूप में आते हैं। उनीसवें सर्ग का प्रभातवर्णन माघ के प्रभात वर्णन के आगे सुन्दर नहीं लगता। अस्त होते तारों और सिमटती चन्द्रकिरणों के लिए कवि ऋषियों के द्वारा वेदपाठ के प्रणव के लिए

चुने अनुस्वार, या उदात्त स्वर की खड़ी लकीरों की कल्पना करता है,[1] जो साधारण बुद्धि में एकदम नहीं आ पाती। पलाश के काले वृन्त वाले लाल फूल को नल ऐसा समझता है, जैसे वह कामदेव का अर्धचन्द्राकार बाण है, जिसने वियोगियों का मांस खाया है, और उनके कालखण्ड का मांस अभी भी उसके वृन्त में साथ लगा है।[2] उसे बेल का पका फल 'वारनारीकुचसंचितोपम' दिखाई देता है[3], तो वह दाडिमी को कभी वियोगिनी के रूप में देखता है, कभी उत्कृष्ट (विशिष्ट) योगिनी के रूप में।[4] वियोगी नल को चम्पे की कलियाँ कामदेव की बलिदीपिकाएँ दिखाई पड़ती हैं,[5] तो रसाल का सरस पेड़ कलिका की अंगुलि से तर्जना कर भ्रमरों के हुंकार से नल को धमकाता नजर आता है।[6] सारांश यह कि श्रीहर्ष में एक भी प्रकृति वर्णन ऐसा नहीं कहा जा सकता, जो प्रकृति के बिम्बचित्र को उपस्थित कर सके। तड़ाग के वर्णन में कवि सतर्कता बरतता, तो सुन्दर चित्र दे सकता था, पर श्रीहर्ष तो उसे समुद्र से भी बढ़कर बताने की धुन में थे। फलतः चौदहों रत्नों को वहाँ ला खड़ा किया है, और एक ही नहीं, सैकड़ों ऐरावत, उच्चैःश्रवा, लक्ष्मी, अप्सराएँ उसमें छिपी बताकर उसे नल की वाटिका में इसलिए ला दुबकाया है, कि कहीं देवता फिर उसका मन्थन न कर डालें।[7] इतना होने पर भी कुछ प्रकृतिवर्णन सुन्दर बन पड़े हैं, पर उनका सौन्दर्य समासोक्ति अलङ्कार की व्यञ्जना पर आधृत जान पड़ता है।[8]

अप्रस्तुत-विधान

श्रीहर्ष में माघ की रही सही स्वभावोक्तिप्रियता भी समाप्त हो गई है। अप्रस्तुतविधान का श्रीहर्ष के पास निःसन्देह अक्षय भाण्डार है, वे कल्पना

---

१. नैषध १८. ७, २. १. ८४, ३. १. ९४, ४. १. ८३, ५. १. ८६, ६. १. ८९,

७. दे० नैषध १. १०७-११६।

८. जैसे :—पुराहठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं ससृजुर्विलाकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ (१. ९७)

के उत्कृष्ट कलाकार हैं। श्रीहर्ष की ये कल्पनाएँ उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, अपह्नुति जैसे अत्यधिक चमत्कार पूर्ण अलङ्कारों का रूप लेकर आती हैं, जिनके साथ उपमा, रूपक आदि का भी समावेश किया जाता है। उनकी 'परीरम्भक्रीड़ा' (श्लेष) भी इन कल्पनाओं को अनूठापन देने में सहायता करती है। श्रीहर्ष के अप्रस्तुतविधान को हम निम्न कोटियों में बाँटते हैं:—शास्त्रीय कल्पनाएँ,[1] शृङ्गारी कल्पनाएँ,[2] कविसमयोक्तियों या परम्परागत अप्रस्तुतों का नयापन, लोकव्यवहारगत कल्पनाएँ। इतने-से छोटे निबन्ध में श्रीहर्ष के अप्रस्तुतविधान पर कुछ कहना बड़ा कठिन है। श्रीहर्ष के अप्रस्तुतविधान पर एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा जा सकता है, और यही वह गुण है, जिसके कारण सूक्तिवादी श्रीहर्ष संस्कृत कवियों की प्रथम कोटि में माने जाते रहे हैं। श्रीहर्ष के अप्रस्तुत निःसन्देह कवि की अनूठी सूझ का संकेत करते हैं।

कवि के कई पद्य साधारण पाठक के लिए जटिल हो जाते हैं, क्योंकि अप्रस्तुतों का चयन दर्शन, व्याकरण, कामशास्त्र आदि से किया गया रहता है। घोड़े के पैरों से उड़ती धूल के कण ऐसे हैं, जैसे घोड़े के पास मन तेजी की शिक्षा प्राप्त करने आये हों, और जब तक नैयायिकों के 'अणुपरिमाणं मनः' का पता न हो, यह कल्पना समझ में न आयगी कि तेजी में घोड़ा मन से भी बढ़ कर है, वह उनका गुरु बन सकता है। नल को दहेज में मिले रथ को पुष्पक से भी विशिष्ट सिद्ध करने, तथा दमयन्ती के विरहजनित आँसू को देखकर सखियों के द्वारा नल के विरहताप का अनुमान कर लेने के वर्णन के साथ न्याय के पञ्चावयव वाक्य की परार्थानुमान की प्रणाली निःसन्देह कोरा पाण्डित्य प्रदर्शन जान पड़ती है। इसी तरह नल का रूप धारण कर आये हुए इन्द्र को व्याकरण के नियमों के विरुद्ध स्थानिवद्भाव

१. १. ५९, २. ४. १८, १६. २४,

का दुष्ट प्रयोग करने की कल्पना भी अत्यधिक जटिल है।[1] ऐसी अनेकों कल्पनाएँ नैषध में स्थान स्थान पर मिल कर गाँठें डालती रहती हैं। यद्यपि इस परम्परा के बीज कालिदास में भी ढूँढ़े जा सकते हैं। कालिदास ने भी कई शास्त्रीय अप्रस्तुतविधानों का प्रयोग किया है (जैसे, धातोः स्थानमिवादेशं सुग्रीवं स न्यवेशयत्-रघु० १२ सर्ग), तथापि इसका चलन माघ में अधिक पाया जाता है, और नैषध में यह प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ गई है। दर्शन और व्याकरण ही नहीं, साहित्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र से भी उपमान चुने गये हैं।[2] पाण्डित्य प्रदर्शन की दृष्टि से ये प्रयोग कुछ भी हो, काव्य की दृष्टि से दोष ही कहे जायँगे। अलङ्कार्य की भावानुभूति कराने में ऐसे अप्रस्तुत कतई सहायता नहीं करते, उलटे काव्य की सौन्दर्यानुभूति में बाधक होते हैं।

श्रीहर्ष के वे अप्रस्तुत जो लोक व्यवहार से लिये गये हैं, सुन्दर बन पड़े हैं। सूर्यास्त के समय ललाई धीरे धीरे हटती जाती है, और आकाश में तारे छिटक जाते हैं, ऐसा मालूम पड़ता है, मूर्ख आकाश ने सोने को बेचकर बदले में कौड़ियाँ ले ली हैं।[3] आकाश में छिटके तारे ऐसे मालूम होते हैं, जैसे किसी ने अनार के दाने का रस चूस कर बीजों को थूँक दिया हो।[4] सूर्य के अस्त होने पर आकाश से चारों ओर अँधेरा गिरने लगा है; जैसे सूर्य के दीपक पर आकाश के सकोरे को काजल बनाने के लिए औंधा रख छोड़ा था, पर काजल इतना घना हो गया कि उसके भार से वह नीचे गिर पड़ा, उसने दीपक (सूर्य) को बुझा दिया है, और दीपक के आसपास सब जगह काजल

---

१. १०. १३६. २. ९. ११८,

३. विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः॥ (२२. १३)

४. २२. १४-१५,

बिखर पड़ा है।[1] कवि को शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान बड़े पसन्द हैं[2]। सोलहवें सर्ग के ज्यौनार वर्णन में भोजन-क्रिया की तुलना सुन्दरी नायिका से करते हुए, श्रीहर्ष ने सांगोपांग रूपक की अलङ्कार-योजना की है।[3] श्रीहर्ष की हेतूत्प्रेक्षाएँ भी सुन्दर बन पड़ी हैं। घोड़े पैरों से धूल इसलिए उड़ाते हैं कि उनकी तेजी के आगे पृथ्वी की यात्रा कुछ भी नहीं, इसलिए अच्छा हो कि धूल उड़कर समुद्र में गिर पड़े, ताकि पानी को सोख कर वहाँ भी स्थल बना दे, जिससे घोड़ों के लिए यात्रा करने को क्षेत्र रहे।[4] घोड़े अपने अगले पैरों को आकाश की ओर उठाते हैं, पर उन्हें सहसा याद आ जाता है, कि हमारे ही साथी किसी हरि ने (घोड़े ने, वामनरूप में कृष्ण ने) आकाश को खाली एक पैर से नाप लिया था, इस लिए दो पैर से नापने में हमारे लिए लज्जा की बात है, और जैसे ऐसा सोच कर वे फिर दोनों अगले पैरों को जमीन पर रख लेते हैं।[5] 'हरि' के श्लिष्ट प्रयोग पर आधृत हेतूत्प्रेक्षा निःसंदेह अनूठी कल्पना है।

श्रीहर्ष श्लेष, यमक तथा अनुप्रास के बड़े शौकीन हैं। वे स्वयं अपनी कृति को 'परीरम्भक्रीडाचरणशरणा' (श्लेषक्रीड़ा से युक्त) मानते हैं। श्रीहर्ष के कई अर्थालंकार श्लेष को ही आधार बनाकर आते हैं। तेरहवें सर्ग में तो कवि ने श्लेष का चमत्कार बताने में अपनी कलाबाजी का पूरा परिचय दिया है। नल के साथ ही साथ इन्द्रादि देवताओं का श्लिष्ट वर्णन किया गया है। एक पद्य में एक साथ पाँचों का वर्णन किया गया है, जहाँ पाँच पाँच प्रस्तुत अर्थ होते हैं।[6] इन श्लिष्टप्रयोगों में अधिकतर पद्य इतने जटिल हैं कि टीका के बिना समझ में आना कठिन है, पर दो तीन पद्य कुछ सरल

---

१. ऊर्ध्वार्पितन्युब्जकटाहकल्पे यद्व्योम्नि दीपेन दिनाधिपेन।
न्यधायि तद्धूममिलद्गुरुत्वं भूमौ तमःकज्जलमस्खलत्किम्। (२२. ३१)

२. २. ४४, ७४, ३. १६. १०७, ४. १. ६९, ५. १. ७०,

६. १३.२४।

कोटि के हैं।[1] इन वर्णनों के विषय में डॉ० कीथ ने यह शंका की है कि दमयन्ती को संस्कृतज्ञा मान लेने पर भी सरस्वती के द्वारा किये गये श्लिष्ट-वर्णनों को वह बिना टीका की सहायता से कैसे समझ सकी। निश्चित रूप से इस तरह का श्लिष्टवर्णन इतिवृत्त की स्वाभाविकता के साथ नहीं खपता। साथ ही इन वर्णनों में श्लेष के सभंग भेद का आवश्यकता से अधिक प्रयोग पाठक को उबा देता है। श्रीहर्ष के यमक प्रयोग भी इसी तरह जटिल हैं,[2] पर कहीं कहीं स्वतः आए हुए यमक सुन्दर जान पड़ते हैं। (तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशंकं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि॥ ११.१०७)।

पण्डितों ने नैषध के पदलालित्य की बड़ी प्रशंसा की है—'नैषधे पद-लालित्यम्'। निःसंदेह श्रीहर्ष में अनुप्रास का चमत्कार उत्कृष्ट कोटि का मिलता है। नैषध में ऐसे पद्य बहुत कम होंगे, जिनमें पदलालित्य न हो। साथ ही श्रीहर्ष में जहाँ शृङ्गारोपयुक्त पदलालित्य मिलता है, वहाँ वीररसोचित पदलालित्य भी बारहवें सर्ग की राजस्तुतियों में देखा जा सकता है। वैसे सभी सर्गों में पदलालित्य की उत्कृष्टता देखी जा सकती है, फिर भी एकादश सर्ग में पदलालित्य का अनुपम सौंदर्य दिखाई पड़ता है। दो पद्य देना पर्याप्त होगा:—

---

१. जैसे:—

लेखा नितम्बिनि, बलादिसमृद्धराज्यप्राज्योपभोगपिशुना दधते सरागम्।
एतस्य पाणिचरणं तदनेन पत्या सार्धं शचीव हरिणा मुदमुद्वहस्व॥ (१३.७)

(इन्द्रपक्ष) हे नितंबिनि, बल आदि दैत्यों की राज्यसमृद्धि को न सह सकने वाले देवता इस इन्द्र के हाथों और पैरों को नमस्कारादि के लिए धारण करते हैं। इस इन्द्र को पति बनाकर शची की तरह आनन्द प्राप्त करो।

(नलपक्ष) इस नल के हाथों व पैरों में बल, समृद्ध राज्य, अत्यधिक भोग आदि ऐश्वर्य को व्यक्त करने वाली सामुद्रिक रेखाएँ हैं। इसका वरण कर इसके साथ उसी तरह आनंद करो, जैसे शची इन्द्र के साथ आनंद करती है।

२. दे० २. ६६, ६७, ७३।

तत्रावनीन्द्रचयचंदनचंद्रलेपनेपथ्यगन्धवहगन्धवहप्रवाहम् ।
आलीभिरापतदनंगशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः ॥

(११.५)

'उस स्वयंवर में आए हुए राजाओं के चंदन व कपूर के अंगराग की सुगंध को लेकर बहने वाले वायु का मार्ग रोक कर, कामदेव के बाणों की तरह अनेक पंक्तियों में गिरता हुआ भृङ्गसमूह सुगंध का उपभोग कर रहा था।'

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेधाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम् ॥

(११.६)

'कुण्डिनपुरी की प्रासाद-पंक्तियाँ वायु के कारण हिलती हुई ध्वजाओं के द्वारा लोगों को अपनी नृत्यकुशलता का परिचय दे रही थीं। ध्वजाएँ इस तरह हिल रही थीं, जैसे सौधपंक्तियाँ स्वयंवर के समय बजाए गए मंगल मृदंग की गंभीर ध्वनि के अनेक प्रकारों के अनुसार अंगादि का संचालन करने की बुद्धि (चतुरता) का प्रदर्शन कर रही हों।'

नैषध के पद्यों में एक से एक बढ़कर पदलालित्य के उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1] श्रीहर्ष के समसामयिकों में इस गुण के लिए जयदेव का नाम लिया जा सकता है, या फिर बाद के कवियों में पण्डितराज जगन्नाथ का।

---

१. संस्कृत पण्डितों में यह पद्य श्रीहर्ष के पदलालित्य के लिए बड़ा प्रसिद्ध है:—
देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥(११·६६)
(साथ ही) दे० १.१२, २०. ६६, २.२३, ११.२५, २६, ४१, २२.७०, १३८, १३९ आदि पद्य ।

हिंदी कवियों में तुलसी, बिहारी तथा पद्माकर पदलालित्य के कुशल प्रयोक्ता हैं। तुलसी का पदलालित्य यदि कहीं देखना हो, तो कवितावली में मिलेगा। नैषध का पदलालित्य निःसंदेह दमयन्ती की वाणी की तरह 'शृङ्गारभृङ्गार-सुधाकर' (२२.५७) है, जो श्रोता के कर्णकूपों को आप्यायित कर देता है। यह विशेषता श्रीहर्ष की कविता में स्वतः संगीत का गुण संक्रान्त कर देती है।

श्रीहर्ष अपनी रीति को वैदर्भी बताते हैं।[1] पर नैषध में सर्वत्र वैदर्भी रीति नहीं मिलती। नैषध के कई पद्य गौड़ी की गाढबन्धता लेकर आते हैं, तो कई वैदर्भी की सरस कोमलता का प्रदर्शन करते हैं। नैषध के कवि के लिए उसकी रीति कुछ भी हो, हमें उसमें पाञ्चाली के ही लक्षण विशेष दिखाई पड़ते हैं। नैषध की शैली का पाण्डित्य तथा पदलालित्य एक साथ कवि की दार्शनिकता और विलासिता को व्यक्त करता है। श्रीहर्ष की कविता और काव्यशैली दोनों दमयन्ती की ही भाँति 'शृङ्गारसर्गरसिकद्व्यणुकोदरी' है। नैषध काव्य के कलापक्ष की कृति है, जहाँ भावपक्ष सर्वथा गौण हो गया है। अलङ्कारप्रदर्शन तथा पाण्डित्यप्रकाशन की तरह कवि ने छन्दःप्रयोग की कुशलता भी व्यक्त की है। पूरा एक सर्ग हरिणी छन्द में है। माघ के खास छन्द १६ हैं, किन्तु नैषध के खास छन्द १९ हैं।

यद्यपि पिछले खेवे के ह्रासकालीन (१२५० ई० के बाद के) काव्यों का खास आदर्श माघ ही रहा है, तथापि दो एक ऐसे काव्य भी पाये जाते हैं, जिन पर श्रीहर्ष की शैली का प्रभाव जान पड़ता है। अकबर के समय में एक जैन साधु के द्वारा लिखा गया 'हीरसौभाग्य'[2] महाकाव्य नैषध से प्रभावित जान पड़ता है। लेखक के वृद्धप्रपितामह पं० भवानीशंकर जी ने

---

१. ३.११६ और १४.९१।
२. यह काव्य काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है।

बूंदी के राजाओं पर इसी शैलीमें एक महाकाव्य लिखा था, जो अभी अप्रकाशित है।

संस्कृत पण्डितों ने नैषध को महाकाव्यों में अत्यधिक आदर दिया है। कुछ सीमा तक यह आदर अतिशयोक्तिपूर्ण है। किन्तु नैषध महाकाव्य सर्वथा उपेक्षणीय भी नहीं है, विशेष करके उस व्यक्ति के लिए जो महाकाव्यों की कृत्रिम शैली के चरम परिपाक का गवेषणापूर्ण अध्ययन करना चाहता है, साथ ही भारत के अस्त होते हिन्दू सामन्तवाद के दीपक की बुझती लौ देखना चाहता है। श्रीहर्ष का काव्य एक ओर सूक्तिवादी कोरे चमत्कारमय काव्यों का सच्चा प्रतिनिधि है, दूसरी ओर सामन्तकालीन भारत के विलासी अभिजातवर्ग का संकेत देने में पूर्ण समर्थ।

नाटककार

भास

महाकाव्य श्रव्यकाव्यों की एक कोटि है, और उनसे दृश्य काव्य (नाटक) में एक महत्त्वपूर्ण तात्त्विक अंतर पाया जाता है। महाकाव्यों में पठन--श्रवण के द्वारा रसचर्वणा होती है, जब कि दृश्यकाव्य अभिनय के द्वारा सामाजिक में रसानुभूति उत्पन्न करते हैं। दृश्यकाव्य का रंगमंच बाहर होता है, वह नाटक से भिन्न वस्तु है, जिसकी सहायता के बिना नाटक की सफलता या असफलता का पूरा पता नहीं चल सकता। महाकाव्य का रंगमंच अपने आप में होता है, उसकी सफलता या असफलता वर्णन शैली पर विशेषतः आधृत होती है। यही कारण है, नाटकों की आलोचना में हम ठीक उसी कसौटी को लेकर नहीं चल सकते, जो हमने महाकाव्यों के अध्ययन में अपनाई है। संस्कृत के साहित्य में नाटकों (रूपकों) का विशाल समूह दिखाई देता है, पर जब नाटकीय अभिनय की कसौटी पर कसना पड़ता है, तो पता चलता है कि संस्कृत के अधिकांश नाटक रंगमंच पर सफलतया अभिनीत नहीं हो सकते, और हमें कई नाटकों को पाठ्य--नाटकों की श्रेणी में रखना पड़ता है। नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का अक्षरशः पालन करना, पाँच अर्थप्रकृति, पाँच अवस्था, पाँच सन्धि, चौसठ सन्ध्यङ्ग या अन्य शास्त्रीय शिकंजों में कसने से दृश्यकाव्य प्रभावोत्पादक नहीं बन सकता। उसमें प्रभावोत्पादकता तभी संक्रान्त हो सकती है, जब कवि (नाटककार) ने रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटक की रचना की हो। कहना न होगा, संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुख काल (६५०–१२५०) के नाटकों में इस दृष्टि से एक दो ही नाटक सफल सिद्ध होंगे। अपवादरूप में हम विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का नाम ले सकते हैं। संस्कृत साहित्य के विकास काल (१०० ई०—६५० ई०) में निःसन्देह कुछ सफल नाटक मिल सकते हैं, जैसा कि हम तत्तत् नाटककार की आलोचना

में संकेत करेंगे, और उन नाटककारों की कोटि में सबसे पहले जिनका नाम लिया जा सकता है, वे हैं भास।

संस्कृत नाटकों का उद्भव कब हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है, हम इस प्रश्न पर यहाँ संकेत करना आवश्यक नहीं समझते।[1] यहाँ तो इतना कह देना पर्याप्त होगा कि नाटकों के बीज विद्वानों ने वेदों तक में ढूँढ निकाले हैं। रामायण और महाभारत में नर्तकों व कुशीलवों का संकेत मिलता है, और पातञ्जल महाभाष्य में तो स्पष्ट रूप से 'कंसवध' तथा 'बलिबंधन' नामक दो नाटकों का उल्लेख किया गया है। कुछ भी हो, ईसा से पूर्व भारत में नाट्यकला पूर्णतः विकसित हो चुकी थी। ईसा की प्रथम शती के अंतिम दिनों में अश्वघोष ने नाटक लिखे थे। तुर्फान में अश्वघोष के शारिपुत्रप्रकरण, तथा अन्य दो नाटकों के अवशेष मिले हैं। प्रश्न होना संभव है, क्या अश्वघोष ही संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार हैं? अश्वघोष के नाटकों के अवशेषों के आधार पर प्राप्त जानकारी से यही निष्कर्ष होता है कि अश्वघोष सर्वप्रथम नाटककार नहीं थे, और संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। कालिदास को अश्वघोष से पूर्व मानने वाला विद्वानों का दल, संभवतः अश्वघोष से पहले कालिदास के नाटकों को स्थान देगा, और उससे भी पहले भास को। किन्तु अश्वघोष को हम कालिदास का पश्चाद्भावी नहीं मानते। जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे, भास अश्वघोष के बाद, किन्तु कालिदास से पूर्व रहे हैं।

भास का नाम संस्कृत साहित्य में आज से ठीक ४२-४३ वर्ष पूर्व एक

---

१. इस विषय पर हमने धनंजय के सावलोक दशरूपक की हिन्दी व्याख्या की भूमिका में विस्तार से प्रकाश डाला है। देखिये-डॉ० व्यास: हिन्दी दशरूपक-(चौखम्बा प्रकाशन).

समस्या-सा था। कालिदास[1], बाण,[2] वाक्पतिराज[3], राजशेखर[4], जयदेव[5] आदि कई संस्कृत कवियों ने भास की प्रशंसा की थी, किन्तु भास की कोई रचना साहित्य-जगत् को उपलब्ध न थी। सन् १९१२-१३ के लगभग त० गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम से भास के नाम से कुछ नाटकों को प्रकाशित किया, जो भास के तेरह नाटकों के नाम से विख्यात हैं। भास के नाम से प्रकाशित इन नाटकों की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के तीन दल पाये जाते हैं। प्रथम मत के अनुसार ये नाटक निश्चित रूप से भास के ही हैं। इन नाटकों की प्रक्रिया (Dramatic Techninque), भाषा, शैली आदि सभी को देखने से पता चलता है कि ये सब एक ही कवि की रचना हैं, तथा कालिदास के पूर्व की जान पड़ती हैं। इनका रचयिता निश्चित रूप से स्वप्नवासवदत्ता वाला भास ही है। दूसरा दल इन नाटकों को भास की रचना नहीं मानता। उसके मत से इनका रचयिता या तो 'मत्तविलास-प्रहसन' का रचयिता युवराज महेंद्रविक्रम था, या 'आश्चर्यचूडामणि' नाटक का रचयिता शीलभद्र। इन लोगों के मत से ये नाटक सातवीं-आठवीं शती की किसी दाक्षिणात्य कवि की रचनाएँ हैं।[6] प्रो० सिलवाँ लेवी,

---

१. ...भास-सौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्ध...कि कृतोऽयं बहुमानः। (माल० पृ० २)

२. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥ (हर्षचरित)

३. वाक्पतिराज ने गउडवहो में भास को 'जलणमित्त' (ज्वलनमित्र) कहा है।

४. भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

५. भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ॥ (प्रसन्नराघवकार जयदेव)

६. बर्नेट के मतानुसार इन नाटकों की रचना पाण्ड्य राजा राजसिंह प्रथम (६७५ ई०) के समय हुई थी।
दे० Barnett: Bulletin of School of Oriental Studies iii., p. 35, 520-21.

प्रो० विंतरनित्स, और प्रो० सी० आर० देवधर का यही मत है। एक तीसरा मत और है, जिसके अनुसार उपलब्ध १३ नाटक भास के ही हैं, किंतु जिस रूप में वे मिले हैं, वह उनका संक्षिप्त (Abridged) रंगमंचोपयुक्त रूप दिखाई पड़ता है।[१] हमें प्रथम मत ही ठीक प्रतीत होता है। अधिकतर विद्वान् इन नाटकों को भास का ही मानते हैं। इन नाटकों को भास का मानने के प्रमाण निम्न हैं:—

(१) ये सभी नाटक 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से आरम्भ होते हैं। जब कि बाद के संस्कृत नाटकों में–कालिदास में भी–पहले नान्दी पाठ होता है, तब यह वाक्य पाया जाता है। जब बाण भास के नाटकों को 'सूत्रधारकृतारम्भ' कहता है, तो इसी विशेषता का संकेत करता है।

(२) इन नाटकों में प्रस्तावना को इस पारिभाषिक संज्ञा से व्यवहृत न कर 'स्थापना' कहा गया है।

(३) अन्य संस्कृत नाटकों की तरह 'स्थापना' में नाटक तथा नाटककार के नाम का संकेत नहीं मिलता, जो शास्त्रीय (Classical) संस्कृत नाटकों की परम्परा है। अतः ये नाटक इस परम्परा से पूर्व के हैं।

(४) प्रत्येक नाटक का भरतवाक्य प्रायः 'इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' से या इस भाव के अन्य पद्य से समाप्त होता है।

---

१. Dasgupta: History of Sanskrit Literatrue. Vol. I P. 107-108.

इस मत में भी कई उपमत हैं, कुछ लोगों के मत से सभी नाटक भास के नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं, जो केरल के कवियों या नटों ने मञ्च के उपयुक्त बना लिये थे। अन्य लोगों के मतानुसार 'स्वप्नवासवदत्तम्' तथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' भास के ही नाटकों के संक्षिप्त या परिवर्तित रूप हैं, जब कि 'दरिद्रचारुदत्तम्' शूद्रक के मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अंकों का संक्षिप्त रूप है। अन्य नाटकों के रचयिता के विषय में इस मत के मानने वाले विद्वान् अनिश्चित हैं।

दे० Thomas: Journal of Royal Asiatic Society 1928 P. 876 F.F.

(५) सभी नाटकों में समान संघटना पाई जाती है, तथा कुछ नाटकों के प्रारम्भिक पद्य में मुद्रालङ्कार[1] पाया जाता है।

(६) इनमें से एक नाटक–स्वप्नवासवदत्तम्–का उल्लेख राजशेखर ने किया है, और उसका वह संकेत इस नाटक के इतिवृत्त से मिलता है।

(७) भास के नाटकों के कई उल्लेख या उद्धरण अलङ्कार ग्रन्थों में भी मिलते हैं। वामन ने स्वप्नवा०, प्रतिज्ञायौ०, और चारुदत्त के उदाहरण दिये हैं। भामह ने प्रतिज्ञायौ० की आलोचना करते हुए उससे पङ्क्तियाँ उद्धृत की है। दण्डी ने बालचरित तथा चारुदत्त के 'लिम्पतीव तमोंगानि वर्षतीवांजनं नभः' आदि पद्य को उदाहृत किया है और अभिनवगुप्त ने 'भारती' (नाट्यवेदविवृति) तथा 'लोचन' में स्वप्नवासवदत्तम् का उल्लेख किया है और एक पद्य (लोचन में) उद्धृत भी किया है। राजशेखर ने निश्चित रूप से स्वप्नवासवदत्तम् को भास के नाम से उल्लिखित किया है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं:—

(८) इन नाटकों की संस्कृत शुद्ध शास्त्रीय नहीं है, और उनमें कई अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। उनकी शैली सरल है, तथा कालिदास जैसी स्निग्धता (Polish लेकर नहीं आती। इन नाटकों की प्राकृत कालिदास की प्राकृत से पुरानी है।

(९) इन नाटकों में भरत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतः निर्वाह नहीं हुआ है। भरत ने जिन दृश्यों को मञ्च पर दिखाने का निषेध किया है, उनमें से कई दृश्य इन नाटकों में दिखाये गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ये

---

१. जैसे स्वप्नवासवदत्तम् और प्रतिज्ञायौगन्धरायण के निम्न पद्य:—

उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्॥ (स्वप्न० १. १)

पातु वासवदत्तायो महासेनोऽतिवीर्यवान्।
वत्सराजस्य नाम्ना स शक्तियौगन्धरायणः॥ (प्रत्य० १. १)

नाटक उस काल के हैं, जब भरत के सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिष्ठित न हुए थे।

भास का समय

भास की निश्चित तिथि के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। अनुमान होता है, भास दूसरी शती के उत्तरार्ध या तीसरी शती के पूर्वार्ध (१५० ई०–२५० ई०) में रहे होंगे। कुछ विद्वानों की कल्पना है कि भास उज्जयिनी के निवासी थे, और संभवतः इसीलिए उदयन की कथा को नाटकों के लिए चुना था। इन्हीं विद्वानों के मत से भास किसी क्षत्रप राजा के आश्रित थे, जिसका संकेत उनके भरतवाक्य के 'राजसिंहः' पद से मिलता है।[1] किंवदन्तियाँ ऐसा भी कहती हैं कि भास जाति से धोबी थे, पर इसमें कोई तथ्य नहीं जान पड़ता।

भास के नाटकों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि कवि का जन्म उस समय हुआ था, जब ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान हो चुका था। भास कालिदास की भाँति ही पौराणिक ब्राह्मणधर्म के पोषक हैं। वे स्वयं अपने नाटकों के कथानक रामायण और महाभारत से भी चुनते हैं। भास विष्णु के उपासक जान पड़ते हैं, कालिदास की तरह शिव के भक्त नहीं।

भास की रचना

भास के नाम से जो तेरह नाटक (रूपक) प्राप्त हुए हैं, उन्हें हम दो तरह से वर्गीकृत कर सकते हैं। इनका पहला वर्गीकरण हम नाटकीय संविधान को दृष्टिकोण में रख कर करते हैं, दूसरा इतिवृत्त के मूलस्रोत को दृष्टि में रख कर। हम देखते हैं कि भास के इन रूपकों में कुछ नाटक हैं, कुछ एकांकी। स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगंधरायण, बालचरित, पंचरात्र,

१. स्टेन कोनो (Sten konow) के मतानुसार इन नाटकों का रचयिता-भास-क्षत्रप राजा रुद्रसिंह प्रथम (२ री शती ई०) के राज्यकाल में हुआ था। दे० Konow: Indian drama. P. 51.

प्रतिमा, अभिषेक, अविमारक और दरिद्रचारुदत्त पूरे नाटक हैं, जिनमें क्रमशः ६, ४, ५, ३, ७, ६, ६, और ४ अंक पाये जाते हैं। बाकी ५ नाटक—मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार और उरुभंग केवल एक एक अंक के रूपक हैं। इन्हें हम एकांकी रूपक कह सकते हैं। इतिवृत्त के मूलस्रोत की दृष्टि से भास के नाटकों का वर्गीकरण यों होगा:—

(१) रामायण-नाटक:—प्रतिमा और अभिषेक।

(२) महाभारत-नाटक:—बालचरित, पञ्चरात्र, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग।

(३) उदयन-नाटक:—स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगंधरायण।

(४) कल्पित नाटक:—अविमारक और दरिद्रचारुदत्त। यहाँ इसी क्रम से नाटकों क कथावस्तु का सूक्ष्म संकेत कर देना आवश्यक होगा।

(१) प्रतिमा

इसमें रामवनवास से लेकर रावणवध तक की कथा वर्णित है। इस नाटक में दशरथ की मृत्यु मंच पर ही बताई गई है। नाटक का नाम 'प्रतिमा' इसलिए पड़ा है, कि अयोध्या के मृत राजाओं की प्रतिमाएँ देवकुल में स्थापित की जाती थीं। ननिहाल से अयोध्या आते हुए भरत को नगर के बाहर देवकुल में दशरथ की 'प्रतिमा' देख कर ही उनकी मृत्यु का अनुमान हो गया था।

(२) अभिषेक

इस नाटक में किष्किन्धा, सुंदर तथा युद्ध काण्ड की रामायण कथा वर्णित है।

(३) बालचरित

श्रीकृष्णजन्म से लेकर कंसवध तक की कृष्ण के बालचरित की समस्त कथा ५ अंकों के नाटक में निबद्ध की गई है।

(४) पञ्चरात्र

इसमें महाभारत की एक कथा को कवि ने कल्पित रूप दे दिया है। दुर्योधन ने यज्ञ के समय आचार्य द्रोण को दान देने की प्रतिज्ञा की। द्रोण ने पाण्डवों को आधा राज्य देने को कहा। दुर्योधन ने शकुनि के कहने पर यह शर्त रखी कि यदि पाँच रात में पाण्डवों का पता चल गया, तो मैं राज्य दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न से पाण्डवों का विराटनगर में पता चल गया और दुर्योधन ने उन्हें आधा राज्य दे दिया।

(५) मध्यमव्यायोग

इसमें भीम के द्वारा राक्षस से एक ब्राह्मणपुत्र के बचाने की कथा वर्णित है।

(६) दूतवाक्य

महाभारत के युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बन कर कौरवों के पास जाते हैं, यह कथा वर्णित है।

(७) दूतघटोत्कच

युद्ध में अभिमन्यु के निधन के बाद श्रीकृष्ण घटोत्कच को दूत बना कर धृतराष्ट्र और दुर्योधन के पास इसलिये भेजते हैं, कि जो दशा पुत्र के मरने से पाण्डवों की हुई है, वही तुम्हारी भी होगी। यह इतिवृत्त कवि की स्वयं की उद्भावना है।

(८) कर्णभार

ब्राह्मण का रूप धारण कर इन्द्र कर्ण से कवचकुण्डल माँगने आता है, उस कथा को आधार बना कर नाटक लिखा गया है।

(९) उरुभंग

भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध, तथा दुर्योधन के उरुभंग की कथा है।

(१०) स्वप्नवासवदत्तम्

यह कौशांबी के राजा उदयन की कथा पर आधृत है। उदयन का मंत्री

यौगंधरायण उसकी महिषी वासवदत्ता के लावाणक वन में जल जाने की झूठी खबर उड़ाकर उसे छिपे वेश में मगधराजपुत्री पद्मावती के पास रख देता है। इधर यौगंधरायण की ही चाल से उदयन का विवाह मगधराज दर्शक की बहिन पद्मावती से हो जाता है। पद्मावती के गृह में सोया हुआ उदयन स्वप्न में वासवदत्ता को देखता है। वह स्वप्न यथार्थ हो जाता है। इस नाटक में भास ने शुद्ध प्रेम का सुंदर चित्र अंकित किया है।

(११) प्रतिज्ञायौगंधरायण

इसमें भी उदयन की ही कथा वर्णित है। इसे हम स्वप्नवासवदत्तम् से पहले का नाटक कह सकते हैं। कौशाम्बीराज उदयन नकली हाथी के छल से महासेन–अवंतिराज–के द्वारा कैद कर लिया जाता है। धीरे धीरे वह कुमारी वासवदत्ता को वीणा की शिक्षा देने लगता है। दोनों का प्रेम हो जाता है, और यौगंधरायण की सहायता से उदयन वासवदत्ता को लेकर उज्जयिनी से भाग निकलता है।

(१२) अविमारक

इस नाटक में अविमारक तथा राजा कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी के प्रेम की कहानी है। अविमारक का संकेत कामसूत्र में मिलता है। संभवतः अविमारक की कथा भास के समय की लोककथाओं में प्रसिद्ध रही हो। इस नाटक में प्रेम का सुंदर एवं सरस चित्र है।

(१३) चारुदत्त

इस नाटक की कथा उज्जयिनी के सार्थवाह चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना के प्रेम को लेकर निबद्ध की गई है। संभवतः मृच्छकटिककार ने इसी नाटक को आधार बनाकर अपने प्रकरण का पल्लवन किया है। चारुदत्त की कथा का आधार भी लोककथा ही दिखाई देती है। चारुदत्त की कथा जैसी कुछ कथाएँ—किसी ब्राह्मण और गणिका के प्रेम की कथाएँ—

गुणाढ्य की बृहत्कथा में रही होंगी, ऐसा संकेत 'कथासरित्सागर' (सोमदेव-कृत) से मिल सकता है, जो 'बड्ढकहा' से अत्यन्त प्रभावित जान पड़ता है।

ऐसा मालूम पड़ता है, भास ने अपने काल की लोककथाओं पर भी नाटक लिखना चाहा होगा। मेरा अनुमान ऐसा है कि स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिज्ञा नाटक का उदयन भी उस काल में कोरा ऐतिहासिक नायक नहीं था। वह लोककथाओं के 'रोमैंटिक हीरो' के रूप में प्रसिद्ध हो चुका होगा। भास के समय उदयन, अविमारक और चारुदत्त की कहानियाँ बूढ़ी दादी-नानियों की कहानियाँ रही होंगी, जैसे आज कई राजकुमारों व सेठके लड़कों की 'रोमानी' कथाएँ हम सुना करते हैं। ये तीनों मध्यकाल की पद्मावती-कथाओं, या हीर-राँझा ढोला-मारू जैसी लोककथाएँ रही हैं, और उदयन की लोक-कथा का आधार ऐतिहासिक घटना भी जान पड़ती है। इस तरह भास के द्वारा उस काल की समस्त कथासम्पत्ति का नाटकीय उपयोग करना, कवि की अनूठी सूझ का परिचय देता है।

भास का नाटकीय संविधान

भास के नाटकों की कथावस्तु का जो संकेत ऊपर किया गया है उससे स्पष्ट है, कि भास के नाटकों की वस्तु का क्षेत्र विविध है, और यह विविधता भास की प्रतिभा की मौलिकता को व्यक्त करती है। पर इतना होते हुए भी भास के सभी नाटकों में एक सी नाट्य-कुशलता नहीं मिलती। रामायण से संबद्ध नाटकों का कथासंविधान बहुत शिथिल है, तथा भास की नाटकीय कुशलता का परिचायक नहीं कहा जा सकता; जब कि महाभारत से संबद्ध नाटकों में भास की प्रतिभा अधिक व्यक्त हुई है। कवि ने महाभारत से संबद्ध इतिवृत्तों में विशेष दिलचस्पी दिखाई है। किंतु भास को सबसे अधिक सफलता उदयन की 'रोमैंटिक' कथा से संबद्ध नाटकों में मिली

है, तथा स्वप्नवासवदत्तम् एवं प्रतिज्ञायौगंधरायण भास के नाटकों में निश्चित रूप से उच्च कोटि के नाटक हैं।

राम के इतिवृत्त को लेकर लिखे गये दोनों नाटकों—अभिषेक तथा प्रतिमा—में भास ने किसी मौलिक नाटकीय प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं किया है। नाटकों के पढने से ऐसा जान पड़ता है कि इनके संविधान में नाटककार ने कौतूहलवृत्ति को उत्पन्न नहीं किया है, जो नाटक की प्रभावात्मकता के लिए अत्यावश्यक है। दोनों नाटकों में रामायण की कथा का ही शुष्क संक्षेप है, जिसे मंच के उपयुक्त बना दिया गया है। नाटककार ने रामायण की मूल कथा में कुछ परिवर्तन किये हैं, किंतु वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सुग्रीव तथा वाली के द्वन्द्व को दो बार हुआ न बताकर एक बार ही हुआ बताया गया है, तथा राम के द्वारा बिना किसी कारण के वाली का वध करना राम के चरित्र को दोषयुक्त बना देता है।[1] यहाँ यह कह देना अनावश्यक न होगा कि बाद के संस्कृत नाटककारों ने राम के चरित्र से इस दोष को हटाने के लिए मौलिक उद्भावनाएँ की है। भवभूति के महावीरचरित में वाली स्वयं चढ़ाई करने आता है, और युद्ध में मारा जाता है। रामायण में वर्णित तारा-विलाप अभिषेक नाटक में नहीं पाया जाता, तथा नेपथ्य से तारा के रोने की आवाज आती है, पर वाली उसे मंचपर आने से मना कर देता है। वह यह नहीं चाहता कि तारा उसे मरते हुए देखे।[2] वाली की मृत्यु मंच पर ही दिखाई गई है, जो नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध जान पड़ती है। प्रतिमा नाटक का क्षेत्र अभिषेक नाटक की अपेक्षा विशाल है। इस नाटक में कवि ने दो-तीन मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। भरत को सीताहरण का पता पहले ही

---

१. रामः—हनूमन्, अलमलं संभ्रमेण। एतदनुष्ठीयते। (शरं मुक्त्वा) हन्त पतितो वाली। अभिषेक अंक १, पृ० ३२५.

२. वाली—सुग्रीव, संवार्यतां संवार्यतां स्त्रीजनः। एवंगतं नार्हति मां द्रष्टुम्॥
—वही पृ० ३२७.

एवं मार्मिक बना देता है।[1] श्रीकृष्ण के आयुध–सुदर्शन, कौमोदकी, शार्ङ्ग आदि का मञ्च पर लाना, सम्भवतः कुछ आलोचकों को खटक सकता है, विशेषतः सुदर्शन को एक मूर्तिमान् मानवी पात्र के रूप में उपस्थित करना। उरुभंग में दुर्योधन तथा भीम के गदायुद्ध का वर्णन है, गदायुद्ध में अनीति बरतने के कारण बलराम भीम पर क्रुद्ध हो जाते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के द्वारा शान्त कर दिये जाते हैं। अन्त में अश्वत्थामा के प्रचण्ड चरित्र को उपस्थित कर कवि ने एक मौलिक उद्भावना की है, जो मरते हुए राजा दुर्योधन को पुनः विजय की आशा दिलाता है, तथा पाण्डवों को रात्रियुद्ध में मारने का प्रण करता है। उरुभंग में भी अभिषेक के वाली की तरह दुर्योधन का देहावसान मञ्च पर ही होता है। दुर्योधन उरुभंग का नायक नहीं है, उसे प्रतिनायक ही मानना ठीक होगा, ठीक वैसे ही जैसे भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' में। पर उरुभंग में दुर्योधन का चरित्र अंकित करने में कवि पूर्णतः सफल हुआ है। दुर्योधन का चरित्र दुर्गुणों से युक्त होते हुए भी क्षत्रियोचित सम्मान के साथ मृत्यु प्राप्त करता है। पञ्चरात्र के कथानिर्वाह में कवि ने विशेष दिलचस्पी दिखाई है। महाभारत के विराटपर्व की कथा को कवि ने अपनी कल्पना से नया रूप दे दिया है। दुर्योधन के द्वारा द्रोण के कहने से पाण्डवों को आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा, अभिमन्यु का कौरवों के साथ युद्ध में आना और भीम के द्वारा युद्ध में बन्दी बना लिया जाना, कवि की निजी

---

१. दुर्योधनः—कथं कथं दायाद्यमिति।
वने पितृव्यो मृगयाप्रसंगतः कृतापराधो मुनिशापमाप्तवान्।
तदा प्रभृत्येव स दारनिस्पृहः परात्मजानां पितृतां कथं व्रजेत्॥ २१॥

वासुदेवः—पुराविदं भवन्तं पृच्छामि।
विचित्रवीर्यो विषयी विपत्तिं क्षयेण यातः पुनरम्बिकायाम्।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्यं जनकः कथं ते॥ २२॥

(दूतवाक्य. पृ० ४४८)

कल्पनाएँ हैं। पञ्चरात्र में कई नाटकीय दृश्य हैं, किन्तु इतिवृत्त की दृष्टि से वह महाभारत के इतिवृत्त जैसा प्रभावोत्पादक नहीं बन पड़ा है।

बालचरित को इतिवृत्त की दृष्टि से हम पूरा नाटक न कहेंगे। श्रीकृष्ण के बालचरित से सम्बद्ध कई घटनाओं को यहाँ एक साथ रख कर नाटकीय रूप दे दिया गया है। नाटक में कुछ कल्पनाएँ की गई है, जैसे कंस के स्वप्न में चाण्डाल युवतियों का आना, या मञ्च पर राज्यलक्ष्मी और शाप का मूर्त पात्रों के रूप में उपस्थित होना,[1] किन्तु इनसे नाटक की प्रभावोत्पादकता नहीं बढ़ी है। दूतवाक्य की ही तरह कृष्ण के आयुध यहाँ भी मूर्त रूप में मंच पर प्रविष्ट होते हैं, तथा अरिष्ट दैत्य का बैल के रूप में आने पर भी मानवी पात्र की तरह व्यवहार करना खटकता है। डॉ० कीथ का अनुमान है, कि अरिष्टनेमि का पात्र मंच पर केवल कृत्रिम वेश में ही आता था, और उसकी उक्ति से सामाजिकों को यह कल्पना कर लेनी पड़ती होगी कि वह बैल है।[2] ठीक यही बात कालिय के पात्र के विषय में कही जा सकती है, जो मंच पर उपस्थित होता है।[3] डॉ० कीथ का मत है कि बालचरित में भास की मौलिक प्रतिभा प्रकट हुई है; किन्तु हमें डॉ० डे का मत विशेष ठीक जँचता है, जो बालचरित को निर्दुष्ट नाटक नहीं मानते। वस्तुतः नाट्यकला की दृष्टि से बालचरित में व्यापारान्विति (Unity of action) का अभाव दिखाई पड़ता है।

---

१. बालचरित—द्वितीय अंक, पृ० ५२५-२८,

२. दे० Keith: Sanskrit drama. p. 106.

(साथ ही) अरिष्टर्षभः—एष भोः।

शृङ्गाग्रकोटिकिरणैःखमिवालिखंश्च शत्रोर्वधार्यमुपगम्य वृषस्य रूपम्॥

वृन्दावने सललितं प्रतिगर्जमानमाक्रम्यशत्रुमहमद्यसुखं चरामि॥ (बाल० ३.५)

३. बालचरित, चतुर्थ अंक पृ० ५४६-४७.

अविमारक की वस्तु किसी लोककथा पर आधृत है। इस नाटक में किसी ऋषि के शाप से राजकुमार अविमारक अन्त्यज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी रूप में उसका प्रेम कुंतिभोज की पुत्री कुरंगी से हो जाता है। पर अविमारक नाटक के नायक के द्वारा दो बार, तथा नायिका के द्वारा एक बार आत्महत्या करने का प्रयत्न कथा की प्रभावोत्पादकता में बाधा डालता है। भास ने प्रतिज्ञायौगंधरायण की भाँति यहाँ भी विदूषक की उद्भावना की है, किंतु अन्त्यज बने नायक के साथ विदूषक की संगति ठीक बैठती नहीं जान पड़ती। नारद को उपस्थित कर दोनों–नायक–नायिका–का विवाह करवाना निरर्थक प्रतीत होता है। यद्यपि डॉ० कीथ अविमारक को प्रेमकथा के आधार निर्मित सुंदर नाटक मानते हैं, जिसकी अभिव्यंजना तथा घटना अप्रौढ़ है, किंतु अविमारक में कहीं कहीं इतनी अधिक भावावेशता चित्रित की गई है, कि वह नाटक के सौंदर्य को विकृत कर देती है। 'दरिद्रचारुदत्त' में चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रणय का 'रोमानी' वातावरण चित्रित है। चारुदत्त का संकेत हम मृच्छकटिक के संबंध में आगे के परिच्छेद में करेंगे।

स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगंधरायण निश्चित रूप से भास के उच्च कोटि के नाटक हैं। इन दोनों नाटकों में कवि ने उदयन की अर्धैतिहासिक कथा को लिया है, जिसे बाद में हर्ष ने भी रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नाटिकाओं का आधार बनाया है। प्रतिज्ञायौगंधरायण में महासेन के द्वारा बंदी बनाये हुए उदयन के द्वारा वासवदत्ता को भगा ले जाने की कथा है; किंतु उदयन तथा वासवदत्ता दोनों ही नाटक के पात्रों के रूप में नहीं आते। नाटक का प्रमुख पात्र यौगंधरायण है, जो अपनी नीति से उदयन को महासेन के बंदीगृह से छुड़ाने तथा वासवदत्ता से परिणयन कराने में सफल होता है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस की भाँति प्रतिज्ञा० भी राजनीतिक

चालों से भरा हुआ नाटक है। किंतु जहाँ मुद्राराक्षस शुद्ध राजनीतिक नाटक है, वहाँ प्रतिज्ञा० में उदयन और वासवदत्ता की प्रणयकथा के 'रोमानी' ताने-बाने को बुन दिया गया है। आलोचकों ने प्रतिज्ञा० में कृत्रिम हाथी के छल से उदयन को पकड़े जाने की उद्भावना को, और महासेन के द्वारा प्रथम तो उदयन का आदर करने, किंतु बाद में निष्कारण शृंखलाबद्ध कर दिये जाने की कल्पना को दोषपूर्ण माना है।[1] इतना होने पर भी, नाटक में यौगंधरायण का स्वामिभक्त चरित्र अत्यधिक प्रभावशाली है, जो स्वामी के लिए प्रत्येक बलिदान करने को प्रस्तुत है। महासेन प्रद्योत के राजभवन का दृश्य, तथा तृतीय अंक का विदूषक और उन्मत्तक का वार्तालाप नाटक को मनोरंजक बनाने में सहायता करते हैं।

स्वप्नवासवदत्तम् का घटनाचक्र विशेष कुशलता से निबद्ध किया गया है। इसमें कार्यान्विति का पूर्ण ध्यान रखा गया है, तथा प्रभावात्मकता पूर्णतः पाई जाती है। कवि ने लोककथा को लेकर अपने ढंग से सजाया है। नाटक की दोनों नायिकाओं-वासवदत्ता और पद्मावती-के चरित्रों को स्पष्ट-रूप से निजी व्यक्तित्व दिया गया है। हर्ष की नाटिकाओं का विलासी उदयन यहां अधिक गंभीर रूप लेकर आता है। हर्ष का उदयन दक्षिण होते हुए भी शठ तथा धूर्त विशेष जान पड़ता है। भास के स्वप्नवासवदत्तम् का उदयन पूर्णतः दक्षिण है। वह वासवदत्ता के जल जाने पर भी उसे नहीं भूल पाता। वासवदत्ता के चरित्र को चित्रित करने में कवि ने बड़ी सावधानी और कुशलता बरती है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपा कर अपने पति के पराक्रम के लिए अपूर्व त्याग करती है। यौगंधरायण के

---

१. नकली हाथी की कल्पना को भामह ने दोष माना है, क्योंकि जब उदयन को हस्ति-विद्या में कुशल माना गया है, तो वह नकली हाथी के धोखे में कैसे आ सकता था। (भामह ४.४०) पर लोककथाओं में ऐसा चलता है, इसे मानने पर संभवतः भास की उद्भावना दोषयुक्त न दिखाई पड़ेगी।

कहने से वह अपने की आग में जलने की खबर फैलवा कर मगधराज दर्शक के अन्तःपुर में पद्मावती के पास रहना स्वीकार करती है, तथा पद्मावती के साथ उदयन का विवाह होने देती है। यही नहीं, वह अपने आपको उदयन के समक्ष प्रकट होने से बचाती है। नाटक अत्यधिक भावात्मक हैं, किंतु कवि ने यहां अविमारक की तरह 'मेलोड्रेमेटिक' तत्त्व का समावेश न कर, नाटक की प्रभावोत्पादकता को अक्षुण्ण बनाये रखा है। वैसे वासवदत्ता के न मरने का पता सामाजिकों को आरंभ में ही चल जाता है, जो नाटक की कुतूहलवृत्ति को समाप्त कर देता है। पर ऐसा भी माना जा सकता है कि नाटककार स्वयं 'वासवदत्ता जली नहीं है' इस भावना को सामाजिकों में आरंभ से ही उत्पन्न कर देना चाहता है, और यहां वह 'नाटकीय आश्चर्य' (Dramatic Surprise) के स्थान पर 'नाटकीय अपेक्षा' (Dramatic Expectation) की योजना करता जान पड़ता है। यद्यपि स्वप्नवासवदत्तम् का नाटकीय संविधान प्रौढ नहीं है, तथापि इसके निर्वाह से नाटककार का महान् व्यक्तित्व प्रकट होता है। राजशेखर का यह कहना कि 'भास के नाटकों को परीक्षार्थ (आलोचना की) अग्नि में फेंके जाने पर, स्वप्नवासवदत्तम् न जलाया जा सका'[1] उचित जान पड़ता है। राजशेखर की इन पंक्तियों से स्वप्नवासवदत्तम् में रानी के जलने की झूठी खबर उड़ाने की भी व्यंजना होती है।

भास का कवित्व

संस्कृत नाटकों का खास लक्ष्य चरित्र का अन्तर्द्वन्द्व बताना न होकर, रसानुभूति उत्पन्न करना होता है। यही कारण है, संस्कृत नाटकों में काव्यत्व

१. भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥ —राजशेखर

अत्यधिक पाया जाता है। आज के यथार्थवादी नाटककारों से—जिन पर इब्सन या गाल्सवर्दी का प्रभाव पड़ा है—पुराने नाटकों की पद्धति सर्वथा भिन्न है। स्वयं शेक्सपियर के नाटक भी काव्यत्व से भरे पड़े हैं। संस्कृत के नाटकों में काव्यत्व खास गुण है, और ह्रासोन्मुख काल में तो यह काव्यत्व इतना अधिक बढ़ गया है, कि नाटक अपने स्वत्व को खो बैठे हैं। नाटक में काव्य का समावेश करना बुरा नहीं है, किन्तु नाटक का स्वयं का गुण—घटनाचक्र की गत्यात्मकता, नाटकीय कुतूहल, दृश्यों का स्वाभाविक विनियोग और सामाजिकगत प्रभाव—उसके द्वारा क्षुण्ण न बना दिया जाय, इसका ध्यान रखना ही नाटककार की सफलता है। नाटककार को कवि के भावावेश में ठीक उसी मात्रा में बहना ठीक नहीं, जैसा प्रबन्ध कवि में पाया जाता है। कालिदास के नाटकों में नाटकीयता तथा कविता का, जो सन्तुलन मिलता है, वह संस्कृत के किसी नाटक में नहीं। भवभूति केवल कविता के बहाव में बह जाते हैं। वैसे मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, हर्ष की नाटिकाएँ आदि में भी कविता ने नाटकीयता को क्षुण्ण नहीं किया है। भास का कवित्व सदा नाटकीयता का सहायक बन कर आता ह। भास के कवित्वपूर्ण पद्य ऊपर से जोड़े हुए नहीं दिखाई देते, वे नाटकीय घटनाचक्र को गति देने में सहायता करते हैं। भास के संवादों की सरल भाषा, जिसमें प्रायः समासान्त पदों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है, और पद्यों की प्रसंगानुकूल भावात्मकता नाटकों की प्रभावोत्पादकता में हाथ बँटाती है।

कवि की दृष्टि से भास से अश्वघोष अधिक प्रौढ़ दिखाई देते हैं। सम्भवतः भास का प्रमुख लक्ष्य नाटकीय योजना था। भास की शैली प्रसादगुणयुक्त है, किन्तु वीर रस के वर्णनों में वह ओज का भी प्रदर्शन करती है। भास श्रृङ्गार और वीर रस की व्यञ्जना कराने में सफल हुए हैं। भास की कवित्व शैली के दो तीन उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते,
दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः ।
तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं
पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः ॥ (स्वप्न० ४. १)

'जब मैं उज्जयिनी में था, तो अवन्तिराज की पुत्री (वासवदत्ता) को देखकर किसी विशेष अवस्था को प्राप्त हो गया था, कामदेव ने मुझे एक साथ पाँचों बाणों से बेध दिया था। उन बाणों का घाव आज भी हृदय में बना हुआ है, और अब वासवदत्ता के वियोगरूपी बाण से फिर हमें बेध कर दिया गया है। यदि कामदेव के पास केवल पाँच ही बाण हैं, तो पाँच बाण तो वह पहले ही फेंक चुका था, जो अभी भी हृदय से निकले नहीं हैं, फिर यह छठा बाण उसने कहाँ से मारा है ?'

चलविलुलितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो, भ्रमरमुखविदष्टां किञ्चिदुत्कृष्य मालाम् ।
असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः ॥

(ऊरुभंग. २६)

'देखो, ये बलराम चले आ रहे हैं। क्रोध के कारण इनकी लम्बी लम्बी आँखें लाल हो गई हैं, और सिर तेजी से हिल रहा है। इनके गले में पड़ी माला की सुगन्ध से भँवरें उसके आसपास मँड़रा कर उसे काट रहे हैं, और भँवरों को हटाने के लिए इन्होंने माला को कुछ टेढ़ा कर लिया है। ये अपने नीले वस्त्र को, जो जमीन पर लटक रहा है, समेटते हुए आ रहे हैं, और ऐसा दिखाई देता है, जैसे परिवेष (मण्डल) से युक्त चन्द्रमा ही पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हो गया हो।'

इन दोनों भावों से भिन्न भाव की अभिव्यञ्जना निम्न पद्य में देखिये, जहाँ लक्ष्यप्राप्ति के लिए उत्साह और कष्टसहनक्षमता पर जोर दिया गया है।

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद् भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति ।
सोत्साहाना नास्त्यसाध्यं नराणां मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥
(प्रतिज्ञा० १. १८)

'काष्ठ के मन्थन करने पर अग्नि पैदा होती है, पृथ्वी खोदे जाने पर ही जल देती है । उत्साही व्यक्तियों के लिए कोई भी वस्तु असाध्य नहीं है । कार्य को आरम्भ करने पर ही उनके सारे लक्ष्य फलीभूत हो जाते हैं ।'

प्रकृति वर्णन की निम्न स्वाभाविक और अनलंकृत शैली देखिये :—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम् ।
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥ (स्वप्न० १. १६)

'सायंकाल हो रहा है । पक्षी अपने नीडों की ओर चले गये हैं । मुनियों ने जलाशय में स्नान कर लिया है । सायंकालीन अग्निहोत्र के लिए जलाई गई अग्नि सुशोभित हो रही है, और उसका धुआँ मुनिवन में फैल रहा है । सूर्य भी रथ से उतर गया है, उसने अपनी किरणें समेट ली हैं, और रथ को लौटाकर वह धीरे धीरे अस्ताचल की ओर प्रविष्ट हो रहा है ।'

अविमारक के निम्न सरस पद्य की शैली एक बाणी विह्लण की चौरपञ्चाशिका के पद्यों की याद दिला देती है[1]:—

अद्यापि हस्तिकरशीकरशीतलांगीं बालां भयाकुलविलोलविषादनेत्राम् ।
स्वप्नेषु नित्यमुपलभ्य पुनर्विबोधे जातिस्मरः प्रथमजातिमिव स्मरामि ॥
(अविमारक २. १)

---

१. अद्यापितामविगणय्य कृतापराधं मां पादमूलपतितं सहसा गलन्तीम् ।
वस्त्राञ्चलं मम करान्निजमाक्षिपन्तीं मा मेति रोषपरुषं ब्रुवतीं स्मरामि ॥
(चौरपंचाशिका)

अविमारक कुरङ्गी के प्रथम दर्शन को याद करता हुआ कह रहा है। मैं आज भी उस सुन्दरी का स्मरण कर रहा हूँ, जो हाथी की सूँड से छोड़े गये जलबिन्दुओं से भीग गई थी और हाथी के डर से जिसकी आँखें भय से व्याकुल, चंचल तथा दुःखपूर्ण दिखाई देती थी। मैं उसे आज भी इसी तरह याद कर रहा हूँ, जैसे कोई व्यक्ति किसी वस्तु को स्वप्न में देख कर जगने पर उसे याद करता है। अथवा जैसे मैं स्वयं (शाप से अन्त्यज होने के पूर्व की) अपनी पुरानी जाति को प्रतिदिन स्वप्न में प्राप्त कर जगने पर अपनी उस पुरानी जाति की याद किया करता हूँ।

इस पद्य में कुरंगी के पूर्वानुभूत दर्शन की स्मरणगत अनुभूति के लिए, जिस उपमा का प्रयोग किया गया है, वह कवि की मनोवैज्ञानिक सूझ का संकेत करती है। भास की कविता कालिदास जितनी प्रौढ भले ही न हो, किन्तु उसमें कवित्व की पर्याप्त मात्रा दिखाई देती है।

भास की भाषा एवं प्राकृत

भास की संस्कृत में कई अपाणिनीय प्रयोग मिल जाते हैं। कई संधियाँ अशुद्ध हैं, यथा—अवन्त्याधिपतेः (पृ. ३९), तमौघम् (पृ. ३१६), विगाह्य उल्कां (पृ. ५२६)। कई स्थानों पर परस्मैपद तथा आत्मनेपद के प्रयोगों में अपाणिनीयता दिखाई देती है, यथाः—आपृच्छामि भवन्तौ (पृ. ११), इहोपलप्स्यति चिरं (पृ. ४६२), कथमगणितपूर्वं द्रक्ष्यते तं नरेन्द्रः (पृ. ६७) गमिष्ये विबुधावासम् (पृ. ५५७), कर्षमाणः (पृ. ५०५), रक्षमाणा (पृ. ५१४), प्रतिगर्जमानं (पृ. ५४०)। इनमें कई प्रयोग तो छन्द की सुविधा के कारण किए गए हैं। डॉ० कीथ का कहना है कि भास के इन प्रयोगों पर संभवतः रामायण तथा महाभारत के आर्ष प्रयोगों का प्रभाव है।

भास के नाटकों की प्राकृत प्रायः शौरसेनी है। दूतवाक्य के अतिरिक्त अन्य सभी नाटकों में प्राकृत का प्रयोग पाया जाता है। मागधी का प्रयोग प्रतिज्ञा, चारुदत्त, बालचरित, पंचरात्र तथा कर्णभार में हुआ है। भास की शौरसेनी से ऐसा पता चलता है कि वह अश्वघोष तथा कालिदास के बीच की स्थिति का संकेत करती है। अश्वघोष की प्राकृत में अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ सघोष अल्पप्राण नहीं होती, भास की प्राकृत में ट और त क्रमशः ड और द हो जाते हैं।[1] अश्वघोष की प्राकृत में स्वरमध्यग व्यंजन लुप्त नहीं होते, जब कि भास में स्वरमध्य क, ग, च, ज, त, द, प, ब, व, य का लोप हो जाता है,[2] यद्यपि यह लोप कालिदास की अपेक्षा कम पाया जाता है। महाप्राण ख, घ, थ, ध, फ, भ भास की प्राकृत में ह हो जाते हैं,[3] अश्वघोष में ये अपरिवर्तित बने रहते हैं। संस्कृत ज्ञ कालिदास की प्राकृत में ण्ण मिलता है, अश्वघोष में ञ्ञ, किन्तु भास की प्राकृत में इसका कभी तो ञ्ञ रूप मिलता है, कभी ण्ण। संस्कृत 'वयं' का रूप अश्वघोष में अपरिवर्तित रहता है, कालिदास में इसका 'अम्हे' रूप मिलता है। भास की प्राकृत में ये दोनों रूप पाए जाते हैं, साथ ही 'वअं' रूप भी मिलता है। अस्मत् शब्द के षष्ठी बहुवचन में भास में अम्हाअं, अम्हाणं दोनों रूप मिलते हैं, अश्वघोष में अम्हाकं रूप मिलता है।

भास की मागधी तथा अर्धमागधी (जो केवल कर्णभार के इंद्र के द्वारा व्यवहृत होती है) में हमें दो रूप मिलते हैं। बालचरित तथा पंचरात्र में

---

१. सिक्खिदा (पृ. २१७), ठाविदो (पृ. २१५), पडिहारं उवट्ठिदा (पृ. ४८) शाडिआए (पृ. ८८) आदि।

२. आअन्तुआणं (पृ. २१७), णिप्पओअणं (पृ. १९), मोदअखज्जआणि (पृ. २०), आदि।

३. विहाणं (पृ. ७०), अहिमुहो गच्छइ (पृ. ८८)।

ष और ओ ध्वनि पाई जाती है, प्रतिज्ञा और चारुदत्त में श और ए। मागधी में 'अहं' के लिए 'अहके' का प्रयोग पाया जाता है।

भास और रंगमंच

भास के नाटक रंगमंच के उपयुक्त हैं। उनके नाटक बाद के संस्कृत नाटकों की तरह विशेष लंबे नहीं हैं। पद्यों का प्रयोग, संवादों की योजना अस्वाभाविक नहीं है, जिससे सामाजिक ऊब जाय। घटनाचक्र की दृष्टि से महाभारत, उदयन तथा प्रणयकथा वाले नाटक रंगमंच पर खेले जा सकते हैं। वाली, दुर्योधन, कंस आदि का मंच पर वध संभवतः कुछ लोगों को बुरा मालूम दे, पर ऐसा जान पड़ता है, भास पापी(क्रूर)पात्रों की मृत्यु को मंच पर दिखाना बुरा नहीं समझते, क्योंकि उससे सामाजिकों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। अरिष्ट, कालिय, कात्यायनीदेवी, कृष्ण तथा देवी के आयुधों का मूर्तरूप में मंच पर लाया जाना, और राज्यलक्ष्मी तथा शाप का मानवी रूप में आना, कुछ अखरता है। अच्छा होता, कवि इन्हें मंच पर न लाकर इनकी सूचना भर दे देता। दृश्ययोजना की दृष्टि से भास में ऐसी कुछ त्रुटियाँ मिल जायँगी। यदि ऐसे दृश्यों में कुछ आवश्यक परिवर्त्तन कर दिये जायँ, तो ये नाटक खेले जा सकते हैं। भास के कुछ नाटकों में बीच बीच में संगीत और नृत्य का समायोग किया गया है। बालचरित के तृतीय अंक में हल्लीशक नृत्य की योजना की गई है, जिसमें गोप और गोपिकाएँ भाग लेती हैं। ऐसे ही एक नृत्य की योजना पंचरात्र के द्वितीय अंक में की गई है। अभिषेक नाटक में गंधर्व और अप्सराओं की विष्णु-स्तुति के द्वारा संगीत का भी विनियोग किया गया है।

भास और कालिदास

कालिदास ने स्वयं मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भास का नाम आदर के साथ लिया है। अतः भास के नाटकों का कालिदास की नाट्यकला

पर प्रभाव होना संभव है। जब हम भास तथा कालिदास के नाटकीय संविधान की तुलना करते हैं, तो यह धारणा अत्यधिक पुष्ट हो जाती है। दोनों नाटककारों में कई समानताएँ दिखाई देती हैं। यह दूसरी बात है कि कालिदास की नाटकीय प्रतिभा ने भास की वस्तुसंघटना को लेकर नया रूप, नई स्निग्धता दे दी है, और उसमें अधिक कलात्मकता संक्रान्त कर दी है, किन्तु कालिदास के प्रति भास का ऋण असंदिग्ध है।

शाकुन्तल के प्रथम अंक में शकुन्तला को वल्कल की वेशभूषा में देखकर राजा कहता है-'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।' इसी भाव को भास के प्रतिमानाटक (प्रथम अंक) में भी देखा जा सकता है, जहाँ सीता को वल्कल धारण करते देखकर उसकी सखी कहती है—सव्वसोहणीअं सरूवं णाम।[1] दोनों स्थलों को देखने से पता चलता है कि कालिदास की नाटकीय योजना विशेष सुंदर है। शकुन्तला नाटक के प्रथम अंक में शकुन्तला के द्वारा वनपादपों को सींचे जाने वाले दृश्य[2] पर प्रतिमानाटक के पंचम अंक का प्रभाव है, जहाँ सीता के द्वारा वनपादपों को सींचे जाते देखकर राम सीता के सौकुमार्य के अनुचित उपयोग के विषय में चिन्तित होते हैं।[3] उसी नाटक के पंचम अंक में राम सीता से विन्ध्य के हरिणों, पादपों, लताओं सभी से विदा लेने को कहते हैं, क्योंकि वे हिमालय के वन में रहने के लिए वहाँ से प्रस्थित होना चाहते हैं।[4] शाकुन्तल में आश्रम से विदा होते हुए शकुन्तला से कण्व अन्तिम बार वन के साथियों—पादप, लतादि—से विदा लेने को कहते हैं।

---

१. प्रतिमा (पृ. २५३)   २. शाकुन्तल (१.१६)

३. योस्याः करः श्राम्यति दर्पणेऽपि स नैति खेदं कलशं वहन्त्याः।
कष्टं वनं स्त्रीजनसौकुमार्यं समं लताभिः कठिनीकरोति॥ (प्रतिमा. ५.३)

४. आपृच्छ पुत्रकृतकान् हरिणान् द्रुमांश्च विन्ध्यं वनं तव सखीर्दयिता लताश्च।
वत्स्यामि तेषु हिमवद्गिरिकाननेषु दीप्तैरिवौषधिवनैरुपरञ्जितेषु॥ प्रतिमा ५ ११

यही नहीं, हरिणों के लिए प्रतिमा नाटक में 'पुत्रकृतकान्' कहा गया है, तो शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में भी हरिण को 'पुत्रकृतक' ही कहा गया है।[1]

शाकुन्तल के प्रथम अंक का तपोवनवर्णन और अनुसूया के प्रति राजा के वचन 'भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतं आतिथ्यं' स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम अंक के तपोवनवर्णन तथा तापसी के द्वारा किए गए वासवदत्ता के आतिथ्य की याद दिलाते हैं। कुछ विद्वानों ने शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप वाली कल्पना पर भी अविमारक वाले शाप की नाटकीय संघटना का प्रभाव माना है, किन्तु इतनी दूरारूढ़ कल्पना हमें नहीं जँचती।

कालिदास की नाटकीय योजना, जिस रूप में आज हमें मिलती है, वह निश्चित रूप से भास से भिन्न है। भास के नाटकों में नांदीपाठ नहीं पाया जाता, किंतु कालिदास के नाटकों में नांदीपाठ पाया जाता है। वैसे दक्षिण से प्राप्त कालिदास के विक्रमोर्वशीय की कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मंगलाचरण नांदीपाठ के रूप में न होकर 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' के बाद में पाया जाता है। पर इस विंदु पर कोई निश्चित धारणा बनाना संभव नहीं। यह तो निश्चित है, कि कालिदास भास की अपेक्षा भरत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित हैं।

चाहे भास की नाट्यकला में हमें संस्कृत नाट्यकला का प्रौढरूप न मिले, किन्तु भास की नाट्यकला उस कृत्रिमता से मुक्त है, जिसने बाद के संस्कृत नाटकों को नाम भर के लिए दृश्यकाव्य बना दिया था। इस दृष्टि से भास के नाटक मंचीय दृष्टिकोण को लेकर आते जान पड़ते हैं, जिन्होंने कालिदास के नाटकों की सफलता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है।

---

१. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥
(शाकु० ४.१३)

महाकवि कालिदास की नाट्यकला

कालिदास के पूर्व की नाटकपरम्परा का संकेत हम भास की नाट्यकला पर लिखते समय कर आये हैं। इस परम्परा से इतना संकेत तो मिल ही जाता है कि कालिदास के हाथों में नाट्यकला उस समय आई, जब वह समृद्ध हो रही थी, और उसे किसी महान् कलाकार के अन्तिम स्पर्श की आवश्यकता थी। भास के नाटक—यदि वे मूलतः इसी रूप में थे, तो—शेक्सपियर के पूर्व के 'मोरेलिटी' तथा 'मिरेकिल' रूपकों (प्लेज) की तरह कलात्मक रमणीयता से रहित हैं, न उनमें कथावस्तु का नाटकीय ढंग का प्रौढ संविधान मिलता है, न पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, न काव्य की अतीव उदात्त भंगिमा ही। शेक्सपियर के नाटकों में ही सर्वप्रथम, हमें एलिजाबेथियन काल की साहित्यिक समृद्धि का पता लगता है, जिसने कविता और नाट्यकला का अपूर्व समन्वय कर आंग्ल साहित्य को नाटकों की अभिनव पद्धति दी। संस्कृत के नाटक साहित्य में ठीक यही महत्त्व कालिदास का है। कहा जाता है कि शेक्सपियर प्रथमतः नाटककार है, बाद में कवि, किन्तु कई आंग्ल आलोचक शेक्सपियर को आंग्ल साहित्य का सबसे बड़ा कवि भी मानते हैं, और इस प्रकार शेक्सपियर आंग्ल साहित्य का सबसे बड़ा नाटककार तथा कवि दोनों है। कालिदास को, कई आलोचक प्रमुखतः कवि मानते हैं, नाटककार नहीं। किन्तु यह मत भ्रान्त प्रतीत होता है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा वस्तु का विनियोग (handling of plot) इस बात का प्रमाण है, कि कालिदास कवि ही नहीं हैं, वे जीवन के गत्यात्मक चित्र का नाटकीय निर्वाह करने में भी उतने ही कुशल हैं। जहाँ तक नाटकीय कथावस्तु की गत्यात्मकता का

के मुद्राराक्षस का ही नाम ले सकते हैं। भवभूति, जिन्हें संस्कृत पण्डितों ने इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, इस दृष्टि से असफल सिद्ध हो जाते हैं। भवभूति निश्चितरूप से कवि हैं, पर नाटकीय दृष्टि से उन्हें सफल नाटककार नहीं कहा जा सकता। कालिदास ने अपने कवित्व के भार से नाटकीय कथावस्तु को कहीं भी आक्रान्त नहीं किया है। हम देखते हैं, विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक वाली पुरूरवा की भावात्मक उक्तियाँ भी नाटकीय प्रसंग के उपयुक्त हैं, क्योंकि वहाँ पुरूरवा की विक्षिप्त दशा का संकेत देना कवि का अभीष्ट है। भवभूति या मुरारि की तरह कालिदास ने कहीं भी भावात्मकता या पाण्डित्य के बाँध के द्वारा कथा की सरिता के प्रवाह को नहीं रोका है। इसी तरह कालिदास के संवाद भी, जैसा कि हम देखेंगे, इतने स्वाभाविक हैं कि वे स्वयं कथा को आगे बढाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

साहित्यिकों के सम्मुख महाकवि कालिदास के तीन नाटक अवतरित होते हैं:—(१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशीय, तथा (३) अभिज्ञान-शाकुन्तल। कालिदास की नाट्यकला निर्दिष्ट क्रम में ही विकसित हुई है, इसका संकेत हम पहले कर आये हैं। मालविकाग्निमित्र कवि की नाट्यकला का अंकुर है, विक्रमोर्वशीय में वह पुष्पित हुई है, तथा अभिज्ञानशाकुन्तल के रूप में वह समस्त संस्कृत नाट्यकला के मधुरतम फल के रूप में परिणत हुई है। मालविकाग्निमित्र की रचना कवि की सर्वप्रथम रचना है, तथा नया कवि कुछ संकोच के साथ अपनी कला का प्रदर्शन करता है, पर उसे सन्तोष इस बात का है कि कोई काव्य केवल नये होने के कारण ही दुष्ट या गर्हित नहीं हो जाता (न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्)।

(१) मालविकाग्निमित्र

नान्दीपाठ में शिव की वन्दना के बाद यह नाटक आरंभ होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार बताता है कि आज कालिदासरचित मालविकाग्नि-

मित्र नाटक का अभिनय किया जायगा। पारिपार्श्विक नये कवि कालिदास की कृति की अपेक्षा भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र जैसे लब्धप्रतिष्ठ नाटककारों की कला का प्रदर्शन विशेष ठीक समझता है, पर सूत्रधार यह कहता है कि हर एक पुरानी कविता उच्चकोटि की नहीं होती, और न हर एक नई कविता बुरी ही। सज्जन व्यक्तियों का यह स्वभाव है कि वे प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की तुला पर परीक्षित कर अच्छी वस्तु का प्रयोग करते हैं, जब कि मूर्ख व्यक्ति दूसरे के ज्ञान पर निर्भर रहते हैं,[१] और यहीं महादेवी धारिणी की दो सेविकाओं के प्रवेश की सूचना देकर वह चला जाता है। नाटक की कथावस्तु इसके बाद से आरंभ होती है।

पहला अंक मिश्रविष्कम्भक से आरम्भ होता है। इसमें सर्वप्रथम महादेवी धारिणी की दो दासियाँ बकुलावलिका तथा कौमुदिका आकर इस बात का संकेत देती हैं, कि महादेवी धारिणी मालविका को राजा की दृष्टि से छिपाना चाहती है, कि कहीं राजा अग्निमित्र उस पर अनुरक्त न हो जायँ। एक दिन राजा देवी के चित्र में मालविका का चित्र भी देख लेते हैं, तथा उसके बारे में पूछने पर कुमारी (राजकुमारी) वसुलक्ष्मी की बालसुलभ प्रकृति इस बात का संकेत कर देती है कि उसका नाम मालविका है। यहीं एक तीसरा पात्र और प्रवेश करता है—गणदास। गणदास के प्रवेश पर यह पता चलता है कि धारिणी ने मालविका को अपने विश्वासपात्र नाट्याचार्य गणदास के पास संगीत तथा नृत्य की शिक्षा देने के लिए रख दिया है, और वह बड़ी कुशलता से नृत्य की प्रायोगिक शिक्षा ग्रहण कर रही है।

प्रथम अंक इस विष्कम्भक के बाद आरम्भ होता है, जहाँ पूर्वघटित सूच्य वृत्त के बाद राजा अग्निमित्र मंच पर प्रवेश करते हैं, तथा विदूषक के

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ (माल० १. २)

आने का बड़ी बैचेनी से प्रतीक्षा कर रहे हैं। विदूषक उनका नर्मसुहृत् है, और ऐसा अनुमान होता है, वह उनके किसी कार्य की चिन्ता में, किसी दूसरे (रति के) सन्धिविग्रह की चिन्ता में, इधर उधर गया है। तब राजा के 'कार्यान्तरसचिव[1]' विदूषक गौतम प्रविष्ट होते हैं। यहीं पता चलता है कि विदूषक ने मालविका को राजा के दृष्टिपथ में अवतारित करने की कोई युक्ति सोचली है, और इसी बीच बाहर से झगड़ते हुए नाट्याचार्य गणदास तथा हरदत्त की 'तू-तू-मैं-मैं' सुनाई देती है। दर्शकों को ऐसा संदेह हो जाता है कि कहीं यह विदूषक गौतम की कूटनीति तो नहीं है। धीरे धीरे यह संदेह निश्चित धारणा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। दोनों नाट्याचार्य एक दूसरे को अपने से नीचा समझते हैं, तथा एक दूसरे की निंदा करते हैं, अतः महाराज इस बात का निर्णय कर दें कि इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है। पर निर्णय तो तभी हो सकता है, जब वे अपने अध्यापन का प्रायोगिक रूप दिखाकर परीक्षा दें, और यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि विदूषक इस बहाने गणदत्त की शिष्या मालविका को राजा के लिए दिखा देना चाहता है। इसी बीच धारिणी तथा भगवती कौशिकी (एक संन्यासिनी) को बुलाया जाता है। हरदत्त राजा के विश्वासपात्र हैं, गणदास महारानी धारिणी के, इसलिए यह आवश्यक होता है कि प्राश्निक (न्यायाधीश) का कार्य भगवती कौशिकी करे। भगवती कौशिकी यह प्रस्ताव रखती है, कि दोनों नाट्याचार्य अपने शिष्यों का प्रायोगिक प्रदर्शन करें। धारिणी इस बात को इसलिए टालना चाहती है, कि कहीं राजा मालविका को देख लेंगे, तो सारा मामला गड़बड़ा जायगा। यहीं सामाजिक की ऐसी कल्पना होने लगती है, कि कहीं भगवती कौशिकी भी विदूषक से तो नहीं मिली है।

---

१. अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्मानुपस्थितः। (माल० प्रथम अंक पृ. ३६

दूसरे अंक में राजा, धारिणी, भगवती कौशिकी तथा विदूषक रंगशाला में मालविका के नृत्य प्रदर्शन को देखते हैं, तथा प्राश्निक का निर्णय मालविका के प्रदर्शन की उत्कृष्टता के कारण गणदास के पक्ष में होता है। प्रदर्शन के बाद धारिणी इतनी उतावली में है कि मालविका को राजा के सामने अधिक देर तक रुकने का मौका न मिले। यहीं राजा तथा मालविका दोनों का पूर्वानुराग स्पष्ट दिखाई पड़ता है। तीसरे अंक के आरंभ में प्रवेशक के द्वारा मधुकरिका तथा समाहितिका इस बात का संकेत देती हैं, कि आज कल मालविका कुम्हलाई-सी नज़र आती है, तथा राजा भी उसके प्रति आकृष्ट हैं। इसी अंक में राजा तथा विदूषक छोटी रानी इरावती की प्रतीक्षा करते हुए प्रमदवन में प्रविष्ट होते हैं। यहीं विदूषक की उक्ति से पता चलता है कि मालविका की सखी बकुलावलिका दोनों के मिलाने में प्रयत्न कर रही है, यद्यपि महारानी धारिणी की उस पर उतनी ही कड़ी नजर है, जितनी सम्पत्ति पर उसकी रक्षा करते हुए साँप की, और इसलिए उसकी प्राप्ति सहज नहीं है।[1] इसी बीच महारानी धारिणी, पैर में चोट होने के कारण, अशोक के दोहदपूरण के लिए स्वयं नहीं आ पाती। वह मालविका को इसके लिए भेजती है। राजा को मालविका से मिलने का अवसर मिलता है, किंतु इरावती आकर विघ्न डाल देती है। वह राजा को कटु शब्द सुनाती है, और रुष्ट हो कर चली जाती है। चौथे अंक में यह पता चलता है कि धारिणी ने, सब बातें जानकर, मालविका तथा बकुलावलिका को तहखाने में कैद कर दिया है। पर विदूषक की कूटनीति सक्रिय रहती है, वह साँप के काटे जाने का बहाना बनाकर, महारानी धारिणी की अंगूठी (जिसमें सर्पमुद्रा चिह्नित है) को विषप्रकोप शान्त करने के बहाने लेकर उसे दिखाकर मालविका व

---

१. किन्तु सा तपस्विनी देव्याधिकं रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या। तथापि घटयिष्यामि। (माल० तृतीय अंक पृ. ३६)

बकुलावलिका को तहखाने से निकाल लाता है। पंचम अंक में कुछ नये पात्र आते हैं। विदर्भ देश से भेंट में भेजी दो सेविकाएँ आती हैं, और वे मालविका को पहचान लेती हैं, कि वह माधवसेन (विदर्भराजपुत्र) की बहिन है, तथा भगवती कौशिकी वहां के मंत्री की बहिन। कौशिकी ने मालविका के परिचय को अभी तक गुप्त रखा, इसमें कोई खास कारण था[1]। इसके बाद धारिणी की स्वीकृति से राजा मालविका का पाणिग्रहण कर लेता है, और नाटक भरतवाक्य के साथ समाप्त हो जाता है।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र की कथावस्तु पश्चाद्वर्ती 'नाटिका' उपरूपकों के ढंग पर दिखाई देती है। यद्यपि ५ अंकों में विभक्त होने के कारण यह 'नाटक' की कोटि में ही माना जायगा, पर कथावस्तु के संविधान की दृष्टि से यह 'नाटिका'—हर्ष की रत्नावली या प्रियदर्शिका—के विशेष समीप है। राजप्रसाद तथा प्रमदवन के सीमित क्षेत्र में घटित प्रणय-कथा ही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है, राजा अग्निमित्र अपनी बड़ी रानी धारिणी तथा छोटी रानी इरावती से छिप छिप कर मालविका से प्रेम करता है। नाटिका के नायक की तरह ही अग्निमित्र भी 'देवीत्रासेन शङ्कितः' है। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार अग्निमित्र 'धीरोदात्त' नायक माना जायगा, पर ध्यान से देखने पर वह 'धीरललित' कोटि का जान पड़ता है। मालविकाग्निमित्र में इसे 'नाटक' बनाने वाला तत्त्व केवल पाँच अंकों का विधान ही दिखाई पड़ता है। मालविकाग्निमित्र का अंगी रस शृङ्गार है, तथा विदूषिक की उक्तियाँ इसमें हास्य रस का समावेश कर देती है। मालविकाग्निमित्र के विदूषक पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। महारानी धारिणी तथा इरावती के चरित्र कई चित्रों में दिखाई देते हैं। वे राजा को प्रेम करती हैं, किन्तु राजा की अन्यासक्ति पसन्द नहीं करतीं। धारिणी का चरित्र अधिक गम्भीर, किंतु शंकित चित्रित

१. केनचन कारणेन खलु मया नैभृत्यमवलम्बितम् ॥ (माल. पंचम अं. पृ. ८९.)

किया गया है। वह राजा के व्यवहार से सदा शंकित रहती है, तथा प्रथम अंक में भगवती कौशिकी पर भी इस बात का संदेह करती जान पड़ती है कि कहीं वह राजा व मालविका को मिलाने में सचेष्ट न हो।[१] मालविका इस नाटक की नायिका है, किन्तु उसका चित्रण अत्यधिक सूक्ष्म हुआ है। भगवती कौशिकी के चरित्र को कालिदास ने गंभीरता के रंग से रंग दिया है।

(२) विक्रमोर्वशीय

कालिदास का दूसरा नाटक विक्रमोर्वशीय है। इसकी कथा का स्रोत ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा मत्स्य पुराण में देखा जा सकता है। मालविकाग्निमित्र का इतिवृत्त ऐतिहासिक है, किन्तु विक्रमोर्वशीय का पौराणिक। पुरूरवा तथा उर्वशी के प्रेम से सम्बद्ध इतिवृत्त को लेकर कालिदास ने इस पाँच अङ्क के नाटक का निबंधन किया है। हिमालय-प्रदेश में शिवकी सेवा से लौटती उर्वशी के दानवों के द्वारा पकड़े जाने पर, उसकी सखियाँ चिल्लाती हैं। वहीं पास से जाते हुए पुरूरवा के कान में अप्सराओं की चिल्लाहट पहुंचती है, और वह अप्सराओं के पास आकर रुदन का कारण पूछता है। तदनन्तर वह दानवों से युद्ध कर उर्वशी की रक्षा करता है। पुरूरवा के पराक्रम के कारण उर्वशी उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है, तथा पुरूरवा भी उर्वशी के प्रति मोहित हो जाता है। द्वितीय अंक में प्रवेशक के द्वारा सूचना दी जाती है कि राजा उर्वशी के प्रति मुग्ध हो गया है। तब मंच पर राजा तथा विदूषक आते हैं। बात चीत में राजा विदूषक को अपने प्रेम का हाल बता देता है। इसी समय उर्वशी तथा उसकी सखी चित्रलेखा

---

१. मूढे परिव्राजिके मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि ? (माल० पृ. १८.)

(साथ ही) अहो अविनय आर्यपुत्रस्य (पृ० २१), आर्य गणदास, ननु दर्शितोपदेशा ते शिष्या (पृ. ३०)

उपस्थित होती हैं, तथा छिपकर राजा की बातें सुनती हैं। उर्वशी एक पत्ते पर प्रेम संदेश लिख कर राजा की ओर फेंक देती है। इसी बीच देवी औशीनरी वहां आ जाती है, तथा विदूषक की मूर्खता से वह पत्ता उड़ता हुआ औशीनरी के पैरों में उलझ जाता है। वह पत्र देख लेती है। उसे देख कर क्रुद्ध होती है, तथा राजा अनुनय विनय करता है। तीसरे अंक में विष्कंभक के द्वारा यह सूचना दी जाती है कि उर्वशी ने भरत मुनि के द्वारा प्रदर्शित नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करते समय 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' का नाम ले लिया और इससे क्रुद्ध होकर मुनि ने उसे शाप दे दिया। पर इन्द्र ने कृपा कर उसे उतने समय तक पुरूरवा के पास रहने की आज्ञा दे दी, जब तक उसके पुत्रोत्पत्ति न हो और पुरूरवा उस पुत्र का मुँह न देखे। इसी अंक में उर्वशी राजा के पास आती है, तथा औशीनरी भी प्रसन्न होकर राजा को उर्वशी से प्रेम करने देती है। चतुर्थ अंक का प्रवेशक इस बात की सूचना देता है कि उर्वशी 'कुमारवन' में प्रविष्ट हो गई, तथा वहाँ लता के रूप में परिवर्तित हो गई। प्रवेश के बाद विक्षिप्त पुरूरवा का विलाप तथा प्रलापोक्तियाँ हैं। यहीं राजा को संगमनीय मणि प्राप्त होती है और इससे लता फिर उर्वशी बन जाती है। पंचम अंक में राजा राजधानी में लौट आता है, तथा वहाँ संगमनीय मणि को एक गीध चुरा ले जाता है। इधर एक बाण आकर गीध को लगता है, वह नीचे आ गिरता है। राजा के पास जब बाण लाया जाता है, तो उसे पढ़ने से पता चलता है कि वह 'पुरूरवा के पुत्र आयुष्' का बाण है। राजा को पुत्रोत्पत्ति का पता तक न था, क्योंकि उर्वशी ने उसे च्यवन के आश्रम में, इसलिए छिपा दिया था कि राजा उसका मुँह न देख सके तथा दोनों प्रेमी वियुक्त न हों। उर्वशी को इस घटना का पता चलने पर दुःख होता है, इसी बीच नारद आकर बताते हैं कि देव-दानवों के युद्ध में इन्द्र को पुरुरवा की सहायता अपेक्षित है

तथा इसके लिए फलस्वरूप उर्वशी उम्रभर तक राजा पुरूरवा के साथ रहेगी। यहाँ आकर भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

(३) अभिज्ञानशाकुन्तल

शाकुन्तल नाटक कालिदास की नाट्यकला का चरम परिपाक है। कालिदास ने महाभारत तथा पद्मपुराण से दुष्यन्त एवं शकुन्तला की कथा लेकर उसे नाटकीय ढंग से सजाया है। राजा दुष्यन्त मृगया खेलते हुए कण्व के आश्रम में पहुँच जाते हैं। वहाँ पेड़ों को सींचती हुई तीन मुनि-कन्याओं को देखते हैं। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं।[1] इसी बीच एक भौंरा उड़ता हुआ शकुन्तला के पास घूमने लगता है। शकुन्तला डरी हुई भागने लगती है, तथा दोनों सखियाँ भी चिल्लाने लगती हैं। लताओं की ओट में छिपा दुष्यन्त प्रकट होकर भौंरे को भगा देता है। यहीं शकुन्तला के हृदय में भी राजा के प्रति आकर्षण का बीज निक्षिप्त किया गया है।[2] राजा अपने परिचय में वास्तविकता छिपाकर, अपने को दुष्यन्त का सामन्त बताता है (राजपुरुषं मामवगच्छथ)। इसी अंक में राजा को पता चलता है कि शकुन्तला विश्वामित्र तथा मेनका की पुत्री है, और उसे शकुन्तला के 'क्षत्रपरिग्रहक्षमत्व' का दृढ विश्वास हो जाता है। द्वितीय अंक में राजा दुष्यन्त माधव्य से अपने प्रेम की बात कह देता है। इसी बीच कण्व के आश्रम के तपस्वी राजा से कुछ दिनों ठहर कर राक्षसों के विघ्न को मिटाने की प्रार्थना करते हैं। इधर इन्द्रप्रस्थ से देवी वसुमती का संदेश आता है कि उसके उपवास के पारण के दिन राजा अवश्य पहुँचे। विदूषक के शब्दों में राजा की अवस्था 'अन्तराल में स्थित

---

१. कथमियं सा कण्वदुहिता ? असाधुदर्शी खलु तत्र भवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते ॥ (शाकु० पृ. २७)

२. किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता ॥ (शाकु. पृ. ३८)

त्रिशंकु-सी हो जाती है'।[1] अन्त में, राजा विदूषक को भेजना चाहता है, पर भेजते समय वह माधव्य के दिमाग में शकुन्तलाविषयक रतिवाली बात को हटा देना चाहता है। कहीं माधव्य ये बातें जाकर देवी या अन्य किसी से न कह दें, और वह माधव्य को इस बात का विश्वास दिला देता है कि कहीं वह चक्रवर्ती राजा उस जंगली लड़की से प्रेम कर सकता है। राजा ने परिहास किया था, विदूषक उसे सच न समझ ले।[2] और इस तरह पंचम अंक की शकुन्तला-अस्वीकार वाली घटना की आधारभित्ति यहीं रख दी गई है। यदि माधव्य के संदेह को न मिटाया जाता, उसे उलटा विश्वास न दिलाया जाता, तो सामाजिक के हृदय में यह बात उठ सकती थी, कि जब माधव्य इस प्रेम को जानता था, तो शकुन्तला को पत्नी-रूप में राजा को ग्रहण करते न देखकर उसने कुछ भी नहीं कहा। इस शंका का निवारण द्वितीय अंक में ही कर दिया गया है।

तृतीय अंक में राजा छिप छिप कर शकुन्तला के पूर्वरागजनित विरह का पता लगा लेता है। लतागृह में पड़ी हुई विरहविदग्ध शकुन्तला, उसे भेजने को पत्र लिखती है, इसी समय छिपा हुआ राजा प्रकट होता है और दोनों का गांधर्व विवाह हो जाता है। पर इसके पहले कि दुष्यन्त अपनी अधरपिपासा को शान्त कर सके, गौतमी 'चक्रवाकवधू को सहचर से विदा लेने का' संकेत देती है, क्योंकि रात होने वाली है।[3] शकुन्तला चली जाती है, और राक्षसों के आने की सूचना देकर विरहव्याकुल दुष्यन्त को भी मंच से बड़ी कुशलता के साथ हटा दिया जाता है। चतुर्थ अंक के विष्कम्भक

---

१. त्रिशंकुरिवान्तराले तिष्ठ (शाकु० पृ. ८२)

२. क वयं क परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥ (शाकु० २.१८ पृ. ८३)

३. चक्रवाकवधूः, आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी॥ (शाकु० पृ ०१११)

से पता चलता है कि राजा इन्द्रप्रस्थ लौट गया है, और शकुन्तला उसके विरह में दुखी है। इसी बीच एक दिन दुर्वासा आश्रम में उपस्थित होते हैं। शकुन्तला राजा की चिन्ता में मग्न है। दुर्वासा का आतिथ्यसत्कार नहीं होता, वे शाप दे जाते हैं।[1] प्रियंवदा पीछे पीछे दौड़ कर दुर्वासा को प्रसन्न करती है, और वे प्रसन्न होकर कहते हैं किसी 'अभिज्ञान' को देखकर राजा शकुन्तला को पहचान लेगा। इस प्रकार यहाँ एक ओर 'अभिज्ञान', दूसरी ओर राजा के अंगुलीयक की महत्ता का संकेत किया गया है। कण्व तीर्थयात्रा से लौट आते हैं, तथा शकुन्तला के विवाह की बात जान कर उसे दुष्यन्त के पास भेजना तय करते हैं। चतुर्थ अंक का उत्तरार्ध तपोवन से विदा होती हुई शकुन्तला का करुण चित्र है, जो वनवासी तपस्वी कण्व के हृदय को भी पिघला देता है।[2] पंचम अंक में शकुन्तला को लेकर गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत दुष्यन्त के दरबार में पहुँचते हैं। राजा शकुन्तला को नहीं पहचानता, शकुन्तला प्रमाणरूप मुद्रिका बताने के लिए अंगुली टटोलती है, पर यह क्या.... मुद्रिका नहीं है। दुष्यन्त के द्वारा अनादृत शकुन्तला को शारद्वत आश्रम ले जाना अनुचित समझता है। गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत लौट जाते हैं, और बाद में पता चलता है कि कोई दैवी शक्ति अनाथ शकुन्तला को लेकर आकाश की ओर चली गई है।[3] छठे अंक का प्रवेशक खोई हुई मुद्रिका का अनुसंधान करता है। एक मछुवा राजनामांकित मुद्रिका बेचता पकड़ा जाता है। मुद्रिका के साथ मछुवा राजा के पास लाया जाता है। मुद्रिका देखते ही राजा की अतीत की परतें एक एक करके खुलने

---

१. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥ (४. १)

२. वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥ (४ ५)

३. स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम॥ (५. ३०)

लगती हैं। उसे शकुन्तला विषयक प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। शकुन्तला के विरह में राजा तड़फने लगता है, और माधव्य के साथ बैठ कर पुरानी बातें याद कर कर अपने निष्ठुर हृदय को कोसता है। शकुन्तला की याद में वह आश्रम के प्रान्तभाग की प्रकृति का सरस चित्र बनाकर विनोद करना चाहता है। इसी बीच इन्द्र का सारथि मातलि अदृश्यरूप धारण कर माधव्य को पकड़ कर उसका गला इसलिए घोंटने लगता है, कि विरह के कारण शान्त हुआ राजा का क्रोध उभरे, जिससे उसमें वीररस का संचार हो और वह इन्द्र के ऊपर आक्रमण करने वाले कालनेमि दानवों से लड़ने जाने को सन्नद्ध हो जाय। यही होता है। सप्तम अंक कालनेमि दानवों को जीतकर आकाशमार्ग से इन्द्ररथ के द्वारा लौटते दुष्यन्त के वर्णन से आरंभ होता है। मार्ग में गन्धमादन पर्वत पर स्थित भगवान् मारीच का आश्रम दिखाई पड़ता है। मारीच के दर्शन करके आगे बढ़ना उचित होगा, यह सोच कर दुष्यन्त मातलि को रथ ठहराने की आज्ञा देते हैं। जब वे आश्रम में प्रविष्ट होते हैं, तो शेर के बच्चे से खेलते एक बालक को देखते हैं। खेलते समय उस बालक के हाथ में बँधी अपराजिता ओषधि (गण्डा) गिर जाती है। राजा उसे उठा लेता है। बालक को खेलाती हुई दो तापसकन्याएँ इसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाती है, क्योंकि उस ओषधि को बालक के माता-पिता के अतिरिक्त कोई नहीं उठा सकता, यदि कोई उठाता है, तो वह ओषधि सर्प बन कर उसे डस लेती है। राजा भरत को गोदी में उठा लेते हैं। इसी समय मैले कुचैले वस्त्र पहने, खुले बालों वाली, विरहक्षाम शकुन्तला उपस्थित होती है। दोनों का करुण मिलन होता है। भरत इस नये व्यक्ति का परिचय माँ से पूछता है। शकुन्तला उत्तर देती है 'वत्स, अपने भाग्य से पूछ'।[1] सब मिलकर मारीच के दर्शन को जाते हैं। मारीच

---

१. वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ ॥ (शाकु० ७ पृ० २५२)

दोनों को आशीर्वाद देते हैं, तथा भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

कालिदास की वस्तु-योजना तथा चरित्रचित्रण

कालिदास के तीनों नाटक सुखान्त हैं, तथा इनका प्रतिपाद्य विषय शृंगार है। किन्तु मालविकाग्निमित्र की कथावस्तु की योजना उतनी प्रौढ नहीं जान पड़ती, जितनी विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल की। विक्रमोर्वशीय में कालिदास की नाटकीय वस्तु का एक खास ढंग का 'पैटर्न' दिखाई देता है, जो अभिज्ञानशाकुन्तल में भी पाया जाता है। दोनों नाटकों में केवल इतनी ही समानता नहीं है कि दोनों पौराणिक इतिवृत्त को आधार बना कर चलते हैं। सबसे बड़ी समानता, जिसका संकेत करना हमारा अभीष्ट है, दोनों नाटकों कीं वस्तु के सजाने का ढंग है। कालिदास के तीनों नाटकों की नायिका सर्वप्रथम दयनीय अवस्था में उपस्थित होती है, तथा नायक उसकी दशा को देख कर उसके प्रति मनसा या कर्मणा उपकार करता है। मालविका जैसी सुन्दरी को दासी के रूप में देखकर अग्निमित्र उसके प्रति सदय भाव का अनुभव करता है। विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल में इस योजना का विस्तृत रूप दिखाई पड़ता है। विक्रमोर्वशीय की उर्वशी तथा शाकुन्तल की शकुन्तला को कवि कुछ ऐसी विपद्गत दशा में चित्रित करता है, जिससे नायक छुड़ाता है। पुरूरवा दानवों के द्वारा अपहृत उर्वशी को युद्ध करके छुड़ा लाता है, और इस प्रकार उर्वशी को उपकृत करता है। दुष्यन्त पहले तो आश्रमजनोचित कार्य में व्यस्त शकुन्तला को देखकर उसके भाग्य की विचित्रता के प्रति आश्चर्य करता है, तथा शकुन्तला के प्रति करुण सस्पृह दृष्टि से उसी तरह देखता है, जैसे कोई इन्दीवर कमल के पत्ते के कोमल किनारे (धारा) से समिधा की लता को काटते व्यक्ति की निष्ठुरता को देखता है,[1] फिर वह

---

१. ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥ (१.१६)

भौंरे के विघ्न से आतंकित शकुन्तला की रक्षा कर उसका उपकार करता है। नायक के उपकार के प्रति कृतज्ञता के रूप में नायिका का आकर्षण चित्रित करना कालिदास की वस्तुयोजना का प्रथम विन्दु है, जो नायक-नायिका के प्रथम मिलन से संबंध रखता है। उर्वशी को लेकर जब पुरूरवा लौटता है, तो बेहोश उर्वशी होश में आने पर चित्रलेखा से पूछती है 'क्या इन्द्र ने उसकी रक्षा की है?' चित्रलेखा का उत्तर पुरूरवा के उपकार का संकेत करता है—'न महेन्द्रेण, महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरूरवसा' (पृ० २०), और ठीक इसी के बाद की उर्वशी की स्वगत उक्ति एक ओर उपकार के दुहरेपन की कृतज्ञता प्रदर्शित करती है, दूसरी ओर पूर्वराग के बीज का उद्भेद दिखाती है—'उपकृतं खलु दानवेन्द्रसंरम्भेण' (पृ० २०)। भौंरे से शकुन्तला की रक्षा करने पर इस तरह से किसी पात्र के द्वारा नायिका को नायककृत उपकार का स्मरण दिलाने की आवश्यकता न थी, किन्तु इस उपकार की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए कवि ने एक स्थल ढूँढ ही लिया है। प्रियंवदा की उक्ति के द्वारा कवि ने इसका संकेत कर शकुन्तला के कृतज्ञताप्रकाशन की व्यंजना करा दी है—'हला शकुन्तले मोचितास्यनु-कम्पिना आर्य्येण' (शाकु० पृ० ४९)। पर इतना होते हुए भी इन दोनों स्थलों में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा के शौर्य तथा रूप के कारण उर्वशी पहले मोहित होती है, बाद में पुरूरवा। उर्वशी की पूर्वोदाहृत ('उपकृतं' इत्यादि) उक्ति के बाद पुरूरवा के हृदय में पूर्वराग का निबंधन किया गया है, जो प्रसिद्ध पद्य[1] के द्वारा व्यक्त हुआ है। विक्रमोर्वशीय की नायिका के चरित्र को देखते हुए यही उपयुक्त दिखाई

---

१. अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
श्रृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ (विक्र० १.१० पृ० २०.)

पड़ता है, जो प्रथम तो अप्सरा—सामान्या स्त्री—है, दूसरे आगे के अंकों में अभिसारिका के रूप में चित्रित की गई है, जो स्वयं राजा से मिलने के लिए चित्रलेखा के साथ राजा के प्रमदवन में आकर छिप कर राजा की चेष्टाओं का पता लगाती है। शाकुन्तल में यह बात नहीं है, वहाँ दुष्यन्त में ही पहले पहल पूर्वराग का चित्रण किया गया है, तथा उसके बहुत बाद शकुन्तला को रागजनित विकार से युक्त निबद्ध किया गया है, जहाँ वह स्वगतोक्ति के द्वारा राजा को देखकर तपोवनविरोधी विकार की पात्र बनती व्यंजित की गई है। शाकुन्तल की यह वस्तुयोजना एक ओर शकुन्तला के भोलेपन, तथा राजा के कामुकत्व की व्यंजना करती है। किन्तु इतना होते हुए भी कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को स्थान स्थान पर धीरोदात्तत्व को दूषित करने वाले दोषों से वचाने का प्रयत्न किया है। कालिदास का पहला प्रयास 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' के रूप में स्पष्ट है, दूसरा प्रयास दुर्वासा के शाप की योजना है। यदि दुष्यन्त की धीरोदात्तप्रकृति के लिए 'कामुक' शब्द का प्रयोग बुरा लगे, तो 'रसिक' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु अपनी असलियत को छिपा कर स्वयं को दुष्यन्त का राजपुरुष कहने की धोखाधड़ी क्या उसके कामुकत्व को पुष्ट नहीं करेगी? नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के समय की बिदाई का चित्रण करते समय दोनों ही नाटकों में कवि ने नायिका के औत्सुक्य की सरस और स्वाभाविक व्यंजना में एक-सी प्रणाली का आश्रय लिया है। पुरूरवा को छोड़ कर आकाशमार्ग में उड़ती उर्वशी की वैजयन्तिका (हार) लताविटप में उलझ जाती है, जिसके बहाने मुड़ कर वह आखिरी बार राजा को देखना चाहती है। इस स्थल के वर्णन में कालिदास का नाटकीय संवाद (Dialogue) भी अपनी सूक्ष्मता तथा स्वाभाविकता के लिए उदाहृत किया जा सकता है:—

उर्वशी—अहो लताविटपे एषा एकावली वैजयन्तिका मे लग्ना। (सव्याज-मुपसृत्य राजानं पश्यन्ती) सखि चित्रलेखे, मोचय तावदेनाम्।

चित्रलेखा—(विलोक्य विहस्य च) आम्, दृढं खलु लग्ना सा, अशक्या मोचयितुम्॥ (विक्र० पृ० ३४)

[उर्वशी—अरे मेरी एकावली वैजयन्तिका लटाविटप में फँस गई। (इस बहाने से नजदीक जाकर राजा को देखती हुई) सखि चित्रलेखे, इसे सुलझा तो दे।

चित्रलेखा—(देख कर और हँस कर) हाँ, यह तो बहुत फँस गई है, सुलझाना असंभव है।]

शाकुन्तल में भी इसका संकेत मिलता है, पर वहाँ कवि ने हेरफेर कर उसे अधिक रमणीय रूप दे दिया है। प्रथम अंक की बिदाई के समय शकुन्तला की इस तरह की चेष्टा का कोई संकेत न देकर, कालिदास ने दूसरे अंक में नायक दुष्यन्त के द्वारा स्मरणरूप में शकुन्तलाविषयक औत्सुक्य की व्यंजना कराई है। माधव्य से अपने प्रेम की बात कहते तथा शकुन्तला का वर्णन करते समय नायक के मुख से ही निम्न उक्ति कहलाना, कवि की वस्तुयोजना को तीव्रतर बना देता है:—

दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥

(शाकु० २.१२)

'कोमल अंगों वाली शकुन्तला कुछ दूर जाकर इस बहाने रुक गई कि उसके पैर में दर्भ की नोक चुभ गई है। उसका वल्कल पेड़ों की शाखाओं में नहीं उलझा था, फिर भी टेढ़ी गरदन करके वह जैसे उसे सुलझाने की चेष्टा कर रही थी।'

उर्वशी की एकावली उलझती है, शकुन्तला का वल्कल, साथ ही शकुन्तला के पैर में दर्भ की चोट लगने का बहाना तपोभूमि के कठोर वातावरण और शकुन्तला की कोमलता के अनुरूप भी जान पड़ता है। नायक की दशा भी प्रथम दर्शन के बाद की बिदाई का मार्मिक चित्र लेकर आती है। आकाश में उड़ती उर्वशी पुरूरवा के मन को शरीर से इसी तरह तेजी से खींच कर ले जाती है, जैसे राजहंसी खंडित अग्रभाग वाले मृणाल के तन्तु को[1], और लतामण्डप से निकलते दुष्यन्त का शरीर तो आगे बढ़ता है, पर मन पीछे की ओर, शकुन्तला की ओर, उसी तरह बहा जा रहा है, जैसे वायु की दिशा में आन्दोलित ध्वजा का रेशमी कपड़ा।[2]

दोनों नाटकों में विदूषक का प्रवेश द्वितीय अंक में होता है, तथा राजा अपने प्रणय को व्यक्त करता है, किन्तु शाकुन्तल में कवि ने बड़ी कुशलता से इस प्रणयव्यक्ति को अन्यथा भी कर दिया है। विक्रमोर्वशीय में यहीं राजा पुरूरवा की पत्नी औशीनरी का प्रवेश कराकर कवि ने मालविकाग्नि-मित्र जैसी प्रणय-द्वन्द्व की स्थिति उपस्थित कर दी है। शाकुन्तल में कवि ने इस योजना को हटाकर एक नया रूप दिया है। दुष्यन्त की रानी वसुमती मंच पर कहीं नहीं आती, तथा छठे अंक में एक स्थान पर उसके आने की सूचना देकर भी उसका प्रवेश न कराना कवि की बहुत बड़ी सतर्कता है। शकुन्तला के 'शुद्धान्तदुर्लभ' सौंदर्य की होड़ में कवि किसी सुन्दरी का चित्रण करना अनावश्यक समझता है; साथ ही शाकुन्तल का प्रमुख प्रतिपाद्य पिछले दो नाटकों की तरह प्रणय-द्वन्द्व न होकर नियति-द्वन्द्व हो गया है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त के मिलन में धारिणी या औशीनरी

---

१. एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ (विक्र० १.२०.)

२. गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥ (शाकु० १.३०)

जैसा मूर्त विघ्न न होकर, दुर्वासा के शाप के रूप में अमूर्त नियतिचक्र ही बाधक दिखाई पड़ता है। शाप वाले नियति तत्त्व की योजना विक्रमोर्वशीय में भी देखी जा सकती है, जहाँ उर्वशी लता बन जाती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने कालिदास के शाकुन्तल (तथा मेघदूत में भी) की शाप वाली कल्पना की आलोचना की है, जो नायक के अन्तर्द्वन्द्व को उभरने नहीं देती, तथा कथा में अमानवीय शक्तियों के हाथ बँटाने का संकेत करती है। पर कालिदास के इतिवृत्त की पौराणिकता को ध्यान में रखने पर यह कल्पना ठीक बैठ जाती है।

दोनों नाटकों में नायक या नायिका में से कोई एक दूसरे की चेष्टाओं को छिप छिप कर देखता है। विक्रमोर्वशीय की उर्वशी छिपकर आती है, शाकुन्तल का दुष्यन्त तीसरे अंक में (प्रथम में भी) छिप छिपकर विरह-क्षाम शकुन्तला की चेष्टा का अध्ययन करता है। दोनों नाटकों में नायिका अपने प्रेम को पत्रलेख के द्वारा व्यक्त करती है।[1] नाटक में नायक-नायिका के द्वितीय मिलन के समय दोनों में औत्सुक्य को बनाये रखने के लिए कालिदास में एक और योजना पाई जाती है। वे किसी न किसी बहाने नायिका को तेजी के साथ नायक की आँखों से हटा देना चाहते हैं। विक्रमोर्वशीय के द्वितीय अंक में देवदूत आकर सूचना देता है कि महाराज इन्द्र भरतमुनि प्रणीत नाटक को देखना चाहते हैं। अतः उर्वशी जल्दी से स्वर्ग को लौट चले।[2] इसी के द्वारा कवि बाद में संकेतित भरतशाप, इन्द्रानुग्रह

---

१. स्वामिन् संभाविता यथाहं......शिखीव शरीरे (वि. २.१२) साथ ही 'तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि। निर्घृण तपति बलीयांस्तव वृत्त-मनोरथान्यंगानि।' (शाकु. ३.१३)

२. चित्रलेखे त्वरयोर्वशीम्।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः॥ (२.१७)

तथा तृतीय अंक गत पुरूरवा-उर्वशी मिलन का बीज निक्षिप्त करता है। शाकुन्तल के तृतीय अंक में भी शकुन्तला को हटा देने का उपक्रम किया गया है, पर वहाँ गौतमी की नेपथ्योक्ति 'चक्रवाकवधूः आमन्त्रयस्व सहचरम्, उपस्थिता रजनी' इस काम को पूरा करती है। गौतमी के इस उक्ति के बाद ही मंच पर आ जाने से दुष्यन्त को अन्तिम बिदाई के समय भी दो बातें करने का अवसर नहीं मिलता, उसे एकदम लताविटप की आड़ में छिपना पड़ता है। यहाँ कवि का प्रथम उद्देश्य औत्सुक्य की तीव्रता बनाये रखना है, दूसरा भावी तीन अंकों के विरह की पृष्ठभूमि दृढ करना।[1] इसी बीच लतामंडप को फिर से परिभोग के लिए आमंत्रित करती हुई शकुन्तला मंच से निष्क्रान्त हो जाती है।[2] विक्रमोर्वशीय के दूसरे अंक में ही औशीनरी का प्रवेश कराकर मंच को सूना नहीं रखा गया है, जब कि शकुन्तला के चले जाने पर मंच पर एक ओर छिपा वियोगभाराक्रान्त दुष्यन्त ही बचा रहता है। चिन्तामग्न दुष्यन्त को मंच से हटाने तथा अंक समाप्त करने में कालिदास ने एक और नाट्यकला विषयक चतुरता प्रदर्शित की है। नेपथ्य से तपोवन में राक्षसों के झुण्ड के आने की सूचना मिलती है[3] और इस तरह राजा में वीररस तथा कर्तव्यनिष्ठा का उद्बोध कर, चिन्ता के भाव को दबाकर, राक्षसों से लड़ने जाने के बहाने उसे मंच से निष्क्रान्त कर दिया गया है। इन समानताओं के अतिरिक्त दो तीन समानताएँ और भी हैं, जिनका सूक्ष्म संकेत आवश्यक होगा। दोनों नाटकों में प्रणय का फल 'पुत्रोत्पत्ति' व्यञ्जित किया गया है, तथा आयुष् एवं भरत राजा की आँखों

---

१. यावद्विटपान्तरितो भव। (शाकु. पृ. १११)

२. लतावलयसंतापहारक, आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय। (पृ. ११२)

३. सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्॥
(शाकु. ३.२४)

से दूर पाले जाते हैं, और उनका प्रवेश सामाजिक और नायक दोनों के लिए आकस्मिक रूप में कराया जाता है। साथ ही, दोनों नाटकों में मिलन के साधक रूप में किसी प्रत्यभिज्ञापक चिह्न का प्रयोग मिलता है, एक में संगमनीय मणि, दूसरे में राजनामांकित मुद्रिका। दोनों में नायक-नायिका के चिरमिलन में मुख्य या गौणरूप से दैवी शक्तियाँ—इन्द्र—काम करती देखी जाती हैं। इन्द्र के भेजे हुए नारद पुरूरवा तथा उर्वशी के चिरसाहचर्य का संदेश देते हैं, तो इन्द्र के लिए दानवों को जीतकर लौटते हुए दुष्यन्त का शकुन्तला से मिलन होता है।

कालिदास के चरित्रों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि कालिदास की नाट्यकला का प्रमुख लक्ष्य चरित्रचित्रण न होकर, रसव्यञ्जना है। यही कारण है शेक्सपियर जैसी चरित्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति, उनके अन्तर्द्वन्द्व का संघर्ष यहाँ नहीं मिलेगा। फिर भी कालिदास के चरित्र कहीं बाहर के जीव न होकर, इसी जमीन के खाद-पानी से पनपे हुए हैं। यह दूसरी बात है कि वे यथार्थ के मर्त्यलोक और आदर्श के स्वर्ग को जोड़ कर इतने सुन्दर ताने-बाने में बुन दिये जाते हैं, कि गेटे के शब्दों में उन्हें भी Heaven and earth combined' कहा जा सकता है। पुरूरवा वीर है, पर दुष्यन्त की अपेक्षा अधिक कोमल हृदय है। दुष्यन्त जहाँ एक ओर रसिकशिरोमणि है, वहाँ आदर्श राजा भी, जो दुष्टों को शिक्षा देता है, प्रजा के विवाद को शान्त करता है, तथा प्रजा का सच्चा बन्धु है।[1] वह तपोवन के विघ्नों को मिटाने के लिए, देवताओं के शत्रु दानवों का संहार करने के लिए, सदा प्रस्तुत रहता है। दुष्यन्त के उदात्त चरित्र की

---

१. नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥
(शाकु. ५.८)

पराकाष्ठा में कवि सहज शृङ्गारी नायक का चित्र उपस्थित नहीं करना चाहता, अपितु वर्णाश्रमधर्म के व्यवस्थापक राजा का आदर्श भी रखना चाहता है। उसके चरित्र का एक पहलू शृङ्गारी रसिकता भी हो सकती है; पर उसके चरित्र का दूसरा पहलू भी कवि की दृष्टि में कम महत्त्वपूर्ण नहीं दिखाई देता। मालविकाग्निमित्र की नायिका धारिणी की सेविका बनी भोली राजकुमारी है, तो विक्रमोर्वशीय की नायिका रतिविशारदा उर्वशी। शाकुन्तल की नायिका भोली तो है, पर आरम्भ के तीन अंकों में जिस तेजी से प्रणय व्यापार करती है, उस दोष को तपस्या की आँच में तपाकर कालिदास ने उसके स्वर्णिम चरित्र की भास्वरता को स्पष्ट कर दिया है।

रसव्यञ्जना

कालिदास मूलतः शृङ्गार के कवि हैं। पर पिछले दोनों नाटकों में शृङ्गार के फलस्वरूप आयुष् तथा भरत की पात्रयोजना कर नाटक को ही नहीं, शृङ्गार की धारणा को भी कवि ने नया दृष्टिकोण दिया है। सम्भवतः शृङ्गार के विषय में कालिदास का लक्ष्य (मोटो) 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' कहा है, तथा अफल (पुत्रोत्पत्तिरहित) शृंगार को वे वासना मानते जान पड़ते हैं। शृङ्गार, करुण, वात्सल्य, वीर तथा भयानक के सुन्दर स्थल कालिदास के नाटकों में पाये जाते हैं। दो तीन उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भौंरा उड़ उड़ कर शकुन्तला की चञ्चल कनखियों वाली दृष्टि का स्पर्श करता है, मानों कोई गुप्त बात कहने के लिए उसके कानों के पास शब्द कर रहा है, तथा हाथों को फटकारती हुई नायिका के रतिसर्वस्व अधर का पान कर रहा है। भौंरे की इस दशा को देखकर राजा सोचता है कि जैसे भौंरा एक रसिक की भाँति शकुन्तला का उपभोग कर रहा है, जब कि वह स्वयं शकुन्तला विषय वस्तुवृत्तान्त (तत्त्व) के जानने के ही फेर में पड़ा रहा है।

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥[1] (१. २०)

वात्सल्य का सरस चित्र शाकुन्तल में सप्तम अंक के भरत वर्णन में देखा जाता है, जहाँ दुष्यन्त बताता है कि बिना बात हँस कर नन्हीं नन्हीं दँतुलियों को दिखाने वाले, तुतलाती अव्यक्त मनोहर वाणी बोलते हुए बालकों को गोदी में लेकर उनके शरीर में लगी हुई धूल से मलिन होने वाले लोग धन्य हैं।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥ (७. १७)

शाकुन्तल का चतुर्थ अंक तपोवन से शकुन्तला की बिदाई का चित्र है। शकुन्तला को तपोवन से सदा के लिए जाते देख कर हिरनियों ने मुँह में चबाई घास वापस गिरा दी है, मोरों ने नाचना बन्द कर दिया है, और लताएँ पीले पत्तों को गिरा रही हैं, जैसे दुःख से आँसू टपका रही हों।[2] जब प्रकृति की यह दशा है, तो करुणहृदय काश्यप को पीडा का अनुभव भला क्यों न होता? शकुन्तला आज चली जा रही है, इस बात का विचार

---

१. व्याख्याकारों ने इस पद्य के तत्तत्प्रयोग में अपूर्व व्यञ्जना शक्ति मानी है, जो भ्रमर पर कामी का आरोप कर दुष्यन्त के कामी हृदय की अभिलाषाओं को व्यञ्जित करती है। टीकाकारों ने इस पद्य के 'वयं' के बहुवचन और 'त्वं' के एक वचन के द्वारा राजा की उदात्तता तथा भ्रमर की निकृष्टता द्योतित की है। विशेष जानकारी के लिए दे० राघवभट्ट कृत व्याख्या पृ० ३४–३५।

२. उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥ (४.११)

ही उनके हृदय को उत्कण्ठा से भर देता है, उनका रुआँसा गला रुँध जाता है, और आँखों में चिन्ता की झाईं आने लगती है।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठस्तंभितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥ (४. ५)

शकुन्तला वियोगजनित दशा का अनुभव करते समय तपस्वी काश्यप यह सोचने लगते हैं, कि जब स्नेह के कारण वनवासी व्यक्ति की यह दशा है, तो पुत्री के विरह के दुःख का अनुभव करते समय गृहस्थियों की क्या दशा होती होगी?

भयानक का मार्मिक उदाहरण दुष्यन्त के बाण से डर कर भगते हिरन के चित्र के रूप में रखा जा सकता है। आगे हिरन दौड़ता जारहा है, पीछे पीछे रथ। रथ को देखने के लिए हिरन गरदन को मोड़ कर पीछे देख रहा है, और कहीं उसके शरीर के पिछले भाग में बाण न लग जाय, यह सोच कर अपने आगे के भाग में जैसे तैसे उसे समेट लेना चाहता है। थकावट के कारण खुले मुख से अर्धकवलित दर्भ गिर कर मार्ग में बिखर गई है और डर के मारे वह इतनी तेजी से छलांगे मारकर दौड़ रहा है कि जमीन पर कम और आकाश में अधिक जा रहा है।

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यंदने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥ (१. ७)

कालिदास के नाटकों में हास्यरस की योजना करने वाला पात्र विदूषक

है। विदूषक राजा का नर्मसचिव, विश्वासपात्र मित्र तथा हँसोड पात्र है, जो व्यंग तथा हास्यपूर्ण उक्तियों से राजा को प्रसन्न भी करता है। विदूषक बदसूरत ब्राह्मण होता है, जो पेटूपन के लिये मशहूर है, पर उसमें बुद्धिमत्ता, तथा बेवकूफी जैसे दो विरोधी गुणों का समावेश पाया जाता है। वह राजा का विश्वासपात्र होते हुए भी कभी कभी राजा के गुप्त प्रणय की बातों को नहीं पचा पाता और अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास उससे बड़े सतर्क रहे हैं। सामाजिकों को विदूषक की चटपटी उक्तियाँ समय समय पर मनोरंजन प्रदान करती हैं। कालिदास के तीनों नाटकों में विदूषक के कथनोपकथन बड़े सूक्ष्म, किंतु व्यंग्यप्रधान हैं। मालविकाग्निमित्र का विदूषक भगवती कौशिकी को 'पीठमर्दिका'[1] कह कर उसकी खिल्ली उड़ाता है, तो गणदास और हरदत्त की लड़ाई को मेढों की लड़ाई बताता है।[2] पर उसे सबसे अधिक चिन्ता लड्डुओं की है, और सरस्वती की भेंट में चढ़े लड्डुओं को पचाते गणदास से ईर्ष्या है।[3] विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल का विदूषक भी व्यंग व हास्यप्रधान उक्तियों का प्रयोग करने में दक्ष है। औशीनरी के द्वारा उर्वशी के भूर्जपत्रलेख के पकड़े जाने पर राजा विदूषक से धीमे से बचने का कुछ बहाना पूछता है। विदूषक की इस समय की उक्ति बड़ी सुन्दर है—'चुराई हुई वस्तु के साथ पकड़ा गया चोर क्या जवाब दे सकता है?' (लोप्त्रेण सूचितस्य कुम्भीरकस्य अस्ति वा प्रतिवचनम्–वि० पृ० ९३) शाकुन्तल का माधव्य शकुन्तला के प्रति राजा का प्रेम वैसा ही समझता है, जैसे पिण्डखजूर से अघाये हुए व्यक्ति की इमली खाने की इच्छा (यथा कस्यापि पिंडखजूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो

१. माल० (पृ० १४)

२. भवति पश्याम उरभ्रसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेन? (पृ० १६)

३. भो गणदास, संगीतपदं लब्ध्वा सरस्वत्युपायनमोदकान्खादतः किं ते सुलभनिग्रहेण विवादेन? (पृ० १७)

वकु०—न तावद्भर्ता। एषोऽशोकशाखावलंबी पल्लवगुच्छः॥ (मा० पृ० ५०)

(२) चित्र०—कः पुनः सख्या तत्र प्रथमं प्रेषितः?

उर्वशी—ननु हृदयम्।

चित्र०—को नु त्वां नियोजयति?

उर्वशी—मदनः खलु मां नियोजयति। (विक्र० पृ० ६१)

(३) सख्यौ—(जनांतिकम्) हला शकुंतले, यदि अत्राद्य तातः संनिहतो भवेत्।

शकु०—ततः किं भवेत्?

सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।

(शाकु० पृ० ४०)

रंगमंच की दृष्टि से कालिदास के नाटक उपयुक्त जान पड़ते हैं। यह दूसरी बात है कि आकाश में उड़ते रथ का वर्णन[1] आदि की दृश्ययोजना

---

१. ऐसा जान पड़ता है कालिदास को आकाशमार्ग की गत्यात्मक (Dynamic) यात्रा का वर्णन करने का बड़ा शौक है। मेघदूत में इसका एक पहलू है, रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में दूसरा। विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल में भी कवि अपनी इस रमणीय कल्पना के मोह को नहीं रोक सका है। विक्रमोर्वशीय के पहले अंक में, पुरूरवा के रथ के वेग से आगे आने वाले बादल चूर्ण चूर्ण होकर धूल की तरह रथ के पीछे उड़ रहे हैं, रथ का पहिया इतनी तेजी से घूम रहा है कि देखने वाले को उसके अरों में दूसरी अरावली की सत्ता प्रतीत होती है। घोड़ों के सिर पर बाँधा गया बड़ा चामर रथ की तेजी के कारण निश्चल तथा चित्रलिखित-सा हो गया है, और वायु के वेग से रथ के प्रान्तभाग में उड़ता हुआ ध्वजवस्त्र रथ की तेजी से पुनः रथमध्य में आकर स्थित हो गया है:—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घनाः
चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्॥ (वि० १.५)

शाकुन्तल के सप्तम अंक में दुष्यन्त मातलि के साथ रथ के द्वारा आकाशयान से पृथ्वी को लौट रहा है। रथ के आकाशमार्ग में उड़ने के कारण उसके पहियों के

को कुछ विद्वान् मंचीय सफलता में बाधक मानें। पर उनको मंच पर कल्पना से व्यक्त किया जा सकता है, आज की विकसित मंचीय-प्रक्रिया के लिए उन्हें दिखाना संभव भी है। कालिदास के नाटकों की दृश्य काव्य की दृष्टि से आँकी गई सफलता के मुख्य कारण दो हैं। भवभूति या मुरारि की तरह कालिदास की नाटकीय कथावस्तु की गत्यात्मकता मालतीमाधव के-से समासान्त पदावली वाले लम्बे लम्बे संवादों के द्वारा, या उत्तरराम-चरित के-से अतिशय भावोद्रेक या प्रकृतिवर्णन के द्वारा, या मुरारि के-से पाण्डित्यप्रदर्शन के द्वारा नहीं रोकी जाती। कालिदास की नाट्यकला की वस्तुयोजना का संकेत देते समय हमने बताया है कि कालिदास ने कहीं भी सामाजिक की औत्सुक्यवृत्ति को खण्डित नहीं किया है, तथा कवि ने उसे उभारने के लिए नई वस्तु-विधान-कल्पना का समावेश किया है। कालिदास के संवाद सूक्ष्म तथा प्रसंगोपयुक्त (Short and up-to-date) हैं, तथा उसके भावात्मक पद्य भी कथाप्रवाह को आगे बढ़ने में सहायता देते हैं। इन्हें देखकर कालिदास की नाट्यकला की प्रथमकोटिकता के विषय में किसी संदेह का अवसर नहीं रहता।

अरविवरों में से चातक इधर से उधर निकल रहे हैं। मेघों के घर्षण से चमकती बिजली के तेज से रथ के घोड़े प्रदीप्त हो उठे हैं और रथ के पहियों की नेमि पानी से भरे बादलों पर चलने के कारण सीकर-कण से गीली हो गई है।

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः॥ (७.७)

इसी वर्णनपद्धति से रघुवंश के त्रयोदश सर्ग के कई वर्णन मिलाये जा सकते हैं। यथा—

करेण वातायनलंबितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते॥ (१३.२१)
अमूर्विमानान्तरलंबिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम्॥ (१३.३३)

कालिदास के शिष्ट तथा पुरुष पात्रों की भाषा संस्कृत है। बाकी पात्र प्राकृत बोलते हैं। शाकुन्तल के षष्ठ अंक के प्रवेशक को छोड़ कर सभी स्थानों पर कालिदास ने शौरसेनी[1] प्राकृत का प्रयोग किया है। उसकी प्राकृत गाथाएँ 'महाराष्ट्री' में हैं। शाकुन्तल के छठे अंक के प्रवेशक में मछुवा मागधी[2] प्राकृत का प्रयोग करता है। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में पुरूरवा की प्रलापोक्तियों में कई स्थान पर अपभ्रंश की छाया दिखाई पड़ती है।[3] कर्ता कारक के ए० व० का अपभ्रंश विभक्तिचिह्न 'उ' वहां पाया जाता है, जो प्राकृत की प्रकृति के अननुकूल है साथ ही वहाँ प्रयुक्त छंद भी अपभ्रंश के ही छंद हैं। क्या ये पद्य कालिदास के स्वयं के ही हैं, या प्रक्षेप हैं; ये राजा की उक्तियाँ हैं, या नेपथ्यगीत (Playback song) से हैं, इस पर विद्वानों का मतभेद है। डॉ० पी० एल० वैद्य के मतानुसार ये कालिदास के काल में प्रचलित लोकगीत माने जा सकते हैं, जिन्हें कालिदास ने यहाँ रख दिया है। डॉ० वैद्य का मत समीचीन जान पड़ता है।

यद्यपि कालिदास के नाटक भावनावादी अधिक हैं, काव्य की भाँति आदर्शवादी वातावरण की सृष्टि करते हैं, किंतु वे यथार्थवादिता से अछूते नहीं, भले ही मृच्छकटिक जैसी कठोर यथार्थता वहाँ न मिले। कालिदास के नाटक काव्य की दृष्टि से तो अनुपम हैं ही, जिसके कारण शकुन्तला की गेटे ने दाद दी थी, पर नाट्यकला की दृष्टि से भी वे प्रथम कोटि के नाटक अवश्य हैं।

---

१. इमं असंबद्धप्पलाविणि पिअंवद अज्जाए गोदमीए णिवदइस्सम्। (पृ० ४६)

२. तश्श उदलब्भंतले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअंते गहिदे भावमिश्शेहिं। मालेह वा मुंचेह वा (पृ० १८४)

३. हउँ पैं पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जिअससहरकन्ती दिट्ठी पिअ पैं संमुह जन्ती॥ (वि० ४.४५)
(अहं त्वां पृच्छामि आचक्ष्व गजवर ललितप्रहारेण नाशिततरुवर।
दूरविनिर्जितशशधरकांतिर्दृष्टा प्रिया त्वया संमुखं यान्ती॥)

मृच्छकटिक और उसका रचयिता

संस्कृत के नाट्य-साहित्य में मृच्छकटिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मृच्छकटिक अपने ढंग का अकेला नाटक है, जिसमें एक साथ प्रणयकथात्मक प्रकरण, धूर्तसंकुल भाण, तथा राजनीतिक नाटक का वातावरण दिखाई देता है। यही अकेला ऐसा नाटक है, जो उस काल के मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति को पूर्णतः प्रतिबिंबित करता है। किंतु मृच्छकटिक कब लिखा गया, किसने लिखा, इन दो प्रश्नों की समस्या अभी तक पूरी तरह नहीं सुलझ सकी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिक ही संस्कृत का सर्वप्रथम नाटक है, तथा इसकी रचना कालिदास से पहले की हैं। किंतु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता। जैसा कि हम आगे संकेत करेंगे, मृच्छकटिक के नाटकीय संविधान, शैली, भाषा, और विशेषतः उसकी प्राकृत के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि वह कालिदास के बाद की रचना है।

मृच्छकटिक प्रकरण शूद्रक की कृति के रूप में प्रसिद्ध है। इसकी प्रस्तावना में बताया गया है कि इसकी रचना 'द्विजश्रेष्ठ' शूद्रक ने की थी, जो ऋग्वेद, सामवेद, हस्तिशिक्षा आदि विद्याओं और कलाओं में पारंगत था, जिसने अपने पुत्र को राजा बनाकर सौ वर्ष से अधिक उम्र में अग्निप्रवेश किया था।[१] उसी राजा शूद्रक ने उज्जयिनी के सार्थवाह दरिद्र चारुदत्त तथा वसन्तसेना की प्रणय गाथा को लेकर इस प्रकरण की रचना की है।[२] किंतु शूद्रक को इसका रचयिता मानने में कई आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। क्या प्रस्तावना के पद्य भी शूद्रक के हैं? यदि नहीं, तो ये पद्य किसने

---

१. मृच्छकटिक, प्रथम अंक (पद्य ३, ४, ५)

२. मृच्छ० प्रथम अङ्क (पद्य ६, ७)

जोड़े और क्यों ? साथ ही, क्या शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, यदि हाँ तो वे कब हुए हैं ? इन प्रश्नों के विषय में विद्वानों ने अलग अलग उत्तर दिए हैं, और शूद्रक के व्यक्तित्व तथा इस नाटक के रचयितृत्व के विषय में कोई ऐकमत्य नहीं हो सका है।

शूद्रक संस्कृत साहित्य का 'रोमैंटिक' व्यक्तित्व रहा है। स्कन्दपुराण में एक शूद्रक का उल्लेख मिलता है। उसके बाद वेतालपंचविंशति, कल्हणकृत राजतरंगिणी और कथासरित्सागर में शूद्रक के संबन्ध में कथाएँ पाई जाती हैं। बाण के हर्षचरित से ज्ञात होता है कि शूद्रक ने अपने शत्रु चन्द्रकेतु—चकोर के राजा—से किस तरह छुटकारा पाया। कादम्बरी में शूद्रक विदिशा का राजा है। दण्डी के दशकुमारचरित में भी शूद्रक का संकेत मिलता है। ऐसा अनुमान होता है कि बाद में जाकर शूद्रक भी उदयन की भाँति लोककथाओं का नायक बन गया था, और उसके साथ कई कहानियाँ जोड़ दी गई होंगी। पर क्या असली शूद्रक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था ? डॉ० स्मिथ के मतानुसार शूद्रक आन्ध्रवंश के राजा सिमुक से अभिन्न व्यक्ति है, जिसका समय (२४० ई० पू०) है। प्रो. स्टेन कोनो के मतानुसार आभीरवंश के राजा शिवदत्त (२४८ ई०) का ही दूसरा नाम शूद्रक था। कुछ लोग आंध्रवंश के वासिष्ठिपुत्र पुलुमावि को ही शूद्रक मानते हैं। कुछ भी हो, इस विवाद से हमें यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं। हमें तो यहाँ मृच्छकटिक तथा शूद्रक के परस्पर संबन्ध के विषय में जो मत प्रचलित हैं, उन्हीं का संकेत करना है :—

१. पिशेल के मतानुसार मृच्छकटिक के रचयिता दण्डी हैं। उनका कहना है कि दण्डी ने तीन कृतियाँ लिखी थीं (त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च)। दशकुमारचरित तथा काव्यादर्श उसकी दो रचनाएँ हैं, और तीसरी कृति मृच्छकटिक है। यदि यह दण्डी की ही कृति होती, तो शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध क्यों होती ?

२. डा० सिलवाँ लेवी के मत से मृच्छकटिक शूद्रक की रचना नहीं है। किसी अन्य कवि ने इसे शूद्रक के नाम से इसलिए चला दिया कि इसे पुरानी कृति माना जाय और इसका सम्मान हो जाय।

३. डॉ० कीथ भी इसे शूद्रक की रचना नहीं मानते। वे शूद्रक को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मतानुसार किसी कवि ने भास के 'चारुदत्त' में आर्यक के विद्रोह की कथा का मिश्रण कर मृच्छकटिक की रचना की है।

४. नवीन मत यह है, कि शूद्रक तो ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हैं, किन्तु बाद में उनका व्यक्तित्व लोककथाओं के घटाटोप से आच्छन्न कर दिया गया है। पर मृच्छकटिक निःसन्देह शूद्रक की कृति नहीं है। इसका रचयिता कोई दूसरा ही कवि है। भास के 'दरिद्रचारुदत्त' की अपूर्णता को देखकर किसी कवि ने उसमें आवश्यक परिवर्तन कर, कुछ नई कल्पनाओं का समावेश कर 'मृच्छकटिक' का ढाँचा खड़ा कर दिया है। गोपालदारक आर्यक तथा पालक वाली कहानी इसी कवि का संमिश्रण है, जिसका बीज उसे गुणाढ्य की बृहत्कथा से अथवा उस काल की लोककथाओं से मिला होगा। पर कृति के साथ वह किन्हीं कारणों से अपना नाम नहीं देना चाहता था, इसलिए उसने शूद्रक के नाम से कृति को प्रसिद्ध किया। प्रस्तावना के अतर्गत शूद्रक के परिचय वाले पद्यों में शूद्रक का वर्णन परोक्षभूते लिट् के द्वारा किया गया है, तथा इन पद्यों में ऐतिह्यसूचक 'किल' का प्रयोग भी किया गया है। किन्तु इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, कि कवि ने अपना नाम क्यों नहीं दिया ? ऐसे कौन से कारण थे, जिन्होंने उसे अपना नाम प्रकट न करने दिया। इस संबन्ध में दो कारण दिखाई देते हैं:—प्रथम तो मूल नाटक, जिसको आधार बनाकर मृच्छकटिक का पल्लवन किया गया है, वह भास की रचना थी, अतः उसे आमूलचूल अपनी

रचना के रूप में प्रसिद्ध करने में कवि को हिचकिचाहट हुई होगी। दूसरे, नाटक में जिन नवीन सामाजिक और राजनीतिक कल्पनाओं को समाविष्ट किया गया है, वे उस काल के राजवर्ग तथा समाज की खिल्ली उड़ाती नजर आती है। मृच्छकटिक में क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, सभी समाज गिरा हुआ दिखाया गया है। ब्राह्मण चोर, जुआरी और चापलूस बताए गए हैं, तो क्षत्रिय क्रूर और दुराचारी। राजा नीच जाति की रखेलियों को रखता है, नीच जाति के लोग राज्य में उच्च पदों पर हैं, और न्याय कुछ नहीं, राजा की इच्छा पर निर्भर है। ऐसा अनुमान है, कवि ने तात्कालिक मध्यवर्ग तथा राजवर्ग की स्थिति पर व्यंग्य कसते हुए इस कृति का पल्लवन किया है। ऐसा क्रान्तिकारी कवि उस काल में राजदण्ड से बचने के लिए अपना नाम न देता, तो करता क्या ?

इतना होने पर भी मृच्छकटिक के अंतरंग प्रमाणों के आधार पर हम उसके रचनाकाल और रचयिता के व्यक्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। भारवि के परिशीलन में हम गुप्तोत्तरकाल की सामाजिक दशा का संकेत कर चुके हैं। वहीं हमने यह भी संकेत किया था कि गुप्तों के बाद हर्षवर्धन तक कोई भी सार्वभौम राजा उत्पन्न नहीं हुआ था। उत्तरी भारत में कई छोटे मोटे राजा थे, गुप्तों का राज्य नाम मात्र को मगध में शशाङ्कगुप्त तक बना रहा, और उज्जयिनी से भी गुप्तों के पैर उखड़ चुके थे। मालव में उस समय की राजनीतिक स्थिति अत्यधिक शोचनीय थी, गुप्तों की शक्ति का ह्रास होने के कारण और हूणों के आक्रमण के कारण उत्तरी भारत में अराजकता-सी फैली हुई थी। राजाओं का चारित्रिक अधःपतन हो चुका था। वे वीरता से हाथ धो बैठे थे, और विलास में इतने मग्न हो गये थे कि राजमहिषियों के अतिरिक्त कई रखैलें भी रखते थे, जिनमें कई भुजिष्याएँ तो निम्न जाति की होती थीं। मृच्छकटिक के राजा पालक ने भी ऐसी रखेलें रख रखी हैं, जिनमें एक शकार की बहिन है । शकार उच्चकुलोत्पन्न

पात्र न होकर व्यभिचारिणी का पुत्र (काणेलीमातृक) है। राजाओं की विलासिता के कारण राज्य की शासन व्यवस्था अस्तव्यस्त हो चली थी। न्याय समाप्त हो चुका था, और राजा की इच्छा के अनुकूल न्याय हो रहा था। राजा के सगे संबन्धी न्यायाधीशों को पद से हटा दिए जाने की धमकी दिखाकर मनमाना न्याय करवा लेते थे। प्रजा राजा से असंतुष्ट थी। राजा स्वयं अपने शत्रुओं से शंकित रहता था, और मौका पाकर अपने शत्रुओं को निगडबद्ध करने की ताक में रहता था। राज्यव्यवस्था इतनी खराब हो गई थी कि राज्य में किसी भी समय विद्रोह हो सकता था, और पुराने राजा को चन्द घंटों में हटाकर नए राजा को सिंहासनारूढ़ किया जा सकता था। राजा के विरुद्ध कई शक्तियाँ षड्यन्त्र किया करती थीं, जिनमें चोर, जुआरी, लुच्चे, लफंगे तक शामिल थे।[1] नगर की रक्षा-व्यवस्था बिगड़ी हुई थी। कोई भले घर की बहू बेटी शाम के बाद घर से निकलने का साहस नहीं कर सकती थी। राजमार्ग पर शाम पड़ते ही वेश्याएँ, विट, लफंगे, जुआरी लोग घूमने लग जाते थे।[2] कभी कभी राजमार्ग पर ही इन लोगों में मार-पीट भी हो जाती थी।

उस काल की आर्थिक दशा अत्यधिक समृद्ध थी। चारुदत्त स्वयं सम्पत्तिशाली सार्थवाह था, जो दानशीलता के कारण दरिद्र हो गया था। गणिका वसन्तसेना की समृद्धि का जो वर्णन किया गया है, वह समाज में गणिकाओं के

१. ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान् राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः॥
(मृच्छ. ४.२६)

२. अन्यच्च, एतस्यां प्रदोषवेलायां इह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः संचरन्ति। तन्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि। (मृच्छकटिक, प्रथम अंक)

सम्मान का संकेत करता है। वसन्तसेना गणिका थी, वेश्या नहीं। संभवतः उस काल में वेश्याओं के दो वर्ग थे। गणिकाएँ नृत्यगीतादि के द्वारा जीविकोपार्जन करती थीं, वेश्याएँ रूप-यौवन के द्वारा। गणिकाओं और वेश्याओं से समाज के प्रतिष्ठित लोगों का भी संबन्ध रहता था। गणिकाएँ अपना पेशा छोड़कर कुलवधुएँ भी बन सकती थीं, और ब्राह्मण तक उनसे विवाह कर सकते थे। मृच्छकटिक में एक नहीं, दो दो ब्राह्मणों का गणिकाओं से विवाह कराया गया है। चारुदत्त का विवाह वसन्तसेना से होता है, शर्विलक मदनिका को अपनी वधू बनाता है।

उस काल में भारत में दास प्रथा प्रचलित थी। दास स्वामी की संपत्ति थे। मदनिका वसन्तसेना की दासी थी, और शर्विलक ने उसे दासत्व से छुड़ाने के लिए ही चारुदत्त के घर पर सेंध लगाकर चोरी की थी। चारुदत्त और शकार के चेट भी गुलाम थे। मालिक का रुपया चुकने पर दास गुलामी से छुटकारा पाकर स्वतन्त्र नागरिक बन सकता था। मालिक स्वयं भी किसी दास को स्वतन्त्र कर सकता था। चारुदत्त स्थावरक चेट को स्वतन्त्र कर देता है—'सुवृत्त, अदासो भवतु' (दशम अंक)।

मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग समाज में जुआ खेलने का आम प्रचार था। जुआ खेलने के अड्डे होते थे, जिनका मुखिया सभिक कहलाता था। द्यूत को राज्य की ओर से वैधानिक मान्यता प्राप्त थी। अगर कोई जुआ खेलने में बेईमानी करता या हारकर रुपया न देता, तो न्यायालय में दावा किया जा सकता था। संवाहक के भाग जाने पर द्यूतकार माथुर से कहता है—'एहि राजकुलं गत्वा निवेदयावः' (द्वितीय अंक)। कई लोग आजीविका न मिलने पर द्यूत को ही आजीविका बना लेते थे। संवाहक अपने आपको 'द्यूतोपजीवी' कहता है।

इस समय बौद्ध धर्म की स्थिति लड़खड़ा रही थी। बौद्ध भिक्षुओं का

चारित्रिक पतन नहीं हुआ था, पर वे सशंक दृष्टि से देखे जाते थे। वैदिक ब्राह्मणधर्म ही राजधर्म था। इसी काल में शैवों तथा शाक्तों का भी उत्थान होने लग गया था, जो भवभूति के समय में परिपक्व रूप में सामने आता है। ऐसा प्रतीत होता है, मृच्छकटिक का रचयिता स्वयं शैव था।

मृच्छकटिक में प्राप्त कई प्रयोगों से ऐसा अनुमान किया जाता है, कि मृच्छकटिक का रचयिता दाक्षिणात्य था। वसन्तसेना के हाथी का 'खुण्टमोडक' नाम दाक्षिणात्य नाम हैं। पैसे के लिए मृच्छकटिक में 'नाणक' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस नाटक का रचयिता सिद्धहस्त कवि है, उसे संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रौढ ज्ञान है। केवल शौरसेनी और मागधी प्राकृत ही नहीं, चाण्डाली, शकारी, ढक्की जैसी विभाषाओं और देशभाषाओं का प्रयोग उसके इस ज्ञान का प्रमाण है। प्राकृतों का प्रयोग मृच्छकटिक के रचयिता के काल का संकेत कर सकता है। मृच्छकटिक की ढक्की, जिसका प्रयोग माथुर ने किया है, अपभ्रंश का ही एक रूप है। संभवतः अपभ्रंश को ही पृथ्वीधर (मृच्छकटिक के टीकाकार) ने ढक्की कहा है। मृच्छकटिक के माथुर की उक्तियाँ उकारबहुला हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मृच्छकटिक की रचना कालिदास तथा हर्षवर्धन के बीच के समय की विभाषाओं का संकेत करती है।

उपर्युक्त सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम मृच्छकटिक को ईसा की पाँचवी शती के उत्तरार्ध या छठी शती के पूर्वार्ध की रचना कह सकते हैं।

मृच्छकटिक की कथा

मृच्छकटिक एक संकीर्ण कोटि का प्रकरण[1] है। इसमें चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रेम की कल्पित कथा है। इसी के साथ कवि ने पालक तथा

---

१. संकीर्णं धूर्तसंकुलम्—दशरूपक

गोपालदारक आर्यक की कथा को जोड़ दिया है। सम्पूर्ण प्रकरण दस अंकों में विभक्त है।

प्रथम अंक में विदूषक चारुदत्त के मित्र जूर्णवृद्ध के द्वारा भेजा हुआ शाल लेकर आता है। चारुदत्त विदूषक को चौराहे पर मातृबलि अर्पण करने जाने को कहता है। विदूषक रात में चौराहे पर जाने से डरता है। चारुदत्त उसके साथ रदनिका को भेजता है। इसी अंक में राजमार्ग पर वसन्तसेना का पीछा करते हुए शकार, विट और चेट प्रविष्ट होते हैं। शकार के कथन से वसन्तसेना को यह पता चल जाता है कि वह चारुदत्त के मकान के पास ही है। शकार से बचने के लिए वह चारुदत्त के घर में घुस जाती है। इधर रदनिका को लेकर मैत्रेय मातृबलि देने जाता है, तो शकार रदनिका को वसन्तसेना समझ कर पकड़ लेता है। मैत्रेय उसे डाँटता है। वसन्तसेना चारुदत्त के घर में प्रविष्ट होकर अपना गहना वहाँ रख देती है, और चारुदत्त उसे घर तक पहुँचा आता है। इसी अंक में यह भी संकेत मिलता है कि वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यान में चारुदत्त को देख कर उसके प्रति अनुरक्त हो गई थी।

द्वितीय अंक में प्रातःकाल दो घटनाएँ होती हैं। संवाहक पाटलिपुत्र का सभ्य नागरिक था। भाग्य-विपर्यय से वह उज्जयिनी में आकर संवाहक का काम सीख कर चारुदत्त का नौकर बन जाता है। चारुदत्त के दरिद्र बन जाने पर, वह जुआरी बन जाता है। जुए से दस मोहर हार जाता है, और माथुर को नहीं चुका पाता। द्यूतकार और माथुर उसका पीछा करते हैं। वह वसन्तसेना के घर में घुस जाता है। वसन्तसेना सोने का गहना देकर उसे छुड़ाती है। संवाहक को ग्लानि होती है, और वह बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसी दिन वसन्तसेना का हाथी छूट जाता है, वह रास्ते में एक भिक्षु को कुचलना ही चाहता है कि वसन्तसेना का चेट कर्णपूरक उसे बचा लेता है। इससे प्रसन्न होकर पास में खड़ा हुआ चारुदत्त खुश होकर उसे दुशाला

पुरस्कार में दे देता है। तीसरे अंक में शर्विलक वसन्तसेना की दासी मदनिका को गुलामी से छुड़ाने के लिए चारुदत्त के घर पर सेंध लगा कर चोरी करता है। वसन्तसेना के (धरोहर) गहने चुरा लिये जाते हैं। चतुर्थ अंक में शर्विलक गहने लेकर वसन्तसेना के घर पहुँचता है। वसन्तसेना मदनिका तथा शर्विलक की बातों को छिप कर सुन लेती है। उसे सारी बात का पता लग जाता है। फलतः वह मदनिका को शर्विलक के हाथों सौंप देती है। इधर चारुदत्त वसन्तसेना के गहने चोरी में चले जाने से दुखी होता है, वह अपनी पत्नी धूता की बहुमूल्य रत्नावली को लेकर मैत्रेय को वसन्तसेना के घर भेजता है। मैत्रेय यह कहता है कि चारुदत्त वसन्तसेना के गहनों को जुए में हार गया है, इसलिए बदले में यह रत्नावली भेजी है। पंचम अंक में वसन्तसेना विट को साथ लेकर चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है। चारुदत्त उसकी प्रतीक्षा करता है। बादल गरज रहे हैं, बिजली कड़क रही है, पानी से तरबतर वसन्तसेना चारुदत्त के यहाँ पहुँचती है। वसन्तसेना उस रात वहींर हती है। छठे अंक में चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में चला जाता है, और जाते समय वसन्तसेना से वहाँ मिलने को कहलवा जाता है। इधर वसन्तसेना अपने लिए भेजी गई गाड़ी में न बैठ कर भूल से पास में खड़ी दूसरी गाड़ी में बैठ जाती है, जो शकार की है। इसी अंक में गोपालदारक आर्यक कैदखाने से भाग कर आता है, वह चारुदत्त की खाली गाड़ी में बैठ जाता है। गाड़ीवान उसे वसन्तसेना समझ कर गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में रक्षक, चंदन और वीरक गाड़ी को देखना चाहते हैं। चन्दन उसे देखने जाता है और पहचान कर अभय देता है। इधर वीरक भी गाड़ी को देखना चाहता है, तो वह झगड़ा कर बैठता है। आर्यक उद्यान में जाकर चारुदत्त से मिलता है।

अष्टम अंक में वसन्तसेना उद्यान में पहुँचती है, पर वहाँ शकार को देख कर सहम जाती है। शकार उसके प्रति प्रेम प्रदर्शन करता है और स्वीकार न करने पर उसका गला घोंट कर मार डालता है। शकार वहाँ से भाग जाता है। इधर संवाहक, जो बौद्ध भिक्षु है, वसन्तसेना को मरी पाकर पास में पहुँचता है, उसे होश में लाकर समीप के विहार में ले जाता है। नवम अंक में शकार कचहरी में जाकर चारुदत्त पर यह अभियोग लगाता है कि उसने वसन्तसेना को मार डाला है। कचहरी में चारुदत्त का मामला पेश होता है। इसी समय विदूषक आता है, और उसके पास से वसन्तसेना के गहने बरामद होते हैं। प्रमाण मिलने पर चारुदत्त को फाँसी का दण्ड दे दिया जाता है। दशम अंक में चाण्डाल चारुदत्त को फाँसी देने श्मशान की ओर ले जाते हैं। इसी बीच भिक्षु वसन्तसेना को ले आता है। इधर राज्य में विप्लव होता है। शर्विलक राजा पालक को मारकर आर्यक को राजा बना देता है। चारुदत्त को फाँसी से छुटकारा मिल जाता है, शकार को झूठे अभियोग के लिए फाँसी की आज्ञा होती है, पर चारुदत्त उसे क्षमा दिलवा देता है। चारुदत्त और वसन्तसेना का विवाह हो जाता है और भरतवाक्य के साथ प्रकरण समाप्त होता है।[1]

मृच्छकटिक का नाटकीय संविधान

मृच्छकटिक प्रकरण संस्कृत रूपकों में घटनाचक्र की दृष्टि से अपूर्व नाटक है। घटना-चक्र की गत्यात्मकता इस रूपक की खास विशेषता है, और इसकी सफलता तथा प्रसिद्धि का मुख्य कारण यही है। संस्कृत के रूपकों का घटनाचक्र बड़ा कच्चा रहता है। कालिदास, शूद्रक (?), तथा

---

१. मृच्छकटिक के अतिरिक्त शूद्रक के नाम से एक और रूपक प्राप्त हुआ है—पद्मप्राभृतक भाण।

विशाखदत्त के अतिरिक्त बाकी सभी नाटककारों के घटनाचक्र बड़े शिथिल होते हैं। नाटक में प्रमुख वस्तु 'व्यापार' (Action) है, वही नाटक को गति देता है। उसमें कथनोपकथन की अपेक्षा अभिनय के द्वारा कथा को अधिक बढ़ाना चाहिए। मृच्छकटिक की कथा अभिनय के द्वारा आगे बढ़ती है। इसके साथ ही इस प्रकरण में नाटककार ने सामाजिक की 'कौतूहल' वृत्ति को आगे से आगे बढ़ने के अवसर दिये हैं।

प्रस्तुत प्रकरण का शीर्षक तो अजीब है ही, साथ ही इसकी कथावस्तु और उसके निर्वाह का ढंग भी बड़ा अद्भुत है। 'मृच्छकटिक' नाम प्रकरण की एक घटना से लिया गया है। चारुदत्त का पुत्र मिट्टी की गाड़ीसे खेलना मना कर देता है, वह भी पड़ोसी के लड़के की तरह सोने की गाड़ी से खेलना चाहता है। रोते रोते वह रदनिका के साथ वसन्तसेना के पास आता है, वसन्तसेना उसे अपने सोने के गहने दे देती है। ये गहने ही बाद में विदूषक के पास पकड़े जाते हैं, और दरिद्र चारुदत्त के द्वारा सुवर्ण के लिए वसन्तसेना की हत्या किये जाने का प्रमाण मिल जाता है।

मृच्छकटिक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस रूपक में संस्कृत नाटक-साहित्य सर्वप्रथम राजाओं की कथा को छोड़ कर मध्य वर्ग से कथावस्तु को चुनता है। उज्जयिनी के मध्यवर्ग-समाज की दैनंदिन चर्या को रूपक का आधार बनाकर कवि ने इसे अत्यधिक स्वाभाविकता देदी है। मृच्छकटिक संस्कृत का एकमात्र यथार्थवादी नाटक है। कालिदास और भवभूति में हमें काव्य और भावना का उदात्त वातावरण मिलता है, जब कि मृच्छकटिक में जीवन की कठोर वास्तविकता के दर्शन होते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह नाटक काव्य तथा भावना की उदात्तता से रहित है। यद्यपि इस रूपक का जगत्, चोर, जुआरी, बदमाश, राजनीतिक षडयंत्री, भिक्षु, राजसेवक, निठल्ले बेकार लोग, पुलिस कर्मचारी, नौकरा-

नियाँ, विट और गणिकाओं का विचित्र जगत् है, तथापि इसमें अनेकों रमणीय स्थल हैं, जो काव्य की दृष्टि से निम्न कोटि के नहीं। इसका प्रणय-चित्रण दुष्यन्त तथा तपोवन-सुंदरी शकुन्तला का विषादपूर्ण प्रेम नहीं है, न वह भवभूति के राम तथा सीता का गंभीर आदर्श प्रेम ही है; वह तो एक नागरिक और गणिका के प्रेम का चित्र है, जो पवित्रता, गंभीरता और कोमलता में किसी दशा में न्यून नहीं। प्रकरण की विचित्र सृष्टि इस प्रेम की आधारभित्ति के रूप में आती है। नाटककार ने इस प्रणय-कथा के साथ राजनीतिक षड्यंत्र की कथा को मिलाने में एक कुशल नाटककर्तृत्व का परिचय दिया है। भास के 'चारुदत्त' में कथा का यह राजनीतिक भाग नहीं पाया जाता। कुछ विद्वानों के मतानुसार[१] पालक की कथा इस प्रकरण की मुख्य कथा में ठीक नहीं बैठती; किंतु यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। पालक और आर्यक वाली राजनीतिक कथावस्तु, चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणय-कथा से इतनी संश्लिष्ट दिखाई देती है, कि वह एक पूर्णतः विकसित प्रासंगिक इतिवृत्त जान पड़ती है। इसकी गतिविधि को देखने पर पता चलता है कि यह सम्पूर्ण रूपक में अनुस्यूत दिखाई पड़ती है। इतना ही नहीं उस काल की सामाजिक अस्तव्यस्तता की वातावरण-सृष्टि में भी यह उप-कथावस्तु बहुत हाथ बँटाती है। मृच्छकटिक में समाज के सभी वर्गों से चुने हुए पात्र मिलते हैं:—अत्यधिक सभ्य ब्राह्मण और पतित चोर, पतिव्रता पत्नी और गणिका, पवित्र भिक्षु और पापी शकार तथा लुच्चे लफंगे। मृच्छकटिक के चरित्रों की एक प्रमुख विशेषता है, जो अन्य संस्कृत रूपकों में नहीं मिलती। संस्कृत के रूपकों के पात्र प्रायः 'प्रतिनिधि-पात्र' (Type) होते हैं, किंतु मृच्छकटिक के पात्र 'व्यक्ति' (Individuals) हैं। प्रत्येक पात्र अपना निजी व्यक्तित्व लेकर सामने आता है। पवित्रहृदय विट,

१. Charpentier: Journal of Royal Asiatic Society, 1925. p. 604.

जिसे रोज़ी के लिए नीच शकार का नौकर बनना, और अपमान सहना पड़ता है; ब्राह्मणपुत्र शर्विलक, जिसे प्रेम के कारण न चाहते हुए भी चोरी तक करनी पड़ती हैं; सुवर्णलोभ को छोड़कर दरिद्र ब्राह्मणयुवा चारुदत्त से प्रेम करने वाली गणिका वसन्तसेना, सभी पात्र अपनापन लेकर आते हैं, जो उसी वर्ग के अन्य लोगों में मिलना कठिन है। सारांश यह है कि मृच्छकटिक में एक साथ प्रहसन और विषादमय नाटक, व्यंग्य और करुण, काव्य और प्रतिभा, दया और मानवता का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है।

मृच्छकटिक के पात्रों में नायक चारुदत्त और नायिका वसन्तसेना के चित्रण में कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। चारुदत्त का अभिजात चरित्र एक विचित्र रूप लेकर आता है। वह ब्राह्मण युवा है, किन्तु व्यवहार से ब्राह्मण न होकर श्रेष्ठी है। चारुदत्त को हम मध्यवर्गीय नागरिकवर्ग का 'प्रतिनिधि' (Type) नहीं मान सकते। मालतीमाधव के माधव से चारुदत्त में बहुत बड़ा भेद है। चारुदत्त माधव की तरह प्रणयव्यापार में स्वयं क्रियाशील नहीं है। मृच्छकटिक का चारुदत्त वसन्तसेना को प्राप्त करने के लिए स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करता जान पड़ता। मृच्छकटिक की प्रणय-लीला में चारुदत्त 'उदासीन' (Dummy) नायक-सा दिखाई पड़ता है। प्रणयलीला में जो कुछ प्रयत्न होता है, उसका सारा श्रेय वसन्तसेना को मिलता है। इस दृष्टि से मृच्छकटिक के चारुदत्त में संस्कृत नाटकों के अन्य नायकों की तरह न तो हमें विलासी श्रृंगारिता की ही अत्यधिक सरस झाँकी मिलेगी, न वीरता या साहसशीलता का उदात्त चित्र ही। इतना होते हुए भी चारुदत्त के चित्र में कुछ ऐसी मार्मिक रेखाएँ हैं, जो उसे उत्कृष्ट कलात्मकता दे देती हैं। चारुदत्त कुलीन, सभ्य एवं सच्चरित्र युवक है, उसमें कुछ ऐसे महार्घ गुण हैं, जिनसे उसने समस्त उज्जयिनी के मन को जीत लिया है। अपनी त्यागशीलता के कारण चारुदत्त समृद्ध श्रेष्ठी से दरिद्र बन गया है, और

दरिद्र हो जाने पर भी चारुदत्त को दुःख इस बात का है कि याचक उसके घर को सम्पतिहीन पाकर अब नहीं आते। वह अपने को उस हाथी के समान समझता है, जिसने मदजल से अनेकों भौंरों को तृप्त किया है, किन्तु अब गण्डस्थल के शुष्क हो जाने पर कोई भौंरा आता ही नहीं।[1] कभी कभी दरिद्रता चारुदत्त के मन को विक्षुब्ध भी कर डालती है। वह गरीबी से मौत को बढ़कर समझता है। किन्तु इतना होते हुए भी दरिद्रता ने चारुदत्त के मानसिक संतुलन को अस्तव्यस्त नहीं किया है, अपितु वह जीवन की वास्तविकता को समझने लगता है। चारुदत्त दूसरे संस्कृत नाटकों के नायकों की तरह कोरा 'आदर्श' नायक नहीं है। वह उच्च मध्यवर्ग के वैयक्तिक चित्र को उपस्थित करता है, जो साहित्य, संगीत और कला का प्रशंसक है, द्यूतक्रीडा करने में नहीं हिचकिचाता (या द्यूतक्रीडा करने के विषय में कहने से नहीं डरता) विदूषक की तरह वह गणिका वसन्तसेना को सशंक दृष्टि से नहीं देखता, और गणिका-प्रेम को चरित्र का दोष नहीं मानता।[2]

वसन्तसेना का चरित्र दृढ सत्य और विशुद्ध प्रेम, अपूर्व त्याग और गुणस्पृहा की आँच में तपकर, गणिकावृत्ति के कालुष्य को छोड़कर, शुद्ध भास्वर स्वर्ण के समान उपस्थित होता है। गणिका वसन्तसेना न सीता की तरह गंभीर पत्नी है, न मालती की तरह पिता की परतन्त्रता में आबद्ध किशोरी ही, न वह शकुन्तला की तरह बालसुलभ मुग्ध मनोहारिता से युक्त है, न मालविका की तरह अस्थान में फेंका गया हीरे का टुकड़ा। विक्रमोर्वशीय

---

१. एतत्तु मां दहति यद् गृहमस्मदीय क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम्॥(१.१२)

२. मया कथमीदृशं वक्तव्यम्, यथा गणिका मम मित्रमिति। अथवा यौवनमत्रापराध्यति न चारित्रम्। (मृच्छकटिक नवम अंक)

की उर्वशी की तरह होते हुए भी वसन्तसेना में उससे एक तात्त्विक भेद है। उर्वशी वसन्तसेना से कहीं अधिक विलासिनी दिखाई पड़ती है, जब कि वसन्तसेना त्याग में उर्वशी से बढ़कर है, चाहे उर्वशी ने अपने पुत्र को छिपाकर प्रणय के लिए स्वार्थत्याग की एक झलक दिखा दी हो। वैसे वसन्तसेना उर्वशी की ही तरह जीवन के अनेक अनुभव लेकर सामाजिकों के समक्ष अवतीर्ण होती है, पर बुद्धिमत्ता, प्रत्युत्पन्नमतित्व और शालीनता में वह उर्वशी से कुछ बढ़कर ही दिखाई देती है। गणिका होते हुए भी—जिसे विट वापी, लता या नौका के समान सर्वभोग्या समझता है[1]—वह संस्थानक जैसे राजवल्लभ को ठुकराकर अपने शुद्ध एवं गंभीर प्रेम का परिचय देती है। गणिकावृत्ति के कारण उसे विपुल सम्पत्ति प्राप्त है, किन्तु उसका हृदय इस गर्हित जीविका के प्रति विद्रोह कर उठता है। राजश्याल संस्थानक के द्वारा भेजी गई स्वर्णराशि का तिरस्कार करते हुए वह शकार की सिफारिश करती हुई माँ से यही कहलाती है कि यदि वह उसे जिंदा देखना चाहती है, तो इस तरह का प्रस्ताव कभी न रखे।[2] अपने गर्हित जीवन को छोड़कर वह चारुदत्त के प्रति आसक्त होती है, किन्तु उसका मन इस शंका से अभिभूत रहता है कि कहीं उसकी अकुलीनता तथा गणिका-वृत्ति उसके शुद्ध प्रणय में बाधक न बन जाय। चारुदत्त को पहले पहल ही देखकर वह अनुरक्त हो जाती है, और वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति उत्पन्न अनुराग संस्थानक के साथी विट के मुँह तक से प्रशंसा के दो शब्द निकलवा ही देता है 'सुष्ठु खल्विदं उच्यते-रत्नं रत्नेन संगच्छते' (प्रथम अंक)। इतना ही नहीं, चारुदत्त के नाम को सुनकर

---

१. त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज। (१.३२)

२. 'यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदा एवं न पुनरहं आज्ञापयितव्या।'
(मृच्छ. चतुर्थ अंक)

विट का व्यवहार सर्वथा परिवर्तित हो जाता है, वह वसन्तसेना को परेशान करने की बजाय शकार से बचने में सहायता भी करता है।[1] वसन्तसेना अपनी लक्ष्यप्राप्ति में सफल होती है। वह उज्जयिनी के आभरण-भूत चारुदत्त के हृदय को जीत लेती है, और प्रथम दर्शन की रात्रि के बाद उसे अभी तक अपने प्रति चारुदत्त के प्रेम के विषय में पूरा विश्वास नहीं होता, क्योंकि वह उसे बहुत बड़ा सौभाग्य समझती है। उसे इस बात का रंच भर भी शोक नहीं कि वह दरिद्र व्यक्ति से प्रेम करती है। मदनिका से बात करते समय वह साफ कहती है कि दरिद्र पुरुष के प्रति अनुरक्त गणिका निन्दनीय नहीं होती। उसे इस बात का सन्तोष है कि वह उन मधुकरियों (भ्रमरियों) की तरह नहीं, जो आम के पेड़ से फूल झड़ते ही उसे छोड़कर भाग जाती है।[2]

इनके बाद मृच्छकटिक का महत्त्वपूर्ण पात्र 'देवपुरुष मनुष्य वासुदेव' (देवपुलिशे मणुश्शे वाशुदेवके) राष्ट्रियश्याल संस्थानक शकार है। बेवकूफी, कायरपन, हठधर्मिता, दम्भ, क्रूरता तथा विलासिता के विचित्र समवाय को लेकर शकार का चित्र उपस्थित होता है। उसे इस बात का घमण्ड है, कि उसकी बहिन राजा पालक की रखैली है, वह चाहे तो माँ और बहिन से कह कर न्यायाधीश तक को पद से हटवा सकता है। नवम अंक में वह नये न्यायाधीश को नियुक्त कराने की धमकी देता है। शकार नीच कुलोत्पन्न है, उसके बाप तक का पता नहीं, इसीलिए वह 'काणेली-मातृक' (व्यभिचारिणी का पुत्र) कहलाता है। यद्यपि वह मूर्ख और

---

१. कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं गन्धश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि॥ (१.३५)
श्रुतं वसन्तसेने ? (मृच्छ. प्रथम अंक)

२. दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोके अवचनीया भवति।......अतएव ता मधुकर्य उच्यन्ते। (मृच्छ. द्वितीय अंक)

कायर है, तथापि लोगों के सामने अपनी विद्वत्ता और वीरता प्रदर्शित करना चाहता है। वह वसन्तसेना के बजाय रदनिका को बालों में ठीक वैसे ही पकड़ लेता है, जैसे चाणक्य ने द्रौपदी को बालों में पकड़ कर घसीटा था।[1] वह वसन्तसेना को पकड़ कर ठीक उसी तरह मार डालेगा, जैसे हनुमान् ने विश्वावसु की बहिन सुभद्रा को मार डाला था।[2]

उसका अभिनय, चाल-ढाल, बातचीत सब सामाजिकों में हास्य की वातावरण-सृष्टि करने में समर्थ है। स्वयं विट और चेट भी उसे मूर्ख तथा डरपोक समझते हैं, पर उसके जिद्दीपन से वे शंकित हैं। विट न चाहते हुए भी पेट के लिए उसकी सेवा करता है।

अप्रधान पात्रों में विदूषक मैत्रेय का पात्र हास्यसृष्टि के लिए महत्त्वपूर्ण है। शकार वाला हास्य बेवकूफी से भरा है, पर विदूषक का हास्य बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। मैत्रेय पेटू ब्राह्मण होते हुए भी चारुदत्त का पक्का मित्र है। वह दरिद्रता में भी उसका साथ देता है। चारुदत्त के शब्दों में वह 'सर्वकालमित्र' है (अये! सर्वकालमित्रं मैत्रेय प्राप्तः), और यद्यपि चारुदत्त की दरिद्रता के कारण अब मैत्रेय को उसके यहाँ अनेक पक्वान्न नहीं मिलते, ताकि वह पहले की तरह चौराहे के बैल की तरह जुगाली करता रहे; तथापि वह इतना सच्चा मित्र है कि खाने का बन्दोबस्त और जगह कर रात को घोंसले की ओर लौटते कबूतर की तरह सोने के लिए चारुदत्त के घर आ जाता है। चारुदत्त के लिए कोई भी त्याग करने को वह प्रस्तुत है। अन्य २७ पात्रों में जन्मना ब्राह्मण किंतु कर्मणा स्तेन बना हुआ शर्विलक, बौद्ध भिक्षु बना हुआ मालिश करने वाला संवाहक, जुआरियों का सभिक माथुर और दोनों रक्षक—चन्दन तथा वीरक—प्रभावोत्पादक हैं।

---

१. केशेष्वेषा परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी (१.३९)

२. मृच्छकटिक (१.२५.)

आर्यक का चरित्र बहुत सूक्ष्म होते हुए भी प्रभावशाली है। स्त्रीपात्रों में धूता (चारुदत्त की पत्नी) भारतीय पतिव्रता नारी का ज्वलन्त आदर्श है, उसे चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम के प्रति कुछ भी शिकायत नहीं है।

मृच्छकटिक के चरित्रचित्रण में निःसंदेह एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य संस्कृत नाटकों में नहीं मिलती। इसलिए रेडर ने मृच्छकटिक के पात्रों को सार्वदेशिक (Cosmopolitan) पात्र कहा था। डॉ० कीथ ने इस मत का खण्डन किया है, तथा वे इस बात पर जोर देते हैं कि संस्थानक, मैत्रेय, मदनिका, जैसे पात्र, जिन्हें रेडर ने 'कोसमोपोलिटन' माना है, ठीक ऐसे नहीं जँचते। उन्हें मृच्छकटिक पूरी तरह भारतीय विचार और भारतीय जीवन का प्रकरण दिखाई पड़ता है। उनका मत है कि कालिदास के पात्र मृच्छकटिक के पात्रों से कहीं अधिक 'कोसमोपोलिटन' हैं। इतना होते हुए भी मृच्छकटिक के पात्रों में सार्वदेशिकता का अभाव नहीं है। भवभूति के माधव या राम शुद्ध भारतीय पात्र हैं, किंतु मृच्छकटिक में हमें कई ऐसे पात्र मिलते हैं, जो विश्व के किसी भी कोने में चलते-फिरते दिखाई दे सकते हैं। यह दूसरी बात है कि हमें ऐसे पात्र देखने को न मिले हों, पर हम आज भी बंबई के बाजारों में या लन्दन के ईस्ट एण्ड में या किसी भी शहर के मशहूर अड्डों पर संस्थानक, शर्विलक, सभिक माथुर जैसे पात्रों के कई पहलू देख सकते हैं।

शूद्रक (?) की नाट्यकला और रसव्यञ्जना

काव्यप्रतिभा की दृष्टि से चाहे संस्कृत आलंकारिक शूद्रक (?) को उच्च कोटि का कवि न मानें, किन्तु मृच्छकटिक में काव्यप्रतिभा की व्यंजना निम्न कोटि की नहीं जान पड़ती। मृच्छकटिक में निःसंदेह वर्णनों का वह विस्तृत चित्र नहीं दिखाई पड़ता जो कालिदास तथा भवभूति के नाटकों में उपलब्ध होता है। किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वर्णनों की प्रचुरता

कभी कभी नाटकीय प्रवाह को रोक कर उसकी प्रभावोत्पादकता में बाधक भी बन जाती है। भवभूति के मालतीमाधव में—और कुछ सीमा तक उत्तररामचरित में भी—यह दोष स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जो काव्य की दृष्टि से गुण होते हुए भी नाटक की दृष्टि से दोष ही है। कालिदास में यह बात नहीं है, वहाँ हमें काव्यत्व तथा नाटकत्व दोनों का अपूर्व समायोग दिखाई पड़ता है। मृच्छकटिक यद्यपि नाटक के घटनाचक्र की दृष्टि से भी पूर्णतः निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता, तथापि कवि ने नाटकीय संविधान को गति देने के लिए ही काव्यप्रतिभा का प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिक में कवि को एक आध स्थल ऐसे मिले हैं, जहाँ यदि वह चाहता तो प्रचुर प्रकृतिवर्णन कर सकता था। अष्टम अंक के जीर्णोद्यान का वर्णन प्रकृतिचित्रण का सुंदर स्थल था, पर कवि ने उसे हाथ से खो दिया। हमें यह मत ठीक नहीं जँचता। मृच्छकटिक का कवि जहाँ वर्षा के वर्णन में (पंचम अंक में) अधिक विस्तृत हो गया है, वह काव्य की दृष्टि से कितना ही सुन्दर हो, नाटकीय दृष्टि से कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है। चारुदत्त के पास अभिसरण करती हुई वसन्तसेना के मुँह से संस्कृत की कविता कहलवाना—एक ही नहीं, लगभग एक दर्जन पद्यों का प्रयोग करना—नाटकीय दृष्टि से खटकता है। काव्य की दृष्टि से मृच्छकटिक का पंचम अंक निःसंदेह अतीव सुन्दर है, किन्तु दृश्य काव्य की दृष्टि से उसे दोपरहित नहीं कह सकते। इतना ही नहीं, मृच्छकटिक के चौथे अंक में वसन्तसेना के महल के सातों आँगन का वर्णन भी जी उबा देने वाला है, चाहे यत्र तत्र 'हिंगुतैल' की सुगंध को पाकर, लड्डू और मालपुवे बनते देखकर, प्रसन्न हुए पेटू ब्राह्मण मैत्रेय की उक्तियाँ हास्य का पुट दे देती हों। इन दृष्टियों से शूद्रक (?) की रचना रंगमंच के पूरी तरह तो उपयुक्त नहीं कही जा सकती। जहाँ तक शूद्रक (?) की कथावस्तु का प्रश्न है, यह प्रकरण

१० अंकों का एक विशाल नाटक है, जो कम से कम एक बैठक में तो मंच पर अभिनीत हो ही नहीं सकता। सामाजिकों की दृष्टि से यह दो बैठक तक अभिनीत होने पर पूरा हो सकता है। मृच्छकटिक ही नहीं, संस्कृत के कई नाटक—जिनमें प्रायः सात अंकों वाले नाटक भी शामिल हैं—इस अभिनय-काल की दृष्टि से निर्दुष्ट नहीं हैं। इस दृष्टि से हर्ष की नाटिकाएँ फिर भी मजे की हैं, जो सुगमता से दो-ढाई, अधिक से अधिक तीन घंटे में, खेली जा सकती हैं। मृच्छकटिक के मंचीय विनियोग में एक और भी अड़चन आ सकती है। मृच्छकटिक के प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य न होकर अनेक दृश्य पाये जाते हैं। कालिदास के नाटकों में यह बात नहीं है। उसके प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य है। मृच्छकटिक का पहला अंक ही चार दृश्यों में विभक्त दिखाई पड़ता है। उसी अंक में एक साथ चारुदत्त के घर का दृश्य, और साथ ही गली में वसन्तसेना का पीछा करते शकार का दृश्य दिखाने में मंच को निःसंदेह असुविधा होगी। ऐसे कई दृश्य हमें अन्य अंकों में भी मिलते हैं।

इतना होते हुए भी मृच्छकटिक की अपनी निजी विशेषता है, और वह है, मृच्छकटिक के घटनाचक्र की गतिशीलता और पाश्चात्य ढंग की 'कॉमेडी' का मनोरंजक वातावरण। कुछ विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिक में कार्यान्विति (Unity of action) का अभाव है, किंतु दूसरे विद्वान् इसमें कार्यान्विति का अस्तित्व मानते हैं। वे पालक की कथा को प्रेम कथा का अविच्छेद्य अंग मानते जान पड़ते हैं। सामाजिकों को मृच्छकटिक में एक ऐसा वातावरण दिखाई पड़ेगा, जो संस्कृत के अन्य नाटकों में नहीं है। यदि कहीं बाद के साहित्य में कुछ मिल सकता है, तो भाण-रूपकों में। किंतु यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि भाणरूपकों ने जिस शैली को अपनाया, वह हमें इतनी रूढ दिखाई देती है कि वे पाठ्य-रूपक

का रूप लेकर आते हैं। सतरहवीं शती में लिखे गये युवराज रामवर्म आदि के भाणरूपक इसके प्रमाण हैं। मृच्छकटिक एक ऐसा नाटक है, जो हमें पाश्चात्य 'कॉमेडी' नाटकों का वातावरण देने में समर्थ है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने मृच्छकटिक में यूनानी रंगमंच (नाटकों) का प्रभाव माना है। संभवतः ईसा से पहले ही भारत में सदा के लिए बसे यूनानियों ने अपने ग्रीक मंच को तथा नाटकों को यहाँ भी पल्लवित किया हो। यदि अश्वघोष ही सबसे प्रथम नाटककार हैं, तथा उनके प्रकरणों में भी प्राप्त धूर्तसंकुलत्व यूनानी 'कॉमेडी' नाटकों का प्रभाव है, तो संस्कृत नाटकों के विकास में यूनानी प्रभाव ढूँढना कोई दूरारूढ कल्पना न होगी। किंतु, हमें ऐसा जान पड़ता है कि मृच्छकटिक के मूलाधार भास के 'दरिद्रचारुदत्त' में ही यूनानी 'कॉमेडी' का प्रभाव ढूँढना अधिक जरूरी होगा, जिसे मृच्छकटिक के रचयिता ने विस्तृत रूप दे दिया है।

लोगों का मत है कि मृच्छकटिक की शैली काव्य की दृष्टि से कालिदास की अपेक्षा अधिक सरल दिखाई पड़ती है, और यही कारण है कि विद्वानों का एक दल मृच्छकटिक को कालिदास के पूर्व की रचना मानता है। पर 'दरिद्रचारुदत्त' को मृच्छकटिक का मूलस्रोत मान लेने पर इस सरलता का श्रेय हम भास को ही देना जरूरी समझते हैं। मृच्छकटिक के भासोत्तर पद्यों में कई पद्य कालिदास की शैली के बाद की शैली का प्रदर्शन करते हैं,[1] जो मृच्छकटिक को बाद की रचना मानने के मत को और पुष्ट कर देते हैं। यद्यपि मृच्छकटिक में ऐसे पद्य बहुत कम हैं, तथापि ये हमें कालिदासोत्तर काल की कृत्रिम काव्यशैली का संकेत दे सकते हैं। इतना होते हुए भी, समग्ररूप में मृच्छकटिक की शैली सरल ही है। मृच्छकटिक

---

१. देखिये—५.२२, ५.२४, ९.१४ आदि।

का प्रमुख रस श्रृंगार है, तथा श्रृंगार के कई सरस चित्र मृच्छकटिक में उपलब्ध होते हैं:—

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम्।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति॥ (५.४९)

'उन प्रेमियों का जीवन धन्य है, जो घर पर आई हुई प्रेयसियों के वर्षा के पानी से भींगे हुए शरीर को अपने शरीर से भेंट कर आलिंगन करते हैं।'

वसन्तसेना की श्रृंगारोद्दीपक ललित गति का वर्णन विट की निम्न उक्ति में सुन्दरता व सरसता लेकर आया है:—

किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा॥ (१.२०)

'हे वसन्तसेना! पवन से फहराते हुए चंचल रक्त उत्तरीय को धारण करती हुई, काँपती हुई सरस कोमल कदली के समान तुम तेजी से क्यों चली जा रही हो? जब तुम चलती हो, तो ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे अपने पैरों से राजमार्ग के कुट्टिम पर लाल कमलों के समूह (पद-चिह्नों) को छोड़ती चली जा रही हो; और तुम्हारी अरुणिम शोभा जैसे मनःशिल की गुहा हो, जिसे छेनी से टाँका जा रहा हो, और उससे लाल रंग का मनःशिल उड़ उड़कर इधर उधर बिखर रहा हो।'

पंचम अंक में उद्दीपनरूप प्रकृति का सुन्दर वर्णन है। आकाश में नाना प्रकार का रूप धारण करते मेघों का चित्र अच्छा बन पड़ा है। हवा के चलने से कभी मिलाए हुए और कभी अलग किए हुए मेघ कई तरह का रूप धारण कर लेते हैं। दो मेघ-खण्ड आपस में मिलकर ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे चक्रवाक के जोड़े आपस में मिल गए हों। कभी वे उड़ते हंसों से दिखाई देते हैं, तो कभी क्षुब्ध सागर या नदी की सतह पर उठे हुए मगर और मछलियों-से लगते हैं। वायु के द्वारा कभी-कभी उनकी आकृति ऐसी

बना दी जाती है, जैसे कोई बड़ी बड़ी प्रसाद-श्रेणियाँ हों। पवन के द्वारा इधर उधर छिटकाए हुए, आकाश में उठे हुए, बादल इस तरह की अनेकों आकृतियाँ बदलते रहते हैं, -ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वायु आकाश के चित्रपट पर अनेक प्रकार की डिजाइन (पत्रच्छेद्य) चित्रित कर रहा है, और आकाश का चित्रफलक उससे सुशोभित हो रहा है।

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ॥ (५.५)

चारुदत्त को आकाश में छिटके बादल चित्र की डिजाइन से लगें; काले घने मेघों से भीषण रात्रि वसन्तसेना को सौत-सी दिखाई पड़ती है, जो ईर्ष्या से उसकी हँसी उड़ाती हुई उसके मार्ग को रोक रही है :—

मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र।
मां गर्जितैरिति मुहुर्विनिवारयन्ती मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी॥ (५.१५)

'यह रात क्रोधी सौत की तरह मेरे रास्ते को मेघ की गरज से बार बार रोकती हुई, मानों मुझे इस बात का संकेत दे रही है कि जब प्रिय नायक (चारुदत्त) जल से गंभीर मेघों वाली (पुष्ट स्तनों वाली) मुझ रात (सौत) के साथ आनंद से क्रीडा कर रहा है, तो तुम्हारा अब क्या प्रयोजन है ? जब कान्त को रमण सामग्री उपलब्ध है ही, तो तुम्हारी कौन पूछ करेगा, तुम्हारा अभिसरण व्यर्थ है।'

चारुदत्त की दरिद्रता का संकेत करते हुए प्रथम अंक के कुछ पद्यों में करुण और विषाद का गीलापन दिखाई दे सकता है, जो पाठक के हृदय को अत्यधिक प्रभावित करता है। चारुदत्त को इस बात का दुःख नहीं है कि वह गरीब हो गया है। पैसा आता है, और चला जाता है, यह तो सब

भाग्य का खेल है। पर उसे सबसे अधिक संताप इस बात का है कि लोग किसी व्यक्ति की दरिद्र दशा देखकर उसकी मित्रता से भी शिथिल हो जाते हैं।

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥ (१.१३)

चोरी करने को लोग बुरा समझते हैं, लेकिन शर्विलक उसे एक गुण मानता है। लोग इसे इसलिए बुरा समझते हैं, कि लोगों के सो जाने पर उन्हें विश्वास में डालकर उनके साथ धोखाधड़ी की जाती है, और इसीलिए उसे वीरता नहीं माना जा सकता। किन्तु शर्विलक को चोरी में कुछ गुण दिखाई देते हैं। यह कार्य निन्दनीय है, पर इसको आजीविका बनाने वाला व्यक्ति किसी की नौकरी बजाने के लिए हाथ जोड़े नहीं रहता, और फिर यह कार्य तो पौराणिक व्यक्तियों ने भी किया है। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा इसके प्रमाण हैं, जिन्होंने रात को सेंध लगा कर पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों को मारा था। भला, यह काम बुरा होता, तो क्या अश्वत्थामा इसे कभी करते ?

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्तते,
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि-
मार्गश्चैष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥ (३.११)

सच है शर्विलक नौकरी में हाथ जोड़े हुए पराधीन व्यक्ति को बुरा समझता है। व्यवहार के नियम पालन में पराधीन आधिकरणिक (जज) को भी अपनी पराधीनता खलती है। लोग उसके पास मुकदमे लेकर आते हैं, पर न्यायविरुद्ध असली बात को छिपाकर झूठी बातें बताते हैं,

और अपने अपराध को छिपाने की प्रवृत्ति से अभिभूत होकर उसके सामने अपने दोषों को कभी नहीं कहते। इस तरह दोनों दलों—वादी—प्रतिवादी—का पक्ष खूब बढे चढ़े दोषों से युक्त होकर राजा तक पहुँचता है। इस आधार पर दिये गये निर्णय से न्यायाधीश की निन्दा तो एकदम हो जाती है, पर कीर्ति होना बड़ा दूर है।

छिन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम्।
तैः पक्षापरपक्षवर्द्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः॥ (९. ३)

सच है, न्यायाधीश का पद कठिन उत्तरदायित्व से समवेत है।

मृच्छकटिक की प्राकृत

प्राकृत के प्रयोग की दृष्टि से मृच्छकटिक का संस्कृत नाटकों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट प्राकृत भाषाओं का जो प्रयोग तत्तत् पात्र के लिए मृच्छकटिक में पाया जाता है, वह अन्य नाटकों में उपलब्ध नहीं होता। मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार इस नाटक में शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की इन सात प्राकृतों का प्रयोग मिलता है। इनमें शौरसेनी, मागधी, प्राच्या तथा अवन्तिका को वह प्राकृत मानता है, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की को विभाषा। मृच्छकटिक की शौरसेनी तथा मागधी परिनिष्ठित रूप की प्राकृत हैं, तथा वररुचि आदि प्राकृत वैयाकरणों से प्रभावित मानी जा सकती है। वसन्तसेना, मदनिका, धूता, कर्णपूरक आदि पात्र इसका प्रयोग करते हैं।[1] संवाहक (बौद्धभिक्षु), स्थावरक, तथा अन्य चेट मागधी का

---

१. अम्हो, भित्तिपरामिसइदं पक्खदुआरअं क्खु एदं (मृच्छ० प्रथम अंक)

प्रयोग करते हैं।[1] विदूषक की भाषा प्राच्या है, तो चन्दनक और वीरक की आवन्ती। ऐसा प्रतीत होता है, आवन्ती और प्राच्या दोनों शौरसेनी के ही अवान्तर भेद हैं। पृथ्वीधर के मतानुसार आवन्ती की खास विशेषता 'ल' के स्थान पर 'र' का उच्चारण तथा लोकोक्ति-बहुलता है, तो प्राच्या में स्वार्थिक ककार बहुत पाया जाता है। पर पृथ्वीधर के ये दोनों लक्षण मृच्छकटिक के वीरक-चन्दनक या विदूषक की भाषा में नहीं मिलते।[2] ध्यान से देखने पर आवन्ती में मध्यग 'त' का लोप देखा जाता है, तो प्राच्या में वह 'द' पाया जाता है। शकारी तथा चाण्डाली जिनका प्रयोग क्रमशः शकार तथा चाण्डालों के द्वारा किया गया है, मागधी की विभाषाएँ हैं। शकारी की खास विशेषता उटपटाँग उक्तियाँ मानी गई है। मागधी की ही तरह इन दोनों में 'श' 'ष' 'स' के स्थान पर केवल 'श' पाया जाता है, तो 'र' का 'ल' हो जाता है। इसी तरह मागधी के प्रथमा ए० व० रूपों की तरह यहाँ भी 'एकारान्त' रूप ही पाये जाते हैं:—मणुश्शे (सं० मनुष्यः) (पृ० ४४), शन्ते किलिन्ते म्हि संवुत्ते [श्रान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः] (पृ० ४९); एशे शत्थवाहविणअदत्तस्स णत्थिके शाअलदत्तस्स पुत्तके अज्ज चालुदत्ते नाम [एष सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रश्चारुदत्तो नाम]। (पृ० ५२८)।

द्यूतकार सभिक माथुर की उक्तियों में पृथ्वीधर ने ढक्की मानी है। ढक्की का नाम भरत में कहीं नहीं मिलता।[3] कुछ लोगों के मत से भरत की

---

१. तदो, तेण अज्जेण शवित्ती ·पलिचालके किदोम्हि चलित्तावशेशे अ तस्सिं जूदोवजीम्हि संवुत्ते (द्वितीय अंक)

२. (आवन्तिका) अरे वीरअ, मए चन्दणकेण पलोइअं पुणोवि तुमं पलोएसि, को तुमं। (अंक ६) (प्राच्या) मम उण बम्हणस्स सव्वं ज्जेव विपरीदं परिणमदि, आदंसगदा विअ छाआ, वामादो दक्खिणा दक्खिणादो वामा। (अंक १)

३. दे० नाट्यशास्त्र. (१८. ३५-३६)

वनेचर-भाषा ही ढक्की है, पर हमें यह मत ठीक नहीं जँचता। भरत के द्वारा संकेतित 'उकार बहुला' विभाषा का संकेत जरूर किया जा सकता है।[1] माथुर की उक्तियों में हमें यही उकार बहुलता मिलती है।

अले, विप्पदीवु पादु। पडिमाशुण्णु देउलु। धुत्त जूदअरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्टो। (अरे, विप्रतीपौ पादौ। प्रतिमाशून्यं देवकुलम्। धूर्तो द्यूतकरो विप्रतीपाभ्यां देवकुलं प्रविष्टः—द्वितीय अंक)

यद्यपि माथुर की उक्ति में अपभ्रंश की उकार बहुला प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु ध्यान से देखने पर हम उसमें शौरसेनी अपभ्रंश के बीज नहीं पाते। इस लक्षण के अतिरिक्त उसमें अन्य लक्षण मागधी के भी पाये जाते हैं। इस तरह माथुर की ढक्की अपभ्रंश का संकेत तो करती है, पर वह उस काल की कोई असंस्कृत 'विनिमय भाषा' (लिंग्वा फ्रेंका) सी दिखाई पड़ती है, जिसका आधार उस काल की जनभाषा (संभवतः शौरसेनी अपभ्रंश का आदिम रूप) रहा हो, किन्तु माथुर में उसका वैसा ही रूप मिलता है, जैसा बंगालियों के द्वारा उच्चरित हिन्दी का रूप।

उपसंहार

मृच्छकटिक प्रकरण ने जो परम्परा संस्कृत नाटक साहित्य को दी, उस अनुपम दाय को सँभालने वाला कोई नहीं मिला। मृच्छकटिक के लावारिस रचयिता की विरासत कुछ लोगों ने अपनानी चाही, पर वे मृच्छकटिक के रचयिता की अमूल्य निधि का दुरुपयोग करने वाले निकले। भवभूति ने मालतीमाधव प्रकरण के द्वारा सम्भवतः इसी तरह की वातावरण-सृष्टि करना चाहा था, पर भवभूति की गम्भीर प्रकृति धूर्तसंकुल प्रकरण के

१. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥ (वही, १८. ४७)

उपयुक्त न होने से उसने हास्य के पुट को छोड़ दिया। फलतः भवभूति का प्रकरण 'कॉमेडी' के उस वातावरण तक न उठ सका। हास्य की कमी को पूरा करने के लिए भवभूति ने रौद्र और बीभत्स का समावेश किया, पर उसने प्रकरण के प्रभाव को गया-बीता बना दिया है। भवभूति की ही नकल करने वाले उद्दण्डी (१७ वीं शती) का 'मल्लिकामारुत' भी इसी ढर्रे का है। देखा जाय, तो वह कुछ नहीं मालतीमाधव की हूबहू नकल है, न केवल कथावस्तु में ही, अपि तु भाषा, भाव तथा संवाद में भी। संस्कृत साहित्य के ह्रास-काल में (१२ वीं शती के बाद) दो तीन प्रकरण लिखे गये[1], पर वे भी मृच्छकटिक की रमणीयता से शून्य हैं। प्रहसनों और भाणों ने मृच्छकटिक की एक विशेषता को आगे बढाया, किन्तु आगे जाकर भाण केवल गणिकाओं और विटों, वेश्यापणों और कोठों के इर्द-गिर्द ही घूमते रहे, मध्यवर्ग के जीवन की विविधता का इनमें दिग्दर्शन न हो सका, और संस्कृत के विपुल नाटकसाहित्य में मृच्छकटिक अपने बेजोड़पन के लिए आज भी गर्वोन्नत स्थिति में खड़ा जैसे संस्कृत नाटक साहित्य की जीवनरस से अछूती कृतियों की विडम्बना कर रहा है।

---

१. हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र (नाट्यदर्पण के रचयिता) का कौमुदीमित्रानन्द, दूसरे रामचन्द्र मुनि का प्रबुद्धरौहिणेय, तथा यशश्चन्द्र का मुद्रितकुमुदचन्द्र प्रकरण और देखने में आये हैं। पहले दो भावनगर से प्रकाशित हुए हैं, तीसरा बनारस से।

हर्षवर्धन

भास, कालिदास तथा मृच्छकटिक के रचयिता ने संस्कृत नाटकों को विकसित किया। नाटकीय संविधान में उन्होंने गहरी सूझ का परिचय दिया और भरत के नाट्यसिद्धान्तों की लीक पर कदम-ब-कदम चलना पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। कला-कौशल तथा पाण्डित्य के कारण दृश्यकाव्य में सैद्धान्तिक 'टेकनीक' के पूरी तरह पालन करने की ओर नाटककारों का ध्यान जाने लगा होगा। हर्षवर्धन के अंतिम नाटक रत्नावली में पण्डितों ने इसी प्रवृत्ति को ढूँढा है। प्राचीन आलंकारिकों ने रत्नावली तथा वेणीसंहार को नाट्यशास्त्र की शास्त्रीय 'टेकनीक' के प्रति विशेष उन्मुख बताया है। निःसंदेह रत्नावली का वस्तुसंविधान न केवल मंचीय गत्यात्मकता की दृष्टि से ही, अपितु शास्त्रीय सैद्धांतिक दृष्टि से भी कसा हुआ जान पड़ता है। पर शास्त्रीय प्रभाव के होने पर भी हर्षवर्धन की कला भट्टनारायण की भाँति नाटकीय ह्रास की ओर नहीं गई, यह हर्षवर्धन की सबसे बड़ी सफलता है। मुझे तो इस बात में भी सन्देह है, कि हर्ष ने 'रत्नावली' के संध्यंगों का विनियोग भरत के द्वारा निर्दिष्ट अर्थप्रकृति, अवस्था, संधि या तत्तत् संध्यंग को ही निगाह में रख कर किया था। ऐसा होने पर हर्ष की नाटिका में संभवतः यह चुस्ती न आ पाती। पर इतना माना जा सकता है कि हर्ष के समय नाटककारों का ध्यान नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों की ओर अधिक जाने लगा था। कुछ भी हो, यद्यपि हर्ष के तीन नाटकों में—जिनमें प्रियदर्शिका मालविकाग्निमित्र की नकल दिखाई पड़ती है, और नागानंद भी इतनी उच्च कोटि की प्रभावात्मकता लेकर आता नहीं दिखाई देता—रत्नावली को ही पहले दर्जे के संस्कृत रूपकों में माना जा सकता है, तथापि वह अकेली हर्ष की नाट्यकला को प्रतिष्ठित करने में अलम् है।

गुप्तों के स्वर्णिम सूर्य के अस्त होने पर इतिहास फिर अन्धकार में डूब गया, पर एकाएक वर्धन साम्राज्य का अरुणोदय हुआ। प्रभाकरवर्धन और उसके दोनों पुत्रों का नाम नभोमण्डल में चमक उठा। हर्ष के व्यक्तित्व ने पुनः गुप्तों की जयलक्ष्मी और वीणापुस्तकधारिणी शारदा को लौटाया। संस्कृत साहित्य का तेज जैसे ढलते सूर्य की स्थिति से पहले एक बार और चमकना था, तथा भारत के अंतिम हिन्दू सार्वभौम सम्राट् की विजयघोषणा आविन्ध्यहिमाचल एक बार फिर निनादित होनी थी। हर्षवर्धन के आस्थानमण्डप में आये हुए कई सामन्तों और राजाओं के मुकुटमणिचक्र के द्वारा उसके चरणनख चुम्बित होने थे, और उसकी राज-सभा में पण्डितों व कवियों, बौद्ध, जैन और ब्राह्मण विद्वानों को एक-सा व्यवहार मिलना था। उसकी सभा में एक बार सरस्वती वरद पुत्र बण्ड (बाण) की कलाबाजियाँ और भावुकता प्रदर्शित होनी थी तथा उन्हें भावुक श्रोताओं और कवियों को विमद करना था (केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान् कवीन्), मयूर की केकाध्वनित होनी थी, दिवाकर के प्रकाश का प्रसार होना था,[1] और ईशान की मधुर लोकभाषा का काव्य संस्कृत के साथ-साथ समादृत होना था। हर्षवर्धन जहाँ वीर था, विजयशील था, वहीं, स्वयं विद्वान् था, कवि था और कवियों का आश्रयदाता था। इतना ही नहीं, वह इतिहास के पृष्ठों में महान् दानशील सम्राट् है, एक ऐसा सहिष्णु सम्राट् है, जिसकी दृष्टि में बुद्ध, विष्णु, शिव (संभवतः जिन भी) समान रूप से आदरणीय थे। अंतिम दिनों में संभवतः वह बौद्ध हो गया था, पर फिर भी कट्टरपन उसे छू तक न गया था।

हर्षवर्धन का व्यक्तित्व इतिहास के पृष्ठों में अत्यधिक स्पष्ट है। इसका

---

१. अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

बहुत कुछ श्रेय बाण के 'हर्षचरित' तथा ह्वेनसांग के यात्राविवरण को है। हर्षवर्धन प्रभाकरवर्धन का कनिष्ठ पुत्र था। इसका बड़ा भाई राज्यवर्धन था, जो पिता के पश्चात् सिंहासन पर बैठा, पर कुछ ही दिन बाद मर गया। इसके बाद हर्ष (६०६ ई०–६४७ ई०) राजा हुआ। हर्ष की बहिन राज्यश्री थी, जिसकी कथा बाण ने अपने 'हर्षचरित' के चतुर्थ उच्छ्वास में निबद्ध की है। हर्ष के व्यक्तित्व पर विशेष संकेत अन्यत्र देखा जा सकता है। हर्षवर्धन की तीन रूपक कृतियाँ प्रसिद्ध हैं:—प्रियदर्शिका तथा रत्नावली, ये दो नाटिकाएँ, और नागानन्द नाटक। प्रश्न हो सकता है, हर्ष के नाटकों का क्रमिक विकास क्या रहा है? हमारा मत ऐसा है कि प्रियदर्शिका सबसे प्रथम कृति है, रत्नावली सबसे अंतिम। यद्यपि कुछ विद्वानों ने नागानंद को अंतिम कृति स्वीकार किया है, तथापि रत्नावली की नाट्यकला तथा कविता, दोनों की प्रौढि, उसे अंतिम रचना सिद्ध करती है। प्राचीन आलंकारिकों ने हर्ष के कवित्व को संदेह की दृष्टि से देखा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार हर्ष के नाटक उसकी स्वयं की रचनाएँ नहीं हैं, तथा किसी कवि ने उन्हें लिख कर प्रचुर धन लेकर राजा के नाम पर प्रसिद्ध कर दिया है। टीकाकारों ने काव्यप्रकाशकार मम्मट की पङ्क्ति 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' की यही व्याख्या की है, और कई लोगों ने तो रत्नावली को धावक की कृति माना है। कुछ लोगों ने बाण का ही दूसरा नाम 'धावक' मानने की अटकलपच्चू लगाई है, जो निःसार दिखाई पड़ती है। मेरी समझ में मम्मट की पंक्ति का अर्थ इतना ही है कि काव्य की रचना से कवियों को अर्थलाभ भी होता है (अर्थकृते), जैसे धावक आदि कवियों को श्रीहर्ष आदि राजाओं ने धन दिया (इसका अर्थ काव्य को बेचना नहीं जान पड़ता)। श्रीहर्ष के द्वारा बाण को प्रचुर द्रव्य देने का संकेत तो 'उदयनसुंदरीकथा' के रचयिता सोड्ढल ने भी किया

है।[1] इन कृतियों को हर्षवर्धन की न मानने के विषय में जब तक कोई प्रबल प्रमाण उपस्थित न किए जायँ, तब तक इन्हें हर्षवर्धन की कृतियाँ मानना ही होगा।

हर्ष की नाट्यकला को मिली विरासत

हर्ष के रूपकों, विशेषतः दोनों नाटिकाओं, के पढ़ने पर स्पष्ट प्रतीत होता है, कि हर्ष कालिदास से बहुत प्रभावित हैं। हर्ष की नाटिकाओं की रचना को प्रोत्साहित करने में मालविकाग्निमित्र का पूरा हाथ है। प्रियदर्शिका तो हर्ष की उस समय की कच्ची कृति है, जब मालविकाग्निमित्र का असर बहुत दिखाई पड़ता है। कथावस्तु की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र का अन्तःपुर प्रणय ही इन दोनों नाटिकाओं में मिलेगा। उदयन और अग्निमित्र दोनों विलासी ललित नायक हैं, महादेवी से डरकर छिप छिपकर अन्तःपुर की लावण्यवती सुंदरियों से प्रणय करने में दत्तचित्त। दोनों में दक्षिण, शठ तथा धृष्टनायक का अजीब मिश्रण है। हमने बताया था कि मालविकाग्निमित्र में नाटक बनने का केवल एक ही गुण है, कि वह पाँच अंकों में विभक्त है, बाकी सभी लक्षणों की दृष्टि से वह नाटिका कोटि के उपरूपकों में आता है। प्रियदर्शिका और रत्नावली उसी की पद्धति से प्रभावित हैं। प्रियदर्शिका या सागरिका को राजा से छिपाकर रखने की वस्तु-विहित का संकेत हर्ष को मालविकाग्निमित्र से ही मिला जान पड़ता है। (साम्प्रतं मालविका सविशेषं भर्तुर्दर्शनपथात् रक्ष्यते—अंक १) मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अंक के उद्यानदृश्य ने प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनों के दूसरे अंक के उपवन वाले दृश्य को प्रेरणा दी है। मालविका को

---

१. श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
श्रीहर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥
काव्यमीमांसा की भूमिका पृ० X (गायकवाड सिरीज)

छिपकर राजा के द्वारा देखा जाना, विदूषक का दोनों को मिलाने में चालाकियाँ करना, मालविका को तहखाने में डाल देना, ये सब विन्दु रत्नावली में भी उपयुक्त हुए हैं। संभवतः हर्ष भास के स्वप्नवासवदत्तम् से भी प्रभावित हुआ है। स्वप्नवासवदत्तम् वाली लावाणकदाह की घटना का संकेत रत्नावली में मिलता है। यह भी संभव है कि हर्ष ने यह संकेत भास से न लिया हो, और गुणाढ्य की बृहत्कथा, तथा उस काल में प्रचलित उदयन संबन्धी लोककथाओं को इसका आधार बनाया हो।

हर्ष के नाटकों का वस्तुसंविधान

यद्यपि रचना के कालक्रम की दृष्टि से हमें प्रियदर्शिका के पश्चात् नागानन्द और उसके बाद रत्नावली के वस्तुसंविधान की मीमांसा करना चाहिए, तथापि दोनों कृतियों में वस्तुविन्यास, तथा 'टकनीक' की समानता होने के कारण, हमने नागानन्द को ही बाद में लेना ठीक समझा है। हम पहले प्रियदर्शिका, फिर रत्नावली, तदनंतर नागानंद के वस्तुविन्यास, और चारित्र्य-सृष्टि का परिशीलन करेंगे। रत्नावली का परंपरागत परिशीलन, संधियों व संध्यंगों का नाम निर्देश रहा है, हम उस कैंडे की दृष्टि न लेकर दूसरी ही दृष्टि से देखना चाहेंगे, और अंत में रत्नावली के शास्त्रीय महत्त्व पर दो शब्द कहना जरूरी समझेंगे।

(१) प्रियदर्शिका

प्रियदर्शिका चार अंकों की छोटी-सी नाटिका है। हर्ष ने उदयन की कथा को लेकर इसकी रचना की है। उदयन की कथा कथासरित्सागर (२.१-६; ३.१-२) तथा बृहत्कथामंजरी (२.३) में मिलती है। यही नहीं, उदयन की कथा कालिदास के पूर्व ही लोककथा के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी।[१] संभवतः वत्सराज उदयन उस काल के 'रोमैंटिक' लोककथा

१. प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् (३०) साथ ही पद्य ३१ (पूर्वमेघ)।

नायकों में खास था, और प्रो० सुरु ने तो उसे 'पूर्व का डोन जुआन' (Don Juan of the East) कहा है। उदयन के प्रणय संबन्धी वृत्त को लेकर नाटकीय वस्तु की योजना स्वतः आकर्षक है (लोके हारि च वत्सराजचरितं)। प्रियदर्शिका नाटिका की संज्ञा नायिका के नाम से संबद्ध है। दृढवर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका को वत्स का सेनापति विजयसेन वत्सराज उदयन के दरबार में लाता है। वे उसे आरण्यकाधिपति विंध्यकेतु की पुत्री समझ कर रख लेते हैं। राजा उसे महारानी वासवदत्ता को सौंप देता है, जिससे उसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध हो सके। साथ ही वह यह भी कह देता है कि उसके विवाहयोग्य होने पर राजा को सूचना दे।[1] वासवदत्ता उसकी शिक्षा की व्यवस्था कर देती है। द्वितीय अंक में राजा उदयन विदूषक के साथ घूमते हुए उपवन में पहुँचते हैं, वहाँ प्रियदर्शिका को कमल तोड़ते देखते हैं, जो वासवदत्ता के लिए कमल लेने आई है। प्रियदर्शिका कमलों पर उड़ते भौंरों से परेशान होती है, और चिल्लाने लगती है। राजा लताकुंज से प्रकट होकर भौंरों को उड़ा देता है। दोनों का प्रथम दर्शन तथा पूर्वराग का बीज यहीं निक्षिप्त हुआ है।[2] इस तरह नाटिका का प्रथम अंक इसी बीज के परिपार्श्व रूप में विन्यस्त हुआ है। तृतीय अंक में प्रियदर्शिका तथा उदयन दोनों की परस्परानुरागजनित व्याकुलता का संकेत मिलता है। मनोरमा (आरण्यका-प्रियदर्शिका-की सखी) तथा विदूषक के प्रयास से दोनों के मिलन की योजना बनाई जाती है। रानी वासवदत्ता उदयनकृत प्रणय की पुरानी कहानी के आधार बनाए नाटक (रूपक) को अभिनीत कराना चाहती है। उस नाटक में मनोरमा

---

१. यदा वरयोग्या भविष्यति तदा मां स्मारयेति (प्रियदर्शिका पृ. ८)

२. वयस्य धन्यःखल्वसौ य एतदङ्गस्पर्शसुखभाजनं भविष्यति ॥ (पृ. १६ अंक २)
(साथ ही) आरण्यका—अयं खलु स महाराजो यस्याहं तातेन दत्ता। स्थाने खलु तातस्य पक्षपातः ॥ (अंक २ पृ. १८)

किन्तु रत्नावली में इस क्रम को बदल दिया गया है, वहाँ पहले सागरिका में रागोद्बोध होता है। प्रियदर्शिका में रत्नावली की परिपक्व नाटकीय 'टेकनीक' का पूर्वरूप ही नहीं, रत्नावली की कई उक्तियाँ भी हूबहू मिलती हैं, जो कवि के खास प्रयोग प्रतीत होते हैं।

(२) रत्नावली

रत्नावली नाटिका भी उदयन से ही संबद्ध चार अंकों की नाटिका है। इसका प्रमुख प्रेरक पात्र यौगंधरायण है, जो लावाणक में वासवदत्ता के जलने की झूठी खबर उड़ाकर सिंहलराजदुहिता रत्नावली को उदयन के विवाहार्थ इसलिए माँगता है, कि ज्योतिषियों ने रत्नावली को उदयन की पत्नी बनने की भविष्यवाणी की थी, तथा यह भी कहा था कि ऐसा होने पर राजा उदयन को चक्रवर्तित्वप्राप्ति होगी। दैववश रत्नावली को लेकर आने वाला जहाज टूट जाता है, पर फिर भी रत्नावली तख्ते के सहारे बहती हुई बच जाती है, और यौगंधरायण के समीप लाई जाती है।[1] यौगंधरायण उसके व्यक्तित्व को छिपाकर वासवदत्ता के पास रख देता है, और इस बात की प्रतीक्षा करता है कि उदयन स्वयं उसकी ओर आकृष्ट हो। यहीं से नाटिका आरंभ होती है।

प्रथम अंक में सागरिका (रत्नावली) कामदेवपूजा के समय राजा उदयन को देखकर अनुरक्त हो जाती है, यहीं उसे यह भी पता लगता है

अयि विसृज विषादं भीरु भृङ्गास्तवैते परिमलरसलुब्धा वक्त्रपद्मे पतन्ति।
विकिरसि यदि भूयस्त्रासलोलायताक्षी कुवलयवनलक्ष्मीं तत्कुतस्त्वां त्यजन्ति॥
(प्रियदर्शिका २.८)

१. द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥
(रत्नावली १.६ साथ ही दे. १.७)

कि यह वही उदयन है, जिसके लिए उसके पिता सिंहलराज ने उसे भेजा है।[1] यहाँ नायिका के हृदय में भी सर्वप्रथम प्रणय बीज बोया गया है। द्वितीय अंक के आरंभ का प्रवेशक सागरिका की विरहविक्लवता का संकेत देता है। चित्र-विनोद के लिए वह कदलीगृह में बैठी उदयन का चित्र लिखती है, उसकी सखी सुसंगता उसी चित्र में सागरिका का भी चित्र बना देती है। इसी समय घूमते हुए राजा और विदूषक वसन्तक उपवन में आ जाते हैं। सागरिका की सारी बातों को सुनकर एक मैना उन बातों को कहने लग जाती है। राजा मैना की बातों को सुनकर सारा पता चला लेता है। इस बीच पिंजड़े से छूटी मैना को पकड़ने के लिए सागरिका और सुसंगता चित्र को वहीं भूलकर चली जाती हैं। कदलीगृह में राजा और विदूषक वह चित्र देख लेते हैं, इधर इसी बीच सुसंगता चित्र को लेने के बहाने राजा और सागरिका का प्रथम साक्षात्कार करा देती है। ठीक इसी समय वासवदत्ता आ पहुंचती है। चित्रपट को देखकर वह क्रुद्ध होती है, और राजा के मनाने पर भी चली जाती है। तीसरे अंक में राजा सागरिका से मिलने की चिंता में है। विदूषक सुसंगता के साथ यह योजना बनाता है कि सागरिका वासवदत्ता का वेश बनाकर राजा के पास अभिसरण करे।[2] इधर इस योजना का पता वासवदत्ता को लग जाता है। वह उचित समय पर पहुँच जाती है। राजा उसे सागरिका समझ बैठता है। वासवदत्ता के प्रकट होने पर राजा क्षमा माँगने लगता है। वह नाराज होकर राजा को कटूक्तियाँ

---

१. कथं प्रत्यक्ष एव भगवान् कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति। (रत्ना. पृ० ४६)

(साथ ही) कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। (रत्ना. पृ० ४९)

२. अद्य खलु देव्या चित्रफलकवृत्तान्तशंकितया सागरिकां रक्षितुं मम हस्ते समर्पयन्त्या यन्नेपथ्यं मे प्रसादीकृतं तेनैव विरचितभट्टिनीवेषां सागरिकां गृहीत्वाहमपि कांचनमालावेषधारिणी भूत्वा प्रदोष इहागमिष्यामीति ॥ (रत्ना. पृ० ११२)

सुनाकर वहाँ से चली जाती है। सागरिका इन सारी बातों को जानकर लतापाश से गला घोटकर मरना चाहती है, पर राजा पहुँच कर बचा लेता है। इसी समय वासवदत्ता वहाँ भी आ जाती है। वह सागरिका और विदूषक को पकड़कर ले जाती है।[1] चतुर्थ अंक में पता लगता है कि सागरिका उज्जयिनी भेज दी गई है। पर यह खबर झूठे ही उड़ा दी गई है। असल में सागरिका को तहखाने में बंद कर दिया गया है। इसी अंक में एक जादूगर राजा को अपना जादू दिखाने आता है। जब वह जादू दिखा रहा है, ठीक उसी समय अन्तःपुर में आग लग जाती है। वासवदत्ता को सागरिका को बचाने की याद आती है, वह राजा से उसे बचाने लिए कहती है।[2] राजा आग में कूदकर उसे बचा लाता है। इधर दो नये पात्र—बाभ्रव्य तथा वसुभूति—प्रविष्ट होते हैं। ये दोनों रत्नावली को पहचान लेते हैं। वासवदत्ता उसे उदयन के हाथों सौंप देती है।

रत्नावली की कथावस्तु प्रियदर्शिका की अपेक्षा अधिक चुस्त और गठी हुई है। घटना गतिशीलता के साथ आगे बढ़ती है। रत्नावली के चतुर्थ अंक का ऐंद्रजालिक वाला दृश्य हर्ष की सूझ का परिचय देता है। इसी तरह द्वितीय अंक में मैना के पिंजरे से निकलने, सागरिका के वचनों को दुहराने तथा राजा के द्वारा सुने जाने की कल्पना अनूठी है, जो मूल घटना तथा नाटिका की गति में सहायक सिद्ध होती है। इसी प्रकार वासवदत्ता तथा सागरिका के वस्त्रादि परिवर्तन वाले दृश्य की योजना स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। वैसे रत्नावली तथा प्रियदर्शिका की कई कल्पनाएँ मालविकाग्निमित्र के प्रभाव हैं। रत्नावली के द्वितीय अंक में बंदर के छूटने

१. कांचनमाले, एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं ब्राह्मणम्। एतां च दुर्विनीतां कन्यकामग्रतः कुरु॥ (रत्ना. पृ० १५३)

२. एषा खलु मया निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते। तत्तां परित्रायस्वार्यपुत्रः। (रत्ना. पृ० १९०)

की खलबली का वर्णन[1] संभवतः मालविका के उस संकेत का पल्लवन है, जहाँ बन्दर राजकुमारी को डराता है। प्रियदर्शिका की सांकृत्यायनी तो पूरी तरह मालविकाग्निमित्र की कौशिकी की याद दिलाती है। पर इतना होते हुए भी हर्ष एक कुशल नाटककार है, जो दूसरे की कल्पना को लेकर अपने साँचे में ढालना जानता है। हर्ष ने दोनों नाटिकाओं, विशेषतः रत्नावली, में अन्तःपुर प्रणय की सुंदर सुखान्त सृष्टि की है। संभवतः कालिदास के साथ तुलना करने के कारण ही हर्ष को उसका समुचित यश न मिल पाया हो।। वैसे एक ही वस्तु को लेकर थोड़े-से हेरफेर से दो नाटिकाओं को लिखने की कल्पना को कुछ विद्वानों ने दोष बताया है[2]; किंतु मेरी ऐसी धारणा है कि प्रियदर्शिका की कमजोरी को सुधारने के लिए ठीक वैसी ही कथा लेकर हर्ष ने रत्नावली की रचना की है। ऐसा मान लेने पर इस दोष का परिमार्जन हो सकता है। यही नहीं, यद्यपि ये दोनों नाटिकायें एक-सी ही कथा को लेकर आती हैं, साथ ही उनकी 'टेकनीक' भी एक-सी हैं, तथापि इन दोनों का स्वतन्त्र रूप में आनंद उठाया जा सकता है। दोनों नाटिकायें कोमल प्रणयचित्र हैं, और राजमहल के भीतर की गुप्त प्रणय-लीला का चित्र अंकित करने में संभवतः हर्ष की तूलिका कहीं कहीं अपने ढंग में कालिदास की कूँची से भी अधिक गहरे रंग भर सकी है। नाटिकाओं में ही नहीं, नागानंद के फलक पर भी नाटककार ने इस प्रणयचित्र का आलेखन किया है, और नागानंद के पहले तीन अंकों का वातावरण पूरी

---

१. कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः श्रृंखलादाम कर्षन्,
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किंकिणीचक्रवालः।
दत्तातंको गजानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवंगः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः॥ (रत्ना० २.२)

२. दे० Keith: Sanskrit Drama P. 176.

तरह 'रोमानी'-पन लिये हैं, जो पिछले दो अंकों में दयावीरता का समावेश कर लेता है।

श्रीहर्ष की दोनों नाटिकाओं के चरित्र 'टाइप' अधिक हैं। उदयन ललित प्रकृति का विलासी राजा है, जो मंत्री पर समस्त राज्यभार छोड़ कर निश्चिन्त हो गया है और अपना समय कला और प्रणय में व्यतीत करता है। उसका मित्र वसन्तक (विदूषक) बेवकूफ होते हुए भी समय-समय पर अपनी गहरी सूझ का परिचय देता है, और नायक का 'नर्मसाचिव्य' करने में कुशल है। वासवदत्ता का चरित्र ईर्ष्यालु ज्येष्ठा का 'टाइप' उपस्थित करता है, तो दोनों नायिकायें (प्रियदर्शिका व रत्नावली) सुन्दर और भोली, मुग्धा नायिका हैं, जो राजा के प्रणय को स्वीकार करती हैं। वे स्वयं इस बात को जानती हैं कि यह वही उदयन है, जिसको उनका पिता उनका पति बनाना चाहता है। पर वे इतनी भोली हैं कि परिस्थितियों के कारण उनकी वास्तविकता छिपी रहती है, जो नाटकीय वस्तु को आगे बढ़ाने का मूल कारण है। भास तथा हर्ष के उदयन-रूपकों की तुलना करने पर पता चलेगा कि स्वप्नवासवदत्तम् का उदयन हर्ष के उदयन से सर्वथा भिन्न प्रकृति का है। इस दृष्टि से उदयन का चरित्र वहाँ विशेष गंभीर है, और भास के उदयन के आगे हर्ष का उदयन फीका दिखाई पड़ता है। पर नाटिकाओं के गुप्तप्रणय वाले वातावरण को देखते हुए यह चारित्र्यसृष्टि आवश्यक भी जान पड़ती है। भास की वासवदत्ता भी हर्ष की वासवदत्ता से सर्वथा भिन्न प्रकृति की है। भास की वासवदत्ता गंभीर है, तथा पति के लिए त्याग करने को प्रस्तुत है, हर्ष की वासवदत्ता ईर्ष्यालु। वासवदत्ता के चरित्र में भी हर्ष का परिवर्तन नाटिका के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर पाता है।

रत्नावली की शास्त्रीय टेकनीक

नाट्यशास्त्रियों ने रत्नावली को उन रूपकों में से एक माना है,

जिनमें नाट्यशास्त्र के नियमों की पूरी पाबन्दी की गई है। दशरूपक, साहित्यदर्पण या अन्यत्र भी रत्नावली और वेणीसंहार को ही आधार बना कर नाटकीय वस्तु के तत्तत् विभाग की मीमांसा की गई है। पर उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि धनिक और विश्वनाथ ने रत्नावली के पद्यों को अपने शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुरूप ढाला है, न कि वे शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर हूबहू बने हैं। दशरूपकावलोक आदि में उद्धृत कई उदाहरणों से यह संकेत मिलता है। हम एक दृष्टान्त देना पर्याप्त समझेंगे। मुख संधि के बारह संध्यंगों में एक संध्यंग 'विलोभन' (गुणाख्यानं विलोभनं) है, दूसरा करण (करणं प्रकृतारंभः)। विलोभन इस संधि का चौथा और करण बारहवाँ संध्यंग है। जब हम धनिक तथा विश्वनाथ के दिये हुए रत्नावली के उदाहरणों को देखते हैं, तो पता चलता है कि वहाँ करण का उदाहरण[1] नाटक में पहले पड़ता है, विलोभन का[2] बाद में। यह गड़बड़ी क्यों? या तो आचार्यों ने उदाहरण देने में भूल की है, या नाटिका पूरी तरह शास्त्रीय टेकनीक को लेकर नहीं चलती। हमें दूसरा मत ही मान्य है। लेकिन शास्त्रीय सिद्धांतों की पूरी पाबन्दी न करने का मतलब यह नहीं कि नाटिका असफल है। हमें तो यह बताना है कि रूपक की सफलता घटना की गत्यात्मकता पर, व्यापार की स्वाभाविकता पर, वस्तु की चुस्ती पर, निर्भर होती है, शास्त्रीय सिद्धांतों की नकल पर नहीं।

---

१. नमस्ते कुसुमायुध तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति ॥ (रत्नावली पृ० ४६)

२. अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने सम्पतन्।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥ (१.२३)

सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य राजानं सस्पृहं पश्यन्ती) कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। (रत्ना पृ० ४८)

(३) नागानन्द

विद्याधरराज जीमूतकेतु वृद्ध होने पर वानप्रस्थ ले लेते हैं। अपने पुत्र जीमूतवाहन को राज्य सौंप कर वे वन में जाना चाहते हैं, पर पितृभक्त जीमूतवाहन को जो आनन्द पिता के चरणसंवाहन में मिलता है,[1] वह राज्यपालन में नहीं। फलतः वह भी अपने मित्र आत्रेय (विदूषक) के साथ पिता की सेवा के लिए वन को चल पड़ता है। पिता के निवास के उपयुक्त स्थान की तलाश में वह मलय पर्वत पर घूमते हुए देवी गौरी के मन्दिर में उपासना करती हुई सिद्धराजपुत्री मलयवती को देखता है। गौरी के दर्शनार्थ दोनों मित्र मन्दिर में जाते हैं, वहीं नायक व नायिका का साक्षात्कार होता है। यहाँ जीमूतवाहन को यह भी पता लगता है कि गौरी ने मलयवती को स्वप्न में यह कहा है कि विद्याधरराज उसका पति होगा। द्वितीय अंक में नायिका की विरहकथा का पता चलता है। वह उपवन में 'संतापनोदन' कर रही है। इसी बीच नायक और विदूषक प्रविष्ट होते हैं। वहीं सिद्धराजपुत्र मित्रावसु आकर जीमूतवाहन के सामने अपनी बहिन के विवाह का प्रस्ताव रखता है, पर जीमूतवाहन इसलिए अस्वीकार कर देता है कि वह अन्य को प्रेम करता है। जीमूतवाहन को यह पता नहीं था कि जिसे उसने गौरी-मन्दिर में देखा था, वह मित्रावसु की बहिन ही है। इसे सुन कर मलयवती अपने कण्ठ में पाश बाँधकर आत्महत्या करना चाहती है[2], पर नायक समय पर पहुँचकर उसे बचा लेता है, और मलयवती को अपने प्रणय का विश्वास दिलाता है। तृतीय अंक में दोनों का विवाह हो जाता है। तृतीय अंक के बाद ही नाटक नया मोड़ लेता है। जीमूतवाहन घूमने

---

१. यत्संवाहयतः सुखं च चरणौ तातस्य किं राजके। (नागानन्द १. ७)

२. परित्रायतां परित्रायतामार्यः एषा भर्तृदारिका उद्बध्य आत्मानं व्यापादयति। (द्वितीय अंक पृ० ८८)

के लिए समुद्रतट पर जाता है, तो वहाँ शंखचूड नाग की माँ को रोते देखता है। उससे पता चलता है कि गरुड के आहारार्थ एक नाग प्रतिदिन भेजा जाता है, और आज उसके इकलौते पुत्र की बारी है। जीमूतवाहन शंखचूड को बचाने के लिए अपना बलिदान देने को प्रस्तुत होता है।[1] वह शंखचूड के स्थान पर वध्यशिला पर जा बैठता है। गरुड आता है और जीमूतवाहन को चोंच से उठाकर मलय पर्वत पर ले जाता है। पांचवें अंक में पुत्र को लौटा हुआ न पाकर जीमूतकेतु तथा विश्वावसु चिंतित होते हैं। इसी बीच मांस से लथपथ जीमूतवाहन की चूडामणि पृथ्वी पर आकर गिरती है।[2] ये सब लोग उसे खोजने निकल पड़ते हैं। उन्हें शंखचूड मिलता है, जो सारी बात बता है। उसके साथ वे मलय पर्वत पर पहुँचते हैं, जहाँ शंखचूड नाग गरुड को उसकी भ्रांति का संकेत करता है, और बताता है कि गरुड ने गलती से एक परोपकारी को कष्ट दिया है। गरुड को पश्चात्ताप होता है। इधर जीमूतवाहन की मरणप्राय अवस्था को देखकर जीमूतकेतु आदि भी मरना चाहते हैं। इतने में गौरी प्रकट होकर जीमूतवाहन को पुनरुज्जीवित कर देती है। गौरी प्रसन्न होकर जीमूतवाहन को विद्याधरों का चक्रवर्ती भी बना देती है।

नागानन्द की कथावस्तु तथा उसका विनियोग भिन्न प्रकार है। यह पाँच अंकों का नाटक है, जिसमें बोधिसत्व की कथा को आधार बनाया गया है। इस कथा का संकेत बृहत्कथा मंजरी तथा कथासरित्सागर में मिलता है। नाटक की प्रस्तावना में विद्याधर जातक का संकेत मिलता है, पर इस नाम का कोई जातक नहीं मिलता। यद्यपि नाटक के मंगलाचरण

---

१. ममैतदम्बार्पय वध्यचिह्नं प्रावृत्य यावद्विनताऽऽत्मजाय।
पुत्रस्य ते जीवितरक्षणाय स्वदेहमाहारयितुं ददामि ॥ (४. १४)

२. महाराजपुत्रकस्यैव मे एतच्चूडारत्नम्। (पञ्चम अंक पृ० १८६)

में भगवान् बुद्ध की वंदना है,[1] पर नाटक में पूर्णतः बौद्ध प्रभाव नहीं है। गौरी को नाटकीय गति में महत्त्वपूर्ण स्थान देने से नाटक पर पौराणिक ब्राह्मण प्रवृत्ति का पर्याप्त प्रभाव है। नागानंद के प्रथम तीन अंकों का निर्वाह दोनों नाटिकाओं के ढंग पर है। मलयवती के द्वारा गले में पाश डाल कर आत्महत्या करने की चेष्टा का नाटकीय प्रयोग हर्ष की रत्नावली में भी मिलता है, जहाँ तीसरे अंक में सागरिका लतापाश को कंठ में डाल कर आत्महत्या करने को तैयार होती है। दोनों स्थानों पर वह नायक के द्वारा बचा ली जाती है, पर रत्नावली में वासवदत्ता के प्रवेश से नाटकीय संघर्ष जारी रहता है, जब कि नागानंद में संघर्ष (प्रणयकथा के संघर्ष) का यहीं अंत हो जाता है। पर मलयवती वाली प्रणयकथा नागानंद का आनुषंगिक व्यापार है, यद्यपि उसने नाटक के अधिकांश को समेट लिया है। नाटक का मुख्य व्यापार चतुर्थ तथा पंचम अंक में ही मिलता है, जो नायक के दयावीरत्व का द्योतक है। हर्ष ने पहले तीन अंकों के व्यापार को बड़े सूक्ष्म सूत्र से जोड़ा है, और यदि यह रूपक तीसरे अंक में ही समाप्त हो जाता, तो भी अपने आप में प्रियदर्शिका तथा रत्नावली की तरह प्रणय-रूपक (Love Comedy) माना जा सकता था। यही कारण है कि नाटक के दोनों भागों में परस्पर संबंध नहीं दिखाई पड़ता है, और नाटक व्यापारान्विति (Unity of action) के अभाव में शिथिल हो गया है। बाद के दो अंकों में ऐसा एक भी स्थल नहीं, जो पिछले अंकों से शृंखला जोड़ सके। जीमूतवाहन की अपूर्व दानशीलता और दृढ़ निश्चय, उसके पिछले प्रणयचित्र से ठीक नहीं बैठ पाता। संभवतः हर्ष अपनी प्रणयाभिरुचि

१. ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्राताऽपि नो रक्षसि।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बुद्धो जिनः पातु वः॥ (नागानंद १.१)

को नहीं छोड़ पाया, और उसने प्रियदर्शिका के प्रभाव से नागानंद में भी उसका समावेश कर दिया। कुछ विद्वानों के मतानुसार नागानंद का उपसंहार (Denouement) भी त्रुटिरहित नहीं है। जीमूतवाहन के त्याग की सच्ची झाँकी नाटक के दुःखान्त होने में थी। किंतु भारतीय नाट्यपद्धति के द्वारा दुःखान्त नाटकों के निषेध के कारण हर्ष ने गौरी का प्रवेश कराकर नायक को पुनरुज्जीवित कर दिया है। यद्यपि संस्कृत नाटकों में अलौकिक (दैवी) तत्त्व का प्रयोग चलता है, तथापि इस परिवर्तन में सुखान्तरूप देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जिसने नाटक की गंभीरता को समाप्त कर दिया है।[1] साथ ही तृतीय अंक की हास्य-योजना भी सफल नहीं हो पाई है। परिपार्श्व के त्रुटिपूर्ण होने पर भी पिछले दो अंकों में नायक का चरित्र उदात्त है। जीमूतवाहन त्यागशीलता का आदर्श है, और प्रणय पूर्ण तथा करुण वातावरण में उसका त्याग अच्छा अंकित हुआ है। नागानंद के नायक को लेकर प्राचीन विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। कुछ लोग उसे धीरप्रशान्त मानने के पक्ष में थे। दशरूपक के वृत्तिकार धनिक ने इस मत का खण्डन कर इस बात की प्रतिष्ठापना की है कि नागानंद का अंगीरस वीर-दयावीर-है, तथा नायक धीरोदात्त। उसने यह भी बताया कि नायक का मलयवतीप्रेम तथा चक्रवर्तित्वप्राप्ति उसे धीरोदात्त मानने के प्रमाण हैं।[2]

हर्षवर्धन की काव्यप्रतिभा

हर्ष की काव्यप्रतिभा निःसंदेह प्रथम कोटि की है। वह कालिदास के मार्ग का ही पथिक है, और उसके समकालीन मयूर के पद्य या बाण के गद्य का प्रभाव उसकी शैली पर नहीं। हर्ष की शैली स्फीत, सरल तथा कोमल है। प्रणय और प्रकृति के कोमल चित्रों को सजाने में हर्ष कुशल चित्रकार

---

१. Dr. S. K. De: History of Sanskrit Literature P. 260.

२. दे० डॉ० भोलाशंकर व्यासः हिन्दी दशरूपक (भूमिका) पृ० ४८।

है। वह निश्चित रूप से एक दक्ष कलाकार है, जिसकी कोमल अंगुलियाँ प्रणयकथा के ताने बाने को बुन कर उसमें बेलबूटे काढ़ना खूब जानती है। उसके प्रकृतिवर्णन संक्षिप्त होते हुए भी रंग और ध्वनि का वातावरण सजाने में पूरे समर्थ हैं, और उसके अन्तःपुर का चित्र विलास और प्रमोद से रंजित है। नाटककारों में हर्ष की शैली प्रसादशैली का अंतिम रूप कही जा सकती है। यद्यपि विशाखदत्त की शैली भी विशेष जटिल नहीं है, पर उसकी गंभीर वस्तु-योजना उसकी शैली में स्वतः गंभीरता का वातावरण ला देती है। भट्टनारायण, भवभूति तथा मुरारि की शैली हर्ष की अपेक्षा अधिक कृत्रिम है। हर्षवर्धन के प्रणयचित्र, प्रकृतिवर्णन तथा दो एक अन्य चित्रों के कुछ उदाहरण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे हर्ष की काव्यप्रतिभा पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

हर्ष प्रणय के सफल चित्रकार हैं। प्रियदर्शिका, नागानंद और रत्नावली में कई सुंदर स्थल हैं, जो कवि की भावुकता का रोमानी संकेत देने में समर्थ है। विवाह के बाद प्रथम समागम के समय लजाती हुई मलयवती को देख कर जीमूतवाहन की यह उक्ति कालिदास के कुमारसंभव की 'सा तथापि रतये पिनाकिनः' पंक्ति की याद दिला देती है। निम्न पद्य में नवोढा के अनुभाव तथा संचारी भाव का बड़ा सरस वर्णन है।

> दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता,
> शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिंगिता वेपते।
> निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
> जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया॥
>
> (नागानंद ३.४)

'जब मैं उसकी ओर देखता हूँ, तो वह (लज्जा से) आँखें झुका लेती है। जब मैं उससे कुछ बात करता हूँ, तो वह कोई उत्तर ही नहीं देती

(बातचीत नहीं करती)। शय्या पर मुँह फेर कर बैठी रहती है, और आलिंगन करने पर काँपने लगती है, (और काँप कर आलिंगन में विघ्न डाल देती है)। जब उसकी सखियाँ उसे छोड़ कर शयनकक्ष से जाना चाहती हैं, तो वह भी बाहर जाना चाहती है। इस तरह नवोढा मलयवती मेरे प्रत्येक प्रणयव्यापार का प्रतिकूल आचरण करती है, पर इतना होने पर भी मुझे आज वह इसी प्रतिकूलता के कारण अधिक प्रिय लगती है।'

इस पद्य में नायक जीमूतवाहन की रसप्रवणता व्यक्त होती है। दूसरे चित्र में रसलुब्ध उदयन की तृषित दृष्टि की पर्वतयात्रा का वर्णन है, जो 'पानिप' की खोज में चढ़ाई पार कर रही है।

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरंगविषमे निःस्पन्दतामागता ।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥

(रत्नावली २.११)

उदयन सागरिका को देख रहा है। उसके पैरों से लेकर सिर तक एक साथ उसकी दृष्टि नीचे से ऊपर तक उठ जाती है। सागरिका के सुडौल शरीर को देख कर उदयन की दृष्टि एक दम स्तब्ध हो गई है। उदयन को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे जांघों से लेकर सागरिका के नेत्रों तक पहुँचने के लिए उसकी दृष्टि को कई ऊबड़खाबड़ पार्वत्यप्रदेशों को पार करना पड़ा है, पर फिर भी गिरती-पड़ती वह किसी कदर ऊपर चढ़ती ही रही है, ताकि उसकी प्यास बुझ सके। सागरिका की मोटी, सुडौल और गोल जांघों को पार करने में दृष्टि को बड़ा कष्ट हुआ (प्रत्येक व्यक्ति को ढाल पर चढ़ने में कुछ दिक्कत होती ही है)। उसके बाद दृष्टि नितंबस्थल पर पहुँची, जहाँ ढाल को चढ़ लेने पर कुछ चौरस स्थल आ गया था, इसलिए वह वहाँ

बहुत देर तक घूमती रही (नायक ने बहुत देर तक नितंब के सौंदर्य का अवलोकन किया)। उसके बाद वह और आगे बढ़ी, और त्रिवली की लहरों से विषम (उतार-चढ़ाव-वाले) मध्यभाग में पहुँची। त्रिवली की तरंगों के उतारचढ़ाव में फँस कर उसकी दृष्टि निश्चल हो गई, वह उन लहरों में इतनी फँसी कि आगे न बढ़ पाई। किसी तरह लहरों से बच कर वह पहाड़ पर इस लिए चढ़ी कि वहाँ पानी मिलेगा। उदयन की दृष्टि पानी की खोज में चल ही पड़ी, उन्होंने धीरे धीरे (बड़े परिश्रम से) उत्तुंग (पर्वत के समान) स्तनों को पार किया, और अब वे अश्रुकणों से युक्त (पानी की बूँदों को बहाते हुए) सागरिका के नेत्रों को साभिलाष होकर वैसे ही देख रही हैं, जैसे वे प्यासी हों, और पानी के उस सोते को देख रही हों, जो पर्वत की कष्टसाध्य यात्रा के बाद दिखाई दिया है।

चाटुकार उदयन की उक्ति के द्वारा एक साथ वासवदत्ता के सौंदर्य तथा सन्ध्याकालीन प्रकृति की झाँकी निम्न पद्य में मिलेगी।

> देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
> पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
> श्रुत्वा त्वत्परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गाङ्गना
> लीयन्ते कुसुमान्तरेषु शनकैः संजातलज्जा इव॥ (रत्ना० १.२५)

हे देवि, देखो तो सही, चन्द्रमा की शोभा का तिरस्कार करने वाले तुम्हारे मुखकमल से हारे हुए ये कमल एक दम फीके पड़ रहे हैं (बन्द हो रहे हैं), और ये भ्रमरियाँ तुम्हारी दासियों और वारवनिताओं के गीतों को सुन कर लजाती हुई चुपके से फूलों की ओट में छिप रही हैं। वासवदत्ता का मुख-कमल और कमलों से इसलिए बढ़ कर है कि चन्द्रमा के उदय होने पर वे मुरझा जाते हैं, किंतु वासवदत्ता का मुखकमल सदा विकसित रह कर अपनी कांति से चन्द्रमा को चुनौती देता है, उसका तिरस्कार

करता है (वह चन्द्रमा से भी बढ़ कर है)। इस विशेषता से पराजित होकर कमलों का मुँह फीका पड़ जाता है। जब भ्रमरांगनायें वासवदत्ता की दासियों का संगीत सुनती हैं, तो अपने संगीत का गर्व भूल जाती हैं, वे इतनी झेंप जाती हैं, कि कहीं छिपना चाहती हैं। पद्य में 'प्रतीप' अलंकार के अनूठेपन के द्वारा प्रकृतिवर्णन तथा वासवदत्ता के वदन-सौंदर्य की सुंदर व्यंजना है।

सन्ध्याकाल के बाद पूर्वदिशा से नभोमंडल में धीरे धीरे फैलते हुए अन्धकार का स्वाभाविक वर्णन रमणीय है।

> पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
>
> क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागास्तिरयति।
>
> उपेतः पीनत्वं तदनु च जनस्येक्षणफलं
>
> तमःसङ्घातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः॥ (रत्ना० ३.७)

'महादेव के नीले कंठ की कांति को हरने वाला (उसके समान नीला) यह अँधेरा पहलेपहल केवल पूर्व दिशा को ही आच्छादित करता है, फिर दूसरी दिशा को भी ढँक लेता है। धीरे धीरे यह पर्वत, वृक्ष, नगर सभी को समेट लेता है। इसके बाद वह घना होता है और लोगों की दृष्टि के फल को (दृष्टि-पथ को) हर लेता है। अन्धकार के घने हो जाने पर लोगों की दृष्टि की गति रोक दी जाती है।'

हर्ष की कृतियों में चन्द्रमा, वसन्त, उपवन, मदनमहोत्सव (होली)[1]

---

१. नागरिकों के होली खेलने का सुंदर वर्णन रत्नावली के प्रथम अंक के १०, ११, तथा १२ इन तीन पद्यों में मिलता है।

धारायन्त्रविमुक्तसंततपयःपूरप्लुते सर्वतः सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिंदूररागारुणं सैंदूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥
(रत्नावली १.११)

आदि का सुंदर वर्णन देखा जा सकता है। प्रियदर्शिका में ग्रीष्म की दुपहरी का यह वर्णन मालविकाग्निमित्र के ग्रीष्म वर्णन से प्रभावित होते हुए भी अपनी नवीनता से शून्य नहीं।

आभात्यर्कांशुतापक्वथदिव शफरोद्वर्तनैर्दीर्घिकाम्भ-
श्छत्राभं नृत्तलीलाशिथिलमपि शिखी बर्हभारं तनोति।
छायाचक्रं तरूणां हरिणशिशुरुपैत्यालवालाम्बुलुब्धः
सद्यस्त्यक्त्वा कपोलं विशति मधुकरः कर्णपालीं गजस्य॥ (प्रिय० १.१२)

'मछलियों के द्वारा हिलाया हुआ, बावलियों का पानी ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सूर्य की किरणों की गर्मी से क्वथित हो रहा हो। दुपहर की गरमी से परेशान मोर अपने पंखों को छतरी की तरह फैलाये हुए है, ताकि वह सूर्य के ताप से बच सके; वैसे उसके पंख नृत्य-लीला से युक्त नहीं हैं, तथा मोर की नाचने के समय की मस्ती का संकेत नहीं देते, फिर भी गरमी से बचने के लिए वे फैले हुए हैं। हिरन का बच्चा आवपाल के पानी को पीने के लिये वृक्षों की छाया के घेरे में चला गया है, और भौंरा। (जो हाथी के कपोल पर मदपान कर रहा था) सूर्यताप से उद्विग्न होकर, हाथी के कपोल को एक दम छोड़ कर उसके कान में घुस गया है।'

युद्ध का ओजोमय वर्णन करने में भी हर्ष असफल नहीं कहा जा सकता।

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भग्नप्रतीपोभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः॥ (रत्ना० ४.६)

'सेनापति रुमण्वान् ने हाथी पर बैठे हुए कोसलपति को, जो पराजय का निवारण करने की भरसक चेष्टा कर रहा था, ललकारा और उस युद्ध में सैकड़ों

बाणों से मार गिराया, जहाँ बाणों के द्वारा योद्धाओं के कनटोप दूर फेंके जा रहे थे, और तलवारों के द्वारा उनका सिर काटा जा रहा था, जहाँ रुधिर की नदी बह रही थी, शस्त्र शब्द कर रहे थे, और शस्त्रों की चोट से योद्धाओं के कवच से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं।'

अन्तःपुर की भगदड़ का वर्णन करने में हर्ष अत्यधिक कुशल हैं। रत्नावली में बन्दर के छूटने की भगदड़, और अन्तःपुर में आग लगने का वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी संस्कृत साहित्य में बेजोड़ हैं। कालिदास के शाकुन्तल (तथा रघुवंश पंचम सर्ग) के हाथी वाले आतंक से इसकी तुलना की जा सकती है। यहाँ हम अन्तःपुर में आग लगने के कारण मचे हुए आतंक का चित्र उपस्थित करते हैं।[1]

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः।
कुर्वन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः॥ (रत्ना० ५.१४)

'अरे, अन्तःपुर में एक दम आग लग गई है, जिससे अन्तःपुर की स्त्रियाँ डर के मारे चिल्ला रही हैं। आग की लपटें फैल कर राजप्रासादों के शिखर को छू रही हैं, और ऐसा मालूम होता है, जैसे वे प्रासादों के सुनहरे शिखर हों। उसने सघन उद्यान के द्रुमों को झुलसा कर अपने तीव्र ताप का परिचय दे दिया है। आग से उठा हुआ धुआँ क्रीडा पर्वत का स्पर्श कर ऐसा मालूम हो रहा है जैसे क्रीडापर्वत पानी से भरे बादल की तरह काला हो गया है।'

---

१. बन्दर वाली भगदड़ के दो पद्यों में से एक पद्य (कण्ठे कृत्तावशेषं आदि) हम रत्नावली की आलोचना के समय पादटिप्पणी में दे चुके हैं।

रंगमंच की दृष्टि से हर्ष के रूपक ह्रासोन्मुखी नाटकों की अनभिनेयता से रहित हैं। हर्ष की कृतियाँ बड़ी छोटी हैं, इसलिए उनके अभिनय में कोई दिक्कत नहीं होती, साथ ही मंचीय व्यवस्था में भी कोई जटिल संविधान नहीं दिखाई देता। हर्ष के संवाद छोटे, मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं, जिससे अभिनय में सहायता मिलती है।

संस्कृत साहित्य को हर्ष ने एक नई परम्परा दी है, वह है नाटिकाओं की परम्परा। राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका, और कर्पूरमञ्जरी (सट्टक), विह्लण की कर्णसुन्दरी, और ह्रासकाल की दो तीन और नाटिकायें, जिनमें प्रमुख कायस्थ मथुरानाथ की वृषभानुजा नाटिका है, हर्ष के ही पदचिह्नों पर चलती दिखाई पड़ती है। केवल नाटिकाओं की परंपरा के लिए ही नहीं, नाटकीय गुणों की दृष्टि से भी हर्ष की रत्नावली संस्कृत साहित्य की बेजोड़ कृतियों में से एक है।

भट्टनारायण

हर्षवर्धन की रत्नावली में, जिस सैद्धान्तिक प्रवृत्ति का प्रभाव देखा जाता है, वह भट्टनारायण की एकमात्र उपलब्ध कृति वेणीसंहार में और अधिक स्पष्ट है। पण्डितों ने वेणीसंहार को नाटकीय सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर लिखा गया नाटक माना है। पर नाटकीय सिद्धान्तों को विशेष ध्यान में रखने के ही कारण भट्टनारायण का वेणीसंहार नाटकीय गतिशीलता से रहित हो गया है, तथा संस्कृत के शिथिल नाटकों में एक है। स्वयं संस्कृत आलंकारिकों ने भी वेणीसंहार में कुछ दोष देखे हैं, जिनका संकेत हम यथावसर करेंगे। संस्कृत के अलंकारग्रन्थों तथा नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में वेणीसंहार के कई पद्य उद्धृत मिलते हैं, जो इस नाटक की सैद्धांतिक महत्ता के प्रमाण हैं, किन्तु वेणीसंहार को नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में जो सम्मान मिला, वह आवश्यकता से अधिक जान पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वेणीसंहार में कोई गुण हैं ही नहीं। वस्तु-संघटना का दोष होते हुए भी वेणीसंहार का चरित्रचित्रण और काव्य अपने विषय के उपयुक्त है। वीर तथा रौद्र रस के उपयुक्त ओजोमय शैली के प्रयोग में भट्टनारायण सिद्धहस्त हैं, उनके पद्यों में तेज और टर्राटपन है, पर ये सब गुण काव्य-पक्ष के अधिक है, नाटकीय पक्ष के कम।

वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण के जीवनसंबंधी विवरण का पूरा पता नहीं चलता। उनकी तिथि के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना तो निश्चित है कि वे काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकार वामन तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन से प्राचीन हैं। वामन तथा आनन्दवर्धन दोनों ने भट्टनारायण के वेणीसंहार से पद्यों को उदाहृत किया है। इस प्रकार भट्टनारायण का समय (८०० ई०) से पूर्व का होना चाहिए।

किंवदंतियों के अनुसार भट्टनारायण उन ब्राह्मणों में से एक थे, जिन्हें बंगाल के राजा आदिसूर ने कान्यकुब्ज से बुलाया था। आदिसूर, उस राजवंश का प्रतिष्ठापक था, जिसने बंगाल में पालवंश के पूर्व राज्य किया था। पाल राजाओं का शासन आठवीं शती के मध्य से आरंभ हुआ था। कोनो के मतानुसार आदिसूर अंतिम गुप्त राजा माधवगुप्त का पुत्र था, उसने कान्यकुब्ज (हर्ष की अधीनता) से स्वतन्त्र होकर आदिसूर आदित्यसेन के नाम से मगध में स्वतन्त्र राज्य की उद्घोषणा की थी। आदिसूर आदित्यसेन ६७१ ई० तक विद्यमान था। इसके आधार पर इतना अनुमान किया जा सकता है कि भट्टनारायण का समय संभवतः सातवीं शती का उत्तरार्ध है। भट्टनारायण के वंश के विषय में या जीवनवृत्त के संबंध में उनकी कृति में कोई संकेत नहीं मिलता। इतना पता अवश्य चलता है कि वे 'मृगराजलक्ष्मा' की उपाधि से प्रसिद्ध थे।[1]

भट्टनारायण ने अपने नाटक 'वेणीसंहार' की कथावस्तु महाभारत से चुनी है। संस्कृत नाटककारों ने रामायण, महाभारत या बृहत्कथा को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है। दशरूपककार धनंजय ने इसलिए कहा था—'रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च।' वेणीसंहार, जैसा कि इसका शीर्षक स्वयं व्यक्त करता है, द्रौपदी की खुली वेणी के संहार (सँवारे जाने) की घटना से संबद्ध है। राजसभा में दुःशासन के द्वारा अपमानित होने पर द्रौपदी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह तब तक अपनी वेणी को खुला रखेगी जब तक इस अपमान का बदला न ले लिया जायगा। वनवास की शर्तें पूरी कर लेने के बाद युधिष्ठिर कृष्ण को दूत बनाकर संधि के लिए दुर्योधन के पास भेजता है। इस खबर को सुनकर भीम तथा द्रौपदी दोनों ही रुष्ट

---

१. यदिदं कवेर्मृगराजलक्ष्मणो भट्टनारायणस्य कृतिं वेणीसंहारनामकनाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम्। (वेणीसंहार, प्रथम अंक पृ. ७)

होते हैं, क्योंकि वे दोनों कौरवों को हराकर बदला लेना चाहते हैं; और यहीं से नाटक का आरंभ होता है।

प्रथम अंक में नांदी के बाद सूत्रधार श्लिष्ट पद्य के द्वारा इस बात की सूचना देता है कि पाण्डव तथा कौरवों में संधि कराने के लिए माधव गए हुए हैं। सूत्रधार के इस वचन को लेकर ही क्रुद्ध भीमसेन का प्रवेश कराया गया है, जो पाण्डवों को लाक्षागृह में जलाने वाले, विष देने वाले, तथा द्रौपदी के वस्त्र एवं बालों को खींचने वाले कौरवों के साथ संधि नहीं करना चाहता। भला उसके जीते रहते अपकारी कौरव स्वस्थ कैसे रह सकते हैं?[1] प्रस्तावना के बाद नेपथ्य से यह उक्ति पढ़ता भीम सहदेव के साथ क्रुद्ध मुद्रा में मंच पर प्रविष्ट होता है। उसे युधिष्ठिर के प्रति भी रोष है कि वह केवल पाँच गाँव के लिए संधि करने को तैयार है। भीम संधि की वार्ता से अप्रसन्न होकर युधिष्ठिर की आज्ञा का केवल एक दिन के लिए उल्लंघन करने को तैयार है। आखिर कौरवों के साथ उसका निजी बैर जो है, ऐसा बैर जिसमें न युधिष्ठिर ही कारण है, न अर्जुन ही, न दोनों माद्रेय ही, और आज वह अपने बैर का बदला दुर्योधन से अवश्य चुकायगा; सिर्फ एक दिन के लिए, बस आज भर के लिए, युधिष्ठिर उसके पूज्य नहीं, न वह उनका आज्ञाकारी ही।[2] सहदेव, भीम को शान्त करना चाहता है, पर इसी बीच नाटककार ने द्रौपदी का प्रवेश कराकर वेणीसंहार रूप कार्य के बीज भीम-रोष को भड़का दिया है। द्रौपदी स्वयं संधि की बात से रुष्ट है। द्रौपदी से बातचीत करते समय भीम उसे इस बात का आश्वासन दिलाता है कि वह अपने दोनों हाथों से गदा को घुमाकर दुर्योधन की जाँघों को अवश्य

---

१. लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु नः प्रहृत्य।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान् स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः॥ (१.८)

२. अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव॥ (१.१२)

तोड़ेगा और उसके खून से सने हाथों से शीघ्र ही द्रौपदी की वेणी सँवारेगा। इसी बीच नेपथ्य से सूचना मिलती है कि कृष्ण असफल प्रयत्न होकर लौट आये हैं। कौरवों ने संधिप्रस्ताव ठुकरा दिया है। इस घटना से रुष्ट होकर युधिष्ठिर ने कौरवों के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी है। रणदुन्दुभि का शब्द सुनकर भीम और द्रौपदी प्रसन्न होते हैं, और भीम तथा सहदेव द्रौपदी से युद्धभूमि में जाने के लिए विदा लेते हैं।

द्वितीय अंक में दुर्योधन की पत्नी भानुमती रात में देखे हुए अमंगल स्वप्न से शंकित होकर देवपूजन कर रही है। स्वप्न में उसने देखा कि एक नकुल ने सौ सर्पों को मार डाला है, और इसके द्वारा नाटककार ने भावी घटना की सूचना दी है। राजा छिपकर भानुमती के स्वप्न के विषय में सुनता है, पहले तो वह भी शंकित होता है, पर बाद में शंका हट जाती है।[1] सूर्य की पूजा करती हुई भानुमती की दासी ज्यों ही किसी दूसरी परिचर्या में व्यस्त होती है, वह अर्घ्यपात्र लेकर रानी के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। सूर्य-पूजा के बाद ही झंझावात आता है, और दुर्योधन तथा भानुमती राजमहल में चले जाते हैं। यहाँ उनमें प्रेमालाप होता है। इसी बीच जयद्रथ की माता आकर यह खबर देती है कि अभिमन्यु के वध से दुखी अर्जुन ने जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा की है। राजा को जयद्रथ की रक्षा का उपाय करना चाहिए। दुर्योधन उसके भय को शान्त करता है, तथा युद्ध के लिए प्रस्थान करता है।

तीसरे अंक के प्रवेशक में राक्षस-राक्षसी के द्वारा युद्धभूमि की भीषणता और द्रोण के वध की सूचना दी जाती है। इसी अंक के पितृवध के शोक से संतप्त क्रुद्ध अश्वत्थामा का प्रवेश होता है। कृपाचार्य अश्वत्थामा को

---

१. नकुलेन पन्नगशतवधः स्तनांशुकापहरणं च नियतमनिष्टोदर्कं तर्कयामि।
(द्वि. अं. पृ. ६६)

सान्त्वना देते हैं। इधर कर्ण दुर्योधन को यह समझा देता है कि द्रोण ने स्वयं लड़ना छोड़ दिया था, और इसीलिए वे मारे गए। द्रोण अश्वत्थामा को समस्त पृथिवी का राजा बनाना चाहते थे और अब अश्वत्थामा के मारे जाने से वृद्ध ब्राह्मण द्रोण का शस्त्रग्रहण करना व्यर्थ है, यह सोचकर ही द्रोण ने दुखी होकर शस्त्र त्याग किया था।[1] इसी बीच कृप और अश्वत्थामा दुर्योधन के पास आते हैं और अश्वत्थामा दुर्योधन से उसे सेनापति बना देने को कहता है, जिससे वह पिता की मृत्यु का बदला ले सके। पर दुर्योधन ने कर्ण को सेनापति बनने का वचन दे दिया है। अश्वत्थामा और अधिक क्रुद्ध होता है, कर्ण और अश्वत्थामा में वाक्-युद्ध होता है। अश्वत्थामा तब तक के लिए शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा करता है जब तक कर्ण जीवित रहेगा। इसी बीच नेपथ्य से भीम की गर्वोक्ति सुनाई देती है कि दुःशासन उसके भुजपञ्जर में आबद्ध हो गया है और वह उसका खून पीने जा रहा है, यदि कोई कौरव रक्षा कर सके तो करे।[2] दुःशासन की विपत्तिगत अवस्था को सुनकर अश्वत्थामा शस्त्रग्रहण करना चाहता है, पर आकाशवाणी के द्वारा अश्वत्थामा को यह चेतावनी दी जाती है कि उसे अपनी प्रतिज्ञा को खण्डित नहीं करना चाहिए। अश्वत्थामा को इस बात का दुःख है कि वह दुःशासन की रक्षा नहीं कर पाता और देवता भी पाण्डवों के पक्षपाती हैं (सर्वथा पाण्डवपक्षपातिनो देवाः)।

चतुर्थ अंक में सारथि युद्ध में आहत दुर्योधन को युद्धस्थल से बचा ले जाता है। होश में आने पर उसे दुःशासन के वध का पता चलता है।

---

१. एवं किलास्याभिप्रायो यथाश्वत्थामा मया पृथिवीराज्येऽभिषेक्तव्य इति। तस्याभावाद् वृद्धस्य मे ब्राह्मणस्य वृथा शस्त्रग्रहणमिति तथा कृतवान्।

(तृतीय अंक पृ. १२९)

२. यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्।
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवः॥ (३.४७)

सुंदरक नामक दूत आकर उसे कर्ण के पुत्र के वध की सूचना देता है, तथा बहुत लंबे प्राकृत कथनोपकथन के द्वारा युद्धस्थल की गतिविधि से अवगत कराता है। दुर्योधन पुनः युद्धभूमि के लिए प्रस्थान करना चाहता है, किन्तु इसी बीच धृतराष्ट्र तथा गान्धारी आ जाते हैं। पंचम अंक में यही दृश्य चलता रहता है। धृतराष्ट्र और गांधारी दुर्योधन को समझा बुझाकर संधि करवाना चाहते हैं, किन्तु वह इसके लिए तैयार नहीं होता। इसी बीच कर्ण के निधन की सूचना मिलती है, और दुर्योधन लड़ने को जाने की तैयारी करता है। भीम और अर्जुन रणभूमि में दुर्योधन को न पाकर ढूँढते हुए यहीं आ निकलते हैं। भीम धृतराष्ट्र तथा गांधारी को प्रणाम करते समय कटूक्तियों का प्रयोग करता है।[1] दुर्योधन भीम को फटकारता है, और दोनों में वाक्-युद्ध होता है। दुर्योधन भीम को द्वन्द्वयुद्ध में ललकारता है, किन्तु अर्जुन रोक देता है, और इसी बीच युधिष्ठिर की आज्ञा आती है कि वह भीम और अर्जुन को बुला रहे हैं। यहीं अश्वत्थामा आता है, और दुर्योधन के साथ वापस समझौता कर लेता है।

छठे अंक में कृष्ण की इस आज्ञा का पता चलता है कि दुर्योधन तथा भीम का गदायुद्ध हो रहा है। इस युद्ध में भीम की विजय निश्चित है, अतः युधिष्ठिर राज्याभिषेक की तैयारियाँ करे, और द्रौपदी अपने 'वेणीसंहार' की खुशी में उत्सव मनाये। पर इसी बीच नाटकीय कथावस्तु एक बार घुमाव लेती है। दुर्योधन का एक मित्र राक्षस चार्वाक मुनि का वेष धारण कर युधिष्ठिर के पास आता है। वह इस बात का ढोंग रचता है कि वह भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध देख कर समंतपंचक से आ रहा है, उसे इस बात का दुःख है कि शरद ऋतु की प्रचण्ड धूप के कारण वह अर्जुन

---

१. चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥ (५.८)

और दुर्योधन का गदायुद्ध पूरा न देख पाया।[1] युधिष्ठिर अर्जुन और दुर्योधन के गदायुद्ध की बात सुन कर चौंकता है। प्रश्न करने पर पता चलता है कि गदायुद्ध में भीम मारा गया है। युधिष्ठिर और द्रौपदी शोकाविष्ट हो जाते हैं, और मरने को तैयार होते हैं। इधर चार्वाक वहाँ से चला जाता है। इसी बीच नेपथ्य में कोलाहल सुनाई पड़ता है। युधिष्ठिर इसे दुर्योधन का आगमन समझता है, और शस्त्र धारण करता है, द्रौपदी छिपने की चेष्टा करती है। खून से लथपथ शरीर वाला भीम मंच पर आता है और द्रौपदी के बालों को बाँधने के लिए उसे पकड़ लेता है। युधिष्ठिर उसे दुर्योधन समझ कर लड़ना चाहता है।[2] तब वास्तविकता का पता चलता है कि वह दुर्योधन नहीं, भीम है। द्रौपदी प्रसन्नता से वेणी बाँधती है। वासुदेव और अर्जुन मंच पर आते हैं और भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

संस्कृत के प्राचीन नाट्याचार्यों ने वेणीसंहार की कथावस्तु को तत्तत् संध्यादि की दृष्टि से विश्लेषित किया है। अतः संक्षेप में यहाँ उनके मत का संकेत कर देना अनावश्यक न होगा। वेणीसंहार नाटक की वस्तु का प्रधान कार्य द्रौपदी के बालों का संयमन (बाँधना) है। इस कार्य का बीज युधिष्ठिर का क्रोध है, जिसके बिना युद्ध-घोषणा नहीं हो सकती, क्योंकि द्रौपदी के वेणीसंहार का संपादन वही कर सकता है। प्रथम अंक में 'मन्थायस्तार्णवाम्भः' आदि पद्य (१.२२) के द्वारा नाटककार ने युधिष्ठिर के क्रोधरूप बीज का निक्षेप किया है। नाट्यशास्त्र में नाटकीय कथावस्तु को पाँच संधियों में विभक्त किया जाता है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा

---

१. अद्य तु बलवत्तया शरदातपस्यापर्याप्तमेवावलोक्य गदायुद्धमर्जुनसुयोधनयो-रागतोऽस्मि। (६ अंक पृ. २७२)

२. दुरात्मन्, भीमार्जुनशत्री, सुयोधनहतक। (पृ. ३१५)

निर्वहण। वेणीसंहार के प्रथम अंक में मुखसंधि है। प्रतिमुख संधि में युधिष्ठिर-क्रोधरूपी बीज विन्दु के रूप फैलने लगता है, उसका उद्भेद होता है। द्वितीय अंक में इसी संधि का विधान हुआ है, जहाँ भीष्म के वध की सूचना मिलती है, और कञ्चुकी की उक्ति के द्वारा नाटककार ने इस बात की सूचना करा दी है कि युधिष्ठिर शीघ्र ही सुयोधन को युद्ध में मार डालेगा।[1] वेणीसंहार में गर्भसंधि बहुत लम्बी चलती है। तीसरे, चौथे और पाँचवें तीनों अंकों में गर्भसंधि ही है। नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में वेणीसंहार के गर्भसंधिगत उदाहरणों को स्पष्ट रीति से नहीं समझाया गया है। दशरूपक में केवल तोटक, उद्वेग, संभ्रम और आक्षेप इन्हीं चार गर्भांकों के उदाहरण मिलते हैं। अवमर्श तथा निर्वहण दोनों संधियाँ वेणीसंहार के छठे अंक में पाई जाती हैं। छठे अंक का आरंभ ही युधिष्ठिर की संदेह-दशा को लेकर होता है, जो अवमर्श का संकेत करती है।[2] चार्वाक वाली घटना इसी अवमर्श का अंग है, और यह भीम के पहचाने जाने तक चलती है। जब कञ्चुकी भीम को पहचान लेता है, तो नाटकीय कथावस्तु निर्वहण की ओर बढ़ती है। इतना होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्रियों को अपने भेदोपभेदों के उपयुक्त सभी उदाहरण वेणीसंहार में नहीं मिल सके हैं। यही कारण है कि दशरूपक और साहित्यदर्पण में जितना जोर रत्नावली के उदाहरणों पर दिया गया है, उतना वेणीसंहार पर नहीं। फिर भी रत्नावली के बाद इस दृष्टि से वेणीसंहार का ही नाम लिया जा सकता है।

---

१. सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुत सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम्॥ (२.५)

२. भीमेन प्रियसाहसेन रभसात्स्वल्पावशेषे जये।
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः॥ (६.१)

३. महाराज, दिष्ट्या वर्धसे। अयं खल्वायुष्मान्भीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः। अलमधुना सन्देहेन॥ (६ अंक पृ. ३१६)

नाटकीय संविधान की दृष्टि से देखने पर वेणीसंहार को ठीक वही प्रशंसा नहीं मिल सकती, जो उसे प्राचीन विद्वानों ने वितरित की है। भट्टनारायण के वेणीसंहार की कथा महाभारत की एक प्रमुख घटना—भीम-प्रतिज्ञा—से संबद्ध है, पर फिर भी नाटक में उसने समस्त महाभारत युद्ध का संकेत किया है। भास के बाद यह पहला नाटक है, जिसने महाभारत से अपना इतिवृत्त चुना है। नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन करने के कारण नाटककार ने वीररसपूर्ण नाटक में भी प्रेम-व्यापार का चित्रण करना जरूरी समझा है, और दूसरे अंक में दुर्योधन तथा भानुमती के प्रेमव्यापार की योजना की है। भट्टनारायण की यह प्रणय-योजना नाटकीय कथावस्तु के अनुपयुक्त है, और प्राचीन पण्डितों ने भी इसको दोष घोषित किया है। युद्ध के लिए प्रस्तुत दुर्योधन को इस प्रकार के चित्र में उपन्यस्त करना नाटकीय प्रभावोत्पादकता में बाधक होता है। तीसरे अंक का कर्ण और अश्वत्थामा का कथनोपकथन अत्यधिक मार्मिक होते हुए भी अनावश्यक जान पड़ता है, और कर्ण तथा अश्वत्थामा के झगड़े के विषय में किसी नाटकीय संभावना का संकेत नहीं मिलता। अंतिम अंक में चार्वाक राक्षस के द्वारा जिस वस्तु-योजना का प्रयोग किया गया है, वह ठीक नहीं है। साथ ही उसी अंक में फिर से भीम को दुर्योधन समझे जाने की योजना कर नाटककार ने उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति की है। नाटककार के ये दोनों वस्तु-कौशल सफल नहीं हो सके हैं।

वेणीसंहार में व्यापार बहुत है, किंतु उसमें अन्विति का अभाव है। साथ ही उस व्यापार को नाटकीय ढंग से नहीं सजाया गया है। समस्त महाभारत युद्ध को नाटक में वर्णित करना भी इसमें बाधक हुआ है। नाटक के मूल कार्य में ये सब व्यापार सहायक होते हुए भी एक कड़ी में अनुस्यूत नहीं जान पड़ते। वेणीसंहार के कुछ दृश्य सुंदर और प्रभावोत्पादक हैं, किंतु उनकी यह प्रभावोत्पादकता व्यस्त रूप में ही है,

समग्र नाटक की प्रभावात्मकता में वे योग नहीं दे पाते। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनारायण ने महाभारत की घटना को ज्यों का त्यों नाटक में अपना लिया है, उसने उसे नाटकीयता के उपयुक्त साँचे में नहीं ढाला है। नाटकीय गत्यात्मकता के अभाव के कारण वेणीसंहार नाटक के रूप में सफल नहीं हो सका है, यद्यपि काव्य की दृष्टि से उसे निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता। नाटककार ने कहीं कहीं व्यापार को भी ठेस पहुँचाई है। चौथे अंक में सुन्दरक का लंबा वर्णन घटनाओं का केवल संकेत देता है, और उस अंक में नाटकीय व्यापार बहुत कम पाया जाता है। नाटक में व्यापार के द्वारा कथा को अग्रसर करना ठीक होता है, वर्णन के द्वारा नहीं। वर्णन के द्वारा कथा को अग्रसर करने की कहानी वाली शैली नाटकीय प्रभावात्मकता में बाधक होती है। वेणीसंहार में इस कहानी वाली शैली का प्रयोग दूसरे और छठे अंक में मिलता है, जो नाटक की गत्यात्मकता को रोकता है।

कथावस्तु की नाटकीय गत्यात्मकता के शिथिल होते हुए भी इसका चरित्रचित्रण सुंदर बन पड़ा है। वेणीसंहार के पात्र यद्यपि तत्तत् स्वभाव के पात्रों के प्रतिनिधि-पात्र (टाइप) हैं, तथापि उनमें सजीवता पाई जाती है, नाटककार ने इन पात्रों को कहीं से बटोर कर वैसे ही नहीं ला रखा है। इतना होते हुए भी उदात्त भूमि तक केवल दो ही पात्रों का चरित्रचित्रण पहुँच पाया है। युधिष्ठिर और कृष्ण दोनों का ही चरित्र नाटक के चित्रपट पर बड़े सूक्ष्म रूप में अंकित हुआ है, पर इतना होते हुए भी वह स्पृहणीय बन पड़ा है। युधिष्ठिर एक शान्त न्यायशील पात्र है, जो सावधानी के साथ अपने क्रोध को दबाये रखता है, इसलिए कि लोग उसे न्याय के मार्ग का उल्लंघन करने वाला न समझ लें। कृष्ण राजनीति में सिद्धहस्त हैं, और नाटक के सूत्र का संचालन उन्हीं के हाथ में है। नाटककार ने अंत में

कृष्ण के मुख से 'तत्कथय महाराज, किमस्मात्परं समीहितं संपादयामि' कहलवा कर शत्रुवध, वेणीसंहार और राज्यलाभ का सारा श्रेय कृष्ण को दिया है। यद्यपि कृष्ण और युधिष्ठिर दोनों ही नाटक के केवल छठे अंक में ही मंच पर प्रविष्ट होते हैं, पर नाटक की कथावस्तु इन्हीं दोनों पात्रों को केंद्र बना कर घूमती जान पड़ती है। संभवतः यही कारण है, भारतीय नाट्यशास्त्र की पद्धति युधिष्ठिर को ही इस नाटक का नायक मानेगी। भीम और दुर्योधन इस नाटक के वे प्रमुख पात्र हैं, जिनका व्यापार मंच पर अधिक प्रदर्शित किया गया है। भीम रोष, स्फूर्ति और उत्साह का मूर्तरूप है, युधिष्ठिर के शब्दों में वह 'प्रियसाहस' है। भीम के चित्रण में, विशेषतः उसके रोषपूर्ण स्वभाव के प्रदर्शन तथा गर्वोक्तियों में, भट्टनारायण ने अपनी शैली की पटुता का पूरा परिचय दिया है। पर भीम का चरित्र किन्हीं 'अतियों' के कारण इतना मार्मिक न हो पाया है, उसमें कुछ दोष आ गये हैं। भीम का चरित्र असंयत, उच्छृंखल, दर्पोन्मत्त, और कुछ कुछ असभ्य-सा दिखाई देता है। धृतराष्ट्र तथा गांधारी को प्रणाम करते समय भीम का यह स्वभाव इतना बढ़ा-चढ़ा दिखाई देता है कि दर्शकों को खटकने लगता है। सारे नाटक के प्रत्येक अंक में—दूसरे अंक के सिवाय—भीम की गर्वोक्ति मंच पर या नेपथ्य से सुनाई देती है, और ये गर्वोक्तियाँ निःसंदेह नाटक में रौद्र रस की वातावरण-सृष्टि करने में सफल होती हैं। दुर्योधन का चरित्र भी भीम से किसी दशा में कम रोषपूर्ण नहीं है। दुर्योधन का यह रूप हमें पंचम अंक में मिलता है। दुर्योधन का चरित्र स्वार्थपूर्ण है। अश्वत्थामा के साथ किया गया दुर्योधन का व्यवहार दुर्योधन के चरित्र को नीचा गिरा देता है। इसके साथ ही द्वितीय अंक में दुर्योधन का जो रूप मिलता है, वह वीर रस के वातावरण के उपयुक्त नहीं दिखाई देता। वहाँ दुर्योधन एक शृंगारी नायक के रूप में चित्रित किया गया है।

यद्यपि नाटक में प्रणय-चित्र को उपस्थित करने की भावना ने नाटककार को प्रेरणा दी हो, तथापि उस समय, जब युद्ध में भीष्मादि का निधन हो रहा है, दुर्योधन का भानुमती के साथ इस प्रकार का प्रेमालाप करना अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है। वैसे कुछ विद्वानों ने भट्टनारायण के इस दोष को बचाने के लिए एक युक्ति दी है। उनका कहना है कि प्रणय-चित्र को अस्वाभाविक मानते हुए भी भट्टनारायण ने अपने नाटक में उसे इसलिये समाविष्ट किया है कि वह इस चित्र के द्वारा प्रतिनायक दुर्योधन के चारित्रिक पतन का संकेत करना चाहता है। पर यह दलील केवल लीपा-पोती करना भर है। नाटक के अन्य पुरुष पात्रों में कर्ण और अश्वत्थामा का चरित्र भी मार्मिक है, किंतु उसका प्रदर्शन इतना थोड़ा है कि वह नाटकीय स्वाभाविकता को विकसित नहीं कर पाता। स्त्रीपात्रों में द्रौपदी और भानुमती प्रमुख हैं। द्रौपदी का रोष सुंदर ढंग से व्यञ्जित हुआ है, पर नाटक का बीज द्रौपदी का रोष नहीं जान पड़ता। द्रौपदी की बदला लेने की भावना नाटक का अवान्तर बीज दिखाई पड़ता है, प्रधान बीज नहीं। ऐसा जान पड़ता है, पाण्डव पत्नी के अपमान के लिए, या केवल उसकी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए नहीं लड़ रहे हैं। यह दूसरी बात है कि फलरूप में द्रौपदी की इच्छा भी पूर्ण हो जाती है, पर नाटक की गतिविधि को देखते हुए 'वेणीसंहार' वाली घटना आनुषंगिक दिखाई पड़ती है। द्रौपदी की बदला लेने की भावना और कौरवों के प्रति रोष अत्यधिक तीव्र दिखाई पड़ता है।

वेणीसंहार के विषय में एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इसका नायक कौन है। दुर्योधन तो इस नाटक का प्रतिनायक स्पष्ट ही है, पर नायक भीम को माना जाय या युधिष्ठिर को। भारतीय परम्परा युधिष्ठिर को ही नायक मानती जान पड़ती है। स्वयं भट्टनारायण को भी यही

अभीष्ट है। नाटककार ने भरतवाक्य का प्रयोग युधिष्ठिर से ही करवाया है[१] संस्कृत नाटकों में भरतवाक्य का प्रयोग प्रायः नाटकादि का नायक ही करता है। साथ ही आरंभ में युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि को बीजरूप में उपन्यस्त कर नाटककार ने इस बात को और अधिक पुष्ट कर दिया है। तीसरे, नाटक का फलभोक्ता युधिष्ठिर ही है। नाटक का नाम 'वेणीसंहार' है, किन्तु नाटक का प्रमुख फल द्रौपदी का केश संयमन न होकर शत्रुसंहार तथा राज्यप्राप्ति है। इस फल का भोक्ता भी युधिष्ठिर है। नवीन विद्वान् वेणीसंहार का नायक युधिष्ठिर को नहीं मानना चाहते। इसके दो कारण हैं। 'वेणीसंहार' की घटना मूलतः द्रौपदी और भीम से संबद्ध है, युधिष्ठिर से नहीं। वेणीसंहार के लिए दुर्योधन की जाँघों को तोड़ कर उसके खून से रँगे हाथों द्रौपदी के बालों को सँवारने की भीम की प्रतिज्ञा बीज दिखाई देती है। भीम इस प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए प्रथम अंक से लेकर छठे अंक तक तत्पर देखा जाता है। हर अंक में उसकी रोषपूर्ण गर्जना और प्रतिज्ञा को दुहराती हुई आवाज सुनाई देती है। यद्यपि दूसरे, तीसरे और चौथे अंक में भीम मंच पर नहीं आता, तथापि भीम की गतिविधि का पूरा परिचय दर्शकों को मिलता रहता है। दूसरे अंक में कञ्चुकी राजा को सूचना देता है कि भयंकर (भीम) वायु ने उसके रथ की ध्वजा तोड़ डाली है।[२] तीसरे अंक में भीम की ही वाणी नेपथ्य से सुनाई देती है कि वह दुःशासन का खून पीने जा रहा है, और चौथे अंक में भी भीम के पराक्रम का परिचय सुंदरक की उक्तियों से मिलता है। दोषपूर्ण होते हुए

---

१. अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषं भवतु भगवन्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे।
दयितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः॥
(६. ४६)

२. भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किंकिणीक्वाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ॥ (२. २४)

भी भीम का चरित्र सारे नाटक की जान दिखाई देता है। भीम को नायक मानने में हम भारतीय कसौटी नहीं अपना सकते। भीम धीरोद्धत कोटि का नायक है, और नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। साहित्य-दर्पणकार ने बताया है कि घमण्डी और शेखीबाज (विकत्थन) होना धीरोद्धत के लिए गुण है, किन्तु धीरोदात्त के लिए वह दोष है, उसे तो 'अविकत्थन'[1] होना चाहिए। युधिष्ठिर में धीरोदात्त के सभी लक्षण मिल जाते हैं। हमारे मत से वेणीसंहार का नायक युधिष्ठिर को ही मानना ठीक होगा। भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा भी यही है, और स्वयं भट्टनारायण की भी यही सम्मत है।

वेणीसंहार का प्रमुख रस वीर है, तथा शृङ्गार एवं रौद्र इसके अंग रस है। तीसरे अंक में राक्षस-राक्षसी वाले प्रवेशक के द्वारा नाटककार ने बीभत्स रस की भी योजना की है। नाटक का वातावरण गंभीर होने के कारण इसमें प्रणय-नाटकों के उपयुक्त हास्य की योजना नहीं पाई जाती, जो वहाँ विदूषक की सृष्टि के द्वारा निबद्ध की जाती है। भट्टनारायण में भावी घटनाओं का संकेत देने के लिए पताकास्थानक और गण्ड जैसे नाटकीय संकेतों—ड्रेमेटिक आइरनी—का भी प्रयोग किया है। नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में वेणीसंहार का वह स्थल 'ड्रेमेटिक आइरनी' के लिए विशेष प्रसिद्ध है, जहाँ दुर्योधन अपनी दोनों जाँघों को भानुमती के बैठने के उपयुक्त घोषित करता है, पर इसी बीच कञ्चुकी आकर कहता है कि उसे तोड़ डाला गया है। इस स्थल में दर्शक एकदम 'भंग्न' का अन्वय 'ऊरुयुग्मम्' से लगा लेता है, और इस प्रकार दर्शक को दुर्योधन की जाँघों के टूटने की भावी घटना का संकेत मिल जाता है:—

---

१. अविकत्थनः क्षमावानतिगंभीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥ (सा० द० तृतीय परिच्छेद)

राजा—तत्किमित्यनास्तीर्णं कठिनशिलातलमध्यास्ते देवी।

लोलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तं त्वद्दृष्टिहारि ममलोचनबान्धवस्य।
अध्यासितुं तव चिरं जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्॥ (२.२३)

(प्रविश्य पटाक्षेपेण संभ्रान्तः)।

कञ्चुकी—देव, भग्नं भग्नम्।

राजा—केन।

कञ्चुकी—भीमेन।

राजा—कस्य।

कञ्चुकी—भवतः।

राजा—आः किं प्रलपसि।

भानुमती—आर्य, किं अनिष्टं मन्त्रयसे।

राजा—धिक्प्रलापिन्, वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः। (द्वितीय अंक)

राजा—तो देवी इस बिना आसन के कठोर शिलातल पर क्यों बैठती हैं। तुम्हारे उस जघनस्थल के बैठने के लिए मेरी दोनों जाँघें (ऊरु युग्म) यथेष्ट हैं, जिसका वस्त्र हवा के झोंके के कारण हिल रहा है, और जो मेरी आँखों के आकर्षण का केन्द्र बन रहा है।

कञ्चुकी—देव, तोड़ डाला, तोड़ डाला।

राजा—किसने?

कञ्चुकी—भीम ने।

राजा—किसका?

कञ्चुकी—आपका।

राजा—अरे! क्या बकता है।

भानुमती—आर्य! क्या अनर्थ मन्त्रणा करते हो।

राजा—व्यर्थ बकने वाले, नीच बुड्ढे, यह तुम्हें आज क्या हो गया है।

इसके बाद कंचुकी के मुँह से पता चलता है कि भयंकर वायु दुर्योधन के रथ का केतन तोड़ डाला है। इस उक्ति के पूर्व तक नाटक का दर्शक ही नहीं, अन्य पात्र भी संदेह की अवस्था में रहते हैं और 'तोड़े' जाने का संबन्ध दुर्योधन के ऊरुयुग्म से लगा लेते हैं। नाटककार इस प्रकार की योजना कर नाटकीय कुतूहल को जन्म देता है। भवभूति ने भी अपने उत्तररामचरित में एक स्थान पर ऐसी ही योजना की है, जहाँ राम के यह सोचते हुए कि 'सीता का विरह परम असह्य है', दुर्मुख के आने की सूचना देने के लिए कंचुकी आकर कहता है—'देव उपस्थितः' दर्शक 'विरहः' का अन्वय एकदम 'उपस्थितः' से लगा लेता है। यह नाटकीय योजना नाट्यशास्त्र में 'गण्ड' कही जाती है।[1]

काव्य-प्रतिभा और शैली

वेणीसंहार उन नाटकों में प्रथम है, जो दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य का मिश्रण लेकर आते हैं। यही कारण है कि वेणीसंहार की आलोचना करते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह नाटक दृश्यकाव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, पर काव्य की दृष्टि से सुंदर बन पड़ा है। जहाँ तक काव्य-पक्ष का प्रश्न है, भट्टनारायण उस शैली के जन्मदाता कहे जा सकते हैं, जिसका एक रूप हमें माघ, मुरारि (कुछ कुछ भवभूति में भी) या अन्य गौडी रीति के कवियों में दिखाई पड़ता है। भट्टनारायण कृत्रिम शैली को पसन्द करते हैं। समासान्त पदों का चयन, गंभीर ध्वनि वाले शब्दों का निर्वाह कर वे 'ओज' गुण की प्रचुर व्यञ्जना कराते हैं। संभवतः वेणीसंहार के वीररसपूर्ण वातावरण की सृष्टि में वे इसे आवश्यक मानते हैं। किन्तु जहाँ तक दृश्यकाव्य का प्रश्न है, इस प्रकार की उदात्त गौडी शैली नाटक

---

१. गण्डः प्रस्तुतसंबंधिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥ (दशरूपक ३·१८)

के अनुपयुक्त जान पड़ती है, और कभी कभी नाटकीय प्रभावात्मकता में बाधक होती है। संस्कृत में ही नहीं, चतुर्थ अंक की सुंदरक की गद्यमय प्राकृत उक्तियों में भी समासान्त पदावली का प्रयोग किया गया है, जो खटकता है।[1] अनुप्रास के निर्वाह, पदों के उतार-चढ़ाव, और छन्दों की लय के द्वारा वीर और रौद्र की व्यंजना पूरी तरह कराई गई है। इन दोनों के अतिरिक्त नाटक में करुण वातावरण की सृष्टि करने वाले भी कई स्थल हैं। आरंभ में द्रौपदी की दशा, दूसरे अंक में भानुमती का चित्र और छठे अंक में भीम के वध की झूठी खबर पाकर दुखी युधिष्ठिर की अस्तव्यस्तता नाटक में करुण की मार्मिक योजना करती है। भट्टनारायण की काव्य-कुशलता का परिचय आगे के कतिपय पद्यों से मिल सकता है।

भीम एवं दुर्योधन की उक्तियों में कई स्थानों पर वीर रस की अच्छी व्यंजना हुई है। द्रौपदी इस बात से परेशान है कि संधि हो जाने पर उसकी वेणी खुली ही रहेगी। भीम उसे आश्वासन दिलाते हुए कहता है:—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥ (१.२१)

'हे देवि ! तुम निश्चिंत रहो। यह भीम इस बात की प्रतिज्ञा करता है कि शीघ्र ही अपने दोनों हाथों से घुमाई हुई कठोर गदा की चोट से दुर्योधन की दोनों जाँघों को तोड़कर उसके गाढ़े चिकने खून से रँगे हाथों से तुम्हारे बालों को सँवारेगा।'

भीम के क्रोध को देखकर द्रौपदी को इस बात का डर है कि कहीं भीम

---

१. तदो देव, एदस्सिं अन्तरे जेट्ठस्स भादुणो परिभअसंकिणा धनंजएण वज्ज-णिग्घादणिग्घोसविसमरसिदधअग्गट्ठिदमहावाणरो तुरंगमसंवाहणवापिदवासुदेवसं-खचक्कासिगदालच्छिदचउब्बाहुदंडो आपूरिअपंचजण्णदेअत्ततारसिदप्पडिरवभरि-ददसदिसामुहकुहरो धाविदो तं उद्देसं रहवरो॥ (चतुर्थ अंक पृ. १७५)

और अन्य पाण्डव भी बदला लेने की भावना के कारण युद्ध में अपने शरीर की उपेक्षा न कर डालें। भीम के दर्पोन्मत्त स्वभाव को यह सुनकर ठेस पहुँचती है, वह द्रौपदी को इस बात का विश्वास दिलाता है कि पाण्डव युद्धभूमि के भीषण समुद्र में पैठना खूब जानते हैं।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामासमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
संग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥(१.२७)

'द्रौपदी ! चिन्ता करने की कोई बात नहीं। पाण्डव उस संग्राम रूपी समुद्र के गंभीर जल के बीचोबीच विचरण करने में बड़े कुशल हैं, जिसमें एक दूसरे से टकराकर आहत हाथियों के रुधिर, वसा, मांस और मस्तिष्क का कीचड़ हो रहा हो, और उस कीचड़ में मग्न रथों पर पैर रख रख कर पदाति सेना लड़ रही हो, जहाँ यथेष्ट रक्तपान से प्रसन्न होकर शब्द करती हुई अमंगल शृगालियों के चिल्लाने के तूर्यनाद की लय पर कबन्ध नाच रहे हों।'

भीम की कटु दर्पोक्तियों को सुनकर दुर्योधन चुप नहीं रह पाता। दुर्योधन को जीते बिना ही भीम इतना दर्प करने लगा है। उसकी आज्ञा से पाँचों पाण्डवों की; अर्जुन की, इस नीच भीम की, उस राजा की, और उन दोनों (नकुल-सहदेव) की पत्नी द्रौपदी को—जो जुए में जीती हुई दासी थी—सब लोगों के सामने सभा में बाल पकड़ कर घसीटा गया। यह अनिष्ट तो दुर्योधन ने किया था। यदि भीम को बदला लेने का घमण्ड है, तो उन राजाओं ने क्या बिगाड़ा था, जो युद्ध में मारे गये। भीम का दर्प तब माना जा सकता है, जब वह दुर्योधन से बदला ले सके। अपने भुजदण्ड के अतिशय पराक्रम के कारण अहंकारपूर्ण दुर्योधन को जीते बिना ही इतना घमण्ड ?

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञ स्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन्वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः॥ (५.३०)

क्षत्रिय के द्वारा अपमानित पिता के वध से परशुराम के समान क्रुद्ध अश्वत्थामा की निम्न उक्ति में अपमानजनित रोष तथा वीरता की ऊष्मा का अच्छा परिपाक पाया जाता है।

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रौणायनिः क्रोधनः॥ (३.३३)

'यह वही देश है, जहाँ परशुराम ने तालाबों को शत्रुओं के रक्त से भर दिया था। परशुराम के पिता की भाँति मेरे पिता का अपमान भी क्षत्रिय जाति ने ही किया है। परशुराम के जैसे ही शत्रुओं का भक्षण करने में समर्थ जाज्वल्यमान अस्त्र मेरे पास भी है। क्रुद्ध परशुराम ने जो कुछ किया, ठीक वही आज क्रुद्ध अश्वत्थामा (द्रोण का पुत्र) करने जा रहा है।'

भारतीय आलंकारिकों ने अश्वत्थामा की इस उक्ति को रसप्रतिकूलवर्णता के दोष-प्रकरण में उदाहृत किया है। उनके मत में यहाँ अश्वत्थामा की उक्ति में विकट समानता होनी चाहिए थी, ताकि वह अश्वत्थामा के रोष की व्यंजना कर पाती।[1] जब कि उपर्युद्धृत पद्य की शैली गौडी रीति नहीं बन पाई है। आलंकारिकों का मत ठीक है। अनेकों स्थलों पर विकटसमासबन्ध

---

१. अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम्। (काव्यप्रकाश पृ. २०

के प्रति अभिरुचि दिखाते हुए भी, इस आवश्यक स्थल पर उसका प्रयोग न करना कवि की कमजोरी है।

द्वितीय अंक की दो तीन शृंगारी उक्तियाँ सरस हैं :—

प्रेमाबद्धस्तिमितनयनापीयमानाब्जशोभं
लज्जायोगादविशदकथं मन्दमन्दस्मितं वा।
वक्त्रेन्दुं ते नियममुषितालक्तकाग्राधरं वा
पातुं वाञ्छा परमसुलभं किं न दुर्योधनस्य॥ (२.१८)

'हे प्रिये ! प्रेम से परिपूर्ण निश्चल नेत्रों के द्वारा जिसने कमल की शोभा को पी लिया है (जिसने कमलों को नेत्रों से जीत लिया है), लज्जा के कारण जिस मुख से स्पष्ट वचन नहीं निकल रहे हैं, और मन्द मन्द मुस्कराहट प्रकट हो रही है, ऐसे तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा को—जिसके अधर का लाक्षारस व्रत के कारण लुप्त हो गया है—पीने की (चुम्बन करने की) इच्छा क्या दुर्योधन को न होगी ?

भट्टनारायण का प्रकृति के प्रति विशेष मोह नहीं है, किन्तु नाटक में कुछ प्रकृति चित्र देखे जा सकते हैं। प्रातःकाल भ्रमरियों के साथ कमलिनी के कोश को छोड़ते हुए पराग से लिप्त भौंरे ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे सूर्य की किरणों के द्वारा स्पर्श किए हुए ईषत् अंगरागयुक्त राजा अपनी रानियों के साथ शय्या का त्याग कर रहे हों।[1] द्वितीय अंक के झंझावात का वर्णन उसकी चण्डता और गंभीरता का वातावरण उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। प्रकृति के कठोर रूप का यह चित्र सफल बन पड़ा है। दीर्घसमासता और विकट-वर्णत्व इस चित्र के रंग को और गहरा बना देते हैं।

---

१. जृम्भारम्भप्रविततदलोपान्तजालप्रविष्टैर्हस्तैर्भानोर्नृपतय इव स्पृश्यमाना विबुद्धाः।
स्त्रीभिः सार्धं घनपरिमलस्तोकलक्ष्याङ्गरागा मुञ्चन्यत्ते विकचनलिनीगर्भशय्यां द्विरेफाः॥
(२.८)

भट्टनारायण की गोडीशैली का खास उदाहरण निम्न है:—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥ (१.२२)

'यह हमारे सिंहनाद के समान आवाज वाला दुंदुभि किसने बजाया है। इसका धीर तथा गंभीर शब्द मंथन के समय चंचल तथा क्षुब्ध समुद्र-जल से छिद्रों (गुफाओं) के भरने से शब्द करते हुए मंदराचल के गंभीर गर्जन के सदृश है, और जब एक साथ सैकड़ों ढक्काएँ तथा हजारों भेरियाँ बजाई जाती हैं, तो ऐसी प्रचण्ड आवाज पैदा होती है, जैसे गरजते हुए प्रलयकालीन मेघ परस्पर टकरा रहे हों। यह रणदुंदुभि कौरवों के प्रति उत्पन्न द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है, और कुरुकुल के भावी विनाश का उत्पातसूचक प्रलयकालीन झंझावात है।'

वेणीसंहार में शौरसेनी तथा मागधी इन दो प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। मागधी का प्रयोग केवल तृतीय अंक के विष्कंभक में पाया जाता है, जहाँ राक्षस-राक्षसी मागधी प्राकृत में बोलते हैं। ग्रिल के मतानुसार यह मागधी न होकर अर्धमागधी है, क्योंकि वहाँ 'श' के स्थान पर 'स' पाया जाता है, तथा कर्ता कारक में 'ए' के स्थान पर 'ओ' 'अं' पाया जाता है। डॉ० कीथ के मतानुसार राक्षसों की भाषा मागधी ही है, और ग्रिल के द्वारा बताई गई विशेषताओं का कारण हस्तलिखित प्रतियों के लेखकों का त्रैभाषिक परिवर्तन जान पड़ता है। भट्टनारायण ने विविध छंदों का प्रयोग किया है; जिनमें प्रमुख वसन्ततिलका (३९), शार्दूलविक्रीडित (३२), शिखरिणी (३५), और स्रग्धरा (२०) हैं।

भट्टनारायण के विषय में हम डॉ० डे के साथ यही कह सकते हैं:—

'यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भट्टनारायण की कृति निम्न कोटि का नाटक है, तथापि उसके नाटक में सुंदर कविता विद्यमान है; किंतु कविता में भी, ठीक नाटक की ही तरह, भट्टनारायण की सशक्त कृति को विकृत बनाने वाला तत्त्व यह है कि उसकी शैली अत्यधिक कृत्रिम तथा अलंकृत है; और बुरी कदर अलंकृत होना उदात्त काव्य या नाटक से मेल नहीं खाता।'

विशाखदत्त

भट्टनारायण के वेणीसंहार में नाटक का जो तथाकथित शास्त्रीय वातावरण देखा जाता है, ठीक उसका उलटा रूप लेकर विशाखदत्त का मुद्राराक्षस आता है। संभवतः जिन दिनों एक ओर पण्डित लोग नाटक को दृश्यकाव्य की परम्परा से हटा कर श्रव्यकाव्य के समीप ले जा रहे थे, तथा भरत के नियमों का पालन करना भर दृश्यकाव्यत्व के लिए यथेष्ट समझते थे, कुछ लोग दृश्यकाव्य को वास्तविक रूप देना चाहते थे, जो यथार्थ अधिक हो, जिसमें वीर रस का कल्पित आदर्शात्मक घटाटोप, या शृंगार का रोमानी नंदनकानन भले ही न हो, पर जीवन के गुरु गंभीर कठोर दार्शनिक पहलू का विचार हो। विशाखदत्त ने एक ओर कालिदास या शूद्रक (?) की परम्परा का अनुसरण करते हुए नाटक के दृश्यकाव्यत्व को भट्टनारायण की तरह क्षुण्ण नहीं किया, और न भट्टनारायण की कृत्रिम शैली के अकाण्ड ताण्डव की ओर ही सदा ध्यान रखा, साथ ही दूसरी ओर उसने कालिदास और शूद्रक (?) की प्रणय-कथा के राजमार्ग को छोड़ कर राजनीति की उतार-चढ़ाव वाली कुटिल पद्धति को अपनी 'सिंह ठवनि' का आदर्श बनाया। शूद्रक (?) ने भी राजनीति को अपनाया है, पर उसकी राजनीति बुद्धि का खेल इतना नहीं है। शूद्रक (?) का मृच्छकटिक मूलतः रोमानी वातावरण का ही नाटक है। कालिदास के नाटक और मृच्छकटिक दोनों में भावपक्ष के चित्र अधिक हैं, जब कि विशाखदत्त की दृष्टि विचार-पक्ष की गंभीरता से संवलित है। संभवतः यह भी उन कारणों में एक है, जिसके कारण विशाखदत्त को आज का आलोचक अधिक सम्मान देगा। पर इतना ही नहीं, विशाखदत्त की कृति का सबसे बड़ा महत्त्व तो इसमें है कि उसने हर कदम पर इस बात को ध्यान में रखा है कि वह दृश्यकाव्य की रचना कर रहा है, श्रव्य काव्य की नहीं; और अपनी गंभीर प्रभावात्मकता

को नाटकीय योजना के द्वारा उत्पन्न करना चाहता है, महज कवित्व या वैदग्ध्यभंगीभणिति या अनुप्रास और वर्णाडम्बर की पद-घटा के द्वारा नहीं। कुछ विद्वानों के मत से दृश्यकाव्य की कसौटी पर संस्कृत नाटकों की परख करते समय आलोचक का शिशु सबसे पहले मुद्राराक्षस की अंगुलि पकड़ लेगा।

विशाखदत्त भी संस्कृत कवियों के संबंध में प्रसिद्ध इस नियम के अंतर्गत आ जाते हैं कि संस्कृत कवियों की तिथि और जीवन के विषय में हम कुछ नहीं जानते। विशाखदत्त इस नियम के कतिपय अपवादरूप व्यक्तित्वों की श्रेणी में नहीं बैठ सके हैं। इनके विषय में जो कुछ पता चलता है, उसका एकमात्र साधन मुद्राराक्षस की प्रस्तावना है, अन्य कुछ नहीं; और वह इतनी संक्षिप्त है कि हमें केवल इतना ही पता चलता है कि विशाखदत्त के पिता का नाम 'महाराज पृथु' (या नाटक की कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'महाराज भास्करदत्त') था, तथा उनके पितामह का नाम 'सामन्त वटेश्वरदत्त'।[१] पर ये कहाँ के सामन्त थे, किस राजा या सम्राट् के अधीन थे, इसका कोई निश्चय नहीं हो पाता। साथ ही स्वयं अपने नाम के साथ महाराज आदि उपाधि न लगाने से यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या ये सामन्त न थे? पर इसका समाधान एक ढंग से हो सकता है। संभवतः कवि विशाखदत्त की कृति पिता पृथु के विद्यमान होते हुए लिखी गई थी, नहीं तो संस्कृत परम्परा के नाटकों में सूत्रधार के मुँह से अपने नाम के साथ महाराज कहलवाना कोई गर्वोक्ति न थी। यह भी अनुमान अनुचित न होगा कि विशाखदत्त अपने पिता के आश्रय किसी राजा के यहाँ राज्यादि

---

१. 'अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिर्मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्य'मिति। (मुद्राराक्षस, प्रथम अंक पृ० ७)

के सञ्चालन में रहे हों, तथा उन्हें राजनीति का पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान रहा हो, जैसा कि उनके नाटक में प्रतिपद पर लक्षित होता है। सम्भवतः विशाखदत्त ने भी राजनीति की शतरंज के कई खेल खेले हों, और गुप्तचरों के मुहरों से किलेबन्दी कर शत्रु को शै देकर मात कर देने का उन्हें प्रायोगिक ज्ञान रहा हो। पर यदि ऐसा है, तो वे किस राजा के सामन्त थे, यह प्रश्न उठना संभव है, और इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि नाटक के भरतवाक्य से 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' के स्थान पर कई हस्तलेखों में 'पार्थिवो दन्तिवर्मा' भी पाठ मिलता है। इस नाम का एक राजा ७ वीं शती में पल्लववंश में हुआ है। श्री रामस्वामी ने इसी के साथ विशाखदत्त का संबंध जोड़ा है। पर पल्लववंशी राजा कट्टर शैव थे, और यह बात भरत वाक्य में राजा को विष्णु का अवतार मानने की कल्पना से ठीक नहीं बैठ पाती। हमारा एक अनुमान है कि विशाखदत्त दक्षिण या मध्यदेश के न होकर बंगाल के निवासी थे, और उस समय उत्पन्न हुए थे, जब एक ओर हर्ष का ज्वलन्त प्रताप बढ़ रहा था, और गुप्त-साम्राज्य का प्रकाश प्रभातवाताहत दीपशिखा की तरह बुझने की बाट देख रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष, भट्टनारायण और विशाखदत्त तीनों कुछ ही वर्षों के हेरफेर में हुए हैं, इन सभी का काल सातवीं सदी रहा है। यदि विशाखदत्त की रचना हर्ष के प्रताप-काल की न रही हो, तो उस काल की अवश्य है, जब हर्ष का पतन हो चुका हो, और कवि बंगाल के तत्कालीन राजा को प्रभुशक्ति के साथ मन्त्रशक्ति की सुदृढ़ भित्ति स्थापित कर हिमालय से दक्षिण समुद्र तक एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने का प्रोत्साहन दे रहा हो।[1] यह हो सकता है कि विशाखदत्त की मन्त्रशक्ति का समुचित

१. आशैलेन्द्राच्छिलान्तःस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीता-
दातीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य।

उपयोग न हुआ हो, राजा को प्रभुशक्ति पर ही पूरा भरोसा हो, और विशाखदत्त ने मन्त्रशक्ति की व्यावहारिक महत्ता पर जोर देने का नाटकीय प्रयोग किया हो। कुछ भी हो, अनुमान–परम्परा को इससे अधिक आगे बढ़ाना खतरे से खाली नहीं।

विद्वानों ने मुद्राराक्षसकार की तिथि के विषय में एक अंतःसाक्ष्य की ओर ध्यान दिलाया है। याकोबी के मतानुसार मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में एक चन्द्रग्रहण का संकेत मिलता है, जो केवल इसलिए नहीं हो पाता कि चन्द्र के साथ बुध ग्रह की स्थिति के कारण ग्रहणयोग ठीक नहीं बैठता।[१] याकोबी के मतानुसार यह तिथि २ दिसम्बर ८६० ई० थी, और याकोबी ने इस आधार पर इस नाटक को नवीं सदी के उत्तरार्ध का माना है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल नाटक के भरतवाक्य में संकेतित 'चन्द्रगुप्तः' पद के आधार पर नाटक की रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही काल की मानते हैं। डॉ० कीथ किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये हैं, पर वे इतना संकेत करते हैं कि नाटक नवीं सदी से पूर्व का है। यही मत दासगुप्ता का है। इधर कुछ लोगों ने फिर से डॉ० जायसवाल के मत को दुहराना आरंभ किया है। इन लोगों की खास दलीलें ये हैं:—

(१) विशाखदत्त की शैली छठी सदी के बाद की नहीं है।

(२) विशाखदत्त ने भरतवाक्य में जिस आसेतुहिमाचल साम्राज्य की कल्पना की है, वह गुप्तों के ही समय था। अतः नाटक की राजनीतिक

आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चूडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्यांगुलीरन्ध्रभागाः॥ (३.१९)

१. क्रूरग्रहः स केतुश्चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः॥ (१.६)

कल्पना चौथी पाँचवीं सदी की ही परिस्थिति का चित्र है। विशाखदत्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के युग में रहे हैं।

(३) यदि विशाखदत्त बाण के बाद में या समसामयिक थे तो दोनों को एक दूसरे का पता क्यों नहीं था।

ये तीनों दलीलें ठोस नहीं जान पड़तीं। विशाखदत्त की शैली निश्चितरूपसे कालिदासोत्तर काल की शैली है, कालिदास से दस-बीस वर्ष बाद की ही नहीं, लगभग दो सदी बाद की। कोई भी पाठक ध्यान से पढ़ने पर इस निर्णय पर पहुंच सकता है कि विशाखदत्त की शैली भारवि के भी बाद की है। संभवतः कवि भारवि के काव्य में प्रयुक्त राजनीति संबंधी पाण्डित्य से भी प्रभावित हुआ है। मैं यह नहीं कहता कि विशाखदत्त में प्रसादवृत्ति वाले पद्य नहीं हैं, पर यह नहीं भूलना होगा कि मुद्राराक्षस में ऐसे अनेकों पद्य हैं, जो हर्षोत्तर काल की या उसके आसपास की कृत्रिम शैली का प्रचुर प्रभाव व्यक्त करते हैं। विशाखदत्त राजनीति की पारिभाषिक पदावली, न्याय के अनुमान संबंधी पारिभाषिक शब्दों और समासान्त पदों का जो प्रयोग करते हैं, वे उनके कालिदास का सम-सामयिक होने में बाधक हैं। समझ में नहीं आता, विशाखदत्त के इन पद्यों से विद्वान् क्यों आंखें मूँद लेते हैं। यह दूसरी बात है कि भावपक्ष में न बहने के कारण, साथ ही कलापक्ष का व्यर्थ निर्बन्ध न होने के कारण विशाखदत्त की शैली की एक ऐसी विशेषता है कि वह विषय के अनुरूप बदलती है, साथ ही 'मेटर-आव्-फेक्ट' अधिक है। इस शैलीगत गुण के कारण ही विद्वान् संदेह में पड़ जाते हैं। पर विशाखदत्त में गौडी रीति का प्रयोग कम नहीं हुआ है, यह ध्यान में रखने की बात है। दूसरी दलील आसेतुहिमाचल साम्राज्य की कल्पना से संबद्ध है। आसेतुहिमाचल साम्राज्य का आदर्श गुप्त साम्राज्य के ज्वलन्तयुग का ही नहीं, बारहवीं सदी के छोटे

सामन्तों तक का भी रहा है। सोलहवीं सदी तक में राणा साँगा का ऐसा ही आदर्श था। साथ ही गिरती दशा वाला राज्य भी महान् आदर्श को लेकर चलता है। भरतवाक्य के अर्थ को अक्षरशः लेना ठीक नहीं जान पड़ता। तीसरी दलील भी निस्सार है। बाण को तो भारवि तक का पता न था, जो उससे पूर्व हो चुका था, और यदि उसे भारवि का पता भी हो तो उसे अपने काव्य की प्रस्तावना में संकेत करने लायक व्यक्तित्व न समझा हो। जहाँ तक विशाखदत्त का प्रश्न है, हमने जिस तिथि (६००-७००) का अनुमान किया है, उसके अनुसार भी समसामयिक होने के कारण विशाखदत्त का नाम प्रसिद्ध न हुआ हो। दूसरे बाण के पास कोई प्रसङ्ग भी न था, जहाँ वह विशाखदत्त का संकेत कर पाता। ठीक यही बात विशाखदत्त के विषय में कही जा सकती है। इन पंक्तियों के लेखक का पूरा विश्वास है कि विशाखदत्त को बाण का अवश्य पता था, चाहे वह समसामयिक हो या पूर्ववर्ती, पर विशाखदत्त के नाटक में उसके उल्लेख करने का प्रयोजन? संकेत के लिए किसी प्रसंग का होना भी तो जरूरी है। इन दलीलों में कोई सार नहीं है। यह निश्चित है कि विशाखदत्त हर्ष के बाद, किन्तु कुछ ही दिनों बाद रहे हैं, संभवतः उन्होंने अपने आरंभिक जीवन में हर्ष के साम्राज्य का स्वर्णिम युग देखा हो, वे एक बार फिर उसी साम्राज्य को अपने आश्रय के द्वारा स्थापित किया हुआ देखना चाहते हों।

विशाखदत्त की केवल एक ही कृति—मुद्राराक्षस—हमें उपलब्ध है, पर विशाखदत्त के नाम से एक दूसरे नाटक का भी पता चलता है—देवीचन्द्रगुप्तम्। देवीचन्द्रगुप्तम् का उल्लेख रामचन्द्र-गुणचन्द्र-कृत नाट्यदर्पण में मिलता है, जहाँ विशाखदत्त के इस नाटक के पाँचवें अंक से एक प्राकृत

गाथा उद्धृत की गई है।[1] देवीचन्द्रगुप्तम् शृङ्गाररस परक नाटक था, तथा इसमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और ध्रुव-स्वामिनी के प्रणय की, रामगुप्त एवं शकराज के बध की कथा रही होगी, जिसे प्रसाद जी ने अपने हिन्दी नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का भी आधार बनाया है। विशाखदत्त की एकाकी कृति ही उसका नाम अमर रखने में पर्याप्त है। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस संस्कृत दृश्यकाव्यों में उन गिने-चुने दीपस्तम्भों में से है, जिसके होते हुए भी परवर्ती नाटककार पाण्डित्य प्रदर्शन के नशे में अंधे होकर 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की परिपाटी पर चल पड़े।

मुद्राराक्षस की नाट्य-कला, वस्तुविन्यास और चरित्रचित्रण

विशाखदत्त ने अपने नाटक का इतिवृत्त प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना से लिया है। नन्दवंश के राजा के द्वारा अपमानित चाणक्य उसका उत्खात कर मौर्य चन्द्रगुप्त को सिंहासनारूढ करता है। चाणक्य की दूसरी अभिलाषा यह है कि वह चन्द्रगुप्त का विरोध करने वाले राक्षस को—जो नन्द का विश्वस्त अमात्य था—चन्द्रगुप्त के पक्ष में मिलाकर अमात्यपद पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। चाणक्य अपनी इस चाल में पूरा सफल होता है। दशरूपककार ने मुद्राराक्षस की कथा का आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा को बताया है। हो सकता है, विशाखदत्त ने बृहत्कथा भी देखी हो, किन्तु इस नाटक की रचना में विशाखदत्त को विशेष प्रेरणा चाणक्य, चन्द्रगुप्त तथा राक्षस के संबंध में प्रचलित किंवदन्तियों और चाणक्य के उस महान्

१. यह प्राकृत गाथा निम्न है:—

एसो सिअकरसत्थप्पणासिआसेसवेरितिमिरोहो।
णिअविहवएण चन्दो गअणं गहलंघिओ विसइ॥
(एष सितकरसार्थप्रणाशिताशेषवैरितिमिरौघः।
निजविभवकेन चन्द्रो गगनं ग्रहलंघितो विशति॥)

शास्त्र—अर्थशास्त्र—से मिली होगी। इतिवृत्त कहीं से भी लिया गया हो, उसका निर्वाह विशाखदत्त का अपना है, और वस्तु-विन्यास के निर्वाह में नाटककार ने भारत के महान् राजनीतिज्ञ के व्यक्तित्व को पूरी तरह ध्यान में रखा है। मुद्राराक्षस सात अङ्कों का नाटक है, और इसका अंगीरस वीर है, पर मुद्राराक्षस के वीररस के वातावरण और वेणीसंहार वाले वीररस के वातावरण में पूरब-पच्छिम का भेद है, जैसा कि हम आगे संकेत करेंगे। नाटक का नायक कौन है—चन्द्रगुप्त या चाणक्य, इस प्रश्न का समाधान भी हम करेंगे। भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर मुद्राराक्षस की मीमांसा करने पर संभवतः हम उसके प्रति न्याय न कर पायँगे। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने मुद्राराक्षस को अपना उचित स्थान दिलाने में कंजूसी की।

नाटक की प्रस्तावना में नेपथ्य से चाणक्य की क्रोधपूर्ण आवाज सुनाई देती है, जो मलयकेतु के द्वारा चन्द्रगुप्त के पराभव से आशंकित होकर इस बात से क्षुब्ध हो उठा है कि उसके रहते हुए चन्द्रगुप्त का अनिष्ट कौन कर सकता है। चाणक्य के रहते हुए चन्द्रगुप्त के ऊपर आक्रमण करना शेर के जबड़े में हाथ देना है। मंच पर प्रविष्ट होने पर चाणक्य अपनी स्वगतोक्ति के द्वारा अपने स्वभाव, कार्यकलाप तथा नाटक के बीज का उपन्यास करता है। यद्यपि चाणक्य की यह स्वगतोक्ति लंबी है, किंतु नाटकीय पृष्ठभूमि के लिए तथा नाटक के नायक विष्णुगुप्त की कूटनीति-विशारदता को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त बन पड़ी है, तथा अस्वाभाविक न होने के कारण सामाजिक को नहीं खटकती। चाणक्य ने नंदवंश का उत्खात तो कर लिया है, पर राक्षस को वश में किये बिना वह पूरा कैसे कहा जा सकता है।[१] चाणक्य इस अधूरे काम को पूरा करने में दत्तचित्त

१. अथवा अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य ? (प्रथम अंक पृ. २६)

है। उसने राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त को मारने के लिये प्रेषित विषकन्या से पर्वतेश्वर का बध करा कर यह झूठी खबर उड़ा दी है, कि राक्षस के षड्यंत्र से पर्वतेश्वर मारा गया है। पर इधर भागुरायण के द्वारा मलयकेतु को यह कहलाकर पाटलिपुत्र से भगवा दिया है कि चाणक्य ने पर्वतेश्वर को मरवा डाला है। इधर चाणक्य ने अपने गुप्तचरों का ऐसा जाल फैला रखा है कि वे मलयकेतु और राक्षस के विश्वस्त बन कर उन्हीं की जड़ खोद रहे हैं। प्रथम अंक में ही एक गुप्तचर आता है, जो चाणक्य को इस बात की खबर देता है कि राक्षस के पक्षपातियों में जीवसिद्धि क्षपणक, कायस्थ शकटदास तथा मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदास हैं। यहीं चाणक्य की स्वगतोक्ति से यह भी पता चलता है कि क्षपणक वस्तुतः चाणक्य का ही गुप्तचर है, जो राक्षस से जा मिला है। गुप्तचर चाणक्य को राक्षस के नाम से अंकित मुद्रिका भी देता है, जिसे चाणक्य नकली पत्र लिखवाने में काम में लाता है।[1] इसी अंक में चाणक्य चन्दनदास को बुलाकर डराता-धमकता है कि वह अपने घर में रखे हुए राक्षस-कुटुम्ब को सौंप दे, पर चन्दनदास सौंपने से मना कर देता है, भले ही उसे राजकोप का भाजन क्यों न बनना पड़े।[2] चन्दनदास चला जाता है, और चाणक्य की यह उक्ति एक बार फिर अंक के अंत में गूँज पड़ती है कि वह अपनी बुद्धि के बल से, स्वच्छन्द विचरण करते हुए मस्त राक्षस को, जो चन्द्रगुप्त के पक्ष का भेदन करने के लिए दानशक्ति का प्रयोग कर रहा है, तथा सैन्यबल के कारण दर्पयुक्त हो गया है, ठीक उसी तरह वश में कर लेगा, जैसे कोई कुशल हस्तिपक बुद्धि के

---

१. ननु राक्षस एव अस्मदंगुलिप्रणयी संवृत्तः। ......किमत्र लिखामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः॥ (प्रथय अंक)

२. आर्य, किं मे भयं दर्शयसि ? सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्तम्। (पृ. ६१)

द्वारा निरंकुश, दानजल से युक्त, बलवान् मस्त जंगली हाथी को जंजीर में बांध लेता है।[1]

मुद्राराक्षस की सारी लड़ाई चाणक्य जैसे कुशल महावत और राक्षस जैसे स्वच्छन्द वन्यगज की लड़ाई है। एक राक्षस को अपनी मुट्ठी में बांधना चाहता है, दूसरा उसकी चालों में नहीं फँसना चाहता। पर चाणक्य इतना कुशल है कि वह अनेकों तृणाच्छादित गर्तों को खोद कर राजनीति की कृत्रिम हथिनी को उस मस्तहाथी को फँसानेका साधन बनाता है, और लाख बचने की कोशिश करने पर भी एक दिन वह इन गर्तों में से एक में आ ही गिरता है, चाणक्य की 'गुणवती' नीतिरज्जु उसे बाँध ही लेती है। दूसरे अंक से ही राक्षस की वे कोशिशें क्रियाशील देखी जाती हैं, जिनके द्वारा वह चाणक्य के जाल से बचना चाहता है, इतना ही नहीं, वह उलटे चाणक्य पर लुक-छिप कर आक्रमण करने की तैयारी में है।

द्वितीय अङ्क में राक्षस की राजनीति-विशारदता सामने आती है। वह भी राजनीति के खेल में कच्चा नहीं है, चाहे चाणक्य उससे बीस भले ही साबित हो गया हो। राक्षस का गुप्तचर—जो सँपेरे के वेष में पाटलिपुत्र से आया है—मंचपर प्रविष्ट होता है, और राक्षस से मिलना चाहता है। इसी अंक में राक्षस की बातचीत से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त को मरवाने की उसकी समस्त योजनायें चाणक्य ने असफल कर दी हैं। उसके सारे गुप्तचर, जो चन्द्रगुप्त को मारने के लिए नियुक्त किये थे, स्वयं मौत के शिकार बन गये हैं। अब उसे केवल एक ही उपाय सूझता है कि किसी तरह चन्द्रगुप्त और चाणक्य में भेद करा दे। वह चन्द्रगुप्त के वैतालिकों को, जो उसी के

---

१. स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्तिमुत्सेकिना बलमदेन विगाहमानम्।
बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि॥
(१.२७)

गुप्तचर हैं, चन्द्रगुप्त को जोश में दिलाने वाले प्रशस्ति-पाठ सुनाने को कहला भेजता है, और उसे इस बात का पूरा विश्वास है कि अब वह समय आ गया है, जब चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों में मजे से भेद हो सकता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त राज्यप्राप्ति के कारण सुखी है, और चाणक्य अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने के कारण घमण्ड में चूर हो रहा है।[1]

पर चाणक्य कोई कच्चा खिलाड़ी नहीं है। उसने राक्षस की चाल को पहले ही समझ लिया है कि अब वह किस मोहरे को चलना चाहता है, और राक्षस की चाल के पहले ही वह मज़बूत किलेबन्दी कर लेता है, ऐसी किलेबन्दी कि राक्षस समझता रहे कि जीत उसी की हो रही है, पर आगे बढ़ने पर उसे पता चले कि शतरंज के बादशाह को शै देना टेढी खीर है, और उलटे उसे खुद ही मात खानी पड़े। तीसरा अंक चाणक्य की इसी मन्त्रशक्ति का परिचय देता है। वह स्वयं चन्द्रगुप्त को समझा देता है कि वह चाणक्य से इस तरह व्यवहार करे, जैसे दोनों में अनबन हो गई है। चाणक्य पाटलिपुत्र में कौमुदीमहोत्सव को मनाने की मनाही कर देता है। उसे इस बात की शंका है कि कहीं कौमुदीमहोत्सव के कारण प्रमत्त पुष्पपुर पर राक्षस और मलयकेतु की सेना आक्रमण न कर दे। चन्द्रगुप्त इस मनाही से नाराज होने का रूपक रचता है, और चाणक्य को इसका कारण जानने को बुलाता है। बातचीत में दोनों क्रोध को प्रदर्शित करते हैं। चाणक्य का क्रोध का अभिनय इतना स्वाभाविक होता है कि चन्द्रगुप्त को इस बात का डर हो जाता है कि कहीं आचार्य सचमुच क्रुद्ध नहीं

१. मौर्यस्तेजसि सर्वभूतलभुजामाज्ञापको वर्तते
चाणक्योऽपि मदाश्रयादयमभूद्राजेति जातस्मयः।
राज्यप्राप्तिकृतार्थमेकमपरं तीर्णप्रतिज्ञार्णवं
सौहार्दात्कृतकृत्यतैव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति॥ (२.२२)

हो गये हैं।[1] इधर वैतालिक इस मौके को पाकर चंद्रगुप्त को उत्तेजित करने वाले प्रशस्ति पाठ का प्रयोग करते हैं। सब लोग यही समझ बैठते हैं कि दोनों में झगड़ा हो गया है, और राजा ने शासन की बागडोर हाथ में सँभाल ली है। पर यह भी चाणक्य की एक चाल है। तृतीय अंक में चाणक्य की कूटनीति कुशलता अपने गंभीरतम रूप में व्यक्त होती है।

चतुर्थ अंक में राक्षस का पक्षभेदन होने लगता है। भागुरायण, जो पुष्पपुर से भाग कर मलयकेतु के पास आ गया है, उसे यह समझा देता है कि राक्षस का सच्चा शत्रु चन्द्रगुप्त नहीं, चाणक्य है। यदि चाणक्य का कांटा मार्ग से हट जाय, तो वह चन्द्रगुप्त से मिल जायगा। इसी बीच शकटार पुष्पपुर से आता है, और वह राक्षस को चाणक्य और चन्द्रगुप्त की अनबन का समाचार देता है, जिससे खुश हो कर राक्षस कहता है कि अब चन्द्रगुप्त हमारी मुट्ठी में आ गया।[2] भागुरायण और मलयकेतु इस वार्तालाप को सुन लेते हैं, और मलयकेतु को राक्षस की नीति का पता लग जाता है। इधर राक्षस और मलयकेतु पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने की योजना बनाते हैं और क्षपणक से मुहूर्त पूछते हैं।

पाँचवें अंक में जीवसिद्धि (क्षपणक) शिविर से पुष्पपुर जाने के लिए भागुरायण से मुद्रा लेने के लिए आता है। वह बताता है कि राक्षस उसे मारना चाहता है, तथा यहीं यह भी कहता है राक्षस ने ही पर्वतेश्वर को मरवा डाला था। मलयकेतु इसे छिप कर सुन लेता है। इसी बीच चाणक्य के द्वारा प्रथम अंक में लिखाये गये नकली पत्र और राक्षस के द्वारा पारितोषिक रूप में दिये गये आभूषणों को लेकर शिविर से आने की चेष्टा करता हुआ सिद्धार्थक पकड़ लिया जाता है। उसे मलयकेतु के सामने लाया जाता है। सच सच बात बताने के लिए उसकी मरम्मत होती है, और उस नकली

---

१. अये, तत् कथं सत्यमेव कुपित आर्यः ? (पृ. १६१)

२. सखे शकटदास, हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो भविष्यति। (चतुर्थ अंक. पृ. १८५.)

पत्र के विषय में वह यह कह देता है कि यह राक्षस का पत्र है जिसे वह चन्द्रगुप्त के पास ले जा रहा है। मलयकेतु के मन में राक्षस के विश्वासघात की धारणा बैठ जाती है। राक्षस बुलाया जाता है, और मलयकेतु उसे विश्वासघाती समझ कर फटकारता है।[1] राक्षस का रहा-सहा आधार भी भग्न हो जाता है। मलयकेतु को इस बात का भी पूरा विश्वास हो जाता है कि पर्वतेश्वर को राक्षस ने ही मरवाया है, क्योंकि राक्षस पर्वतेश्वर का आभूषण पहने पाया जाता है, जिसे असल में राक्षस ने दूसरे अंक के अंत में एक बनिये से खरीदा था। चाणक्य की चाल से चन्द्रगुप्त और चाणक्य का भेदन तो दूर रहा, मलयकेतु और राक्षस का भेदन हो जाता है।[2]

अन्त में राक्षस चन्दनदास को चाणक्य की चाल से बचाना अपना परम कर्तव्य समझता है। छठे अंक में वह पाटलिपुत्र पहुँच कर जीर्णोद्यान में लम्बी स्वगतोक्ति के द्वारा अपनी चालों की असफलता एवं भाग्यविपर्यय पर विचार करता देखा जाता है।[3] इसी बीच चाणक्य का एक गुप्तचर वहाँ आकर गले में रस्सी डाल कर मरना चाहता है। राक्षस उसे बचाना चाहता है, पर वह बताता है कि उसके मित्र चन्दनदास के वध से दुखी होकर वह ऐसा कर रहा है। राक्षस चन्दनदास को बचाने दौड़ पड़ता है।

सातवें अंक में चाणक्य अपने जाल को समेटता दिखाई देता है, शिकार फँस चुका है। चाणक्य के दो गुप्तचर झूटे चाण्डाल बन कर चन्दनदास को शूली पर चढ़ाने ले जा रहे हैं। चन्दनदास की पत्नी और पुत्री विलाप करते हैं। वध्यस्थल पर राक्षस आकर चाण्डालों को डराता है, वे भाग खड़े होते

---

१. चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः।
कल्पिता मूल्यमेतेषां क्रूरेण भवता वयम्॥ (पञ्चम अङ्क पृ. २४१.)

२. कथं जीवसिद्धिरपि चाणक्य प्रणिधिः? हन्त, हृदयमपि मे रिपुभिः स्वीकृतम्। (पञ्चम अंक पृ. २४५.)

३. अहो अलक्षितोपनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशाविभागपरिणतयो भवन्ति। (पृ. २६७)

हैं। इसी बीच मंच पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त आते हैं। चाणक्य अपनी सारी कूटनीति को स्पष्ट कर राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने को मजबूर करता है, लाचार होकर राक्षस को स्वीकार करना पड़ता है। 'नरेन्द्र' चन्द्रगुप्त चाणक्य की मन्त्रशक्ति के द्वारा तन्त्रावाप से युक्त होकर राक्षस के दर्पोन्मत्त 'नाग' को वश में कर लेता है, और वह मन्त्ररुद्धवीर्य की भाँति नतानन हो जाता है।[1] चाणक्य की विजय सामाजिक को प्रभावित करती है, पर राक्षस की महान् तपस्विता, त्याग और नियति अथवा चाणक्य के पुरुषकार के द्वारा डाली गई विषम परिस्थिति दर्शक में एक साथ राक्षस के प्रति सम्मान और दया के संमिश्रित भाव को उत्पन्न कर देती है। शतरंज के खेल में राक्षस हार जाता है, पर हार कर भी उसका मान बना रहता है, उस हार में भी अपनी विशेषता है, और चाणक्य का कुशल खिलाड़ी खून का एक कतरा गिराये बगैर ही चन्द्रगुप्त के लिए महान् युद्ध जीत लेता है, मलयकेतु की वे वाहिनियाँ, जिनकी तुरगवर-घटाओं के द्वारा खुरपुटों से उड़ाई हुई धूल गौडांगनाओं के कपोलों और काले केशों को धूमिल बनाने में समर्थ है, धरी की धरी रह जाती हैं। विशाखदत्त की मन्त्रशक्ति नाटक के नायक चाणक्य की नीति की तरह; भट्टनारायण और उसके भीम की उत्साहशक्ति की अपेक्षा निःसंदेह शत्रुविजय के नाटक में अधिक सफल हुई है।

कथावस्तु, शैली एवं टेकनीक की दृष्टि से मुद्राराक्षस सभी संस्कृत नाटकों से भिन्न है। इसका संविधान संस्कृत नाटकों के परंपरागत ढर्रे पर नहीं

---

१. संकेत—तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेंद्रेण फणींद्रा इव शत्रवः॥ (माघ)
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥ (भारवि)
जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति॥ (मुद्राराक्षस २.१)

चलता। मुद्राराक्षस में ऐसी निजी मौलिकता है, जो उसे अन्य सब संस्कृत नाटकों से अलग कर देती है। यह मौलिकता ही किसी हद तक मुद्राराक्षस की उस उपेक्षा का कारण रही है, जो इसे पुराने पंडितों के हाथों मिली है। मृच्छकटिक भी संस्कृत नाटकों के लिए मौलिक वातावरण लेकर आता है, पर संस्कृत पंडितों ने उसे उसका समुचित स्थान घोषित किया है, किंतु मुद्राराक्षस का वातावरण मृच्छकटिक वाला न होकर गंभीर होने के कारण सम्मान न पा सका। संस्कृत नाटकों की रोमानी परम्परा और प्रणय-चित्रण को छोड़ कर गंभीर विषय को अपना लक्ष्य बनाना मुद्राराक्षस की पहली विशेषता है। मुद्राराक्षस में कोई नायिका नहीं है, न प्रणय का कोमल वातावरण ही। सारे नाटक में केवल एक स्त्री पात्र मंच पर प्रवेश करता है—चंदनदास की पत्नी। यह दृश्य प्रभावात्मक है, किंतु कथावस्तु के विकास में विशेष महत्त्व नहीं रखता। विशाखदत्त ने भट्टनारायण की तरह गंभीर नाटक में प्रणयचित्र की रूढ़िगत थिकली लगाने की मूर्खता नहीं की है। मुद्राराक्षस राजनीतिक षड्यंत्र का, कूटनीति के दाँव-पेंच का नाटक है, जहाँ वस्तु का निर्वाह दृढ़निर्बंध वाले व्यापार-चक्र से ही हो सकता है। पर मुद्राराक्षस का व्यापार सतत क्रियाशील होते हुए भी रक्तपातविहीन है, उसमें तलवारों की झनझनाहट, कबंधों का नृत्य, या रुधिर की सरिता का चित्र नहीं आता, चाहे वाणी की उत्तेजना भले ही मिल जाय। साथ ही मुद्राराक्षस की लड़ाई इस तरह चलती है कि चाणक्य का प्रतिनायक राक्षस सावधान रहते हुए भी चारों ओर से घेर लिया जाता है, और उसे यह पता नहीं कि वह जाल में फँसने जा रहा है, उसे सारा पता तब चलता है, जब वह फँस चुका है। मुद्राराक्षस की लड़ाई चाणक्य और राक्षस की लड़ाई नहीं, उनकी मन्त्रशक्तियों की लड़ाई है, और नाटक का सारा कुतूहल दोनों की चाल और अपने मोहरे को बचा कर दूसरी चाल चलने की चतुरता में है, दर्शक पास में बैठा इन शतरंज के

खिलाड़ियों की चालें देख कर अभिभूत होता रहता है। संभवतः सहृदय भावुक ऐसे नाटक की प्रभावात्मकता के विषय में शंका करे, जिसमें न प्रेम की मधुरिमा है, न संगीत की तान, न नृत्य का लास्यमय पदविक्षेप, न सीन-सिनेरी से रमणीय प्रकृति-परिवेष ही; किन्तु इसमें कोई शक नहीं कि नाटक की वस्तुयोजना इस खूबी से की गई है कि व्यापार की गत्यात्मकता कहीं क्षुण्ण नहीं होती, और पात्रों का प्रवेश उस व्यापार को गति देने के ही लिए कराया जाता है। नाटक की शैली इतनी गंभीर, सशक्त, स्पष्ट और साक्षात्सुचयमूलक है कि उससे नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता को सहायता मिलती है। नाटककार के गंभीर उत्तरदायित्व का निर्वाह कितना क्लेशपूर्ण है, उसे विशाखदत्त अन्य संस्कृत नाटककारों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जानते थे। विशाखदत्त ने स्वयं एक स्थान पर राक्षस के मुँह से राजनीतिज्ञ की क्लेशपूर्ण स्थिति का संकेत कराते हुए नाटककार की स्थिति से तुलना की है। नाटककार पहले छोटे से कार्य का बीज रूप में (मुखसंधि में) उपक्षेप करता है, तदनन्तर प्रतिमुखसंधि में उसका विस्तार करना चाहता है, इसके बाद वह गर्भसंधि में नाटकीय कथावस्तु के कार्य-बीजों के छिपे हुए गंभीर फल को प्रकट करता है, फिर अपनी बुद्धि से विमर्श की रचना कर, फैले हुए व्यापारों को समेट कर उपसंहार करता है। सचमुच नाटककार को बहुत बड़े क्लेश का सामना करना पड़ता है।[1] इस क्लेश का अनुभव या तो विशाखदत्त जैसे सफल नाटककार को ही हो सकता है, या राजनीति के नाटक में खेलने वाले राक्षस को ही।

---

१. कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन् ।
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभविता क्लेशमस्मद्विधो वा ॥ (४.३)

मुद्राराक्षस के नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता, घटना-चक्र का उतार-चढ़ाव, चाणक्य तथा राक्षस के परस्पर प्रयुक्त षडयंत्रों के साथ चलता है। प्रत्येक अंक व्यापार की दृष्टि से स्वतःपूर्ण है, किंतु एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं है। हर कड़ी स्वतःपूर्ण होते हुए भी दूसरी में जुड़ कर नाटकीय व्यापार-श्रृंखला की निर्मित में सहयोग देती है, महाकार्य की ओर नाटकीय वस्तु को अग्रसर करती है। नाटक में ऐसी कोई घटना या परिस्थिति नहीं, जिसे जबर्दस्ती रख दिया गया हो, और वह अस्वाभाविक जान पड़ती हो। नाटक की समस्त घटनाएँ, पात्र, संवाद और योजनाएँ केवल एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ती दिखाई गई हैं, ये सारे नद-नाले एक ही सरिता में गिर कर महासमुद्र की ओर बहते हैं। विशाखदत्त का वस्तु-निर्वाह बड़े ध्यान से नियोजित किया गया जान पड़ता है, तथा एक कुशल कलाकार की कृति है। मुद्राराक्षस की व्यापारान्विति का जो सुगठित सुष्ठुरूप दिखाई पड़ता है, वह अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं है।

नाटक का नायक कौन है, चन्द्रगुप्त या चाणक्य ? संस्कृत नाट्यशास्त्र की परम्परा शायद चन्द्रगुप्त को ही नायक मानना चाहे, पर विशाखदत्त स्वयं चाणक्य को नायक मानने के पक्ष में मत देंगे। नायक की दृष्टि से भी विशाखदत्त संस्कृत नाटकों की रूढिगत परम्परा का भंग करते दिखाई देते हैं। सारे नाटक में चाणक्य निःसन्देह प्रमुख पात्र है, जो पहले अंक से अंत तक अपने गंभीर व्यक्तित्व में दिखाई पड़ता है। विशाखदत्त का एक मात्र उद्देश्य चाणक्य के चरित्र के गहन पक्ष को सामने रखना है। नाटक में स्थान स्थान पर विशाखदत्त ने ऐसे संकेत किये हैं,[1] जो चाणक्य को नायक

---

१. जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती जयति सुजनदृष्टिचन्द्रमाश्चन्द्रगुप्तः।
जयति जयनसज्जं या अकृत्वा च सैन्यं प्रतिहतप्रतिपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः॥

मानने के पक्ष को पुष्ट करते हैं। यद्यपि राक्षस को वश में कर लेने से चन्द्रगुप्त को अमात्य लाभ हुआ है, पर चाणक्य को भी फलागम हुआ है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता, और इसी फलागम का विशेष महत्त्व है। चाणक्य जैसे निःस्वार्थ राजनीतिज्ञ के लिए, अपने लिए फलप्राप्ति करना अभीष्ट न था; उसका लक्ष्य था, चन्द्रगुप्त के लिए निष्कण्टक राज्य की स्थापना और राक्षस को मंत्री बनाना; और वह इस कार्य में सफल होता है।

चाणक्य का पात्र निःस्वार्थ, दृढ़प्रतिज्ञ, कूटनीति—विशारद एवं महान् राजनीतिज्ञ है। वह चन्द्रगुप्त का गुरु, मंत्री, पथप्रदर्शक सभी कुछ है, उसी की एकमात्र कृपा से वृषल चन्द्रगुप्त नंद के सिंहासन पर बैठ सका है। मौर्य-साम्राज्य के मंत्रित्व का उपभोग करते हुए भी चाणक्य नगर से बाहर एक कुटी में रहता है, जहाँ एक ओर कंडों को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर शिष्यों के द्वारा लाई हुई दर्भ का ढेर लगा है, कुटी की छत सुखाई हुई समिधाओं के भार से झुकी हुई है, और दीवारें जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं।[1] कहाँ चन्द्रगुप्त का मंत्रिपद, और कहाँ यह दरिद्र वातावरण? पर चाणक्य को अपने लिये कुछ नहीं चाहिए, उसका एकमात्र लक्ष्य चन्द्रगुप्त के राज्य को निष्कंटक बना देना है। इस लक्ष्य के लिए चाणक्य पुरुषार्थ को अपना साधन बनाता है। दैव के प्रति विश्वास करना चाणक्य जानता ही नहीं, उसे अपने उद्यम पर, अपने पुरुषकार पर अटल विश्वास है। तीसरे अंक में चन्द्रगुप्त नन्दवंश के नाश का कारण दैव को बताता है, इसे सुनकर चाणक्य नाराज हो जाता है, और कहता है कि

षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनऋजुका जयति॥ (६.४)

१, उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिश्शुष्यमाणाभिराभिर्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥
(३१५)

मूर्ख व्यक्ति ही दैव में विश्वास करते हैं।[1] चाणक्य इतना महान् राजनीतिज्ञ है कि उसके मित्र एवं शत्रु सभी उसकी नीति की प्रशंसा करते हैं। भागुरायण को चाणक्य की राजनीति नियति की तरह चित्र-विचित्र रूप वाली दिखाई देती है। कभी तो चाणक्य की चालें प्रकाशित होती दिखाई देती हैं, तो कभी इतनी गहन बन जाती हैं कि बुद्धि भी उन्हें नहीं पकड़ पाती, कभी वह सम्पूर्ण रूप में दिखाई देती है, तो कभी किसी कार्य से अत्यधिक झीनी बन जाती है, कभी ऐसा प्रतीत होता है, जैसे चाणक्य की नीति का बीज तक नष्ट हो रहा है, तो कभी फिर पूर्णतः सफल होती दिखाई देती है। नियति की तरह चाणक्य की नीति अनेकों तरह के खेल दिखाती है, और अपना असली रूप प्रकट नहीं करती।[2] चाणक्य को अपनी बुद्धि और नीति पर पूरा भरोसा है, कोई भी उसका शत्रु बन बैठे जब तक उसके पास बुद्धि है, वह सैकड़ों सेनाओं की भी पर्वाह नहीं करता उसकी अकेली बुद्धि इन्हें परास्त करने में अलम् है।[3] चाणक्य निःसंदेह बुद्धि से ही मलयकेतु की सेनाओं को जीत लेता है। चाणक्य का पात्र क्रोधी है, किन्तु वह क्रोध का आश्रय लेता तब देखा जाता है, जब उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है, अथवा उसकी योजनाओं को असफल बनाने की चेष्टा की जाती है। उसने चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया है, उसकी इस योजना को भग्न करने की चेष्टा में रत मलयकेतु को वह कैसे बर्दाश्त कर सकता है?

---

१. दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति। (तृतीय अंक)

२. मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना,
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥ (५.३)

३. एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥ (१.२६)

पहले अंक में ही चाणक्य का यह रूप दिखाई देता है। तीसरे अंक में जब चन्द्रगुप्त के द्वारा चाणक्य के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाई जाती है, तो वह उबल पड़ता है। चाणक्य की (कृत्रिम) क्रोधमुद्रा का गंभीर वर्णन उसके स्वभाव का परिचय दे सकता है। चाणक्य की क्रोधमुद्रा को देखकर चन्द्रगुप्त को ऐसा प्रतीत होता है, मानो पृथ्वी चाणक्य के प्रहारों को सह कर ताण्डव नृत्य के समय रौद्ररस का अभिनय करते हुए रुद्र के पादविक्षेप को याद कर रही हो।[1] पर चाहे चाणक्य को बाहर से क्रोधी बनना पड़ता हो, वह हृदय से कोमल है। उसका चरित्र पत्थर से भी ज्यादा सख्त और मोम से भी ज्यादा मुलायम है। वह लोकोत्तर चरित्र है, जो वज्र से भी अधिक कठोर है, कुसुम से भी अधिक कोमल। पर राजनीति की कठोर वनस्थली पर चलते चलते उसके अपने पैर भी कठोर हो गए हैं। चाणक्य को स्वयं भी कभी कभी यह विचार आ जाता है कि राजनीति में व्यस्त रहने के कारण बटुओं के साथ उसका बर्ताव शुष्क हो गया है, और वह कह ही उठता है:—'वत्स' मेरा शिष्यों के प्रति कोई स्वभावतः रूखा व्यवहार नहीं है, किन्तु कार्य में व्यग्र होने के कारण मैं व्याकुल रहता हूँ। इसलिए तुम यह न समझना कि उपाध्याय का व्यवहार शुष्क एवं कटु है। परिस्थितियों ने मुझे ऐसा बना रखा है।'[2] चाणक्य के स्वभाव का कोमल पक्ष ही उसे राक्षस की प्रशंसा करने को बाध्य करता है।

राक्षस भी चाणक्य की तरह महान् राजनीतिज्ञ अवश्य हैं, पर राक्षस

---

१. संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयाऽपि
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमिव पुनः पिंगया नेत्रभासा।
मन्ये रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
संजातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः॥ (३.३०)

२. वत्स, कार्याभिनियोग एवास्मानाकुलयति न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता। (प्रथम अंक)

के चरित्र में कुछ ऐसे गुण (या दोष) विद्यमान है, कुछ ऐसी मानवोचित उदात्तता वर्तमान है, जो उसके कठोर राजनीतिज्ञ को उस बुद्धि की भूमि से उतार कर हृदय के कोमल तल पर खड़ा कर देती है। चाणक्य की तरह वह हृदय को पूर्णतः वश में नहीं कर पाया है। राक्षस के चरित्र की यह भावुकता ही राक्षस के पराजय का कारण बनती है। राक्षस भी चाणक्य जैसा ही निःस्वार्थ, दृढप्रतिज्ञ राजनीतिज्ञ है, जिसके डर से राज्यलक्ष्मी अभी पूरी तरह चन्द्रगुप्त का आलिंगन नहीं कर पाई है।[1] पर चाणक्य और राक्षस के चरित्रों में बड़ा भेद है। चाणक्य स्पष्टबुद्धि, आत्मविश्वासी तथा अप्रमत्त है, राक्षस भावुक, कोमल तथा गलती करने वाला। चाणक्य की नीति गुप्त है, वह किसी पर विश्वास नहीं करता, राक्षस स्पष्ट है, दयापूर्ण है, तथा हर एक पर विश्वास करता है। यह हर एक पर विश्वास करना ही राक्षस का पतन कराता है। चाणक्य का व्यक्तित्व इतना गंभीर तथा कठोर है कि उसके मित्र तथा अनुयायी भी उससे डरते हैं; राक्षस के मित्रादि उसे प्रेम करते हैं। राक्षस के इन्हीं गुणों के कारण चाणक्य उसे जीतना चाहता है, उसका हृदय-परिवर्तन करना चाहता है, और इसमें वह पूर्णतः सफल होता है। राक्षस भी चाणक्य की योजनाओं का भंग करने के लिए कूटनीतिपूर्ण चालें चलता है, पर वह राजनीति के ही जगत् में नहीं रहता; जब कि चाणक्य उसी जगत् में उठता-बैठता है, राजनिति के अतिरिक्त चाणक्य को और कुछ सूझता ही नहीं।

चन्द्रगुप्त और मलयकेतु दोनों ही नाटक में अधिक शक्तिशाली चरित्र भले ही न हों, पर उन्हें चाणक्य या राक्षस की कठपुतली नहीं कह सकते। चन्द्रगुप्त आदर्श राजा है, जो आचार्य चाणक्य की आज्ञा का पालन करता है, और प्रभुशक्ति के साथ मन्त्रशक्ति की उपयोगिता को भलीभाँति

१. २.१२।

समझता है। वह चाणक्य के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने को सदा तैयार है, तथा उसके कहने पर उससे लड़ाई करने का बहाना भी बनाता है, पर उसे यह खटकता है कि उसे आचार्य से झगड़ा (चाहे कृत्रिम ही क्यों न हो) करना पड़ेगा। मलयकेतु ठीक उसी तरह चन्द्रगुप्त का उलटा चरित्र है, जैसे राक्षस चाणक्य का उलटा। चन्द्रगुप्त शांत व गंभीर है, मलयकेतु अशांत, उद्धत और उजड्ड। उसे पाटलिपुत्र के गांग प्रासाद में स्थित सिंहासन पर बैठने की लालसा है, वह मौर्य को हटा कर सम्राट् बनाना चाहता है, पर वह अविवेकी है, और भावावेश में आकर पता नहीं क्या क्या कर देता है। चाणक्य के गुप्तचरों के जाल में फँस कर वह राक्षस का घोर अपमान करता है, जिसे देख कर राक्षस उसके अज्ञानी होने की घोषणा करता है।[१] विशाखदत्त के छोटे-मोटे पात्र भी सशक्त हैं—विरुद्धक, सिद्धार्थक, निपुणक, आहितुण्डिक, आदि चाणक्य और राक्षस के गुप्तचर, शकटदास और चन्दनदास, सभी पात्र चाहे सूक्ष्म हों, किंतु नाटककार के चित्रकार की कूँची ने उनमें भी जीवन-रस भर दिया है। विशाखदत्त के चरित्र मृच्छकटिक की भाँति जीवंत चरित्र हैं, किसी हद तक मृच्छकटिक के चरित्रों से भी अधिक स्पष्ट, अधिक सशक्त, अधिक यथार्थ।

मुद्राराक्षस की काव्य-शैली

मुद्राराक्षस की रचना कवि की उत्कृष्ट कलात्मकता का परिचय देती है, यह एक ऐसे कलाकार की कृति है, जिसने प्रत्येक पद पर औचित्य का ध्यान रखा है। यही कारण है, विशाखदत्त की काव्यशैली सशक्त, गंभीर एवं प्रवाहमय है, उसमें परवर्ती कवियों की परिश्रमसाध्य कृत्रिम शैली नहीं दिखाई पड़ती। अभिव्यंजना की दृष्टि से चाहे उसे माघ जैसे कवियों के साथ नहीं रखा जा सके, पर विशाखदत्त के कई पद्य संस्कृत साहित्य की

---

१. अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य। (पंचम अंक)

अपूर्व निधि हैं। विशाखदत्त में चाहे कालिदास जैसी उदात्त कल्पना तथा सरस भावतरलता न हो, हर्ष जैसा कोमल एवं विलासी प्रणय-चित्र न हो, शूद्रक जैसा व्यंग्य, हास्य एवं करुण का वातावरण न हो, भट्टनारायण जैसी शक्ति तथा ऊष्मा न हो, न भवभूति जैसी करुण-हृदय की वेदना ही; फिर भी विशाखदत्त की अपनी शैली उसके विषय के अनुरूप है, और इस दृष्टि से वह निम्न कोटि का कलाकार नहीं। विशाखदत्त की उपमाएँ, अप्रस्तुत, चित्रविधान अत्यधिक सतर्कता से सँजोये गये हैं, और वह निरर्थक कला-पक्ष के जाल में इसलिए नहीं फँसता कि नाटकीय प्रवाह एवं प्रभाव को अक्षुण्ण बनाये रखने की भावना उसे सदा बचाती रही है। संभवतः कुछ लोग प्रथम अंक की चाणक्य की स्वगतोक्ति तथा षष्ठ अंक की राक्षस की स्वगतोक्ति के लंबेपन को नाटकीय दोष मानें, किंतु इनके द्वारा एक स्थान पर वह चाणक्य के चरित्र की सशक्तता को पूर्णतः व्यक्त करना चाहता है, दूसरे स्थान पर राक्षस की भावुक प्रकृति को।

मुद्राराक्षस का अंगीरस वीर है। शृंगार का अभाव होने के कारण, तथा विषय के बौद्धिक स्तर के होने के कारण मुद्राराक्षस कुछ नीरस (प्रोजेक) भले ही लगे, काव्योचित उदात्तता की इसमें कमी नहीं। चाणक्य की उक्तियों में वीर रस का सुंदर परिपाक हुआ है। चाणक्य की उत्साहशक्ति अदम्य है। वह, वह शेर है, जिसके जबड़े में हाथ डाल कर उसकी डाढ को उखाड़ने की हिम्मत कोई नहीं कर सकता। अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार के द्वारा व्यञ्जित वीर रस का यह चित्र निम्न पद्य में मिलता है:—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं कोहर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥ (१.८)

'वह कौन व्यक्ति है, जो जँभाई के कारण मुँह को फाड़ते हुए शेर की उस डाढ को बलात्कार से उखाड़ लेना चाहता है, जो हाथी के खून की

चखने के कारण लाल कान्ति से युक्त, ठीक उसी तरह हो गई, जैसे सन्ध्याकालीन चन्द्रमा की लाल कान्ति।'

चाणक्य के शेर ने अपनी डाढ़ों को उखाड़ने का साहस करने वाले मूर्खों का नाश कर दिया है। उसने राक्षस के देखते हुए, संसार के समक्ष, वह भयंकर प्रतिज्ञा की थी कि वह नंद का मूलोच्छेद कर देगा, जिस प्रतिज्ञा के कारण क्रोध के आवेश में काँपते हुए शरीर की उद्विग्न अँगुलियों ने तेजी से शिखा खोल डाली थी; और जिस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए उसने असंख्य धनसम्पत्ति के स्वामी, घमण्डी नंदों को बलिपशु की तरह मार डाला था।

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्रांगुलीमुक्तचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम्।
केनान्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ॥ (३.२७)

वीर रस का परिपाक राक्षस तथा मलयकेतु की उक्तियों में भी देखा जाता है। मुद्राराक्षस में संग्राम की लड़ाई वाले वीर रस के चित्र नहीं मिलते, पर मलयकेतु की उक्तियों में कहीं कहीं सेनाओं की दौड़-धूप का संकेत मिल सकता है।

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।
पांशुस्तम्बा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमांगे गजमदमलिनच्छिन्नमूलाः पतन्तु ॥ (५.२३)

'सेना के घोड़ों के खुरपुटों से चूर्णित रणभूमि से उठ कर पुष्ट हुई धूल, गौड़ देश की स्त्रियों के लोध्रधूलि से सुगंधित कपोलों को धूमिल बनाती

हुई, उनके भौंरे जैसे काले, घुंघराले बालों की कृष्णिमा (कालेपन वाले सौंदर्य) को मलिन बनाती हुई, हाथियों के मदजल से मलिन कीचड़ को उछालती हुई, शत्रुओं के मस्तकों पर जाकर गिरे, (और उनके अमंगल का कारण बने)।'

राक्षस की वीरता का मार्मिक चित्र हमें षष्ठ अंक में मिलता है। परिस्थितियों ने उसे मलयकेतु से अलग कर दिया है, अब उसका कोई साथी नहीं, किंतु फिर भी चन्दनदास की विपत्ति की खबर सुन कर उसका खून खौल उठता है, वह अभी भी अपने परम मित्र खड्ग के साथ है, वह उसकी सहायता करेगा।

निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्त्ति
युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण।
सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद्विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते॥ (६.१९)

'जलरहित आकाश की तरह चमकने वाली यह तलवार, जो युद्ध में श्रद्धा रखने के कारण रोमांचित हो गई है, जिसने मेरे हाथ से मित्रता प्राप्त कर ली है; तथा जिसकी वीरता को शत्रुओं ने युद्ध भूमि की कसौटी पर परखा है, आज मुझे मित्र चन्दनदास के स्नेह के कारण साहस की ओर बढ़ने को प्रेरित कर रही है।'

वीरता के इस गंभीर वातावरण में प्रणय की कोमलता, रोमानी तस्वीरों का हल्का-फुल्कापन मिलना कठिन है। चाणक्य की नीति की तरह विशाखदत्त की कला भी श्रृंगार के कौमुदी-महोत्सव को निषिद्ध कर देती है। वैसे मुद्राराक्षस में एक दो श्रृंगारी चित्र देखे जा सकते हैं। इनमें निम्न दो चित्र खास हैं, एक में श्रृंगारी चित्र अप्रस्तुत के रूप में उपस्थित हुआ है, दूसरे में निषेध-पद्धति का आश्रय लेकर। इन दो चित्रों को देख

कर कहा जा सकता है कि विशाखदत्त का गंभीर कवि शृंगारी चित्रों में असफल नहीं कहा जा सकता।

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाऽप्यङ्के पतन्त्या मुहुः।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योद्यमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम् ॥ (२.१२)

'यही वे अमात्य राक्षस हैं, जिनके पराक्रम से शंकित होकर मौर्यों की राजलक्ष्मी मौर्य चन्द्रगुप्त का पूरी तरह आलिंगन नहीं कर पाती। उसने अपनी बांयी बाहुलता चन्द्रगुप्त के गले में डाल तो दी है, पर वह शिथिल है, उसने अपना मुँह चन्द्रगुप्त की ओर से फेर रखा है, उसकी दाहिनी बाँह जबर्दस्ती उसके कंधे पर रखी जा रही है, और वह बार बार नीचे गिर रही है, ताकि मौर्य का आलिंगन न कर सके; वह अपने दाहिने स्तन को मौर्य के वक्षःस्थल से सटा कर अभी भी उसे गाढालिंगन का सुख नहीं दे पाती।'

चन्द्रगुप्त को इस बात का खेद है कि कौमुदीमहोत्सव के होते हुए भी पुष्पपुर निवासी उत्सव नहीं मना रहे हैं।

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालङ्कुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तमन्दप्रयातैः।
अन्योन्यं स्पर्द्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
सार्कं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ॥ (३.१०)

'चतुर कथाओं में निपुण विटों के द्वारा अनुगत वारनारियाँ आज अपने पुष्ट जघनभार से दबी हुई मन्थर गति से पाटलिपुत्र की गलियों को सुशोभित नहीं कर रही हैं, साथ ही समृद्धि से एक दूसरे की स्पर्द्धा करने

वाले श्रेष्ठ नागरिक भी निःशंक होकर अपनी स्त्रियों के साथ कौमुदीमहोत्सव के अभिलषित उत्सव को नहीं मना रहे हैं।'

प्रकृति वर्णन के एक अलंकृत चित्र का नमूना निम्न है :—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिन्दती कृत्तिमैभीम् ।
कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः ॥ (३.२०)

'महादेव की मूर्ति के समान रूपवाली यह अपूर्व शरद् ऋतु आप लोगों के कष्ट का निवारण करे। महादेव काशपुष्पों की शोभा को तिरस्कृत करने वाली भस्म से आकाश को धवल बनाते हैं, शरत् भस्म के समान सफेद काशपुष्पों की कांति से आकाश को धवल बनाती है; महादेव मस्तक पर धारण किए हुए चन्द्रमा की किरणों से मेघ के समान काले गजचर्म को गीला बनाते हैं, तो शरत् चन्द्रमा की किरणों से गजचर्म के समान काले मेघों को निर्मल बनाती ह; महादेव चन्द्रमा के समान धवल कपाल-माला को धारण करते हैं, तथा राजहंस के समान धवल अट्टहास से सुशोभित हैं, शरत् कापाल-माला के समान श्वेत चन्द्रिका धारण करती है, और राजहंसों की हास्य-श्री से संपन्न है।'

विशाखदत्त के कई पद्यों से राजनीति, न्यायशास्त्र आदि का प्रगाढ पाण्डित्य प्रकट होता है। पण्डितों ने विशाखदत्त के निम्न पद्य को उसकी विद्वत्ता का प्रदर्शक माना है :—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तश्च विपक्षतो भवति यत् तत् साधनं सिद्धये ।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धश्च यत्
तस्यांगीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥ (५.१०)

'न्याय की वाद-प्रणाली में वादी सदा ऐसा हेतु (साधन) चुनता है, जो साध्य के साथ निश्चित रूप में अन्वित हो, अर्थात् जिसका साध्य के साथ निश्चित व्याप्ति संबंध हो, जैसे धुएँ का आग के साथ। साथ ही वह हेतु ऐसा हो जो सपक्ष (महानसादि) में रहता हो, और विपक्ष (जलह्रदादि) में नहीं पाया जाता हो। ऐसा होने पर ही कोई साधन (हेतु) अनुमिति कराने में सफल हो सकता है। पर ऐसा साधन जो सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में एक-सा रहता है, तथा पक्ष (पर्वत) में भी विरुद्ध पड़ता है, उसका आश्रय लेने वाले वादी का निग्रहस्थान (पराजय) करा देगा। इसी प्रकार अमात्य को भी स्वामी के लिए ऐसी सेना (साधन) चुननी चाहिए, जो साध्य (जय) को प्राप्त कराने में निश्चित रूप से समर्थ हो, जो मित्रों से मिली हो, और शत्रुओं से विरुद्ध हो। मित्र तथा शत्रु दोनों के प्रति समान बर्ताव करने वाली तथा पक्ष (स्वामी) के प्रति विरोधी रहने वाली, सेना के आश्रय लेने से तो स्वयं स्वामी की ही पराजय होगी।'

मुद्राराक्षस में शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी तीनों प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। क्षपणक, सिद्धार्थक, चाण्डाल आदि मागधी का प्रयोग करते हैं, अन्य पात्रों की भाषा शौरसेनी है। पद्य में महाराष्ट्री का प्रयोग हुआ है। विशाखदत्त की प्राकृत, व्याकरण के नियमों को दृष्टि में रखकर लिखी गई प्रतीत होती हैं। विशाखदत्त ने अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है; पर उनका सबसे अधिक मोह शार्दूलविक्रीडित तथा स्रग्धरा के प्रति है, जो क्रमशः ३९ तथा २४ बार प्रयुक्त हुए हैं। विशाखदत्त के गंभीर विषय के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने में ये दोनों छंद हाथ बँटाते हैं। नाटक में एक बार सुवदना (४.१६) का भी प्रयोग किया गया है।

कुल मिलाकर विशाखदत्त का मुद्राराक्षस सफल नाटक है, जिसे हम नाटकीय दृष्टि से प्रथम कोटि के नाटकों में रख सकते हैं।

महाकवि भवभूति

विशाखदत्त नाटककार हैं, तो भवभूति नाटककारों के कवि हैं। विशाखदत्त की पद्धति का निर्वाह भले ही भवभूति में न भी मिले, भावपक्ष की अपूर्व तरलता दिखाई पड़ती है, और यही कारण है कि भवभूति को कालिदास के बाद नाटककारों की पंक्ति में पहला सम्मानित स्थान मिलता रहा है। पर भवभूति के नाटककर्तृत्व का परिशीलन करते समय हमें यह न भूलना होगा, कि भवभूति को हम शुद्ध नाटककार नहीं कह सकते। भवभूति वस्तुतः गीति-नाट्य (Lyric drama) के रचयिता हैं। उनकी कृतियाँ—विशेषतः उत्तररामचरित, जिसके कारण भवभूति को इतना आदर प्राप्त हो सका है—गीति-नाट्य की भावप्रवणता को लेकर आती हैं, और उन्हें इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। वैसे तो संस्कृत के प्रायः सभी नाटक काव्यमय अधिक हैं। डॉ० डे ने संस्कृत नाटकों की विशेषताओं का संकेत करते हुए इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया है कि संस्कृत नाटकों की प्रकृति भावुक अधिक है। यहाँ के नाटककार प्रथमतः कवि हैं, बाद में नाटककार, और यह बात कालिदास पर भी पूरी तरह घटित होती है। कालिदास मूलतः कवि ही हैं, पर कालिदास का सबसे बड़ा गुण यह है कि उनका कवि नाटकीय संविधान पर हावी होकर उसे विकृत नहीं बना देता। बाद के कवियों में कवित्व अधिक हावी हो गया है। भवभूति में यह कवित्व भावमय है, भट्टनारायण या मुरारि में अलंकारप्रिय तथा पाण्डित्यपूर्ण। वैसे भवभूति भी कलापक्ष के मोह से छूटे हुए नहीं हैं, किंतु ज्यों ज्यों भवभूति की भारती परिपक्व होती रही है, त्यों त्यों भवभूति की भाव-प्रवणता व्यक्त होती गई है, और जहाँ भाव फूट पड़ना चाहते हैं, वहाँ भवभूति का पाण्डित्य भी रस-प्रवाह में बह निकलता है। भवभूति के

कवि की यह सबसे बड़ी विशेषता है, जो उन्हें संस्कृत साहित्य में अमर बना देती है।

भवभूति के जन्मस्थान एवं वंश-परम्परा के विषय में उनके नाटकों की प्रस्तावना से ही संकेत मिलता है। वे पद्मपुर के निवासी थे, तथा उदुम्बर कुल के ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम भट्ट गोपाल था, जो स्वयं महाकवि थे, और इनके पिता का नाम नीलकंठ तथा माता का नाम जतुकर्णी था। भवभूति का दूसरा नाम 'श्रीकण्ठ' भी था।[1] कुछ विद्वान् कवि का वास्तविक नाम भवभूति न मान कर श्रीकण्ठ मानते हैं। किंवदंतियों के अनुसार कवि का 'भवभूति' नाम एक सुंदर प्रयोग के कारण चल पड़ा था। देवी पार्वती की वंदना में बनाये हुए एक पद्य में श्रीकण्ठ ने 'भवभूति' का प्रयोग किया था, उससे चमत्कृत होकर सहृदय पण्डितों ने कवि का उपनाम ही 'भवभूति' रख दिया।[2]

इसी संबंध में एक और प्रश्न उपस्थित होता है। मालतीमाधव की एक हस्तलिखित प्रति में तृतीय अंक की पुष्पिका में उसे उम्बेकाचार्य की कृति माना गया है। उम्बेक प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य थे, तथा स्वयं मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उम्बेक ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक की टीका की है। तो, क्या भवभूति और उम्बेकाचार्य एक ही हैं, और क्या भवभूति कुमारिल के शिष्य थे? विद्वानों ने चित्सुखी आदि

---

१. तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पंचमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकंठस्यात्मसंभवः श्रीकंठपदलांछनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमस्माकमिति विदांकुर्वन्तु।

(महावीरचरित पृ० ८)

२. भवभूति का वह पद्य यह है:—

गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ। तपस्वी कां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव॥

कुछ अवान्तर ग्रन्थों से इस बात के उद्धरण दिये हैं कि वे भवभूति तथा उम्बेक को एक मानते हैं।[1] पर केवल एक ही संकेत पर इस निश्चय पर पहुँच जाना ठीक नहीं जान पड़ता। हो सकता है, भवभूति के पाण्डित्य तथा 'पदवाक्य—प्रमागज्ञत्व' को देखकर किवदंतियों ने उनका संबन्ध कुमारिल और उम्बेक से जोड दिया हो। इतना मानने में तो हमें भी कोई संदेह नहीं कि भवभूति अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे और मीमांसा शास्त्र के अच्छे जानकार रहे होंगे जैसा कि यत्र तत्र किये गये संकेतों से पता चलता है। उन्होंने वेद, उपनिषद्, सांख्य-योग, आदि शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया था, और व्याकरण, साहित्यशास्त्र तथा तर्कशास्त्र में वे निष्णात थे। यद्यपि भवभूति इतने गम्भीर विद्वान् थे, और कई स्थानों पर वे पाण्डित्यप्रदर्शन में फँसे भी हैं, तथापि उनकी कविता कोरा पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं बन पाई, यह सबसे बड़े हर्ष का विषय है। भवभूति शिव के भक्त थे, और उनके तीनों नाटकों की प्रस्तावना में संकेत मिलता है कि वे कालप्रियानाथ (संभवतः उज्जयिनी के महाकाल) के समक्ष खेले जाने के लिए लिखे गये थे।[2]

भवभूति ने स्वयं अपना पूरा परिचय अपने नाटकों की प्रस्तावना में दिया है, किन्तु किसी आश्रयदाता का कोई संकेत नहीं किया। इसलिए भवभूति किस समय विद्यमान थे, इसका कोई स्पष्ट संकेत भवभूति के नाटकों में नहीं मिलता। भवभूति के विषय में सबसे पहला उल्लेख हमें वाक्पतिराज के गउडवहो में मिलता है, जहाँ भवभूति रूपी सागर से निकले हुए काव्यामृत—रसकणों की प्रशंसा की गई है।[3] वाक्पतिराज

१. पं० बलदेव उपाध्यायः संस्कृत-कवि-चर्चा (पृ० ३०५)

२. दे० महावीरचरित पृ० ६, मालतीमाधव पृ० ७, उत्तररामचरित पृ० ३,

३. भवभूतिजलधि-निर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥

कान्यकुब्जाधीश यशोवर्मा (७५० ई०) के आश्रित थे, और यह अनुमान किया जाता है कि वे भवभूति के शिष्य थे। भवभूति भी अपने अंतिम दिनों में यशोवर्मा के ही आश्रित थे। यशोवर्मा स्वयं विद्वान् एवं कवि था। उसने खुद 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की रचना की थी। यह नाटक उपलब्ध नहीं है, पर साहित्यशास्त्र के ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। राजतरंगिणी के अनुसार यशोवर्मा के दरबार में भवभूति आदि कई कवि थे।[1] इस आधार पर भवभूति का समय (७५० ई०) के लगभग मानते हुए उनका रचनाकाल (७००–७५० ई०) मानना होगा। भवभूति को यशोवर्मा का आश्रय अंतिम दिनों में मिल पाया था, जब भवभूति की कृतियों ने उन्हें प्रसिद्ध बना दिया था। जीवन के मध्यकाल में भवभूति किसी राजा के आश्रित न थे, और यही कारण है कि उनके किसी नाटक में किसी भी राजा का संकेत नहीं मिलता। यह अनुमान करना भी अप्रासंगिक न होगा कि भवभूति को जीवन में कई प्रताड़नाएँ और अनादर सहने पड़े होंगे। श्रीमन्तों ने भवभूति के कवित्व और पाण्डित्य की उपेक्षा की होगी। भवभूति ने अपने जीवन का अधिकांश दुःख और दारिद्र्य में बिताया जान पड़ता है फलतः भवभूति का स्वभाव गंभीरता धारण करता पाया जाता है। कालिदास में जो आह्लाद और उल्लास, जो आशावादी दृष्टिकोण है, वह भवभूति में नहीं मिलता। भवभूति की परिस्थितियों ने उन्हें निराशावादी बना दिया था, वे करुणा और वेदना को अधिक प्यार करने लग गये थे, जीवन के गंभीर पहलुओं में अधिक दिलचस्पी लेने लगे थे।

(भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरंति।
जस्स विसेसा अज्जवि विअडेसु कहाणिवेसेसु ॥)

१. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

भवभूति ने स्वयं एक स्थल पर उन लोगों को चुनौती दी थी, जो उनके मूल्य को नहीं आँक सके थे। दुखी भवभूति को बाहर से फिर भी एक आशा थी कि कभी न कभी इस मोती के मूल्य को समझने वाला कोई जौहरी जरूर पैदा होगा, पृथ्वी बहुत बड़ी जो है और काल अनन्त है। भवभूति ने इसीलिए रचनाएँ उन लोगों के लिए नहीं की, जो उनके समसामयिक थे, और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। वे अपनी कृतियाँ भावी भावुकों के लिए, भवभूति के किसी 'समानधर्मा' के लिए, लिखते रहे।[1] भवभूति की इस वाणी में उपेक्षा करने वालों को फटकार हो, पर कवि की वेदना, पीड़ा, और उसे समाज के हाथों मिला दुर्व्यवहार स्पष्ट ध्वनित हो उठता है।

भवभूति की रचनाएँ

भवभूति की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं, और तीनों रूपक (नाटक) हैं। मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित, भवभूति के इन तीन रूपकों में प्रथम प्रकरण है, अन्य दो नाटक। कुछ विद्वानों के मतानुसार भवभूति की सबसे प्रथम रचना महावीरचरित है, और अंतिम उत्तररामचरित। उत्तररामचरित को अंतिम रचना मानने में तो किसी को आपत्ति नहीं है, किन्तु महावीरचरित को मालतीमाधव से पहले की कृति मानने का कोई प्रमाण नहीं है। संभवतः मालतीमाधव ही पहली रचना है। मालतीमाधव की वस्तुयोजना की अधिक विशृंखलता भी इसका संकेत कर पाती है। वैसे तो भवभूति के सभी रूपक नाटकीय संविधान की दृष्टि से शिथिल जान पड़ते हैं, किन्तु इनमें भी मालतीमाधव अधिक शिथिल है।

---

१. ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ये किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥
(मालती० १.६)

महावीरचरित में मालतीमाधव की अपेक्षा कुछ कम शिथिलता पाई जाती है।

१. मालतीमाधव

मालतीमाधव १० अंकों का प्रकरण है, जिसमें भवभूति ने कल्पित इतिवृत्त को आधार बना कर वस्तुसंविधान किया है। मालतीमाधव में कवि ने प्रणयकथा को चुना है और संभव है, माधव तथा मालती की इस प्रणय-कथा का संकेत भवभूति को बृहत्कथा से मिला हो। कथा में प्रयुक्त रूढ़ियाँ और मुख्य मुख्य घटनाएँ बृहत्कथा के कई प्रणय-वृत्तों में देखी जा सकती हैं। पर वहाँ माधव या मालती की कहानी नहीं मिलती। भवभूति ने बृहत्कथा अथवा किन्हीं लोककथाओं से कथा के बीज लेकर कथा को स्वयं पल्लवित किया है। प्रकरण में प्रयुक्त कामन्दकी की कूटनीति और अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डला वाली विपत्ति की कल्पना भवभूति की अपनी है। भवभूति के ही शब्दों में कवि ने इस कृति में रस की प्रचुरता से युक्त गंभीर अभिनय, नायकादि के मित्रतापूर्ण व्यवहार, श्रृंगार रस के साथ नायक का वीर, बीभत्सादि वाला उद्धतरूप, सुंदर कथा और वाणी की चतुरता का निबंधन किया है।[1]

भूरिवसु और देवरात क्रमशः पद्मावती और विदर्भ के राजमन्त्री हैं। विद्यार्थी जीवन में ये दोनों मित्र थे, और इन दोनों ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अपने पुत्र-पुत्रियों का परस्पर विवाह करेंगे। समय पर देवरात के पुत्र उत्पन्न होता है, भूरिवसु के पुत्री। देवरात अपने पुत्र माधव को इस आशा से पद्मावती भेज देता है कि भूरिवसु पुरानी बात को याद कर अपनी पुत्री मालती का विवाह माधव के साथ कर दे। इस कार्य में कामन्दकी, जो भूरिवसु की मित्र और एक तापसी है, हाथ बँटाती है।

---

१. भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च ॥ (मालती० १.४)

वह यह चाहती है कि मालती और माधव परस्पर एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हो जायँ। अपनी योजना को सफल बनाने के लिए वह माधव से भूरिवसु के मकान के छज्जे के नीचे गली से प्रतिदिन गुजरने को कहती है। माधव भी कामन्दकी के कथनानुसार प्रतिदिन भूरिवसु के मकान के पास की गली से गुजरता है, और मालती उसे देख कर अनुरक्त होती है। यहाँ तक कि मालती उसे प्रतिदिन टहलते देख कर अतिशय उत्कण्ठित हो जाया करती है।[1] मालतीमाधव के प्रथम अंक का विष्कंभक कामन्दकी और उसकी शिष्या अवलोकिता की बातचीत के द्वारा इसी योजना का संकेत करता है। यहीं इस बात की भी सूचना मिलती है कि मकरन्द तथा मदनिका का भी विवाह हो जाय, तो ठीक हो। मकरंद माधव का मित्र है, मदनिका मालती की सखी। मदनिका नन्दन की बहिन है। माधव और मालती के विवाह होने में सबसे बड़ी अड़चन यह आ पड़ती है कि नन्दन राजा का नर्मसुहृत् है, और वह राजा से कह कर भूरिवसु के समक्ष मालती के साथ उसके विवाह का प्रस्ताव रखता है। भूरिवसु पशोपेश में फँस जाता है। राजा की आज्ञा का भंग करना मामूली खेल नहीं। कामन्दकी अपनी चालाकी से इस सारे विघ्न को हटा कर माधव और मालती का विवाह करा देती है।

प्रथम अंक में मदनोद्यान के उत्सव में माधव तथा मालती एक दूसरे को देख कर मोहित हो जाते हैं। इसी अंक में मालती तथा उसकी सखियों के चले जाने पर मकरंद आता है और माधव अपनी विरहविदग्ध अवस्था का वर्णन करता है। द्वितीय अंक में मालती के पिता नंदन के साथ उसका

---

१. भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुंगवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद् गाढोत्कण्ठालुलितललितैरंगकैस्ताम्यतीति॥
(१.१६)

मकरंद मालती के वेश में चला जाता है और उसी के साथ नंदन की शादी हो जाती है। इधर देवी के मंदिर में मालती को ले जाकर कामन्दकी माधव के साथ उसका गांधर्व विवाह करा देती है। सप्तम अंक में सुहागरात के समय मालती बना हुआ मकरंद नंदन को पीट डालता है। नंदन मालती को दुश्चरित्र समझ कर गालियाँ देता भग जाता है। भाभी की इस दुश्चेष्टा को सुन कर मदयन्तिका समझाने आती है, और मकरन्द अपने रूप को प्रकट कर देता है। अपने प्रिय को पहचान कर मदयन्तिका उसके साथ उद्यान की ओर चली जाती है। अष्टम अंक में माधव तथा मालती उद्यान में मकरन्द और मदयन्तिका की प्रतीक्षा करते हैं। इसी बीच कलहंस आकर सूचना देता है कि आधीरात में राजमार्ग पर मदयन्तिका को भगाते मकरंद को देख कर सिपाहियों ने घेर लिया है, और वह सिपाहियों से लड़ रहा है। माधव मित्र को बचाने के लिए दौड़ पड़ता है। अवसर पाकर कपालकुण्डला मालती को भर्त्सना दे कर श्रीपर्वत ले जाती है।[1] इधर युद्ध होता है। माधव और मकरन्द अपूर्व वीरता प्रदर्शित करते हैं, जिसे देखकर राजा प्रसन्न होकर उन्हें अभयदान दे देते हैं। लौटने पर माधव को मालती नहीं मिलती। नवम अंक में वह मकरंद के साथ विक्षिप्त अवस्था में विंध्यपर्वत पर मालती को ढूँढने निकल पड़ता है। इसी दशा में उसे कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी मिलती है। सौदामिनी कपालकुण्डला से मालती को बचा चुकी थी, और मालती उसी की कुटी में थी। वह माधव को इस बात की सूचना देती है।[2] दशम अंक में मकरंद कामन्दकी के पास आकर मालती के मिलने की सूचना देता है। इधर अमात्य भूरिवसु, कामन्दकी, लवंगिका, मदयंतिका सभी मालती के शोक से आत्महत्या करना

---

१. यावच्छ्रीपर्वतमुपनीयप्रतिपर्वं तिलश एनां निकृत्य दुःखमारिणीं करोमि।

(अष्टम अंक)

२. अकरिष्यदसौ पापमतिदुष्करुणं न सा। नाभविष्यमहं तत्र यदि तत्परिपन्थिनी॥ (८.५२)

चाहती हैं। मकरंद आकर उन्हें माधव और मालती का समाचार देता है। वे आ जाते हैं और मकरंद तथा मदयंतिका का विवाह करा देते हैं। कामन्दकी की सारी नीति सफल होती है।[1]

यह अनुमान करना असंगत न होगा कि भवभूति को मालतीमाधव की रचना में मृच्छकटिक से प्रेरणा मिली होगी। इतना होने पर भी भवभूति ने इसे मृच्छकटिक वाले 'धूर्तसंकुल' संकीर्ण प्रकरण का रूप नहीं दिया, इसके कुछ कारण हैं। भवभूति प्रकृति से अत्यधिक गंभीर हैं, उनके जीवन की कटुता ने भी संभवतः उन्हें ऐसा बना दिया हो। इसीलिए भवभूति मृच्छकटिक जैसे हास्यमय वातावरण की सृष्टि करने में असमर्थ थे। स्वयं भवभूति को भी अपनी इस प्रकृति का पूरा पता था। उन्होंने अपने नाटकों में विदूषक का समावेश नहीं किया है। मृच्छकटिक में नाटकीय घातप्रतिघात तथा संघर्ष हास्य और करुण के परिवेष का आधार बनाकर आते हैं, जब कि मालतीमाधव में इस कमी को कपालकुण्डला और अघोरघण्ट जैसे पात्रों एवं श्मशान के बीभत्स वर्णन का समावेश कर पूरा करने की चेष्टा की गई है। मालतीमाधव की कथावस्तु बड़ी शिथिल दिखाई देती है। नाटक में अन्विति का अभाव है। साथ ही नाटक में वस्तु-संविधान की रूढ पुनरुक्ति पाई जाती है। मकरंद मालती का वेश बनाता है, और माधव लवंगिका का, इसी तरह माधव मालती को अघोरघंट के पंजे से छुड़ाता है, मकरन्द मदयंतिका को शेर से। मालतीमाधव में कवि ने औत्सुक्य-वृत्ति को जागृत रखने की चेष्टा की है, जिसमें वह सफल भी हुआ है। किंतु आधिकारिक कथा के चित्रण में कम सतर्कता बरतने से प्रासंगिक कथा अधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. यत्प्रागेव मनोरथैर्वृतमभूत्कल्याणमायुष्मतो-
स्तत्पुण्यैर्मदुपक्रमैश्च फलितं क्लेशैश्च मच्छिष्ययोः।
निष्णातश्च समागमोऽपि विहितस्त्वत्प्रेयसः कान्तया
संप्रीतौ नृपनंदनौ यदपरं प्रेयस्तदप्युच्यताम् ॥ (१०.२४)

हो गई है, फलतः नाटक की अन्विति में बाधा उपस्थित हुई है। नाटक का व्यापार कुछ उत्तेजक घटनाओं का संकलन-सा बन गया है, और नाटकीय प्रभावात्मकता में प्रकारांतर से बाधक बना है। काव्य की दृष्टि से निःसंदेह मालतीमाधव एक उत्कृष्ट कृति कही जा सकती है।

२. महावीरचरित

मालतीमाधव की कथावस्तु वाली शिथिलता महावीरचरित में नहीं मिलती। ऐसा जान पड़ता है, मालतीमाधव की कमजोरी को समझ कर भवभूति ने महावीरचरित में नाटकीय प्रक्रिया पर विशेष ध्यान दिया है। महावीरचरित सात अंकों का नाटक है, जिसमें राम के जीवन की कथा वर्णित है। रामायण की विशाल कथा को लेकर नाटककार पूरी तरह उसका प्रदर्शन नहीं कर सकता, उसे उसकी कुछ ही घटनाओं को चुनना पड़ता है। भवभूति ने रामायण की कथा को लेकर उसमें अन्विति बनाये रखने के लिए कुछ आवश्यक परिवर्तन किये हैं। आरंभ में ही रावण को सीता के साथ विवाह करने का इच्छुक बता कर भवभूति ने रामायण की कथा के नाटकीय संघर्ष का बीज बो दिया है। राम धनुष तोड़ कर सीता से विवाह करते हैं, फलतः सीता के साथ अपना विवाह न होने से रावण क्रुद्ध होता है। ताड़का, सुबाहु तथा अन्य राक्षसों के वध से भी वह रुष्ट होता है, और रावण का मंत्री माल्यवान् अपनी कूटनीति का जाल फैलाता है।[1] माल्यवान् ही परशुराम को उभारता है, और शूर्पणखा को मंथरा के वेश में भेज कर कैकेयी के द्वारा राम को वनवास दिलाने का षड्यंत्र रचता है। माल्यवान् की पहली चाल असफल होती है, पर दूसरी चाल में वह सफल हो जाता है। वन में रहते हुए राम को कष्ट देने के लिए माल्यवान् सीता का अपहरण

---

१. हृतजानिरिरातिभिः सलज्जो यदि मृत्युः शरणं ततोऽन्यथा तु।
प्रदितो मृत एव निष्प्रतापः परितप्तो यदि वा घटेत संधौ॥ (महा० ४.५)

कराता है और बाली को उकसाता है। बाली राम से युद्ध करने आता है, और मारा जाता है। अंत में सुग्रीव की सहायता से राम लंका पर चढ़ाई करते हैं। युद्ध होता है, रावण मारा जाता है। राम सीता के साथ पुष्पक विमान से अयोध्या लौट आते हैं।

यद्यपि नाटकीय 'टेकनीक' की दृष्टि से भवभूति के महावीरचरित की कथावस्तु मालतीमाधव से अधिक गठी है, तथापि इस नाटक की कथावस्तु हमें प्रभावित नहीं कर पाती। नाटकीय संघर्ष की मूलभित्ति दुर्बल दिखाई पड़ती है। माल्यवान् की कूटनीति की असफलता का कारण राम की शक्तिमत्ता नहीं जान पड़ती, अपितु भवितव्यता ही दिखाई गई है। उत्तररामचरित के राम की भाँति महावीरचरित के राम भी मानवी रूप में ही हमारे सामने आते हैं, किन्तु उन्हें शक्ति, कुलीनता और शौर्य का आदर्श नायक मानकर चित्रित किया गया है। फलतः राम का जो मानवोचित रूप हमें भवभूति की अमरकृति 'उत्तररामचरित' में मिलता है, वह यहाँ नहीं है। माल्यवान् राजनीति पटु है, किन्तु वह विशाखदत्त के चाणक्य और राक्षस के स्तर तक नहीं पहुँच पाता। परशुराम के क्रोधी स्वभाव का चित्रण करने में भवभूति सफल कहे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, भवभूति करुण जैसे कोमल भावों के चित्रण में जितने सिद्धहस्त हैं, उतने वीर रस के चित्रण में नहीं। राम की महावीरचरित वाली वीरतापूर्ण झाँकी हमें उतना प्रभावित नहीं कर पाती। महावीरचरित में भवभूति की कलात्मक सशक्त शैली अवश्य देखी जा सकती है, और यहाँ भवभूति का भावुक व्यक्तित्व प्रकट न होकर रीतिवादी (Rhetoric) व्यक्तित्व ही अधिक व्यक्त हुआ जान पड़ता है। यहाँ भवभूति पर संस्कृत काव्यों की ह्रासोन्मुखी परंपरा का प्रभाव पड़ा है। वर्णनों के प्रति भवभूति की विशेष रुचि दिखाई पड़ती है, पर इस नाटक में समासान्त पदावली और विकटबन्धता भले ही हो, उत्तररामचरित वाला प्रवाह नहीं मिलता।

३. उत्तररामचरित

भवभूति की तीसरी कृति उत्तररामचरित है। यह कृति भवभूति के जीवन के प्रौढ अनुभवों की देन है। मालतीमाधव और महावीरचरित की अपेक्षा उत्तररामचरित की कथावस्तु नाटकीय 'टेकनीक' तथा चरित्रचित्रण की दृष्टि से और अधिक प्रौढ है। इतना होते हुए भी उत्तररामचरित में भी नाटकीय व्यापार की कमी दिखाई पड़ती है। इसका खास कारण भवभूति की अत्यधिक भावुकता है। यही कारण है कि उत्तररामचरित गीति–नाट्य (Lyric drama) की दृष्टि से विशेष सफल माना जा सकता है, कोरे नाटक की दृष्टि से नहीं। काव्य की दृष्टि से भवभूति की यह कृति निःसंदेह महान् है, और हम इनका नाम कालिदास के साथ मजे से ले सकते हैं। किन्तु ऐसा जान पड़ता है, भवभूति के जिस गुण के कारण पुराने पंडितों ने उन्हें उच्चकोटि वा कवि माना है, वह उनका भावपत्त न होकर कलापत्त दिखाई देता है। भवभूति की पांडित्यपूर्ण शैली ने ही इन पुराने आलोचकों के हाथों उन्हें सम्मान दिलाया है।

उत्तररामचरित ७ अंकों का नाटक है, जिसमें राम के जीवन के उत्तर भाग की कथा है। लंका से लौट कर आने पर राम का राज्याभिषेक होता है। राज्याभिषेक के समय आए हुए जनक मिथिला लौट जाते हैं, और उनके जाने से सीता दुखी हो जाती है। गर्भिणी सीता के उदास मन को बहलाने के लिए राम चित्रशाला में चित्रित अपने जीवन से संबद्ध घटनाओं को सीता को दिखाते हैं। इसे देखकर गर्भिणी सीता के मन में एक बार फिर तपोवनों को देखने का दोहद उत्पन्न हो जाता है। चित्र देखते देखते सीता थक जाती है और वह राम के वत्त ·पर सिर रखकर सो जाती है। इसी समय दुर्मुख आकर सीता के विषय में जनापवाद की सूचना देता है।

राम पर जैसे वज्रपात हो गया हो।[1] प्रथम अंक की योजना में भवभूति ने एक भावुक कलाकार का परिचय दिया है। सीता के भावी विरह की अनुभूति की तीव्रता को उभारने के लिए चित्रशाला वाले दृश्य की योजना एक गहरी सूझ है। प्रथम अंक में प्रेम और कर्तव्यपालन का जटिल संघर्ष दिखाया गया है। अंत में कर्तव्यपालन विजयी होता है, पर इतना होने पर भी राम का दिल टूट जाता है, और वे न चाहते हुए भी कठोर गर्भ के बोझ वाली सीता को हिंस्रक पशुओं के लिए वन में उसी तरह छोड़ देते हैं, जैसे कोई बलि दी जा रही हो।[2]

दूसरा अंक ठीक बारह वर्ष बाद की घटना से आरंभ होता है। विष्कंभक से पता चलता है कि सीता के दो पुत्र हो गए हैं और वे वाल्मीकि के पास विद्याध्ययन कर रहे हैं। इसी में यह भी सूचना मिलती है कि शूद्रमुनि शम्बूक का वध करने के लिए राम इस वन में आए हुए हैं। द्वितीय अंक में राम प्रविष्ट होते हैं, वे शंबूक का वध करते हैं और शंबूक दिव्य रूप को धारण कर लेता है। द्वितीय अंक में शंबूक के मुँह से दण्डकारण्य (जनस्थान) की प्रशांत और गंभीर प्रकृति का सुंदर वर्णन कराया गया है।[3] प्रकृति चित्रण की दृष्टि से यह अंक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु नाटकीय व्यापार अवरुद्ध हो जाता है।

तृतीय अंक इस नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण अंक है। राम जनस्थान में आते हैं, वनदेवी वासन्ती उनका स्वागत करती है। इधर तमसा (नदी

---

१. अहह अतितीव्रोऽयं वाग्वज्रः। (प्रथम अंक)

२. विस्रंभादुरसि निपत्य जातलज्जामुन्मुच्य प्रियगृहिणीं गृहस्य शोभाम्।
आतंकस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं क्रव्याद्भ्यो बलिमिव निर्घृणः क्षिपामि ॥(१,४९)

३. अथैतानि मदकलमयूरकण्ठकोमलच्छविभिरवकीर्णानि पर्यन्तैरविरलनिविष्टनीलबहुलच्छायतरुषण्डमण्डितान्यसंभ्रान्तविविधमृगयूथानि पश्यतु महाभागः प्रशांतगंभीराणि श्वापदकुलशरण्यानि महारण्यानि। (द्वितीय अंक)

की अधिष्ठात्री देवी) सीता को लेकर आती है और सीता भगवती गोदावरी की कृपा से अदृश्य शक्ति प्राप्त करती है। इस अंक में सीता छिपी रहकर राम की विरह दशा को देखती है। वासन्ती के साथ वन में घूमते हुए राम जनस्थान के पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर सीता की स्मृति से तड़प उठते हैं। इधर सीता भी उनकी इस अवस्था को देख कर दुःख का अनुभव करती है। सीता की याद में राम के विरह का जलसंघात बाँध को तोड़ कर निकल पड़ता है, उनके रोने को सुनकर दण्डकारण्य के पत्थर भी पिघल जाते हैं, और एक स्थान पर तो राम मूर्छित हो जाते हैं। राम की यह दशा देखकर सीता भी मूर्च्छित हो जाती है। तमसा उसे होश में लाती है, और फिर सीता अपने अदृश्य स्पर्श से राम को संज्ञायुक्त बना देती है।

उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में एक ओर जनक और कौसल्या का विषादमय चित्र दूसरी ओर लव का वीरतापूर्ण दर्प दिखाई पड़ता है। लव की वीरता का पूर्ण प्रस्फुटन पंचम अंक में होता है। चन्द्रकेतु तथा लव के वाद-विवाद के द्वारा भवभूति ने लव के वीरोचित दर्प का सुन्दर चित्र अंकित किया है। षष्ठ अंक में विद्याधरों के द्वारा चन्द्रकेतु तथा लव के युद्ध का वर्णन कराया गया है, और इसी अंक में राम का प्रवेश होता है। राम के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लव युद्ध करना बंद कर देता है। इसी अंक में जनक, वसिष्ठ, अरुन्धती, और कौसल्यादि राजमाताएँ मंचपर आती हैं। अन्तिम अंक में भवभूति ने रामायण की कथा में परिवर्तन कर दिया है। रामायण की कथा के अनुसार लव-कुश अश्वमेध के समय रामायण का गान करते हैं और राम उन्हें पहचान लेते हैं। भवभूति ने अपना वस्तु-संविधान दूसरे ही ढंग से विन्यस्त किया है। सप्तम अंक में एक दूसरे नाटक—गर्भांक—की योजना की गई है। इस नाटक के द्वारा एक ओर फिर से राम के सीता वियोग को उभारा गया है, दूसरी ओर लव-कुश का

प्रत्यभिज्ञान कराया गया है, तीसरी ओर सीता तथा राम का मिलन करा कर नाटक[1] को सुखान्त बना दिया गया है।

उत्तररामचरित नाटक में राम और सीता के चरित्रों को सुचारु रूप से चित्रित किया गया है। सीता का चरित्र आत्मा की पवित्रता, दृढता और सहनशीलता में बेजोड़ है, तो राम का चरित्र कर्तव्यनिष्ठा के आदर्श वातावरण से सम्पन्न दिखाई देते हुए भी मानव सुलभ भावात्मक दुर्बलताओं से समवेत है। अन्यपात्रों में लव का वीरता-पूर्ण चरित्र, जनक और कौसल्या के विषादमय चित्र मार्मिक बन पड़े हैं, किन्तु अन्य पात्रों के अंकन में कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। भवभूति के अन्य पात्र केवल व्यापारादि को गति देने के ही लिए आते हैं, और उनमें अपना निजी व्यक्तित्व नहीं दिखाई देता। काव्य के रूप में उत्तररामचरित निःसंदेह उच्चकोटि की कृति है। जीवन के उदात्तरूप का वर्णन भवभूति की प्रकृति के अनुरूप दिखाई पड़ता है। उत्तररामचरित में वियुक्त सीता के करुण भाग्य, लव की अद्भुत वीरता, तथा प्रथम तीन अंकों में वन, पर्वत, नदी आदि का प्रकृति वर्णन नाटक में एक साथ कोमल तथा कठोर भावों को अंकित करता है। इस दृष्टि से भवभूति में हमें कुछ ऐसा वातावरण देखने को मिलता है, जो कालिदास में भी नहीं है, जहाँ केवल सरस प्रणय-चित्र ही दिखाई पड़ते हैं। उत्तरराम-चरित के सप्तम अंक का राम-सीता-मिलन भी दुष्यन्त तथा शकुन्तला के मिलन से कहीं अधिक गंभीर और भावप्रवण बन पड़ा है। इन सब का एक मात्र रहस्य भवभूति की दाम्पत्य-प्रणय के पवित्र आदर्श रूप के अंकित करने की कुशलता है।

---

१. नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे॥ (७.२०)

भवभूति का प्रणय-चित्रण

भवभूति आदर्श दाम्पत्य-प्रणय के सफल चित्रकार हैं। कालिदास की 'रोमैंटिक' प्रकृति उन्हें स्वच्छन्द प्रणय की ओर अधिक उन्मुख करती है। भवभूति के पूर्व के साहित्य की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि क्या कालिदास, क्या हर्ष, क्या मुक्तक कवि सभी ने स्वच्छन्द प्रणय को विशेषतः अंकित किया है। विद्वानों ने इसका कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ मानी हैं। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था के साथ ही साथ नारी को समाज में अपने समुचित स्थान से वंचित कर दिया गया था। सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ कुछ इस तरह की हो गई थीं कि स्त्रियों की पहले वाला सम्मान और स्वतन्त्रता लुप्त हो चुके थे। फलतः उन्मुक्त दाम्पत्य प्रणय का वातावरण असंभाव्य था, वह यथार्थ जीवन में न उतर पाया। भारतीय समाज का कौटुम्बिक वातावरण भी इस प्रणय में बाधक होता था, क्योंकि भारतीय नारी पिता के घर को छोड़ने पर जहाँ प्रवेश पाती थी, वह श्वसुर का घर था, जिसमें उसका पति केवल एक नगण्य व्यक्ति के रूप में था। ऐसी स्थिति में वह वहाँ अपनी रुचि के अनुकूल वातावरण नहीं पा सकती थी। वैवाहिक प्रणय को आदर की दृष्टि से देखा जाता था, किंतु उसका लक्ष्य पुत्रोत्पत्ति ही था, जिससे पितरों का ऋण चुकाया जा सके। नारी के द्वारा अपने लिए पति का वरण यद्यपि कामशास्त्र ने विहित माना था, तथापि स्मृति और धर्मशास्त्र का उस पर कड़ा नियन्त्रण था और वह बुरा समझा जाता था। बौद्ध धर्म ने नारी को अवश्य कुछ स्वतंत्रता दी, किंतु महाभारत-रामायण और धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोण धार्मिक ही नहीं व्यावहारिक भी था, जो कौटुंबिक सुख-शांति के लिए पतिव्रता पत्नी का आदर्श सामने रखते थे। पर दूसरी ओर बहुपत्नी प्रथा ने नारी की स्थिति को और अधिक विचित्र बना दिया था।

मालविकाग्निमित्र, रत्नावली आदि नाटक-नाटिकाओं में हम इस वातावरण को देख सकते हैं। पति को अन्यनायिकासक्त देखकर भारतीय नारी खुले आम विद्रोह नहीं कर पाती, भले ही वह कुछ समय के लिए इरावती या वासवदत्ता की तरह जल-भुन उठे, पर धारिणी की तरह वह यह खूब जानती है कि उसका ईर्ष्या करने का समय चला गया, और वह इसी में संतुष्ट बनी रहती है कि उसके सम्मान की रक्षा बनी रहे। पर इस संतोष के पीछे भारतीय नारी की लाचारी और दुख-दर्दभरी कहानी छिपी रहती है। परिस्थितियों ने भारतीय नारी को असहाय बना दिया है, और मृच्छकटिक की धूता की भाँति हमें उसका करुण तथा उदात्त चित्र कुछ नहीं, इसी असहायता का परिचायक प्रतीत होता है।

इस प्रकार की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के प्रति खुले आम विद्रोह करना तो असंभव था, पर किसी तरह हृदय की आवाज नहीं रुक सकती थी। यही कारण है कि संस्कृत काव्य की कुछ धाराओं में उन्मुक्त प्रणय बह निकला था। कामसूत्र के द्वारा संकेतित सरणियों का प्रदर्शन होने लगा था। लोक-कथाओं, प्राकृत साहित्य के लोककाव्यों (यथा, हाल की गाथाएँ) तथा संस्कृत के मुक्तकों में भी धूर्त पत्नी के गुप्त प्रणय के कई चित्र पाये जाते हैं, और भवभूति के बाद में तो एक संस्कृत कवयित्री ने समस्त उपकरणों के उपस्थित होने पर भी रेवातट पर चौर्यसुरत की इच्छा प्रकट की थी।[1] इसी तरह एक दूसरी कवयित्री ने पति की तुलना नाटक के नायक से की थी, जो सब दृष्टि से पूर्ण तो होता है, किंतु प्रेमी की भाँति

---

१. यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदंबानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि चौर्यसुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥ (शीला भट्टारिका)

पूर्ण सुख नहीं दे पाता। यही कारण है कि वैवाहिक जीवन के सदा एक रस रहने वाले, काल तथा परिचय से भी अक्षुण्ण होने वाले प्रेम का रूप आदर्श ही बना रहा। भवभूति ने इस वातावरण को देख कर एक बार उसी आदर्श दाम्पत्य प्रणय की उज्ज्वलता और उदात्तता की पताका फहराई है। उन्होंने दाम्पत्य-प्रणय को एक गंभीर भावात्मक रंग में रंगकर उपस्थित किया है। मालतीमाधव में उन्मुक्त प्रणय से प्रकरण का आरंभ करते हुए भी भवभूति ने उसका लक्ष्य आदर्श दाम्पत्य-प्रणय ही माना है, जहाँ पति-पत्नी को परस्पर एक दूसरे का सच्चा मित्र, सच्चा बांधव बताया गया है। वे एक दूसरे के लिए सम्पूर्ण इच्छा, सम्पत्ति तथा जीवन का रूप लेकर आते हैं।[१] आदर्श दाम्पत्य-जीवन के इसी बीज को भावुकता के करुण/सरस-द्रव से सींच कर भवभूति ने उत्तररामचरित में पल्लवित कर दिया है। उत्तररामचरित के राम और सीता कालिदास के दुष्यन्त तथा उसकी 'तपोवनवासिनी' प्रेयसी से कहीं अधिक गम्भीर अनुभवों से सम्पन्न हैं। उत्तररामचरित के प्रथम अंक में ही कवि ने आदर्श दाम्पत्य-प्रणय की सरसता चित्रित की है। यहीं इस प्रकार के प्रणय का जो आदर्श—दाम्पत्य-प्रणय का जो स्वरूप—भवभूति ने अंकित किया है, वह निःसंदेह उज्ज्वल भव्य रूप का परिचय देता है। दाम्पत्य-प्रणय को कवि ने बड़े पुण्यों से प्राप्त सौभाग्य माना है—वह सौभाग्य, जिसमें प्रेम सुख-दुख में सदा एकरस बना रहता है, जो सब स्थितियों में उसी प्रवाह में अनुगत रहता है, और हृदय को अपूर्व शांति (विश्राम) देने वाला है। सच्चा प्रेम अवस्था-परिणति के साथ भी परिवर्तित नहीं होता, वह प्रौढावस्था

---

१. प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥

(मालतीमाधव, ६.१८)

(वृद्धावस्था) में भी समाप्त नहीं हो पाता। विवाह के समय से लेकर बाद तक वह संबंध प्रेम में स्थित रहता है, और यह प्रेम समय के व्यतीत होने से—लज्जा के पर्दे के हट जाने से—और प्रौढ रूप प्राप्त कर लेता है।[1] राम को विश्वास है कि सीता के इस प्रकार के प्रणय का असह्य वियोग अब नहीं होने वाला है, पर नियति की क्रूरता तो कुछ और ही चाहती है।

भवभूति की काव्य-प्रतिभा

भवभूति मूलतः कवि हैं। भावपक्ष की दृष्टि से कालिदास के बाद भवभूति का नाम बिना किसी संदेह के लिया जा सकता है। भवभूति कोमल तथा गंभीर दोनों तरह के भावों के सफल चित्रकार हैं। जहाँ वे एक ओर संयोग तथा विप्रयोग शृंगार तथा करुण की कोमलता को अंकित करने में पटु हैं, वहीं वीर, रौद्र तथा बीभत्स को भी कुशलता से चित्रित करते हैं। मालती-माधव में भवभूति ने एक ओर यौवन से संबद्ध उन्मुक्त प्रणय का वातावरण चित्रित किया है, तो वहीं दूसरी ओर माधव के विरह-चित्रण में विप्रयोग शृंगार की मार्मिकता चित्रित की है। यह दूसरी बात है कि भवभूति की अतिशय भावुकता भाव को इतना प्रकट देती है कि उनका चित्रण कालिदास की तरह व्यंग्य नहीं रह पाता, फलतः कहीं कहीं अपनी कलात्मकता खो बैठता है। कालिदास के मेघदूत से प्रभावित होकर भवभूति ने मालतीमाधव के नवम अंक में एक छोटा-सा दो पद्यों का 'मेघदूत' भी निबद्ध किया है। कालिदास का यक्ष मेघ को यह बताता है कि वियोगिनी नायिकाओं के प्रेमपूर्ण हृदय को स्थिर करने में पुष्पसदृश कोमल आशाबंध ही काम करता है (आशाबंधः

१. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणतं यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥ (१.३९)

कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां, सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि), तो भवभूति का माधव मेघ से यही प्रार्थना करता है कि कहीं उसे मालती मिले, तो वह उसके आशातंतु को न तोड़े।[1] दाम्पत्य प्रणय के संयोग तथा वियोग दोनों अवस्था वाले चित्रण उत्तररामचरित में बेजोड़ हैं, और वे संस्कृत साहित्य की महार्घ निधि हैं। उत्तररामचरित के प्रथम अंक में संयोग शृंगार का सरस वातावरण है, जहां राम सीता को अपने पिछले अनुभूत प्रणय-व्यापारों की याद दिलाते हैं। जनस्थान का चित्र देख कर राम को पुरानी बातें याद आ जाती हैं। यही वह स्थान है, जहाँ राम और सीता पर्णकुटी में रात के समय एक दूसरे के गाल से गाल सटाकर, एक एक बाहु से परस्पर गाढ आलिंगन कर, रात भर पता नहीं क्या क्या, बिना क्रम की बातें किया करते थे, इसी दशा में सारी रात ही बीत जाती थी, उसकी पहरों के बीतने का भी पता न चलता था। जागते ही जागते प्रातः काल होने को आता था, पर उनकी बातें फिर भी पूरी न होती थीं।

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥

(उत्तर० १.२७)

सीता को वनवास देने के बाद परम प्रेयसी सीता के वियोग में राम की दशा अत्यधिक शोचनीय हो जाती है। उनका हृदय फट पड़ना चाहता है, पर फिर भी उसके दो टुकड़े नहीं हो पाते; व्याकुल शरीर मूर्च्छित हो रहा है, पर फिर भी संज्ञा को नहीं छोड़ पाता; हृदय में सीता वियोग की जो अग्नि

---

१. दैवात्पश्येर्जगति विचरन्निच्छया मत्प्रियां चे-
दाश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम्।
आशातन्तुर्न च कथयतान्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः॥ (९.२६)

जल रही है और उसे वनवास देने का जो सन्ताप उठ रहा है, वह शरीर को जलाता तो है, पर उसे भस्म नहीं कर पाता; और इस तरह क्रूर विधाता राम के मर्मस्थल पर प्रहार तो कर रहा है, पर उनके जीवन का अंत नहीं कर डालता। काश, जीवन का अन्त हो जाता। सीता के वियोग से जनित वेदना का वहन राम के लिए मृत्यु से भी बढ़कर दुःखदायी हो गया है।

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा न तु भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥ (उत्तर० ३.३१)

शृंगार तथा करुण में भवभूति की भारती तदनुकूल कोमलकांत पदावली का परिवेष लेकर आती है, तो वीर और रौद्र रस में उसमें गौडी की विकटबंधता दिखाई पड़ती है। महावीरचरित में तथा उत्तररामचरित की चन्द्रकेतु और लव की उक्तियों तथा उनके युद्धवर्णन में वीररसोचित पदावली का प्रयोग पाया जाता है। निम्न उक्ति में लव की वीरता का सुंदर चित्रण है:—

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र-
मुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदंतकवक्त्रयन्त्र-
जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम्॥ (उत्तर० ४.२९)

'यह मेरा धनुष प्राणियों को निगलने में तत्पर हँसते हुए यमराज के मुखरूपी यंत्र की जँभाई की नकल करता हुआ अपने भयंकर मध्यभाग को फैला ले। इसकी मौर्वी जीभ के समान दिखाई पड़े, और इसके दोनों मंडलाकार किनारे डाढ़ों-से सुशोभित हों, तथा यह यमराज के मुँह

के समान ही भयंकर घर्घर शब्द को उत्पन्न करे। जिस प्रकार यमराज का भयंकर मुख अनेकों प्राणियों के प्राणों का अपहरण करता है, ठीक वैसे ही मेरा धनुष भी युद्ध में अनेकों योद्धाओं का संहार करने में समर्थ हो।'

महावीरचरित की निम्न उक्ति में एक साथ रौद्र और बीभत्स की व्यंजना होती है। परशुराम की निम्न रौद्रव्यंजक उक्ति उनकी क्रूर प्रकृति की परिचायिका है—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ यावद्विशलितयकृत्क्लोमवृक्काल्गात्रः
स्नायुग्रन्थ्यस्थिशल्कव्यतिकरितजरत्कंधरादत्तखण्डः।
भूर्वच्छेदादुदश्चद्गलधमनिशिरासक्तडिण्डीरपिण्ड-
प्रायासृग्भारघोरं पशुमिव परशुः पर्वशस्त्वां शृणातु॥

(महावीर० ३-३२)

परशुराम क्रुद्ध होकर जनक से कह रहे हैं—'यदि तुम युद्ध करना चाहते हो, तो उठो। यह मेरा परशु तुम्हारे शरीर के यकृत्, अग्रमांस (वृक्क) तथा रक्त को शकलित कर डालेगा। यह तुम्हारी उस बूढ़ी गर्दन पर प्रहार करेगा, जो नसों और हड्डी के टुकड़ों का ढाँचा है। गर्दन के कट जाने से गले से निकलते हुए धमनी तथा शिरा के रक्त के बुदबुदों से भयंकर तुम्हें यह मेरा परशु उसी तरह टुकड़े टुकड़े काट डाले, जैसे पशु को टुकड़े टुकड़े काट डाला जाता है।'

बीभत्स रस के चित्रण में भवभूति बड़े पटु हैं। संस्कृत साहित्य में बीभत्स रस का चित्रण बहुत कम पाया जाता है। उन अपवादरूप चित्रों में भवभूति के मालतीमाधव के पंचम अंक के कुछ पद्य उपन्यस्त किये जा सकते हैं। श्मशान के प्रेतों का निम्न वर्णन बीभत्स तथा भयानक की चर्वणा कराता है:—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिंडाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

(मालती० ५.१६)

'अरे, यह दरिद्र प्रेत पहले तो शव से चमड़े को उखाड़ रहा है। चमड़े को उखाड़-उखाड़ कर कंधे, कूल्हे, पीठ आदि के अंगों में मजे से प्राप्त, अत्यधिक फूले हुए, बडी तेज दुर्गन्ध वाले मांस को खा रहा है। उसे खाकर आँखें फैलाता हुआ यह दीन प्रेत, जिसके दाँत साफ दिखाई दे रहे हैं, गोदी में रखे हुए शव से हड्डी के बीच के माँस को भी नोच नोच कर बड़े धैर्य और आनंद के साथ खा रहा है।'

रस की भाँति ही भवभूति प्रकृति के भी कोमल तथा कठोर दोनों तरह के रूपों को देखने की पैनी निगाह रखते हैं। कालिदास का मन प्रकृति के कोमल पक्ष की ओर ही रमता है, वे हिमालय की सरस तलहटियों, पर्वतों और वनों की हरियाली, उसमें विचरण करते मृगों, हाथियों या भौंरों तक ही सीमित रहते हैं। भवभूति जहाँ एक ओर कमलवनों को कंपित करने वाले मल्लिकाक्ष हंसों या पादपशाखाओं पर झूमते शकुन्तों की कोमल भंगिमा का अवलोकन करते हैं[1], वहाँ प्रचण्ड ग्रीष्म में अजगर के पसीने को पीते हुए प्यासे गिरगिटों को भी देखने की शक्ति रखते हैं[2]। वे एक साथ दण्डकारण्य के 'स्निग्धश्याम' तथा 'भीषणाभोगरूक्ष' दोनों तरह के प्रकृति-सौंदर्य का चित्र अंकित करते हैं[3]। भवभूति में प्रकृति

---

१. उत्तरराम० १.३१ । २. उत्तर. २.१६ ।

३. स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः ।
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झांकृतैर्निर्झराणाम् ॥ (उत्तर० १.१४)

के ध्वनि-पक्ष (Sound) का ग्रहण करने की अपूर्व शक्ति है। उनकी पद-योजना स्वतः प्रकृति के वर्ण्य विषय की ध्वनि को उपस्थित कर देती है, चाहे वह कलकलनादिनी निर्झरणियों की ध्वनि हो, या श्मशान के पेड़ पर टँगे शवों के शिरों की माला के सरन्ध्र भागों में गूँजते हुए और श्मशान की पताका को हिलाकर उसकी घंटियों को बार बार बजाते हुए वायु की भयंकरता हो।[1] भवभूति में प्रकृति की हर बारीकी को देखने की तीव्र पर्यवेक्षण-शक्ति है। कालिदास के बाद पूरे संस्कृत साहित्य में प्रकृति का ऐसा कुशल चित्रकार कोई नहीं दिखाई पड़ता। भारवि, माघ, श्रीहर्ष या मुरारि प्रकृतिवर्णन में अप्रस्तुतविधान में फँस जाते हैं, पर भवभूति का प्रकृतिवर्णन अप्रस्तुतविधान से लदकर नहीं आता। कालिदास के प्रकृतिवर्णन के संबंध में हम एक पद्धति का संकेत कर आये हैं—अनलंकृत पद्धति का प्रकृतिवर्णन। भवभूति के प्रकृतिवर्णन भी इसी अनाविल नैसर्गिक सौंदर्य को साथ लेकर आते हैं। भवभूति जो कुछ देखते हैं, उसे बिना किसी अलंकार की लाग लपेट के उपस्थित करते हैं, और भवभूति के चित्रण की ईमानदारी, वर्ण्य विषय की नैसर्गिकता, स्वतः उसमें प्रभावोत्पादकता को संक्रान्त कर देती है। भवभूति का संगीत भी इन चित्रों को जीवन-दान देता देखा जाता है। भवभूति की प्रकृति का एक कोमल चित्र यह है। जनस्थान के सघन जामुन के निकुंजों के बीच से नदियाँ बहती हुई चली जा रही हैं। नदियों के तट पर उगे हुए वेतस पर मस्त पक्षी बैठे हैं, जिनके हिलाने से वेतस के पुष्प नदी के शीतल और स्वच्छ पानी में गिरकर उसे सुगंधित बना रहे हैं। फलभार से झुके जामुन के पेड़ों से पके फल टप टप गिरकर नदियों को मुखरित कर रहे हैं।

---

१. ऊर्ध्वं धूनोति वायुर्विवृतशवशिरःश्रेणिकुञ्जेषु गुञ्जन्नुत्तालः किंकिणीनामनवरतरणत्कारहेतुः पताकाम्॥ (मालती० ५.४)

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥
(उत्तर० २.२०)

भवभूति की कला में पांडित्य और प्रतिभा का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। वे समासान्त पदसंघटना, आनुप्रासिक चमत्कार तथा गौडी रीति के भी सफल प्रयोक्ता हैं। पर भवभूति श्लेष, यमक या दूरारूढ़ कल्पनाओं में कभी नहीं फँसते। भवभूति की आरंभिक कविताओं में फिर भी कवि का भावपक्ष अधिकतर कलापक्ष के अभिनिवेश से दबा-सा दिखाई पड़ता है, किन्तु ज्यों ज्यों कवि में परिपक्वता आती गई है, वह भावपक्ष की ओर उन्मुख होता दिखाई पड़ता है। मालतीमाधव तथा महावीरचरित में भवभूति को समासान्त पदावली और आनुप्रासिक चमत्कार से बड़ा मोह है, और इसका अभिनिवेश उत्तररामचरित में भी यत्र-तत्र है। मालतीमाधव में ही कवि में कोमल तथा गंभीर दोनों प्रकार के भावों और प्राकृतिक दृश्यों को चित्रण करने की क्षमता दिखाई पड़ती है। उत्तररामचरित में आकर कवि कोमल विषय के अनुरूप कोमल शैली का प्रयोग, तथा गंभीर विषय के अनुरूप गंभीर शैली का प्रयोग करता देखा जाता है। कालिदास की शैली गंभीर भावों के उपयुक्त नहीं है, तो माघ की शैली प्रायः करुण जैसे अतिकोमल भावों को व्यक्त करने में असमर्थ है, पर भवभूति की भारती कभी करुण की कोमल रागिनी के रूप में स्पंदित होती है, तो कभी गंभीर और धीर संगीत का सृजन कर उदात्त वातावरण का निर्माण करती है। भवभूति ही संस्कृत साहित्य में ऐसे अकेले कलाकार दिखाई पड़ते हैं, जो दोनों तरह की गीत-सरणियों के सफल गायक हैं। भवभूति की दोनों प्रकार की शैलियों का एक एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भवभूति की सानुप्रासिक समासान्तपदावली का एक रूप यह है:—

व्योम्नस्तापिच्छगुच्छावलिभिरिव तमोवल्लरीभिर्व्रियन्ते,

पर्यस्ताः प्रान्तवृत्या पयसि वसुमतो नूतने मज्जतीव ।

वात्यासंवेगविष्वग्विततवलयितस्फीतधूम्याप्रकाशं

प्रारम्भेऽपि त्रियामा तरुणयति निजं नीलिमानं वनेषु ॥

(मालती० ५.६)

रात्रि के आरंभ का वर्णन है। कपालकुण्डला रात्रि के आरंभ में चारों ओर फैलते अंधकार का वर्णन कर रही है। 'आकाश के प्रान्तभाग तमाल-पुष्प के गुच्छों से लदी हुई, अंधकार की लताओं के द्वारा आच्छादित हो रहे हैं, चारों ओर तमाल-पुष्प के समान हल्के काले रंग का अंधेरा बढ़ता जा रहा है; पृथ्वी जैसे किसी नये पानी में डूब रही है, रात्रि आरंभ में अपने नीले स्वरूप को चारों ओर प्रकट कर रही है, और जैसे तेज हवा के चलने से धुआँ उठकर चारों ओर मण्डलाकार फैल जाता है, वैसे ही रात्रि के प्रारंभ में ही अंधकार आकाश में तथा पृथ्वी पर चारों ओर मण्डलाकार फैल गया है।'

भवभूति की कोमल वैदर्भी का एक रूप निम्न पद्य में मिलेगा।

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे

न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहंति वा।

भवति च पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा

प्रभवति पुनर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः ॥ (उत्तर. २.४)

लव-कुश की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करती हुई अनुसूया कह रही है। 'गुरु तो विचक्षण तथा मूर्ख दोनों प्रकार के शिष्यों को एक-सी ही विद्या प्रदान करता है। वह न तो बुद्धिमान् शिष्य की ज्ञानशक्ति को उत्पन्न ही करता है, न मूर्ख शिष्य की ज्ञानशक्ति को कम ही करता है। पर इतना

होते हुए भी गुरु की शिक्षा का दोनों को भिन्न-भिन्न प्रकार का फल प्राप्त होता है। विचक्षण शिष्य उसे ग्रहण कर लेता है, मूर्ख शिष्य उसका ग्रहण नहीं कर पाता। मणि किसी भी वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होती है, पर मिट्टी का ढेला उस शक्ति से रहित होता है।'

नाटककार की दृष्टि से चाहे भवभूति को हम उच्चकोटि का न मानें, कवि के रूप में भवभूति का स्थान निश्चित है। कवि के रूप में कालिदास के बाद भवभूति का नाम निःसंकोच लिया जा सकता है। कवि-हृदय भवभूति में माघ से भी कहीं बढ़ा-चढ़ा है। भवभूति की प्रशंसा पुराने कवियों ने भी की है, पर उन्होंने उनकी सानुप्रासिक गाढ़बंधता तथा शिखरिणी छंद[1] के सौंदर्य की ही विशेष प्रशंसा की है। भवभूति के बाद आने वाले कवियों ने भी उनके इसी एक गुण की ओर दृष्टिपात किया है। भवभूति के साक्षात् उत्तराधिकारी मुरारि ने उन के पांडित्य पक्ष को ही अपनाया है, तथा भवभूति की प्रतिभा का थोड़ा-सा भाग भी मुरारि को प्राप्त नहीं हो सका है। भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अंतःप्रकृति तथा बाह्यप्रकृति के कोमल और विकट दोनों रूपों का ग्रहण करने की क्षमता रखता है, भवभूति वह 'श्रीकण्ठ' है, जिसने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विष की तिक्तता दोनों को—जीवन के उल्लासमय तथा वेदनाव्यथित दोनों तरह के पहलुओं को—सहर्ष अंगीकार किया है।

---

१. भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी।
रुचिरा घनसंदर्भे या मयूरीव नृत्यति॥ (क्षेमेन्द्र)

मुरारि

महाकवि भवभूति ने हमें दृश्यकाव्य में श्रव्यकाव्य के सरस भावात्मक वातावरण की सृष्टि दी, फलस्वरूप उनकी नाट्यकला शुद्धरूप में न आकर गीति-नाट्य (Lyric-drama) का रूप लेकर सामने आई। भवभूति की इस गीति-नाट्य-पद्धति पर भी उनके अनुगामी चलते तो गनीमत थी, नाटक न मिलता, तो कम से कम भावपक्ष की तरलता तो अक्षुण्ण बनी रहती, पर भवभूति के साक्षात् अनुगामी मुरारि ने भवभूति के केवल एक ही गुण को लिया, वह है भवभूति का पद-विन्यास, उनकी गौडी शैली वाला निबंध। माघ का पाण्डित्य और पदचिन्ता लेकर मुरारि नाटक के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं, और भवभूति जहाँ जोश में भावाभिव्यक्ति करते चले जाते हैं, जहाँ खुद-ब-खुद भावानुरूप पद रचना होती जाती है—यदि कोमल भाव हैं, तो पदरचना कोमल, और गंभीर भाव हैं, तो पदरचना गंभीर—मुरारि सोच-सोच कर पद रखते नजर आते हैं। संभवतः जिस तरह भारवि के कलापक्ष को नीचा दिखाने के लिए माघ उसी मार्ग में चलकर उनसे बढ़े-चढ़े सिद्ध होना चाहते हैं, उसी तरह मुरारि भी भवभूति के ही मार्ग पर चलकर उनसे अधिक यश प्राप्त करना चाहते हैं। पर कहाँ माघ और कहाँ मुरारि ? माघ में भारवि की अपेक्षा कई गुना अधिक कवि-हृदय था, और यही मुख्य कारण है कि माघ अपने लक्ष्य में क्या प्राचीन पंडितों और क्या नव्य समीक्षकों, दोनों की दृष्टि में सफल हुए, किन्तु मुरारि के पास भवभूति को परास्त करने के लायक कवि-हृदय तो दूर रहा, मध्यम श्रेणी का कवि-हृदय है। कला-पक्ष में भी मुरारि की कई कल्पनाएँ स्वयं भवभूति की ऋणी हैं, कई माघ की। मुरारि के पाण्डित्य में कोई संदेह नहीं, पर काव्य या नाटक के क्षेत्र में वह गौण है। प्राचीन

पंडित चाहे मुरारि की पदचिन्ता को सोच सोचकर इतने शुष्कहृदय हो जायँ कि भवभूति की रसनिर्भरा सरस्वती को रेगिस्तान की तरह सुखाने का प्रयत्न करने लगें,[1] सहृदय भावुक मुरारि को कवि के रूप में भी अधिक सफल नहीं मान सकता, नाटककार के रूप में तो वे बिलकुल असफल हुए हैं। मुरारि को जैसे यह पता ही नहीं कि दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य में कोई भेद भी होता है। लंबे लंबे अंक, कथावस्तु की विशृंखलता, नाटकीय कुतूहल का अभाव, कृत्रिम शैली और संवादों की प्रचुरता मुरारि की खास विशेषताएँ है और ये वे गुण या दोष हैं, जो मुरारि के पश्चाद्भावी सभी कवियों (नाटककारों) में कम या ज्यादा रूप में पाए जाते हैं। जिस नाटकीय परम्परा का निर्वाह भास, कालिदास, शूद्रक और विशाखदत्त ने किया है, उसकी लीपापोती करना ही मुरारि के पाण्डित्य की खास पहचान है।

मुरारि के विषय में जो कुछ परिचय मिलता है, उसका एक मात्र साधन अनर्घराघव की प्रस्तावना ही है।[2] अनर्घराघव के मतानुसार वे श्रीवर्धमानक

---

१ सकेत—भवभूतिमनादृत्य मुरारेमुररीकुरु।

२.अनर्घराघवकार मुरारि पाखण्डविडम्बन नामक प्रहसन के रचयिता से भिन्न हैं। पाखण्डविडम्बन की हस्तलिखित प्रति जो १७४८ (वसुनिगमसप्तभू) शाके की लिखी हुई है, चौखम्बा विद्याभवन के व्यवस्थापक श्रीकृष्णदास जी गुप्त ने मुझे दिखाई थी। इस प्रहसन में दो अंक हैं। प्रस्तुत हस्तलिखित प्रति २३ पत्रों की है, जिसमें ७ पत्र (१६ से २२ तक) खो गए है। यह प्रहसन किसी मुरारि की रचना है:—

श्रीमन्मंगलपत्तनाम्बुधिसुधाधाराभिरामाशयः
शर्वाणीचरणारविन्दमधुपः स श्रीमुरारिः कविः।
वाचो यस्य रतप्रमत्तवनितालंकारझंकारव-
वीणानादसहोदराः श्रवणयोरातन्वते निर्वृतिम्॥ (पत्र २)

ये मुरारि किसी मंगलपुर के रहने वाले हैं, जब कि अनर्घराघवकार माहिष्मती के निवासी माने जाते हैं। प्रहसनकार को अनर्घराघवकार से भिन्न मानने के दो कारण है:—(१) महाकवि मुरारि विष्णुभक्त थे, प्रहसनकार मुरारि शिवभक्त।

तथा तन्तुमती के पुत्र थे, और मौद्गल्य गोत्र में उत्पन्न हुए थे।[1] यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि मुरारि महाकवि तथा बाल-वाल्मीकि की उपाधि

(दे. भगवतः पुरुषोत्तमस्य यात्रायामुपस्थानीयाः सभासदः—अनर्घराघव तथा—'तदद्य भगवतो वैद्यनाथस्य यात्रायां परिमिलितमेव नानादिगन्तवास्तव्येन सकललाविलासलालसेनाशेषभुवनवाञ्छासमधिकदानदक्षविरूपाक्षपादारविन्दवन्दारुकेण।'—प्रहसन पत्र २) (२) प्रहसनकार की शैली उन्हें १७ वीं शती का संकेतित करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रहसनकार मुरारि मैथिल थे। पाखण्डविडम्बन में एक साधु की विलासिता पर व्यंग्य कसा गया है। साधु के मुख से नैयायिकों, वेदान्तियों, मीमांसकों, छांदसों और पौराणिकों की निन्दा कराई गई है:—

१. घटपटादिसामान्यविचारणातारतम्यतिरोहितहृदयास्तार्किकाः कर्कशचेतसोऽसंजातरामानुरागा एव देवकीतनयभवनमाकांक्षन्तो लज्जन्ते। (पत्र ४)

२. एते च वेदान्तिनः प्रत्यक्षाणामपि मिथ्यात्वं प्रतिपादयन्तः सन्तोभिधीयन्ते।
(पत्र ४)

३. आः कथममी दक्षिणतो मीमांसका लोकान्तरप्राप्तिफलाकांक्षया गुरुतरामर्थक्षतिं विधाय वैश्वानरेऽपूर्वाख्यमनोकहमुत्पादयन्ति। (पत्र ४)

४. अमी च वेदविद्वांसोऽपरिज्ञातवेदार्था गायत्र्युपासकाः शाकटाः पशुकल्पा एव। एते च पौराणिकाः पाखण्डरौरवाद्यालयकदर्थीकृतचेतसोऽस्मद्द्रोहका एव। दर्शनस्थानमपि न विद्यते। (पत्र ५)

आचार्यप्रवर 'अज्ञानराशि' महाराज का उपदेश निम्न है; जिसमें वे समस्त संसार को रमणीमय समझने को कहते हैं।

किं यागेन किमस्ति वा सुरधुनीस्नानेन दानेन वा
किं वा देवसपर्ययाऽथ पितृभिः किं प्राप्यते तर्पितैः।
रे मूढाः शृणुताऽस्मदीयवचनं चेदिच्छथ स्वं हितं
हित्वा मोहपरंपरां जगदिदं रामात्मकं चिन्त्यताम्॥ (पत्र ५)

१. अस्ति मौद्गल्यगोत्रसंभवस्य महाकवेर्भट्टश्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघवं नाम नाटकम्। (प्रथम अंक पृ० १९)

से विभूषित थे।[1] मुरारि की तिथि के विषय में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किंतु कुछ अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य के आधार पर यह जान पड़ता है कि मुरारि का समय ईसा की आठवीं सदी का उत्तरार्ध या नवीं सदी का पूर्वार्ध रहा होगा। मुरारि निश्चित रूप में भवभूति के बाद हुए हैं। भवभूति के उत्तररामचरित का उद्धरण मुरारि के अनर्घराघव में देखा जाता है, साथ ही भवभूति के महावीरचरित तथा उत्तररामचरित के प्रति मुरारि अत्यधिक ऋणी हैं, इतने ऋणी, कि भवभूति के कई दोषों को मुरारि ने अपनी कृति में और अधिक बढ़ा दिया है। मुरारि का उल्लेख रत्नाकर के हरविजय महाकाव्य में स्पष्टतः किया गया है,[2] जो उन्हें रत्नाकर से पूर्व का सिद्ध करता है। रत्नाकर का समय ईसा की नवीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है। रत्नाकर ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन के समसामयिक तथा काश्मीरराज अवन्तिवर्मा के राजपण्डित थे। बाद में भी मंख के श्रीकण्ठचरित में मुरारि का उल्लेख मिलता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् मुरारि को बाद का मानते हैं, किंतु मुरारि राजशेखर से पुराने जान पड़ते हैं। जयदेव भी अपने प्रसन्नराघव में मुरारि के अनर्घराघव से अत्यधिक प्रभावित हैं। मुरारि के जन्मस्थान के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी पता नहीं चलता। डॉ. कीथ का मत है कि मुरारि माहिष्मती (नर्मदा के तट पर स्थित मांधाता) के किसी राजा के सभापण्डित थे।[3]

मुरारि की केवल एक ही कृति उपलब्ध है—अनर्घराघव नाटक। यह

---

१. अस्य हि मौद्गल्यानां ब्रह्मर्षीणामन्वयमूर्धन्यस्य मुरारिनामधेयस्य बालवाल्मीकेर्वाङ्मयममृतविन्दुनिष्यन्दि कन्दलयति कौतुकं मे। (प्रथम अंक पृ. २४)

२. अंकोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्।
आक्रान्तकृत्स्नभुवनः क गतः स दैत्यनाथो हिरण्यकशिपुः सह बन्धुभिर्वः॥
(हरविजय ३८.३७)

३. Keith : History of Sanskrit Literature. P. 226.

सात अंकों का नाटक है, जिसमें भवभूति के महावीरचरित की भाँति सम्पूर्ण रामायण की कथा को लेकर नाटक की रचना की गई है। विश्वामित्र के आगमन से लेकर रावणवध, पुष्पक विमान से अयोध्यापरावर्तन, एवं रामराज्याभिषेक तक की समस्त कथा को नाटकीय वस्तु का आधार बनाया गया है। महाकाव्य के अनुरूप इतनी बड़ी कथा को लेकर नाटक की रचना करने में नाटककार कभी कभी वस्तु को नहीं सँभाल पाता। भवभूति के महावीरचरित एवं मुरारि के अनर्घराघव दोनों में ही यह दोष देखा जा सकता है। इसी दोष से राजशेखर का बालरामायण तथा जयदेव का प्रसन्न राघव भी अछूता नहीं रहा है।

नाटकीय वस्तु

नाटक का प्रथम अंक अत्यधिक लंबी प्रस्तावना के बाद आरंभ होता है। इस अंक में दशरथ तथा वामदेव मंच पर प्रविष्ट होते हैं। कञ्चुकी विश्वामित्र के आने की सूचना देता है। विश्वामित्र के आने पर राजा उनकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करता है, तथा वे भी राजा की वैसी ही प्रशंसा करते हैं। तब वे राम को यज्ञ का विध्वंस करनेवाले राक्षसों का बध करने के लिए माँगते हैं। राजा पहले तो हिचकिचाता है, पर बाद में राम को विश्वामित्र के साथ बिदा कर देता है। राम को लेकर विश्वामित्र बिदा हो जाते हैं। द्वितीय अंक के विष्कंभक में शुनःशेप तथा पशुमेढ् नामक दो शिष्य वाली, रावण, राक्षस, जाम्बवन्त आदि के विषय में आवश्यक जानकारी देते हैं। इसी अंक में मंच पर राम तथा लक्ष्मण प्रवेश करते हैं, जो आश्रम और मध्याह्न की गर्मी का वर्णन करते हैं।[1] इसी अंक में एकदम शाम पड़ जाती है। ऐसा जान पड़ता है, कालान्विति की ओर नाटककार का ध्यान ही नहीं है। सारा अंक वर्णनों से भरा पड़ा है, जिसमें व्यापार का अभाव है। शाम के समय विश्वामित्र

---

१. कथं गगनमध्यमध्यारूढो निदाघदीधितिः। (द्वितीय अंक पृ० ९६)

मंच पर प्रविष्ट होते हैं और सूर्यास्त का लंबा वर्णन करते हैं।[1] इसी बीच नेपथ्य से ताडका के आने की सूचना मिलती है। राम स्त्री का वध करने से हिचकिचाते हैं, पर विश्वामित्र के समझाने-बुझाने पर प्रस्थान करते हैं। ताडका का वध करने पर राम पुनः रात्रि का वर्णन करते मंच पर प्रवेश करते हैं। तब विश्वामित्र मिथिला जाने का प्रस्ताव रखते हैं। द्वितीय अंक काव्य की दृष्टि से कुछ लोगों को भले ही सुंदर दिखाई पड़े, अनर्घराघव नाटक की उन थिकलियों में खास है, जिसने नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता को अवरुद्ध कर दिया है।

तीसरे अंक के विष्कंभक में जनक का कंचुकी कलहंसिका के साथ बात चीत करते समय यह सूचना देता है कि रावण ने सीता के साथ विवाह करने का प्रस्ताव भेजा है। तीसरे अंक में जनक पुरोहित शतानंद के साथ जाकर राम का स्वागत करते हैं। इसी बीच रावण का पुरोहित शौष्कल आकर सीता के विवाह संबंध की बात करता है।[2] जनक इस शर्त को रखते हैं कि वह शिव के धनुष को चढ़ा दे। शौष्कल अपमान समझता है, और रावण की प्रशंसा करता है, जिसका उत्तर राम देते हैं। इसके बाद राम उठकर धनुषभंग कर देते हैं। राम के साथ सीता के विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है और शौष्कल राम को चेतावनी देता बदला लेने की घोषणा करता हुआ मंच से चला जाता है।[3] चतुर्थ अंक के विष्कंभक में रावण का मंत्री माल्यवान्

१. कथमुदयगिरिकाश्मीरकुंकुमकेदारस्य प्रभातसंध्यालतायाः प्रथमस्तबको गभस्तिमाली हस्तहस्तिकया कुतूहलिनीभिर्दिगंगनाभिर्वारुणीं यावदुपनीतः।

(द्वि० अं० पृ० १०५)

२. कन्यामयोनिजन्मानं वरीतुं प्रजिघाय माम्।
पुरोधसा गौतमेन गुप्तस्य भवतो गृहान्॥ (३. ४२)

३. समन्तादुत्तालैः सुरसहचरीचामरमरुत्तरंगैरुत्कीलद्भुजपरिघसौरभ्यशुचिना।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृतामरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथाः॥
(३. ६१)

चिन्तामग्न-सा दिखाई पड़ता है। राम की वीरता ने उसकी योजना— रावण के साथ सीता का विवाह कराने की योजना—पर पानी फेर दिया है। इसी बीच शूर्पणखा आती है। वह यह खबर सुनाती है कि राम और सीता का विवाह हो गया है। माल्यवान् यह चाहता है कि राम और सीता का वियोग हो जाय और सीता को रावण के लिए हस्तगत कर लिया जाय। वह शूर्पणखा को मन्थरा का वेष बनाकर अयोध्या जाने को कहता है, जहाँ वह कैकेयी को फुसलाकर राम को वनवास दिलवा दे।[1] राम के वनवास के समय माल्यवान् को अपनी योजना पूरी करने का पूरा अवसर मिलेगा। इसी विष्कंभक से यह भी पता चलता है कि परशुराम मिथिला पहुँच गये हैं। चौथे अंक में क्रुद्ध परशुराम तथा राम की बातचीत है। राम का व्यवहार अत्यधिक नम्र है, किन्तु राम के कुछ मित्र नेपथ्य से परशुराम को कटूक्तियाँ सुनाते हैं।[2] राम और परशुराम में युद्ध की घोषणा होती है, दोनों मंच से बाहर जाकर युद्ध करते हैं। अंत में राम की विजय होती है। परशुराम के निष्क्रमण के बाद दशरथ तथा जनक आते हैं। इसी अंक में दशरथ राम को राज्य देना चाहते हैं, पर इसी समय कैकेयी के दो वरों की माँग को लेकर मन्थरा उपस्थित होती है। इसे सुनकर राजा दशरथ मूर्छित हो जाते हैं।

पंचम अंक के विष्कंभक में जाम्बवन्त तथा श्रमणा की बातचीत से इस बात की सूचना दी जाती है कि राम वन में चले गये हैं, और उन्होंने वहाँ रहते हुए कई राक्षसों को मार दिया है। इसी अंक में जाम्बवन्त तपस्वी

---

१. अतस्त्वमप्यस्मदनुरोधेन हनूमत्प्रत्यवेक्षितशरीरा परपुरुषप्रवेशविद्यया मन्थराशरीरमधितिष्ठन्ती मिथिलामुपेत्य प्रत्ययिता संविधानकमिदं दशरथगोचरीकरिष्यसि। (चतुर्थ अंक पृ० १९१)

२. आः पाप क्षत्रियायाः पुत्र क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन्, निसर्गनिष्प्राणं हि प्रहरणमिक्ष्वाकूणां ब्राह्मणेषु। (चतुर्थ अंक पृ० २११)

के वेष में सीताहरण के लिए आये हुए रावण और लक्ष्मण का संवाद सुन लेता है। रावण कोपावेश में अपना नाम कह जाता है, पर उसे अन्यथा स्पष्ट कर देता है।[1] जाम्बवंत उसे पहचान लेता है।[2] तब मंच पर जटायु का प्रवेश होता है। वह जाम्बवन्त को वन में रावण तथा मारीच के आने और भावी विपत्ति की सूचना देता है। जाम्बवन्त इसकी सूचना देने के लिए सुग्रीव के पास चला जाता है। इधर जटायु सीता को हर कर ले जाते हुए रावण को देखता है और सीता को बचाने के लिए दौड़ पड़ता है। पंचम अंक में सीता-हरण से दुखी राम तथा लक्ष्मण वन में घूमते हुए मंच पर प्रविष्ट होते हैं। वन में घूमते हुए वे गुह को बचाने के लिए कबंध का वध करते हैं। इसी बीच वाली का मंच पर प्रवेश होता है। वह राम को युद्ध के लिए ललकारता है। मंच पर स्थित लक्ष्मण और गुह दोनों युद्ध का वर्णन करते हैं। वाली मारा जाता है, और नेपथ्य से सुग्रीव के राज्याभिषेक तथा सीता को ढूँढने के लिए राम की सहायता करने की प्रतिज्ञा की सूचना मिलती है।[3]

षष्ठ अंक के विष्कम्भक में रावण के दो गुप्तचर शुक तथा सारण माल्यवान् के पास आकर इस बात की सूचना देते हैं कि राम की सेना ने समुद्र पर सेतु बाँध लिया है। नेपथ्य से कुम्भकर्ण तथा मेघनाद के युद्ध के लिए प्रस्थान करने की सूचना मिलती है। इसी अंक में दो विद्याधर रत्नचूड तथा हेमांगद मंच पर प्रवेश करते हैं, और उनके संवाद से राम-

---

१. आः लक्ष्मण सर्वविद्रावणः खल्वहम्।...भो वाचोयुक्तिश सर्वेषां विद्रावणः खल्वहमिति। (पंचम अंक पृ० २३६)

२. मन्ये पुनरेष परिव्राजकच्छलेन रावण एव कोपादुक्तमपलभ्य स्वं नाम द्रागपक्रान्तः। (पृ० २३७)

३. 'अयमहं सीतादेव्याः प्रवृत्तिमन्वेष्टुं प्रहित्य हनूमन्तमूर्ध्वमौहूर्तिके लग्ने कुमारमंगदमभिषेक्ष्यामि'। (पृ० २६५)

रावण–युद्ध का वर्णन कराया जाता है। रावण मारा जाता है। सप्तम अंक में राम, सीता, लक्ष्मण, विभीषण तथा सुग्रीव पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं। मार्ग में सुमेरु, चन्द्रलोक आदि का वर्णन किया गया है तथा रघुवंश के तेरहवें सर्ग और महावीरचरित के सप्तम अंक की तरह मार्ग नगरों, पर्वतों, नदियों, वन–उपवनों का वर्णन है। विमान अयोध्या पहुँचता है। वसिष्ठ तथा भरत राम का स्वागत करते हैं और राज्याभिषेक के साथ नाटक सम्पन्न होता है।

मुरारि का नाटक कई नाटकीय दोषों से भरा पड़ा है। सबसे पहले तो अनर्घराघव की कथावस्तु में प्रवाह तथा गत्यात्मकता का अभाव है। प्रत्येक अंक में अनावश्यक लंबे लंबे वर्णन हैं, जो श्रव्यकाव्य के लिए फिर भी उपयुक्त कहे जा सकते हैं, नाटक के लिये सर्वथा दोष है। इन वर्णनों के बाँध बाँध कर कई स्थानों पर कथा–प्रवाह का अवरोध कर दिया जाता है। प्रथम अंक का विश्वामित्र तथा दशरथ का परस्पर प्रशंसात्मक संवाद बहुत लंबा तथा व्यर्थ जोड़ा हुआ है। दूसरे अंक के विष्कम्भक का प्रभात वर्णन तथा इसी अंक का आश्रम वर्णन, संध्या वर्णन और चन्द्रोदय वर्णन आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिये गये हैं। इसी तरह सप्तम अंक की विमान यात्रा का वर्णन भी नाटक के अनुपयुक्त है। दूसरा दोष नाटक के अंकों के कलेवर की दृष्टि से है। अनर्घराघव के अंक बहुत लंबे हैं, तथा कोई भी अंक ५०–६० पद्यों से कम का नहीं है, छठे और सातवें अंक में क्रमशः ९४ तथा १५२ पद्य हैं। कालिदास के नाटकीय अंकों को देखने पर पता चलेगा कि उनके अंकों में ३० के लगभग पद्य पाये जाते हैं। मुरारि का लक्ष्य नाटक लिखना न होकर पाण्डित्य, वाचोयुक्ति और कलात्मकता का प्रदर्शन करना है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में इस नाटक में उन्होंने अनेकों मोतियों से हार को गूँथा है; उन मोतियों से, जिन्हें उन्होंने

अपनी चित्त-शुक्ति के द्वारा अनेकों शास्त्रों के स्वातिविन्दु रूपी अमृत को पीकर अक्षर के रूप में उगल दिया है। इन उज्ज्वल अक्षरों के मोतियों से गुँथी हुई माला को, जो सुन्दर नायक (रामचन्द्र तथा माला का मध्यमणिरूप बड़ा मोती) के गुणग्राम (धागों) से रमणीय प्रौढ अहंकार से युक्त है, वे मित्रों या सहृदयों के गले में इसलिए डालना चाहते हैं कि वह वहाँ आन्दोलित होती रहे।[1] मुरारि के नायक के गुणों की प्रौढाहंकृति की तरह अनर्घराघव के प्रत्येक पदविन्यास से पाण्डित्य की प्रौढाहंकृति टपकती है। मुरारि की माला सुन्दर तो है, पर ऐसा मालूम होता है, मुरारि के मोती असली नहीं, कल्चर के मोती हैं। हाँ, मुरारि के चित्त की शुक्ति में वे ढल कर आये हैं, इसमें किसी को संदेह नहीं, पर उनकी चित्त-शुक्ति ने स्वाति के कोमल अमृतद्रव को नहीं पिया था, कठोर काच की उन गोलियों को खाया था, जिन्हें कल्चर मोती वनाने के लिए सीपों को खिला दिया जाता है। मुरारि के मोतियों की बाहरी तड़क-भड़क लाजवाब होते हुए भी मोती का सच्चा पानिप नहीं है, भाव की तरलता का वहाँ अभाव-सा दिखाई देता है। मुरारि का स्वयं का लक्ष्य भी 'अक्षरमूर्ति' (पदविन्यास) तक ही है (उन्हें ही वे मोती मानते हैं) भाव की रमणीयता नहीं। मुरारि को यह मार्ग-दर्शन भवभूति से मिला है, पर भवभूति के भावपक्ष को मुरारि नहीं अपना सके हैं।

मुरारि पर भवभूति का प्रभाव

विषय-निर्वाचन, कथावस्तु संविधान तथा शैली सभी में मुरारि भवभूति से प्रभावित हैं। मुरारि के अनर्घराघव का आदर्श भवभूति का

---

१. चेतःशुक्तिकया निपीय शतशः शास्त्रामृतानि क्रमा-
द्वान्तैरक्षरमूर्तिभिः सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिताः।
उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसंवल्गन-
प्रौढाहंकृतयो लुठन्ति सुहृदां कण्ठेषु हारस्रजः॥ (१.५)

महावीरचरित रहा है, ठीक वैसे ही जैसे माघ का आदर्श किरातार्जुनीय। विश्वामित्र के आगमन से लेकर विमान के द्वारा अयोध्या लौटने तक की घटना का संकेत महावीरचरित में भी है। इतना ही नहीं, महावीरचरित के दूसरे अंक के विष्कम्भक से, जिसमें शूर्पणखा तथा माल्यवान् का संवाद और माल्यवान् की कूटनीति है, मुरारि को चतुर्थ अंक के विष्कम्भक की रचना में प्रेरणा मिली है। महावीरचरित के तीसरे अंक का राम–जामदग्न्य–संवाद का प्रभाव अनर्घराघव के चतुर्थ अंक के राम–जामदग्न्य–संवाद पर देखा जा सकता है। मुरारि ने यहाँ एक मौलिक उद्भावना की है। महावीरचरित के राम परशुराम के प्रति आदरभाव सम्पन्न होते हुए भी उन्हें बढ़ता देखकर कटु उत्तर देते हैं, जब कि अनर्घराघव के राम अत्यधिक नम्र हैं, और परशुराम को उत्तेजित करने के लिए मुरारि ने नेपथ्योक्तियों का प्रयोग किया है। आगे जाकर प्रसन्नराघवकार जयदेव ने एक और नई उद्भावना की। उन्होंने लक्ष्मण तथा परशुराम का वादविवाद उपन्यस्त किया और परशुराम को लक्ष्मण के मुँह से खरी–खोटी सुनवाई। प्रसन्नराघव की पद्धति का ही प्रभाव महाकवि तुलसीदास ने अपने मानस में किया है। पिछले खेवे के नाटककारों ने अपनी कथावस्तु के संविधान वाली कमजोरी को पहचान कर उसमें नाटकीयता लाने के लिए एक मार्ग ढूँढा था। इसका बीज रूप हम वेणीसंहार के कर्ण–अश्वत्थामा वाले वाद–विवाद में देख सकते हैं। भवभूति के महावीरचरित के तृतीय अंक में इसका पल्लवन हुआ, जिसे मुरारि ने भी अपनाया। प्रसन्नराघवकार ने परशुराम और लक्ष्मण के अतिरिक्त रावण और बाणासुर के संवाद में भी इसी तरह के सोष्म वातावरण की सृष्टि की है। आगे जाकर इस पद्धति का प्रभाव हिंदी में भी देखा जाता है। यद्यपि मध्यकालीन हिंदी साहित्य में किन्हीं खास नाटकों की रचना न हुई, पर

केशवदास ने अपने महाकाव्य (?) रामचन्द्रिका में बाण-रावण, तथा लक्ष्मण-परशुराम के संवादों की योजना की है, जो कुछ नहीं जयदेव की ही छाया है।

मुरारि शैली और भावों के लिए भी भवभूति के ऋणी हैं। भवभूति के उत्तररामचरित के आश्रमवर्णन तथा अनर्घराघव के द्वितीय अंक के आश्रमवर्णन में एक स्थल तो ठीक एक-सा ही है।[1] भवभूति तथा मुरारि दोनों की गंभीर प्रकृति हास्य की अवहेलना करती है, किंतु पादटिप्पणी के उदाहृत स्थल में 'वत्सतरी मडमडायिता' कह कर भवभूति की गंभीर मुद्रा पर हास्य की सूक्ष्म रेखा फूट पड़ी है, जब कि मुरारि ने उसे पात्र के मुँह से न कहला कर 'मेध्या वत्सतरी विहस्य वटुभिः सोल्लुंठमालभ्यते' कह कर भवभूति के रहे सहे व्यंग को भी समाप्त कर दिया है। मुरारि ने एक साथ उत्तररामचरित तथा महावीरचरित दोनों से भावों को चुना है। महावीरचरित जैसा धनुर्भंग का वर्णन अनर्घराघव में भी मिलता है।[2]

---

१. इन दोनों स्थलों को मिलाइये।

(१) नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं सद्यः प्रसूताप्रिया-
　　पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति।
　　　　गन्धेन स्फुरतामनागनुसृतो भक्तस्य सर्पिष्मतः
　　कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते
　　×　　　×　　　×　　　×
　　　　येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशसिता॥
　　　　　　　　　　　　(उत्तररामचरित ४.१)

(२) तत्ताद्दक्तृणपूलकोपनयनक्लेशाच्चिरद्वेषिभि
　　　　र्मेध्या वत्सतरी विहस्य वटुभिः सोल्लुंठमालभ्यते।
　　अप्येष प्रननूभवत्यतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटै-
　　　　रापीतो मधुपर्कपाकसुरभिः प्राग्वंशजन्मानिलः॥
　　　　　　　　　　　　(अनर्घराघव २.१४)

२. शैली तथा भाव की दृष्टि से ये दोनों वर्णन कितने समीप हैं, किंतु मुरारि पदविन्यास में भी भवभूति की गंभीरता तक नहीं पहुँच सके हैं:—

भवभूति का प्रकृतिवर्णन कई स्थलों पर मुरारि को प्रभावित करता है, पर मुरारि में वह पैनी दृष्टि नहीं है। राम तथा सीता की प्रणयलीला का स्मरण के रूप में उपन्यास भवभूति तथा मुरारि दोनों ने एक स्थल पर किया है। उत्तररामचरित में वासन्ती गोदावरी के तीर पर की गई लीलाओं को याद दिलाती है, अनर्घराघव में विमानयात्रा से गोदावरी के समीप से गुजरते हुए राम पूर्वानुभवों का स्मरण कर सीता को याद दिला रहे हैं। पर भवभूति का यह वर्णन अत्यधिक शालीनता से भरा है, मुरारि का वर्णन कामुक हो गया है। भवभूति का वर्णन निम्न है:—

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीरोधसि।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविंदकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः॥

(उत्तर० ३.३७)

आपको याद होगा, सीता गोदावरी तीर पर गई थी, और आप इसी लताकुंज में उसके आने की प्रतीक्षा करते हुए, उसके मार्ग की ओर आँखे

---

(१) दोर्दण्डांचितचन्द्रशेखरधनुर्दंडावभंगोद्यत-
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥
(महावीर० १.५४)

(२) रुन्धन्नष्टविधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशः क्रोडयन्
मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः।
तान्यक्ष्णा वधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादय-
न्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्बलदलत्कोदण्डकोलाहलः॥
(अनर्घराघव ३.५४)

टिका कर खड़े थे; उधर सीता हंसों के साथ मन बहलाने के लिए कुछ ठहर गई और उसे गोदावरी के तट पर विलंब हो गया था। जब वह लौट कर आई, तो उसने आपको अनमना-सा देख कर कातरता से कमल-मुकुल के समान सुंदर प्रणामांजलि को क्षमा माँगने के लिए बाँध लिया था।

गंभीर भवभूति के राम सीता को देर से आया देख कर अनमने होते हैं, तो पण्डित मुरारि की सीता राम की 'बेजा हरकतों' से कौमारव्रतभंग होने के कारण (मध्या होने के कारण) मन में गुस्सा करते हुए भी मुसकरा देती हैः—

एतस्याः पुलिनोपकण्ठफलिनीकुञ्जोदरेषु स्रजं
कृत्वा किंशुककोरकैरकरजक्रीडासहिष्णुस्तने।
दत्त्वा वक्षसि ते मयि प्रहसति प्रौढापराधे तदा
कौमारव्रतभङ्गरोषितमपि स्मेरं तवासीन्मुखम्॥

(अनर्घ० ७. ६६)

इसी गोदावरी नदी के किनारे के पास उगी हुई प्रियंगुलताओं के कुंज में पलाश की (अर्धचन्द्राकार) कलियों की माला बना कर हँसते हुए मैंने तुम्हारे उस वक्षःस्थल पर मारा था, जिसके स्तन नखक्षत की क्रीडा को सहने में समर्थ न थे, और मेरे महान् अपराध के किये जाने पर, तुम्हारा मुख नवोढावस्था (कौमारव्रत) के भंग के कारण रुष्ट हो गया था, फिर भी तुम कुछ मुसकरा दी थी। (यहाँ पलाश की कलिका नखक्षत की व्यंजना कराती है।[1] भाव है, मैं इसी तरह तुम्हारे स्तनों पर नखक्षतों की माला बना दूँगा।)

---

१. मिलाइयेः—

'बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्योवसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥' (कालिदास)

दोनों चित्रों में चिरविवाहित दम्पती का मान, हास-परिहास आदि है, किंतु प्रथम चित्र उदात्त है, दूसरा उत्तेजक। भवभूति दम्पति-जीवन का भावुक वर्णन करने में बेजोड़ हैं, यह हम भवभूति के संबंध में देख चुके हैं। कई स्थानों पर मुरारि कालिदास और माघ के भावों को भी लेते दिखाई पड़ते हैं, पर उनका वैसा सुन्दर निर्वाह नहीं कर पाते।[1]

मुरारि की पदचिन्ता

मुरारि का नाम संस्कृत पण्डितों की सम्मति में भवभूति से पहले लिया जाना चाहिए।[2] इसका खास कारण मुरारि की 'अक्षरमूर्तियों' के चुने हुए मौक्तिक हैं। माघ की तरह मुरारि भी गंभीर संगीत, शब्दानुप्रास, तथा जटिल व्याकरणसिद्ध पदों का प्रयोग करते हैं। सारे नाटक को पढ़ जाने पर यह धारणा होती है कि कवि ने सोच सोच कर शब्द-रचना की है। पाणिनीय प्रयोगों के प्रति मुरारि में बहुत रुचि है, विशेषतः 'णमुल्' के प्रति, जिसके बीसों उदाहरण नाटक के पद्यों में मिल सकते हैं, यथा—उदरंभरय-

---

१. कालिदास का भाव ही निम्न पंक्तियों में है, किंतु कालिदास वाली सहोक्ति का यहाँ अभाव खटकता है:—

(१) एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं निषिक्तम्॥
(रघुवंश १३)

(२) अस्मिन्माल्यवतस्तटीपरिसरे कादम्बिनीडम्बरः।
स स्थूलंकरणो मदश्रुपयसामासीदवर्षन्नपि॥
(अनर्घराघव ७. १००)

२. मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥
भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः॥

अकोराः (२. ४४), गीर्वाणपाणिंधमाः (४. २०), प्रसभसुभगंभावुकभुजः (१. २४) नाडिंधमाः (४. २), स्थूलंकरणः (७. १००)। इनके अतिरिक्त मध्येकृत्य (१. ३७), विजयसहकृत्वा (१. २४), निर्गत्वरीभिः (४. ५०) जैसे पाणिनीय प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। मुरारि ने भवभूति की समासान्त शैली को आदर्श बनाकर उसे और आगे बढ़ाया है। एक-सी ध्वनि वाले शब्दों का—वृत्यनुप्रास का—तथा श्लेष का मुरारि को बड़ा मोह है। मुरारि के अनेक पद्य इस संबंध में उद्धृत किये जा सकते हैं।[1] यहाँ एक पद्य उदाहृत करना पर्याप्त होगा।

पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजःस्वाजन्यजन्मोद्धताः
शीतांशोर्द्युतयः पुरन्दरपुरीसीम्नामुपस्कुर्वते ।
एताभिर्लिहतीभिरन्धतमसान्युद्ग्रथ्नतीभिर्दिशः
क्षोणीमास्तृणतीभिरन्तरतमं व्योमेदमोजायते ॥

(२. ७३)

ये चन्द्रमा की किरणें, इसलिए गर्वोद्धत होकर, कि इनका जन्म इन्द्राणी के कुचकुम्भों पर लगे कुङ्कुम चूर्ण के साथ हुआ है (अर्थात् ये उसके समान हल्के लाल रंग की हैं—उदयकालीन चन्द्रमा की किरणें लाल होती हैं), इन्द्रपुरी की सीमा—पूर्व दिशा—को अलंकृत कर रही हैं। आकाश का मध्य भाग पृथ्वी को आच्छादित करती हुई, सघन अन्धकार को चाटती हुई (नष्ट करती हुई) और पूर्वादि दिशाओं को पुनः अन्धकार की माला से निकालती हुई (उद्ग्रथन करती हुई) चन्द्रकिरणों से ओजोमय हो गया है। भाव यह है, अंधकार के कारण पूर्वादि दिशा का भान नष्ट हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है कि अँधेरे ने सभी दिशाओं को एक साथ माला में घिच-पिच गूँथ दिया था, चन्द्रमा की किरणें अब दिशारूपी फूलों

१. २. ४५, २. ६८, २. ७७, २. ७८, ४. १८, ६. २८, ६. ३१ आदि।

को निकाल कर अलग अलग कर रही हैं, और अब कौन फूल कैसा है, कौन दिशा किधर है, इसका पता चलने लगा है।

मुरारि की काव्य-शैली और भावपक्ष

मुरारि मूलतः नाटककार न होकर, वह अलंकारवादी कवि है, जिसका मुख्य लक्ष्य श्रुतिमधुर पद्यों की रचना करना है। पर मुरारि की कविता उदात्त भूमि तक नहीं पहुँच पाती, उसमें कविता का जाज्वल्यमान रूप दिखाई न देकर, बुझते हुए काव्य-दीप की लौ है। मुरारि के कई पद्य प्रभावात्मकता से समवेत हैं, किंतु कुल मिलाकर मुरारि प्रथम कोटि के कलाकारों की सीढ़ी तक नहीं पहुँच पाते। श्रवणमधुर पद, ललित दूरारूढ कल्पना तथा स्निग्ध लयमय पद्यों के निर्वाह में मुरारि निःसंदेह सफल हुए हैं, किन्तु इतना भर ही काव्य को उदात्त नहीं बना सकता। उनके शब्द और अर्थ दोनों का प्रयोग 'अलंकारों के लिए अलंकार' का निर्वाह करते देखा जाता है, वे किसी महान् कल्पना या भाव की व्यञ्जना नहीं करा पाते। मुरारि के पास कोई मौलिक उपन्यास नहीं है और मुरारि के बाद के नाटककारों पर भी इस दोष का आरोपण किया जा सकता है कि वे मौलिकता से रहित हैं। पुराने ढंग के विद्वान् मुरारि के अलंकार एवं रीति पक्ष को, रूढ़ अभिव्यंजना शैली के 'रिटोरिक' (Rhetoric) ढंग को पाकर 'वाह-वाह' कर उठते हैं और यहाँ तक घोषणा कर देते हैं कि जिस तरह केवल मन्दराचल ही समुद्र की तह को पाने में समर्थ हो सका है, चाहे समुद्र को कई बंदर ऊपर ऊपर से पार कर गये हों, पर समुद्र की गहराई को वे क्या जानें; ठीक इसी तरह काव्य के अगाध समुद्र की तह तक तो मुरारि ही पहुँच पाये हैं, अकेले उन्हें ही उसकी गहराई का पता है, दूसरे कवि, जो बंदर की तरह उछल-कूद मचाते हैं, केवल ऊपर ऊपर ही घूमा करते हैं।[1] पर

१. देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।

क अधिक उपयुक्त है। यही कारण है कि मुरारि के ये वर्णन कुछ सुंदर बने हैं। शृङ्गार रस के कोमल वातावरण की सृष्टि करने में मुरारि उतने भी सफल नहीं हुए हैं। सप्तम अंक में शृङ्गार रस के वातावरण की सृष्टि करने का अवसर था, पर मुरारि की प्रकृति उस स्थल का लाभ नहीं उठा सकी है। यहाँ मुरारि या तो चन्द्रलोकादि के वर्णन में फँस गये हैं, या फिर शृङ्गारी चित्रों में कामशास्त्र संबंधी ज्ञान के प्रदर्शन में।

अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैरवधूतपत्रलेखः।
कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिमद्युतिनिर्मलः कपोलः॥
(अनर्घ० ७. १०७)

हे सीते, यह कांची नगरी है, जहाँ की रमणियों के कपोल; जो धुली हुई चन्द्र-कांति के समान निर्मल हैं, तथा जिनमें मुख की ओर ढुलकते हुए ललाट के पसीने से पत्ररचना धुल गई है; उनके पुरुषायित (विपरीत रति) की सूचना दिया करते हैं।[1]

मुरारि ने शृङ्गारी चित्रों का प्रयोग प्रकृति वर्णन के अप्रस्तुत के लिए भी किया है। मुरारि के इन वर्णनों पर माघ का प्रभाव परिलक्षित होता है। चतुर्थ अंक के विष्कंभक का प्रभातवर्णन माघ के एकादश सर्ग के प्रभात-वर्णन का 'मिनियेचर पिक्चर' (सूक्ष्म चित्र) कहा जा सकता है, पर माघ की जैसी पैनी सूझ; संगीत, वर्ण (रंग) तथा गन्ध को पकड़ने की माघ जैसी तीव्र दृष्टि मुरारि में कहाँ? प्रातःकाल के समय इधर सूर्य अपनी किरणों को फैलाकर पूर्व दिशा के अंधेरे रूपी हृदय को क्रमशः साफ कर

१. इसी पद्य के भाव वाला निम्न पद्य है:—

वक्त्रस्यन्दिस्वेदविन्दुप्रवाहैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥

रहा है, उधर प्रिय से बिदा लेती हुई (अभिसारिका अथवा मुग्धा) नायिका अभिनव नायक के (अथवा अपने ही) वक्षःस्थल को पोंछ रही है, जिसमें उसकी कस्तूरी की पत्ररचना के चिह्न हो गये हैं।

इतः पौरस्त्यायां ककुभि विवृणोति क्रमदल-
त्तमिस्रामर्माणं किरणकलिकामम्बरमणिः।
इतो निष्क्रामन्ती नवरतिगुरोः प्रोञ्छति वधूः
स्वकस्तूरीपत्रांकुरमकरिकामुद्रितमुरः॥

(अनर्घ० ४. ३)

तुल्ययोगिता के द्वारा व्यञ्जित उपमा अलंकार इस पद्य की विशेषता है, साथ ही वृत्त्यनुप्रास की छटा भी स्पृहणीय है, किंतु माघ जैसी उदात्तता नहीं।

उत्तररामचरित के जनस्थान का प्रकृतिवर्णन संस्कृत साहित्य में अपना खास स्थान रखता है। मुरारि ने भी जनस्थान की प्रकृति का चित्रण किया है, पर मुरारि के कैमरे में भवभूति के कैमरे जैसी विंबग्रहण की शक्ति नहीं दिखाई देती।

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः।
याः कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवीनिःशङ्कमेणीकुलम्॥

(५.६)

ये जनस्थान की नदियों के वे तटप्रदेश दिखाई दे रहे हैं, जहाँ पराग के चखने से (या वसन्त ऋतु के कारण) मस्त कोकिलाओं के द्वारा कँपाये हुए आम के बौरों से इधर-उधर बिखर कर फैलते हुए पराग की रेती इतनी सघन है कि वहाँ जाना बड़ा कठिन है। इन सघन आम्रपरागांधकार से

युक्त तटियों को बड़ी कठिनता से पार कर शिकारी के भय से डरी हुई हिरनियाँ धाराप्रवाह में बिखरे हुए पराग-समूह से सुरक्षित होकर इसलिए निःशङ्क विचरण कर रही हैं, कि उनके पदचिह्नों को आम्र-पराग की धूलि ने छिपा लिया है।

मुरारि के इस वर्णन में भी वास्तविक सौंदर्य अभिव्यञ्जना पक्ष का ही है, केवल अतिशयोक्ति और वृत्त्यनुप्रास ही इस प्रकृति वर्णन की विशेषता है।

युद्ध के वर्णन का समाँ बाँधने में मुरारि का काव्यपरिवेष काफी सहायता करता जान पड़ता है। रावण की वीरता के निम्न चित्र को देखिये—

कल्पान्तक्रूरसूरोत्कटविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध-
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयोविलक्षः।
संभूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहाशस्त्रसंपातभीमा-
मुर्वीं गीर्वाणगोष्ठीगुरुमदनिकषो नैकषेयः पिधत्ते ॥

(६. ३१)

यह निकषा का पुत्र (रावण), जो देवताओं की सेना के महान् गर्व की कसौटी है (जिसने देवताओं की सेना को पराजित कर दिया है), प्रलयकालीन प्रचण्ड सूर्य के समान तेज वाले भीषण मुखों को फैलाता हुआ और मनुष्य (राम) के साथ द्वन्द्वयुद्ध करने की खुजली वाले ऊर्जस्वित भुजदण्डों को देख कर बार बार लज्जित होता हुआ, एक साथ सारी शक्ति जुटा कर, अपनी सेना और शत्रुसेना के परस्पर आक्रमण में अस्त्रशस्त्रों के पात से भीषण युद्धस्थल को आच्छादित कर रहा है।

शिव-धनुष के टूट जाने पर क्रुद्ध परशुराम की गर्वोक्तियाँ सुंदर बन पड़ी हैं:—

येन स्वां विनिहत्य मातरमपि क्षत्रास्रमध्वासव-
　　स्वादाभिज्ञपरश्वधेन विदधे निःक्षत्रिया मेदिनी।
मद्बाणव्रणवर्त्मना शिखरिणः क्रौञ्चस्य हंसच्छला-
　　दद्याप्यस्थिकणाः पतन्ति स पुनः क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः॥

(४.५२)

जिस परशुराम ने क्षत्रियों के रुधिररूपी मध्वासव (शहद की शराब) के स्वाद से अनभिज्ञ परशु से माता को भी मार कर, (बाद में) समस्त पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाया था, जिसके बाणों के कारण जनित रन्ध्रवाले क्रौंच पर्वत के मार्गों से आज भी हड्डियों के समूह हंसों के व्याज से गिरा करते हैं, वही मुनि भार्गव (परशुराम) आज फिर से कुपित हो गया है।

महावीरचरित का ताड़कावर्णन एक साथ भयानक और बीभत्स का मिश्रण लेकर उपस्थित होता है, मुरारि का ताड़कावर्णन भयानक की व्यंजना कराता है:—

निर्मज्जच्चक्षुरन्तर्भ्रमदतिकपिशक्रूरतारा नरास्थि-
　　ग्रंथिं दन्तान्तरालग्रथितमविरतं जिह्वया घट्टयन्ती।
ध्वान्तेऽपि व्यात्तवक्त्रज्वलदनलशिखाजर्जरे व्यक्तकर्मा
　　निर्भान्ती गृध्ररौद्री दिवमुपरि परिक्रीडते ताडकेयम्॥

(२.५८)

यह ताडका आकाश में ऊपर मँडरा रही है; इसकी गहरी आँखों में अत्यधिक पीले रंग की कनीनिकाएँ घूम रही हैं और यह अपनी जीभ से दाँतों के बीच में गुँथी हुई मनुष्य की हड्डियों को घर्षित कर रही है। इसके फैले हुए मुँह में जलती हुई अनलशिखा से आकाश का अंधकार भी लुप्त

(जर्जर) हो गया है, तथा प्रकाश के कारण इसकी प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया स्पष्ट प्रकट हो रही है। आकाश में मँडराती हुई ताडका जैसे आकाश को गीध के आक्रमण से भयानक बना रही है।

मुरारि ने नाटक में संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत का भी प्रयोग किया है। सप्तम अंक में प्राकृत का एक पद्य (७.७६) भी है, जो शौरसेनी में ही रचित जान पड़ता है। मुरारि ने अनेकों छंदों का प्रयोग किया है, उनका खास छंद शार्दूलविक्रीडित है, जो विषय और शैली के अनुरूप है।

मुरारि के अनुयायी

मुरारि के बाद भी रामायण की कथा को लेकर नाटक लिखे गये हैं। मुरारि के साक्षात् अनुयायियों में राजशेखर (९०० ई०) हैं, जो अपने आपको स्वयं वाल्मीकि का ही अवतार घोषित करते हैं। दस अंक के बड़े नाटक 'बालरामायण' में समस्त रामायण की कथा को आबद्ध करने की चेष्टा ने नाटक को विशृंखल बना दिया है। मुरारि की भाँति यहाँ भी नाटकीय व्यापार अवरुद्ध-सा दिखाई पड़ता है और वर्णनों की भरमार है। मुरारि की भाँति ही राजशेखर ने भी अंतिम अंक में विमानयात्रा का लंबा वर्णन किया है, जिसमें सौ से अधिक पद्य पाये जाते हैं। दूसरा नाटक जयदेव (१२०० ई०) का प्रसन्नराघव है, जो पूरी तरह अनर्घराघव को आदर्श बना कर लिखा गया है। मुरारि की ही भाँति जयदेव भी पण्डित है, वे तर्कशास्त्र तथा कविता में एक साथ दक्ष हैं। रीति-सौंदर्य तथा अलंकारों की छटा प्रसन्नराघव में कम नहीं है, पर यहाँ भी नाटकीय समन्वय का अभाव है। याज्ञवल्क्य के द्वारा दो मक्खियों की बातचीत का सुनना और मंच पर रावण तथा बाणासुर का अनावश्यक वाद-विवाद अनाटकीय दिखाई देता है। प्रसन्नराघव में विवाह से पूर्व उपवन में राम तथा सीता का परस्पर दर्शनकरने की कल्पना का समावेश किया गया है, जिसका प्रभाव तुलसी

के मानस में भी देखा जा सकता है। सीताहरण के बाद राम का विक्रमोर्वशीय के पुरूरवा की तरह पागल-सा बन जाना सहृदय सामाजिक को खटकता है। जयदेव ने विरहदशा के इस चित्रण में कुछ अतिशयोक्ति पद्धति अपना कर प्रभावात्मकता को क्षुण्ण कर दिया है। इसी समय का एक और नाटक है, जिसके लेखक का पता नहीं—हनुमन्नाटक या महानाटक, जो १४ अंकों का विशाल नाटक है। ये सभी नाटक मुरारि के ही पद-चिह्नों पर चलते दिखाई देते हैं। नाटक के बहाने पाण्डित्य की धाक जमाना इनका प्रमुख लक्ष्य है, नाटकीय संघटना के द्वारा प्रभाव की उत्पत्ति करना नहीं। इन नाटकों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि लेखकों ने मंच को ध्यान में रख कर भी नाटक नहीं लिखे थे, जब कि नाटक की रचना में मंचीय विधान को दृष्टि में रखना आवश्यक होता है।

गद्य कवि

. सुबन्धु

संस्कृत गद्य काव्यों की जो शैली हमें सुबन्धु, दण्डी या बाण में उपलब्ध होती है, उसके पूर्व की परंपरा के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। पर इतना अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृत गद्य काव्यों का विकास दुहरे स्रोत को लेकर हुआ है; एक ओर इसने लोककथाओं से उसके कथांश को गृहीत किया है, दूसरी ओर काव्यों से उनकी अलंकृत शैली को पाया है। इस प्रकार लोककथाओं के विषय और अलंकृत काव्यशैली के परिवेष (अभिव्यंजना-शैली) को लेकर गद्यकाव्य आता है, जो हमें सबसे पहले छठी शती के अंत या सातवीं शती के पूर्वार्ध में प्रस्फुटित होता दिखाई पड़ता है। संस्कृत साहित्य का गद्य पद्य के बहुत बाद का विकास है। ऐसा देखा जाता है कि प्रायः सभी भाषाओं का प्राचीन साहित्य पद्यबद्ध अधिक पाया जाता है। वैदिक काल में ही ऋग्वेद की भारती पद्य का आहार्य-प्रसाधन सजा कर सामने आती है और गद्य का विकास याजुष मंत्रों में सर्वप्रथम दिखाई पड़ता है। बाद में तो ब्राह्मणों और उपनिषदों में वैदिक कालीन गद्य विकसित हो चला है। पद्य का संबंध भावना से माना जाता है और गद्य का विचार से। गद्य की शैली विचार की वाहिका है और बौद्धिक ज्ञान के क्षेत्र को वाणी का मूर्त रूप देने में ही इसका प्रयोग अधिकतर पाया जाता है। सूत्रकाल से होती हुई संस्कृत गद्य की वैचारिक धारा पतंजलि के महाभाष्य और शबर के मीमांसाभाष्य में बहती दिखाई पड़ती है और इसका चरम परिपाक शंकर के शारीरिक भाष्य में मिलता है। शंकर के बाद संस्कृत का दार्शनिक गद्य अत्यधिक कृत्रिम शैली का आश्रय लेने लगा था, जिसका एक रूप वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य आदि के वेदांत-प्रबंधों में, और दूसरा रूप गंगेश उपाध्याय तथा उनके शिष्य—गदाधरभट्ट

जगदीश और मथुरानाथ—के नव्य नैयायिक शैली के वाद-ग्रन्थों में मिलता है। साहित्यिक के लिए इन गद्यशैलियों का अध्ययन यहाँ अप्रासंगिक है। साहित्य में भी हम दो तरह की शैलियाँ पाते हैं, एक गद्य की नैसर्गिक सरल शैली, दूसरी कृत्रिम अलंकृत शैली। नैसर्गिक सरल शैली का रूप सर्वप्रथम हमें पंचतंत्र में मिलता है, और बाद में इस प्रकार के नीतिवादी कथा-साहित्य का मार्ग बना रहा है। पंचतंत्र की शैली ही हमें शुकसप्तति, सिंहासनद्वात्रिंशत्पुत्तलिका, वेतालपंचविंशतिका, भोजप्रबंध, पुरुष-परीक्षा में दिखाई पड़ती है। अलंकृत गद्यशैली का रूप हमें सुबंधु, दण्डी और बाण में और बाद के गद्यकाव्यों तथा चम्पूकाव्यों में उपलब्ध होता है।

लोककथाओं का आरंभ हम ऋग्वेद और ब्राह्मणों के आख्यानों में ही ढूँढ सकते हैं। ऋग्वेद के यम-यमी-संवाद, उर्वशी-पुरुरवा-संवाद आदि आख्यानों के ही संवादात्मक रूप है। शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ऐसे कई आख्यान मिल सकते हैं। लोककथाओं का विशाल संग्रह हमें महाभारत में मिलता है, जिसे 'अनेक उपाख्यानों का सुंदर वन' कहा गया है। महाभारत की ही विरासत पुराणों को प्राप्त हुई है। लोककथाओं में किसी देश या जाति की संस्कृति तरलित रहती है। साहित्य संभ्रांत वर्ग की चीज होती है, किंतु लोककथाएँ अपना मूल जनता के अंतस् में रखती हैं। मानव का सच्चा रूप हमें इनमें कहीं अधिक मिलता है। किसी संस्कृति की भौतिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक मान्यताओं का प्रभाव हमें लोककथाओं में मिलता है। लोककथाओं में अप्सराओं, उड़नखटोलों, मानव के जीवन में हाथ बँटाती दिव्यशक्तियों, विघ्न डालती आसुरी शक्तियों, भवितव्यता और नियति का विचित्र वातावरण दिखाई देता है, पर यह न भूलना होगा कि लोककथाओं का आदर्शात्मक वातावरण भी अपनी जड़ें मानव-जीवन की यथार्थभित्ति में जमाये है।

लोककथाओं के आसुरी पात्र—दैत्य, राक्षस आदि पात्र—वस्तुतः असत् वृत्तियों के प्रतीक हैं। लोककथाओं में संसार के कार्य-कारण-वाद को समझने की भी एक कौतूहल-वृत्ति पाई जाती है, जिसे भावात्मक रूप दे दिया जाता है। इनमें मानव-जीवन की वास्तविक स्थिति पर जो सटीक व्याख्या मिलती है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हमें एक ओर प्रणय का रोमानी वातावरण दिखाई देता है, तो दूसरी ओर सपत्नी-ईर्ष्या, मातृ-स्नेह, पतिभक्त पत्नी का प्रेम, सच्चे मित्र का निष्कलुष सख्यभाव आदि का कौटुंबिक वातावरण प्राप्त होता है, तीसरी ओर मानव के कार्य-व्यापार में हाथ बँटाते पशु-पक्षी और अदृश्य शक्तियों का अद्भुत जगत् देखने को मिलता है। लोककथाओं में मानव-जीवन की कटुता और मधुरता की एक साथ धूप-छाहीं तस्वीर होती है और इनके द्वारा लोककथाकार अपने विशाल जीवन के अनुभवों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर मानव-जीवन पर कुछ निर्णय देता देखा जाता है। यह उपदेशात्मक निर्णय कभी वाच्य रूप ले लेता है, कभी व्यंग्य रूप। नीतिवादी कहानियों में कभी कभी यह कुछ स्पष्ट हो उठता है। पता नहीं, वह कौन-सा दिन था, जब बूढ़ी दादी-नानी के मुँह से सबसे पहली लोककथा वाणी के फलक पर चित्रित की गई थी। यह एक अखंड परंपरा है, जो मौखिक लोक-साहित्य से लोकभाषा के साहित्य में भी स्थान पाती रही है। बौद्धों की जातक कथाएँ, गुणाढ्य की बृहत्कथा और पंचतंत्र ने इसी दाय को लिया है। लोककथाओं के इसी दाय को प्रणय के रोमानी चित्रों को चुन कर संस्कृत के गद्य-कवियों ने स्वीकार किया है। यह तो हुई लोककथाओं की बात।

अब हमें दो शब्द संस्कृत गद्य शैली के विकास पर कहना है। हम देखते हैं कि अश्वघोष तथा कालिदास में ही हमें संस्कृत की अलंकृत काव्यशैली दिखाई पड़ती है। कालिदास के पहले गद्य की अलंकृत शैली चल पड़ी थी। आरंभ में यह अलंकृत गद्य शैली प्रशस्तियों और चरितकाव्यों के लिए

चली होगी और इसी शैली में इन 'रोमानी' गद्यकाव्यों को ढाल दिया होगा। पतञ्जलि ने वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक कथाओं का संकेत किया है, पर हम कह नहीं सकते, क्या वे गद्य कृतियाँ थीं। भोज के 'शृंगारप्रकाश' में वररुचि की 'चारुमती' से एक पद्य उद्धृत किया गया है, पर इसके विषय में भी हम कुछ नहीं जानते। रामिल-सोमिल की 'शूद्रक-कथा', तथा श्रीपालित्त की प्राकृत कथा 'तरंगवती' का नाम भर ही सुना जाता है। बाण ने अपने पूर्व के गद्य लेखकों में भट्टार हरिचंद्र का नाम आदर के साथ लिया है,[1] पर हरिचन्द्र का भी कुछ पता नहीं चलता। कुछ विद्वान् इन हरिचंद्र को धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवंधरचम्पू के रचयिता से भिन्न मानने की अटकलपच्चू लगाते हैं। जैन काव्यों के रचयिता हरिचन्द्र माघ के भी बहुत बाद के हैं और इनका समय दसवीं शती के लगभग है, इसे नहीं भूलना होगा। हरिचन्द्र का नाम तो वाक्पतिराज के 'गउडबहो' में भी आदर के साथ लिया गया है। तो, हरिचन्द्र सुबंधु और बाण के पूर्व कोई गद्यलेखक रहे होंगे, जिन्होंने अलंकृत समासान्तपदावलीवलित, श्लेष, विरोध और परिसंख्या के अलंकारडम्बर वाली गद्यशैली को प्रौढ़ बनाया होगा। पर हरिचंद्र भी इस शैली के जन्मदाता नहीं रहे होंगे। समासान्तपदावली वाली गद्य शैली का सर्वप्रथम रूप हमें क्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख (१६० ई०–१७० ई०) में मिलता है। इस शिलालेख का रचयिता 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यगद्य [काव्य-विधानप्रवीणे] न' विशेषण से विभूषित किया गया है। उसकी शैली में 'गिरिशिखरतरुतटाट्टालकोपतल्पद्वारशरणोच्छ्रयविध्वंसिना' जैसे लंबे समासांत पद, तथा 'पर्वत-प्रतिस्पर्धी' 'मरुधन्व-कल्पम्'; तथा 'पर्जन्येव

१. भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते। (हर्षचरित १.१३ पृ० १०)

एकार्णवभूताया (?)[1] मिव पृथिव्यां कृतायां' जैसे अर्थालंकार प्रयुक्त हुए हैं। इसके साथ ही एक स्थान पर तालाब के वर्णन में 'अतिभृशं दुर्दर्शनम्' के द्वारा श्लेष का प्रयोग करने की चेष्टा भी की गई है, पर वह सफल नहीं हो सका है। सुबंधु और बाण के समय तक आने में इस गद्य शैली को लगभग ४०० वर्षों को पार करना पड़ा है, पता नहीं, किन-किन कलाकारों ने इसे घनपद-संघटना से निबिड बनाकर प्रौढ रूप प्रदान किया। कुछ पाश्चात्य विद्वान् सुबंधु और बाण के गद्य काव्यों पर ग्रीक गद्य का प्रभाव बताते हैं और उनके साथ संस्कृत गद्य काव्यों की घटना-विहिति, कथानक रूढियों और कलात्मक परिवेष की तुलना करते हैं,[2] पर दूसरे विद्वान् संस्कृत गद्य काव्यों का प्रभाव ग्रीक 'रोमैंटिक स्टोरीज' में ढूँढ़ते हैं।[3] पर इस तरह के परस्पर आदान-प्रदान के कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये जाते।

भामह तथा दण्डी के पूर्व ही गद्य काव्यों में दो तरह की कृतियाँ पाई जाती थीं—आख्यायिका और कथा। भामह के मतानुसार आख्यायिका में तथ्यपूर्ण घटनाओं का समावेश होता है और कवि या नायक स्वयं अपनी अनुभूत कहानी कहता है। इसकी शैली सरस गद्य का आश्रय लेती है, तथा काव्य को उच्छ्वासों में विभक्त किया जाता है, जिसमें वक्र तथा अपरवक्र छंद में पद्य भी अनुस्यूत रहते हैं। ये पद्य बहुत कम होते हैं और इनके द्वारा भावी घटनाओं की व्यंजना कराई जाती है। आख्यायिका में कवि-कल्पना का भी पुट हो सकता है और काव्य का विषय कन्या-हरण, युद्ध, वियोग तथा नायक की विजय से संबद्ध होता है। आख्यायिका की रचना संस्कृत में ही होती है। कथा की कथावस्तु कल्पित या निजंधरी

---

१. व्याकरण की दृष्टि से 'एकार्णवभूतायां' पद अशुद्ध है, शुद्ध रूप 'एकार्णवीभूतायां' होगा; पर शिलालेख में पहला ही रूप मिलता है।

२. दे० Weber : Indische Studien XIII. p. 456 f.

३. दे० L. H. Gray : Vasavadatta (Introduction) p. 35 f.

होती है। इसका वक्ता नायक से भिन्न कोई और व्यक्ति होता है। कथा को आख्यायिका की तरह उच्छ्वासों में विभक्त नहीं किया जाता, साथ ही इसमें वक्त्र या अपरवक्त्र पद्य भी नहीं होते। कथा संस्कृत या अपभ्रंश में निबद्ध की जा सकती है। इस विभाजन से स्पष्ट है कि यह विभाजन सुबंधु या बाण की गद्यकाव्य कृतियों को देखकर नहीं हुआ होगा, यद्यपि बाण की दोनों कृतियाँ भी इस अंतर को स्पष्ट करती हैं। दण्डी ने तो आख्यायिका तथा कथा के इस भेद को, वक्ता या शैली की दृष्टि से किये गये भेद को, नहीं माना है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि दोनों को एक ही गद्य काव्य के अंतर्गत मानने की धारणा थी और कोई निश्चित विभाजक रेखा स्वीकार नहीं की जाती थी। दण्डी के अनुसार इनका एकमात्र भेद यह है कि एक की कथावस्तु ऐतिहासिक या अर्धैतिहासिक होती है, दूसरी की कथावस्तु कल्पित या निजंधरी। अमरकोष में भी आख्यायिका को 'आख्यायिकोपलब्धार्था' तथा कथा को 'प्रबंधकल्पना कथा' कह कर इसी ओर संकेत किया गया है।

यद्यपि आख्यायिका तथा कथा वाला संस्कृत गद्यकाव्य लोककथाओं की वर्णनात्मक सामग्री को लेकर आता है, उसकी ही मानवी तथा अतिमानवी कथारूढियों को अपनाता है, पर इसका ढाँचा अपना होता है, जो काव्य की देन है। वस्तुतः गद्य कवि का लक्ष्य सुसंस्कृत श्रोताओं का मनोरंजन होता है, यही कारण है काव्यों की तरह ही यहाँ उदात्त अलंकृत आहार्य दिखाई पड़ता है और उसी की तरह कथावस्तु को गौण बना कर वर्णनों को प्रधानता दे दी जाती है। काव्योपयुक्त लंबे-लंबे समास, श्लेप-वैचित्र्य, अनुप्रास और अर्थालंकार-प्राचुर्य की ओर गद्य कवि विशेष ध्यान देता देखा जाता है। वह प्रकृति—बाह्यप्रकृति तथा अंतःप्रकृति—के वर्णन करने की ओर अधिक ध्यान जाता है। काव्योपयुक्त वातावरण की सृष्टि

के ही लिए इन कवियों ने प्रायः प्रणयगाथा को चुना है। पर ध्यान देने की वात यह है कि प्रणयकथा के कथांश पर गद्य कवि इतना ध्यान नहीं देता दिखाई देता, जितना वर्णनशैली पर। संस्कृत गद्य काव्यों की यह शैली जिस काव्य में सर्वप्रथम दिखाई पड़ती है, वह है सुबन्धु की वासवदत्ता।

सुबन्धु की तिथि और वृत्त

वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु की तिथि का निश्चित ज्ञान नहीं है। कुछ विद्वानों ने सुबन्धु के समय को निश्चित करने की चेष्टा की है। सुबन्धु के दो श्लेप प्रयोगों में 'उद्योतकर' तथा 'बौद्धसंगति' का संकेत मिलता है। उद्योतकर का संकेत—'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां' में मिलता है। इसी तरह 'बौद्धसंगतिमिवालंकारभूषिताम्' में पाश्चात्य विद्वानों ने धर्मकीर्ति के 'बौद्धसंगत्यलंकार' नामक ग्रन्थ का संकेत माना है। इस नाम के किसी बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ का पता नहीं चलता और प्रो० सिलवाँ लेवी ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है ।क यहाँ सुबन्धु धर्मकीर्ति की कृति का संकेत करता है।[१] सुबन्धु का समय छठी शती का मध्य माना जाता है। बाण ने हर्पचरित में श्लेप के द्वारा सुबन्धु का संकेत किया है,[२] और कादम्बरी में भी 'अतिद्वयी कथा'[३] पद से टीकाकार भानुचन्द्र-सिद्धचन्द्र ने 'गुणाढ्य की बृहत्कथा और सुवन्धु की वासवदत्ता से उत्कृष्ट कथा' यह अर्थ लिया है। बाण के बाद तो वाक्पतिराज ने सुबन्धु का स्पष्टतः नामोल्लेख

१. Sylvan Levi: Bulletin de l'Ecole francais. d' Extreme-Orient, (1903. P. 18.)

२. कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥ (१. १२. पृ० ९)

३ अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा।
(कादम्बरी, पद्य २० पृ० ७)

किया है। सुबन्धु का दण्डी या बाण को पता था या नहीं, इस बारे में विद्वानों के दो दल हैं। पिटर्सन बाण के उपर्युक्त संकेतों में सुबन्धु का संकेत नहीं मानते,[१] हमें ऐसा प्रतीत होता है, बाण को सुबन्धु की कृति का पूरी तरह पता था और हर्षचरित से भी अधिक इस बात की पुष्टि कादम्बरी की कथानक रूढियों के सजाने और शैली के प्रयोग से होती है। सभवतः दण्डी को सुबन्धु का पता न हो, या दण्डी ने अपने रुचि-वैपरीत्य के कारण (जो विषय और अभिव्यञ्जना दोनों दृष्टियों से दशकुमारचरित में परिलक्षित होता है) सुबन्धु का संकेत करना अनावश्यक समझा हो। यदि दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरी कथा' पर बाण की कादम्बरी का प्रभाव है, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं, तो दण्डी को सुबन्धु का अवश्य पता होना चाहिए। यह अनुमान करना असंगत न होगा कि सुबन्धु, दण्डी और बाण एक ही काल में कुछ बरसों के ही हेर फेर से हुए हैं। ये तीनों महान् व्यक्तित्व ५५० ई० से लेकर ६५० ई० के बीच के सौ साल में माने जा सकते हैं। इनमें भी अवस्था क्रम की दृष्टि से सुबन्धु सबसे बड़े जान पड़ते हैं, दण्डी उनके बाद और बाण उनसे भी छोटे हैं। इस तरह भी सुबन्धु का काल छठी शती का मध्य है, तथा बाण पर उनका प्रभाव स्वाभाविक है, जो सातवीं शती के पूर्वार्ध में थे। सुबन्धु को कुछ विद्वान् काश्मीरी मानते हैं, हमें सुबन्धु मध्यदेशीय जान पड़ते हैं। सुबन्धु की केवल एक ही कृति उपलब्ध है, वासवदत्ता।

वासवदत्ता—कथावस्तु और कथानक रूढियाँ

सुबन्धु की वासवदत्ता का संस्कृत साहित्य की प्रसिद्ध उदयन-कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके साथ सुबन्धु की कृति का केवल नाम-साम्य है। सुबन्धु वाली वासवदत्ता की कथा संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कहीं

---

१. Peterson : Kadambari (Introduction) P. 71-73.

उपलब्ध नहीं होती। कथासरित्सागर या बृहत्कथामंजरी में यह कथा नहीं मिलती। ऐसा प्रतीत होता है कि सुबन्धु ने लोककथाओं की कथानक रूढियों और 'मोटिफ' का आश्रय लेकर अपनी कल्पना से इस प्रणयकथा का प्रासाद निर्मित किया है। यह सुबन्धु की स्वयं की निजंधरी कथा जान पड़ती है। पर कथावस्तु संविधान में सुबन्धु किसी कुशलता का परिचय नहीं देते। वासवदत्ता की कथावस्तु न तो समृद्ध ही है, न प्रभावोत्पादक ही। वासवदत्ता की कथा बहुत छोटी-सी है। राजा चिन्तामणि का पुत्र, राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में एक 'अष्टादशवर्षदेशीया' कन्या को देखता है, जो मानों मन की आकर्पणमन्त्रसिद्धि, कामदेवरूपी जादूगर की आँखों को बाँधने की महौपधि और प्रजापति की त्रिभुवनविलोभनसृष्टि है।[1] उस अज्ञात सुन्दरी की खोज में वह अपने मित्र मकरन्द के साथ निकल पड़ता है। रात को वे विन्ध्य पर्वत की तलहटियों में एक वृक्ष के नीचे ठहरते हैं। रात में उसी वृक्ष पर बैठे शुक-दम्पती की बातचीत कन्दर्पकेतु को सुनाई देती है। सारिका के पूछने पर शुक अपने देर से आने का कारण बताते हुए पाटलिपुत्र की राजकुमारी वासवदत्ता का वर्णन करता है। वासवदत्ता भी एक दिन कन्दर्पकेतु को स्वप्न में देखती है और उसका नाम भी स्वप्न में ही सुन लेती है।[2] उसकी सारिका तमालिका कंदर्पकेतु को ढूँढने निकल पड़ती है। वृक्ष के नीचे विश्राम लेते हुए दोनों मित्र इसे सुनकर प्रसन्न होते हैं। शुक-दम्पती की सहायता से दोनों नायक-नायिका एक दूसरे से मिलते हैं। वासवदत्ता का पिता शृङ्गारशेखर उसका विवाह कन्दर्पकेतु के साथ न कर किसी विद्याधर से करना चाहता है, इसलिए दोनों प्रेमी एक जादू के घोड़े पर विन्ध्याटवी को भग आते हैं। प्रातःकाल के समय जब कंदर्पकेतु सोया ही था, वासवदत्ता को जंगल में घूमते देखकर किरातों के दो झुण्ड

---

१. वासवदत्ता (पृ० ३१-५०) २. वासवदत्ता (पृ० १३३-१३७)

उसका पीछा करते हैं, उस पर अधिकार जमाने के लिए दोनों झुण्डों में लड़ाई होती है और वासवदत्ता चुपके से खिसक कर एक आश्रम में पहुँच जाती है। इस आश्रम में वह एक ऋषि के शाप से शिला बन जाती है। इधर कंदर्पकेतु दुखी होकर आत्महत्या करने को उद्यत होता है, पर आकाशवाणी उसे साहस करने से रोक देती है।[1] अंत में जंगल में घूमते हुए वह वासवदत्ता को ढूँढ लेता है और उसके स्पर्श से वासवदत्ता पुनः मानवी रूप में आ जाती है, शाप का प्रभाव समाप्त हो जाता है। बाद में मकरन्द भी मिल जाता है और अपने नगर जाकर कंदर्पकेतु वासवदत्ता के साथ अलभ्य मनोवांछित सुखों का उपभोग करते हुए बहुत समय व्यतीत करता है।

वासवदत्ता की कथावस्तु में हम जिन लोककथा की कथानक रूढियों या 'मोटिफ' का ग्रहण पाते हैं, उन पर कुछ संकेत कर देना आवश्यक होगा। वासवदत्ता की ये रूढियाँ निम्न हैं:—

१. नायक-नायिका के परस्पर स्वप्नदर्शन से प्रणयोद्बोध,

२. नायक-नायिका के मिलन में शुक (पक्षी) का हाथ,

३. शुक के द्वारा कथा के कुछ अंश को वक्ता के रूप में कहलवाना,

४. अत्यधिक तेजगति वाले (मनोजव) जादू के घोड़े के द्वारा दोनों प्रेमियों का चुपके से भाग जाना,

५. शाप की कल्पना तथा शाप के द्वारा वासवदत्ता का शिला बन जाना,

६. आकाशवाणी के द्वारा आत्महत्या करते नायक को रोकना।

स्वप्नदर्शन से प्रणयोद्बोध वाली कथानक रूढि का प्रयोग हम कई लोककथाओं में पाते हैं। उषा तथा अनिरुद्ध की प्रसिद्ध प्रणयगाथा में भी इस 'मोटिफ' का प्रयोग किया गया है। इसी का प्रयोग कई लोककथाओं में सुना जाता है। नायक नायिका के रागोद्बोध के लिए कई तरह के हेतु माने गये हैं—

---

१. वासवदत्ता (पृ० २४५)

साक्षात् दर्शन, गुणश्रवण, चित्रदर्शन या स्वप्न-दर्शन। वासवदत्ता में कन्दर्पकेतु नायिका को स्वप्न में ही देखता है, नायिका भी नायक को स्वप्न में ही देखकर मोहित होती है। नायक-नायिका के मिलन कराने में भी कई कथाओं में पक्षी की 'मोटिफ' वाली योजना पाई जाती है। नल तथा दमयन्ती को मिलाने में हंस का हाथ है। बाद के अपभ्रंश एवं हिन्दी के कवियों ने भी इस 'मोटिफ' को अपनाया है। चन्द के रासो में पृथ्वीराज और पद्मावती को मिलाने में शुक का हाथ है, तो जायसी के पद्मावत में रत्नसेन और पद्मावती को मिलाने में हीरामन सुए का हाथ है। वासवदत्ता में नायक-नायिका को मिलाने में तमालिका नामक मैना का हाथ पाया जाता है। लोक कथाओं की 'तीसरी' रूढि मनुष्य की तरह बोलते हुए शुक-शुकी की योजना है। वासवदत्ता में नायिका की विरहक्षाम स्थिति का वर्णन शुक-सारिका के संवाद के रूप में कराया गया है।[1] इतिवृत्त को गति देने के लिए इस प्रकार शुक के मुख से कथा कहलवाने की रूढि का प्रयोग शुकसप्तति में भी मिलता है। कादम्बरी की कथा भी वैशम्पायन शुक के मुँह से कहलाई गई है। अपभ्रंश के एक काव्य 'करकंडचरिउ' में भी इस रूढि का प्रयोग किया गया है और यही रूढि एक ओर भृङ्ग-भृङ्गी के संवाद रूप में विद्यापति की 'कीर्तिलता' में प्रस्फुटित हुई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि इस रूढि का प्रयोग चन्द ने भी अपने 'रासो' में किया था। घोड़े या उड़नखटोले के द्वारा नायिका के साथ उसके घर से भग निकलने की रूढि का प्रयोग तो प्रणय सम्बन्धी लोक कथाओं का खास तत्त्व रहा है। उदयन भी प्रद्योत महासेन की पुत्री को लेकर घोड़े से भाग निकला था। शाप की कल्पना के द्वारा लोककथाएँ कुछ अति मानवीय तत्त्वों का संकेत करती हैं। शाप की रूढि पौराणिक कथाओं

---

१. वासवदत्ता (पृ० ८५)

में पाई जाती हैं और उनका उपयोग कालिदास ने किया है। वासवदत्ता का शाप के कारण शिला बनना, एक ओर रामायण की अहल्या वाली घटना और दूसरी ओर कुमारवन में प्रविष्ट उर्वशी के शाप के कारण लता के रूप में परिवर्तित होने[1] की कथानक रूढियों की याद दिलाता है। आकाशवाणी के द्वारा नायक या नायिका को सान्त्वना दिलाना भी भारतीय लोककथाओं का एक खास 'मोटिफ' है। इन अन्तिम दोनों रूढियों का प्रयोग तो बाण ने भी अपनी कादम्बरी में किया है।

इस प्रकार वासवदत्ता में सुबन्धु ने लोककथाओं की सभी वर्णनात्मक रूढियों (मोटिफ) का प्रयोग करते हुए नायक तथा नायिका के परस्पर मिलन की 'रोमानी' कहानी कही है, जो कई विघ्नों पर विजय पाकर अन्त में सुख से जीवन यापन करते हैं। किंतु साधारण लोककथाकार या बूढी दादी-नानी की तरह सुबन्धु का ध्येय घटनावर्णन नहीं है, अपितु उसका ध्येय वर्णनों को कलात्मकता देना, नायक या नायिका के अंगों का पूरी बारीकी से अलंकृत वर्णन करना, उनके भावों का, उनकी एक दूसरे की प्राप्ति के लिए की गई चेष्टाओं, विरह एवं मिलन के प्रतिबन्धक रूप विघ्नों का विस्तार से वर्णन करना है। सुबन्धु लोककथाकार की तरह सीधा कथा कहता नहीं चला जाता, वह रुक रुक कर आगे बढ़ता है और कथा के साथ नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, युद्ध आदि के अत्यधिक कलात्मक वर्णन साथ में चलते हैं, जिनके द्वारा वह अपने विशाल शास्त्रीय ज्ञान तथा समृद्ध कलावित्ता का परिचय देता जाता है। सुबन्धु की कथावस्तु को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि कथावस्तु की कल्पना और चरित्रचित्रण की दृष्टि से सुबन्धु समृद्ध नहीं जान पड़ता और यदि यह भी कह दिया जाय कि यह सुबन्धु के कथाकार की दरिद्रता का परिचय

---

१. दे० कालिदास का विक्रमोर्वशीय।

देती है, तो कोई बुरा न होगा, सुबन्धु की कथा के क्षुद्र कलेवर तथा उसकी अस्वाभाविकता के विषय में निःसन्देह आलोचक प्रश्न उठा सकता है और विषय की अवहेलना करते हुए अभिव्यञ्जना पक्ष को आवश्यकता से अधिक बढाना अखरता है। सुबन्धु की कृति का अत्यधिक भाग कलात्मक वर्णनों से ही भरा पड़ा है, जिनके द्वारा वह अपने पांडित्य तथा 'प्रत्यक्षरश्लेषमय-प्रबन्ध' लिखने की क्षमता का प्रदर्शन करता है। स्वप्न में दृष्ट कन्या का इतना विस्तार से वर्णन कथा की दृष्टि से प्रवाहावरोधक हो गया है। आनन्द वर्धन ने कवियों के इस दोष की ओर संकेत करते समय एक बार कहा था कि कवि प्रायः इतिवृत्त तथा रस का ध्यान नहीं रख पाते और शाब्दी क्रीडा में ही अधिक फँस जाते हैं।[२] सुबन्धु के साथ (सुबन्धु ही नहीं अन्य संस्कृत गद्य कवियों के विषय में भी) यह बात पूरी तरह लागू होती है।

सुबन्धु की काव्य-प्रतिभा

कवि के रूप में सुबन्धु बाण की अपेक्षा निम्न कोटि का है। बाण के पास जहां अपार शब्द भाण्डार, अलङ्कारों और कल्पनाओं की अपूर्व सूझ, वर्णन की तीव्र पर्यवेक्षणशक्ति, संगीतात्मक भाषा तथा भावपक्ष की तरलता विद्यमान है, वहां सुबन्धु के पास केवल शाब्दी क्रीडा दिखाई पड़ती है। यद्यपि सुबन्धु ने भी प्रकृति वर्णन के सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं, पर वे बाण की भूमि तक नहीं उठ पाते। न सुबन्धु के पास दण्डी की भाँति यथार्थ जीवन को ज्यों का त्यों चित्रित करने की ही शक्ति है। भले ही दण्डी की शैली में सुबन्धु जैसी शाब्दी कलाबाजी न भी हो, पर उसमें एक ऐसा ओज विद्यमान है, जो सुबन्धु में नहीं मिलता। भाव-पक्ष के चित्रण में

---

२. ध्वन्यालोक (पृ० १५१) निर्णयसागर संस्करण।

सुबन्धु उत्कृष्ट कवित्व का परिचय नहीं दे पाते। वासवदत्ता के विरह वर्णन में सुबन्धु ने आनुप्रासिक चमत्कार का ही विशेष प्रदर्शन किया है:—

'सुकान्ते कान्तिमति, मन्दं मन्दमपनय वाष्पविन्दून्। यूथिकालंकृते यूथिके, सञ्चारय नलिनीदलतालवृन्तेनार्द्रवातान्। एहि भगवति निद्रे अनुगृहाण माम्, धिक् इन्द्रियैरपरैः, किमिति लोचनमयान्येव कृतान्यङ्गानि विधिना। भगवन् कुसुमायुध, तवायमञ्जलिः अनुवशो भव भाववति मादृशे जने। मलयानिल सुरतमहोत्सवदीक्षागुरो वह यथेष्टम्, अपगता मम प्राणाः, इति बहुविधं भाषमाणा वासवदत्ता सखीजनेन समं संमुमूर्च्छ।' (पृ० १४३-४४)

'सखि कान्तिमती, मेरे आंसुओं को धीरे धीरे पोंछ दे। यूथिका (जूही) के फूलों से अलंकृत सखि यूथिके, कमल-पत्र के पंखे से शीतल हवा कर। भगवति निद्रे, आओ मेरे ऊपर कृपा करो। अन्य इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं, ब्रह्मा ने मेरे शरीर में सब इन्द्रियों को नेत्र ही क्यों न बना दिया। भगवान् कुसुमायुध, यह प्रणामांजलि है, प्रेम के अभिप्राय वाले इस व्यक्ति पर (मुझ पर) कृपा करो। सुरतमहोत्सवदीक्षागुरु मलयानिल, खूब बहो, मेरे प्राण निकल रहे हैं' इस प्रकार अनेक उक्तियों को कहती हुई वासवदत्ता अपनी सखियों के साथ ही मूर्च्छित हो गई।'

सुबन्धु की शैली में एक विशेषता है, वह बाण की भांति लम्बे लम्बे वाक्यों के फेर में अधिक नहीं पड़ता, न लम्बे लम्बे समासान्त पदों का ही उसे अधिक अनुराग है। सुबन्धु में लम्बे लम्बे समासान्त पद भी आते हैं, किंतु कथनोपकथन में सुबन्धु छोटे-छोटे वाक्यों का ही प्रयोग करता है। ऊपर हम सुबन्धु की सरल शैली का एक रूप देख चुके हैं। बाण ने कथनोपकथन में इसी तरह की सरल वैदर्भी शैली को अपनाया है, पर बाण जहां वर्णनों में उतरता है, उसकी शैली बिना किसी अवरोध के तेजी से आगे बढ़ती जाती है और पांच पांच, छः छः पृष्ठों तक एक ही वाक्य चलता रहता

है। वर्णनों में सुबन्धु के वाक्य भी बड़े होते हैं, और कहीं कहीं तो उतने ही बड़े होते हैं जितने बाण के। उदाहरण के लिए स्वप्न में दृष्ट वासवदत्ता का वर्णन पूरे २० पृष्ठों में है।[1] नायक या नायिका के वर्णन में सुबन्धु का ध्यान अधिकतर उपमा, उत्प्रेक्षा या श्लेष की ओर ही पाया जाता है। उपमाएँ भी अधिकतर ऐसी होती है, जो शब्दसाम्य के साधारण धर्म पर आश्रित होती हैं। जब सुबंधु नायिका को 'रक्तपाद' मान कर उसकी तुलना व्याकरण शास्त्र से करता है, तो सारा उपमानोपमेयभाव केवल शब्दसाम्य पर ही आघृत है, नायिका के पैर अलक्तक से रंजित रहते हैं, और व्याकरण में 'तेन रक्तं रागात्' इस सूत्र से अष्टाध्यायी का एक पाद आरंभ होता है। इसी तरह नायिका की तुलना छन्दः शास्त्र (छन्दोविचिति) से करना क्योंकि नायिका का मध्य भाग बहुत सूक्ष्म है, वह 'भ्राजमानतनुमध्या' है, तथा छन्दः शास्त्र में 'तनुमध्या' नामक छन्द पाया जाता है, केवल शाब्दी क्रीडा मात्र है। वासवदत्ता के निम्न वर्णन में इसी तरह की श्लेष-योजना पाई जाती है:—

'उपनिषदमिवानन्दमेकमुद्योतयन्तीम्, द्विजकुलस्थितिमिव चारुचरणाम्, विन्ध्यगिरिश्रियमिव सुनितम्बाम्, तारामिव गुरुकलत्रतयोपशोभिताम्, शतकोटिमुष्टिमिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्, प्रियङ्गुश्यामासखीमिव प्रियदर्शनाम्, ब्रह्मदत्तमहिषीमिव सोमप्रभाम्, दिग्गजकरेणुकामिवानुपमाम्, रेवामिव नर्मदाम्, वेलामिव तमालपत्रप्रसाधिताम्, अश्वतरकन्यामिव मदालसां वासवदत्तां ददर्श।'

'उस कंदर्पकेतु ने वासवदत्ता को देखा, जो ब्रह्मानन्द देने वाली उपनिषद्

---

१. स्वप्नदृष्ट कन्या (वासवदत्ता) का यह वर्ण पूरे एक ही वाच्य में है 'अथ कदाचिदवसन्नायां यामवत्यां......अष्टादशवर्षदेशीयां कन्यामपश्यत्स्वप्ने ॥' इसी तरह विन्ध्याटवी का वर्णन, रेवा का वर्णन तथा वासवदत्ता के द्वारा स्वप्न में देखे हुए कन्दर्पकेतु का वर्णन भी लम्बे वाक्यों में ही पाया जाता है।

की तरह सदा आनन्द को प्रकाशित करती थी; सदाचारी ब्राह्मण की कुल मर्यादा की भाँति सुन्दर चरणों से युक्त थी, ढालू प्रदेशों से युक्त विन्ध्यगिरि की शोभा की भाँति सुंदर नितम्बों से सुशोभित थी; बृहस्पति की स्त्री के रूप में सुशोभित तारा की तरह वह सघन नितंब से युक्त थी, वज्र की यष्टि की तरह उसका मध्य भाग मुष्टिग्राह्य (पतला) था, नरवाहनदत्त की रानी प्रियंगुश्यामा की सखी प्रियदर्शना की तरह वह प्रियदर्शना (सुंदर दर्शन वाली) थी; ब्रह्मदत्त राजा की पत्नी सोमप्रभा की तरह वह सोमप्रभा (चन्द्रमा के समान कान्ति वाली) थी, दिग्गज की पत्नी अनुपमा के समान वह अनुपमा (जिसकी सौन्दर्य में कोई तुलना न कर सके) थी, नर्मदा नाम वाली रेवा नदी की तरह नर्मदा (रतिक्रीडा का आनंद देने वाली) थी, तमाल पत्र से विभूषित समुद्रवेला की भाँति तिलक से अलंकृत (तमालपत्र-प्रसाधिता) थी, अश्वतर नामक विद्याधर की कन्या मदालसा के समान वह यौवन-मद से अलसाई-सी थी।'

सुबंधु की बुद्धि एक से एक बढ़कर श्लिष्ट प्रयोगों को उपन्यस्त करने में अत्यधिक विचक्षण है और इस दृष्टि से सुबंधु की यह उक्ति कि उसकी बुद्धिमत्ता 'प्रत्येक अक्षर में श्लेष योजना वाले प्रबंध' की रचना करने में समर्थ है, ठीक जान पड़ती है।[1] पर सुबंधु की कला वहाँ अधिक सुंदर दिखाई पड़ती है, जहाँ वह एक-से दो दो अर्थ वाले श्लिष्ट पदों के पीछे नहीं पड़ता। निम्न वर्णन हमें बाण की प्रकृतिवर्णन वाली शैली का एक रूप देने में समर्थ है, जहाँ यद्यपि लंबे लंबे समासान्त पद हैं, तथापि श्लेष वाली शैली से अधिक काव्यसौंदर्य है। आनुप्रासिक निर्बन्ध सुबंधु की शैली में यहाँ स्वतः कुछ प्रवाह ला देता है:—

१. सरस्वतीदत्तकरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्॥ (वासवदत्ता पद्य १३)

'कन्दर्पकेलिसम्पल्लम्पटलाटीललाटतटलुलितालकधम्मिल्लभारबकुलकुसुमपरिमलमेलनसमृद्धमधुरिमगुणः, कामकलाकलापकुशलचारुकर्णाटसुन्दरीस्तनकलशघुसृणधूलिपटलपरिमलामोदवाही, रणरणकरसितापरान्तकान्तकुन्तलोल्ललनसंक्रान्तपरिमलमिलितालिमालामधुरतरझंकाररवमुखरितनभःस्थलः, नवयौवनरागतरलकेरलीकपोलपालिपत्रावलीपरिचयचतुरः, चतुःषष्टिकलाकलापविदग्धमुग्धमालवनितंबिनीनितंबबिंबसंवाहनकुशलः, सुरतश्रमपरवशान्ध्रपुरन्ध्रीनीरन्ध्रपीनपयोधरभारनिदाघजलकणनिकरशिशिरितो मलयमारुतो ववौ।'

'उस समय मलयाचल से बह कर आता हुआ पवन चल रहा था। वह कंदर्पकेलि में आसक्त लाटदेश की रमणियों के ललाट पर बिखरे हुए बालों में लगे हुए मौलश्री के फूलों की सुगंध के संपर्क से और अधिक मधुर हो गया था; कामकला में विदग्ध कर्णाटक देश की मनोहर सुंदरियों के स्तन-कलश पर लगे कुंकुम-चूर्ण की सुगंध लेकर बह रहा था; कामोत्कण्ठा से युक्त, अपरान्त देश की ललनाओं के केशों को हिलाने से उसकी सुगंध के कारण एकत्रित भौंरों की पंक्ति के मनोहर झंकार से आकाश को शब्दायमान कर रहा था; नवयौवन के कारण चंचल हृदय वाली केरल युवतियों के कपोल-फलक पर पत्रावली रचना करने में चतुर था; चौसठ कलाओं में निपुण मालव रमणियों के नितंबबिंब का संवाहन करने में कुशल था; तथा सुरतश्रम के कारण श्रान्त आंध्रकामिनियों के निबिड तथा पुष्ट स्तनों पर जमे हुए पसीने की बूँदों के संपर्क से शीतल हो रहा था।'

इतना होने पर भी सुबंधु में दो एक ऐसे वर्णन भी हैं, जो स्वभावोक्ति की रमणीयता उपस्थित करते हैं। विन्ध्याटवी में हाथी से लड़ते हुए शेर के चित्र में स्वभावोक्ति पाई जाती है। निम्न वर्णन एक ओर स्वभावोक्ति, दूसरी ओर सुबंधु की पद्यमय गौडी रीति का परिचय देता है:—

पश्योदश्चदवाश्चदश्चितवपुःपूर्वार्धपश्चार्धभाक्
स्तब्धोत्तानितपृष्ठनिष्ठितमनाग्भुग्नाग्रलाङ्गूलभृत् ।
दंष्ट्राकोटिविशङ्कटास्यकुहरः कुर्वन्सटामुत्कटा-
मुत्कर्णः कुरुते क्रमं करिपतौ क्रूराकृतिः केसरी ॥

'देखो, वह भयंकर आकृति वाला सिंह हाथी पर आक्रमण कर रहा है। उसके शरीर का अगला हिस्सा उठा हुआ और पिछला हिस्सा झुका हुआ है, पूँछ निश्चल और खड़ी हुई है, उसकी पूँछ का अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ है और पीठ को छू रहा है, उसका बड़ा-सा मुख दाँतों के किनारों से भयंकर है, और उसने अपने अयाल उठा रखे हैं तथा कान खड़े कर रखे हैं।'

सुबन्धु चमत्कारवादी कवि है। उसके अलंकारों का प्रयोग केवल अलंकार के ही लिए होता है, वह अलंकार्य या रस का उपस्कारक बनकर नहीं आता। ऐसा प्रतीत होता है सुबन्धु के मत से कोई कवि आर्थी क्रीडा या शाब्दी क्रीडा का आश्रय लिये बिना उच्चकोटि का कवि नहीं बन सकता। सुबन्धु की सरल स्वाभाविक शैली प्रस्तावना भाग की आर्याओं में यत्र तत्र मिल जाती है तथा यह नहीं कहा जा सकना कि वे सुंदर नहीं बन पाई हैं।

खिन्नोऽसि मुञ्च शैलं बिभृमो वयमिति वदत्सु शिथिलभुजः ।
भरभुग्नविततबाहुषु गोपेषु हसन् हरिर्जयति ॥

'हे कृष्ण, तुम थक गये हो, कुछ देर पर्वत को छोड़ दो, इसे हम सँभाल लें' इस प्रकार गोपों के कहने पर कृष्ण ने अपना हाथ कुछ शिथिल कर दिया। कृष्ण के हाथ को हटा लेने से पर्वत के बोझ के कारण गोपों के हाथ झुक गये और वे पर्वत को न सँभाल पाये। इसे देखकर कृष्ण हँसने लगे। उन हँसते हुए कृष्ण की जय हो।'

इस उदाहरण में कोई आर्थी या शाब्दी क्रीडा नहीं पाई जाती, किंतु शैली की सरलता स्वतः सौंदर्य का संचार कर देती है। पर सुबंधु को इस

प्रकार की सरल शैली का निर्वाह करना पसन्द नहीं। उसकी श्लेष-योजना अभंग तथा सभंग दोनों तरह की पाई जाती है, किंतु प्रायः वह अभंग श्लेष में ही अधिक पटु है। वैसे सभंग श्लेष का एक नमूना यह है—

सा रसवत्ता विहिता न वका विलसन्ति चरति नो कङ्कः ।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

'जिस प्रकार तालाब में पंकमात्र शेष रह जाने पर सारस पत्ती भी अंतर्हित हो जाते हैं, बगुले भी नहीं दिखाई पड़ते और न कंकपत्ती ही विचरण करते हैं, उसी प्रकार विक्रमादित्य के कीर्तिशेष रह जाने पर वह रसिकता नष्ट हो गई, नये-नये कुत्सित व्यक्ति (कवि और राजा) उत्पन्न होने लगे और कौन किसे कष्ट नहीं देता।'

सुबंधु श्लेष पर आधृत विरोध तथा परिसंख्या का भी प्रयोग करने में पटु है। इनका एक एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

(१.) यस्य च रिपुवर्गः सदा पार्थोपि न महाभारतरणयोग्यः, भीष्मोऽप्यशान्तनवे हितः, सानुचरोऽपि न गोत्रभूषितः । (विरोध)

'उस राजा चिंतामणि के शत्रु सदा पार्थ (अर्जुन) होते हुए भी महाभारत युद्ध में लड़ने में असमर्थ थे—वस्तुतः वे धनशून्य थे तथा किसी महान् कार्यभार को उठाने में असमर्थ थे; भीष्म होते हुए भी शांतनु (भीष्म के पिता) के शुभचिंतक न थे—भयंकर होते हुए भी क्रुद्ध राजा चिंतामणि को प्रसन्न करने के लिए उद्यत रहते थे; पर्वतों में घूमते हुए भी पर्वतभूमि में नहीं थे—सेवको के साथ रहते हुए भी अपने कुलनाम (गोत्र) से विख्यात नहीं थे।'

(२) शृङ्खलाबन्धो वर्णग्रथनासु, उत्प्रेक्षाक्षेपः काव्यालंकारेषु, लक्षदानच्युतिः सायकानां, क्षिपां सर्वविनाशः, कोषसंकोचः कमलाकरेषु न जनेषु,

जातिविहीनता मालासु न कुलेषु, शृङ्गारहानिः जरत्करिषु न जनेषु, दुर्वर्णयोगः कटकादिषु न कामिनीषु, गांधारविच्छेदो रागेषु न पौरवनितासु। (परिसंख्या)

'उस राजा के राज्य में शृंखलाबन्ध (एक प्रकार का चित्रकाव्य) केवल काव्यों में ही पाया जाता था, प्रजा में किसी को जंजीर से नहीं बाँधा जाता था। काव्यालंकारों में ही उत्प्रेक्षा तथा आक्षेप (अर्थालंकार के दो प्रकार विशेष) पाये जाते थे, प्रजा में असावधानी के कारण किसी की निंदा नहीं होती थी। लक्ष्य को काटने का काम केवल बाण करते थे, प्रजा में कोई भी लाखों के दान से च्युत नहीं होता था। व्याकरणशास्त्र में क्विप् प्रत्यय का ही सर्वनाश होता था, पक्षियों का सर्वनाश नहीं होता था। कमलाकरों में ही कलिका का संकोच पाया जाता था, प्रजा में कोष (खजाने) का संकोच नहीं होता था। कुलों में कहीं जातिविहीनता (निकृष्ट जाति) नहीं पाई जाती थी, केवल मालाओं में ही जातिविहीनता (मालतीपुष्पाभाव) पाया जाता था, बारहों महीने मालती के फूल नहीं मिलते थे। शृंगार (गजभूषण) का अभाव केवल वृद्ध हाथियों में ही रहता था, मनुष्यों में शृंगाररस की कमी न थी। दुर्वर्ण (चाँदी) का संपर्क कटकादि भूषणों में पाया जाता था, स्त्रियों में दुर्वर्ण (फीकी कांति) नहीं पाया जाता था। गांधार राग का विच्छेद रागों में ही होता था, राज्य में किसी भी स्त्री के सिंदूर का विच्छेद न होता था (सभी स्त्रियाँ सौभाग्यवती थीं)।'

इन कलाबाजियों को उद्धृत करने का एक मात्र कारण यह है कि सुबंधु की कृति इन्हीं दोषों के कारण अपठनीय-सी हो गई है। सहृदय पाठक इस तरह का श्लिष्ट वर्णन पढ़-पढ़ कर झुंझला उठता है और कभी-कभी तो टीका की सहायता के बिना आगे नहीं बढ़ पाता। इस प्रकार की काव्यक्रीडा निःसंदेह भाषा के साथ अन्याय है तथा काव्य-शैली का

दुरुपयोग है। यदि सुबंधु स्थान-स्थान पर अपने वाक्यों की शैली न बदलता, तो संभवतः वासवदत्ता और अधिक ऊब पैदा करने वाली होती। सुबंधु के इन्हीं दोषों की विरासत बाण को मिली है। निःसंदेह बाण सुबंधु की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का कवि है तथा भाषा पर उसका कहीं अधिक अधिकार है, किन्तु बाण की कथा का विषय और अभिव्यंजना सुबंधु की कथा से भिन्न नहीं प्रतीत होतीं और एक ही प्रकार की गद्यशैली का संकेत देती हैं। बाण में सुबंधु की तरह श्लेष-योजना की जरूरत से ज्यादा दौड़-धूप नहीं मिलती, किन्तु बाकी सारी विशेषताएँ बाण में भी देखी जा सकती हैं। यहाँ तक कि सुबंधु के कई शब्द तथा कल्पनाएँ भी बाण में पाई जाती हैं। पर सुबंधु तथा बाण की कल्पनाओं में एक भेद है, सुबंधु की कल्पनाओं में काव्योचित तरलता का अभाव दिखाई देता है, वे शास्त्रीय या 'रिटोरिक' अधिक दिखाई पड़ती हैं, जब कि बाण इन्हें काव्योचित सौंदर्य प्रदान कर देता है, पर इतना होते हुए भी दोनों की 'टेकनीक' और काव्य-सामग्री एक ही जान पड़ती है। सुबंधु में हम उस गद्यशैली का खुरदरा रूप पाते हैं, जो बाण के हाथों स्निग्ध हो गई है और बाण के बाद भी अन्य गद्य काव्यों तथा चम्पू काव्यों में प्रयुक्त होती रही है।

दण्डी

सुबन्धु वाली अलंकृत गद्य शैली तथा पंचतंत्र आदि कथा-साहित्य की गद्यशैली में बहुत बड़ा अंतर दिखाई देता है। संस्कृत साहित्य की गद्य शैली प्रायः सुबन्धु के ही मार्ग का अनुसरण करती रही है, तथा बाण के व्यक्तित्व में इस शैली का चरम परिपाक परिलक्षित होता है। संस्कृत के गद्य लेखकों में केवल एक ही व्यक्ति—दण्डी—ऐसा दिखाई पड़ता है, जिसने अत्यधिक अलंकृत कृत्रिम गद्य शैली तथा पंचतंत्रादि की स्वाभाविक गद्य शैली के बीच की एक मध्यम मार्ग की शैली देने की चेष्टा की। सुबन्धु तथा बाण की कल्पनालोक की आदर्शवादी कहानियों के लिए वैसी ही तड़क भड़क की आदर्शवादी शैली चाहिए थी, किंतु जीवन के कटु सत्यों का उद्घाटन करने वाला दण्डी अपनी शैली को विषय के अनुरूप यथार्थ शैली के विशेष समीप रखना चाहता था। खेद है, दण्डी की शैली के पथिक संस्कृत गद्य में न हो पाये। स्वयं दण्डी के काव्य को पूर्ण करने वाले पूर्वपीठिका के लेखक की शैली तथा दण्डी की शैली में ही जमीन-आसमान का अन्तर है। पूर्वपीठिका का लेखक जैसा कि हम आगे देखेंगे कलाप्रधान अधिक हो गया है। जिस प्रकार संस्कृत के नाटकों में अकेला मृच्छकटिक ही विषय तथा शैली का यथार्थोन्मुख वातावरण बनाये रखता है, उसी प्रकार सारे संस्कृत गद्य-साहित्य में इन दोनों दृष्टियों से एक ही यथार्थवादी कृति दिखाई पड़ती है, और वह है दण्डी का दशकुमारचरित।

दण्डी के समय तथा जीवन के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है। यह जानकारी उनके ग्रन्थों तथा किंवदंतियों के आधार पर है। किंवदन्ती की परंपरा के अनुसार दण्डी ने तीन रचनाएँ की थी।[1] इन तीन रचनाओं में

१. त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।

एक कृति दशकुमारचरित है, दूसरी काव्यादर्श। तीसरी कृति कौन-सी थी, इसके बारे में विद्वानों ने कई कल्पनाएँ की हैं। पिशेल के मतानुसार दण्डी की तीसरी कृति 'मृच्छकटिक' है, जो शूद्रक की कृति के रूप में प्रसिद्ध है। मृच्छकटिक को दण्डी की कृति मानने में पिशेल का यह कारण जान पड़ता है कि मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित की कथा-वस्तु का विषय एक-सा है। इस मत की पुष्टि वे इस बात से करते हैं कि मृच्छकटिक की एक पंक्ति 'लिंपतीव तमोंगानि' आदि काव्यादर्श में बिना किसी कवि के नाम से उद्धृत हैं, किंतु इतना भर दण्डी को मृच्छकटिक का रचयिता मानने में पर्याप्त नहीं। कुछ लोगों ने दण्डी की तीसरी कृति 'छन्दोविचिति' मानी है, जिसका संकेत काव्यादर्श में मिलता है। 'छन्दोविचिति' का संकेत तो सुबन्धु में भी मिलता है—'छन्दोविचितिमिव रम्यतनुमध्याम्'। क्या सुबन्धु का तात्पर्य 'छन्दोविचिति' नामक ग्रन्थ से है, या छन्दःशास्त्र सामान्य से ? यदि सुबन्धु का तात्पर्य इस नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थविशेष से है, तो यह दण्डी की कृति कदापि नहीं हो सकती। कीथ के मतानुसार 'छन्दोविचिति' तथा 'कालपरिच्छेद' दण्डी के अलग ग्रंथ न होकर काव्यादर्श के ही परिच्छेद रहे होंगे। पर क्या काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित के रचयिता एक ही हैं ? काव्यादर्श का दण्डी एक महान् आलंकारिक है, जो कवियों के लिए मार्ग-दर्शन देता है, जो काव्य के नियमों का आलेखन करता है, जब कि दशकुमारचरित का दण्डी उन नियमों का पालन करता नहीं देखा जाता। इस मत के प्रवर्तकों में श्री अगाशे हैं, जो दोनों को अलग अलग व्यक्ति मानते हैं, एक नहीं। किंतु ऐसा भी संभव है कि दशकुमारचरित दण्डी की युवावस्था की कृति हो और काव्यादर्श प्रौढावस्था की। यही कारण है कि दशकुमारचरित की कारयित्री प्रतिभा वाला रूप और काव्यादर्श की आलंकारिक मेधा वाला रूप मेल नहीं खाता और

आलंकारिक दण्डी के ही सिद्धान्तों की अवहेलना कवि दण्डी में पाई जाती हो। कवि प्रौढावस्था में आकर कई सिद्धान्तों का कायल बन गया हो, प्रौढ मस्तिष्क की स्थिति में ही यह संभव भी है। दण्डी की एक तीसरी कृति का और संकेत मिलता है—अवंतिसुंदरी कथा।[1] इस कथा का पता मद्रास से मिले दो हस्तलेखों से चलता है। एक हस्तलेख गद्य में है, दूसरा ग्रन्थ पद्य में, जिसके आधार पर प्रथम ग्रन्थ का नाम 'अवन्ति-सुंदरी कथा' माना गया है तथा इसके रचयिता दण्डी घोषित किये जाते हैं। अनुमान किया जाता है 'अवंतिसुंदरी कथा' दण्डी के दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका का प्रारूप है तथा आज के दशकुमारचरित के संस्करणों में उपलब्ध पूर्वपीठिका वाली राजवाहन तथा 'अवंतिसुंदरी कथा' पर बाण की शैली का भी प्रभाव बताने की चेष्टा की जा रही है। पद्यबद्ध 'अवंतिसुंदरी कथा' में दण्डी का परिचय भी है तथा एक श्लोक के आधार पर तो पहले दण्डी को भारवि का प्रपौत्र मान लिया गया था बाद में इस मत का संशोधन कर भारवि को दण्डी के प्रपितामह दामोदर का मित्र माना गया, जो दोनों कांचीनरेश विष्णुवर्धन के सभापंडित थे। अवंतिसुंदरी कथा को दण्डी की कृति मानने वाला मत कोई ठोस प्रमाण उपन्यस्त नहीं कर सका है। हमें अवंतिसुंदरी कथा को दण्डी की कृति मानने में आपत्ति है और सच बात तो यह है कि महाकवि दण्डी की तीसरी कृति का अभी हमें पता न लग पाया है।

दण्डी की तिथि के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। काव्यादर्श के

---

१. पद्यबद्ध अवन्तिसुन्दरी कथा का वह पद्य जिसके आधार पर यह मत प्रतिष्ठित है, यों है :—

> स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्।
> अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥

ही आधार पर दण्डी की तिथि का कुछ अनुमान किया जा सकता है। कुछ विद्वान् दण्डी के काव्यादर्श को भामह के पूर्व की रचना मानते हैं। दशकुमारचरित में वर्णित सामाजिक स्थिति ठीक वही है, जो हमें मृच्छकटिक में दिखाई पड़ती है और यह हर्षवर्धन के पूर्व के भारत की स्थिति का संकेत देती है। दण्डी निश्चित रूप में बाण से पुराने हैं, पर २५–३० वर्ष से अधिक पुराने नहीं। डॉ० कीथ तथा डॉ० डे के इस मत का हम समर्थन नहीं कर पाते कि दण्डी सुबंधु से भी पुराने हैं। संभवतः दण्डी की शैली तथा सुबंधु की शैली की विभिन्नता देख कर यह मत उपन्यस्त किया गया हो। पर सुबंधु दण्डी से एक–दो पीढी पुराने ही जान पड़ते हैं। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं सुबंधु, दण्डी और बाण सभी ५५० ई० तथा ६५० ई० के बीच पैदा हुए हैं तथा सुबंधु इन सब में पुराने हैं। भोजप्रबंध के कवि–प्रशस्ति–लेखक ने दण्डी को भी नहीं छोड़ा है और उन्हें भी भोज के दरबार में ला घसीटा है। पर भोजप्रबंध इस दृष्टि से प्रामाणिक न होकर किंवदंतियों (गपोड़ों) का संग्रह है।

संभवतः दण्डी को अपनी कृति में गुणाढ्य की बृहत्कथा से प्रेरणा मिली हो। गुणाढ्य की बृहत्कथा एक अमूल्य संग्रह था और सुना जाता है कि वह पैशाची की रचना थी। बृहत्कथा गद्यमय थी या पद्यमय, इस पर भी अनुमान दौड़ाये जाते हैं और ऐसा अनुमान होता है कि यह पद्यबद्ध रचना थी। पर पैशाची प्राकृत की कृति होने पर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, यह पैशाची प्राकृत कहाँ की भाषा थी। वररुचि ने प्राकृतप्रकाश में पैशाची के जो लक्षण दिये हैं, वे दरद–वर्ग की बोलियों में मिलते हैं, अतः यह अनुमान होता है कि पैशाची से तात्पर्य उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रदेश की भाषा से था। पर कुछ लोगों का मत है कि पैशाची का नामकरण किसी एक निश्चित भाषा के लिए न कर प्राकृत वैयाकरणों

ने महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी से इतर अनार्य तत्त्वों से मिश्रित बोलियों के समुदाय के लिए किया है। तभी तो मार्कण्डेय ने कई तरह की पैशाची मानी हैं। गुणाढ्य वाली पैशाची उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत की पैशाची नहीं जान पड़ती। क्षेमेंद्र की बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर से जिस काश्मीरी बृहत्कथा का संकेत मिलता है, वह गुणाढ्य वाली 'बड्ढकहा' से भिन्न रहा होगा। संभवतः लोककथाओं का संग्रह काश्मीर में भी किया गया था और मध्यदेश में भी और गुणाढ्य वाली 'बड्ढकहा' मध्यदेश वाला संग्रह रहा होगा। किंवदंतियों के अनुसार गुणाढ्य शातवाहन के आश्रित थे तथा शाप के कारण विन्ध्याटवी में घूमते रहे थे, पिशाचों की बोली में उन्होंने कथाओं का संग्रह किया था, तो ऐसा जान पड़ता है कि गुणाढ्य की पैशाची विन्ध्याटवी के पिशाचों (कच्चा मांस खाने वाली असभ्य बर्बर जातियों), संभवतः भीलों की भाषा थी। हो सकता है, गुणाढ्य की कथाओं का संग्रह विन्ध्याटवी के यायावरों, इन्हीं भीलों की बोली रही हो। यह बात अवश्य है कि काश्मीर वाले बृहत्कथा के संस्करण में भी गुणाढ्य के संस्करण की अधिकांश कथाएँ जान पड़ती हैं, क्योंकि लोककथाएँ तो प्रायः थोड़े से हेर फेर से सारे देश में प्रचलित पाई जाती हैं। पर जब तक इस मत की पुष्टि में कोई प्रमाण न मिले बृहत्कथा की पैशाची को दरद भाषा मानना ही होगा। बृहत्कथा ने संस्कृत के गद्यकाव्यों, नीति-कथाओं तथा प्राकृत की भी कई कथा-कृतियों को प्रभावित किया है। प्राकृत के जैन काव्य 'वासुदेवहिण्डी' से गुणाढ्य की बृहत्कथा के अस्तित्व की पुष्टि होती है और बृहत्कथा का संकेत स्याम में मिले आठवीं सदी के शिलालेख तक से मिला है। ऐसा जान पड़ता है, ईसा की नवीं या दसवीं सदी तक गुणाढ्य की बृहत्कथा उपलब्ध थी और दण्डी को भी उससे प्रेरणा मिली हो, तो कोई शक नहीं।

बृहत्कथा के नरवाहनदत्त तथा उसके साथियों की कहानियों ने, हो सकता है, दण्डी को राजवाहन तथा उसके साथियों की कहानियों का निबंधन करने की उत्तेजना दी हो। राजवाहन तथा उसके साथी भी बृहत्कथा के नरवाहनदत्त और उसके मित्रों की भाँति एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं, अलग अलग देशों में जाकर नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं और बाद में सब मिल जाते हैं, मिलने पर वे अपने अपने अनुभवों की बातें कहते हैं। एक कहानी में दूसरी, तीसरी, चौथी कहानी की शृंखला को आबद्ध करने के लिए यह 'टैकनीक' निःसंदेह सुंदर है, जो समस्त कथाओं को एक सूत्र में अनुस्यूत कर एकप्रबंधत्व की स्थापना करती है। ऐसा करने से कहानियों के व्यापार-वैचित्र्य के होते हुए भी विशृंखलता नहीं जान पड़ती। हर्तेल ने यहाँ तक कल्पना की है कि दण्डी की योजना केवल आठ उच्छ्वासों की आठ कुमारों की कथा कहने की ही न थी, अपितु वह गुणाढ्य की भाँति कहानियों का जाल फैलाना चाहते थे। हर्तेल ने इस संबंध में कुछ संकेत भी दिये हैं। राजा कामपाल तथा उसकी पाँचों रानियों के तीन तीन जन्म की कथाएँ कहना भी संभवतः दण्डी की योजना में था, तथा उपलब्ध दशकुमारचरित उस विशाल योजना का एक अंशमात्र है। यह हो सकता है कि दण्डी की ऐसी योजना रही हो, पर हर्तेल के अनुमान के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है।

दशकुमारचरित का जो रूप आज हमें उपलब्ध है, उसमें आरंभ में पाँच उच्छ्वासों की पूर्वपीठिका है, फिर आठ उच्छ्वासों की कथा है, जिनमें दस नहीं, केवल आठ कुमारों की कहानियाँ कही गई हैं, फिर पाँच-साढ़े पाँच पृष्ठ की उत्तरपीठिका है। इनमें पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका दोनों दण्डी की लेखिनी से निःसृत नहीं हुई हैं और बाद के परिवर्धन हैं। दण्डी के आठ उच्छ्वासों को देखकर कृति को पूरा करने की कई कवियों की धुन हुई होगी। बाद में भट्टनारायण (वेणीसंहार नाटक के रचयिता से भिन्न

व्यक्ति), विनायक, चक्रपाणि और गोपीनाथ ने दशकुमारचरित में समय समय पर परिवर्धन किया है। दशकुमारचरित के प्रायः सभी हस्तलेखों तथा प्रकाशित मुद्रित प्रतियों में पूर्वपीठिका के पाँच उच्छ्वास मिलते हैं। इस भाग में राजवाहन तथा उसकी प्रेयसी अवंतिसुंदरी की कथा है तथा पुष्पोद्भव और सोमदत्त इन दो कुमारों की कथाएँ हैं, जो दण्डी के दशकुमार चरित के मूल कलेवर में नहीं है। प्रसिद्ध पद्य 'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः'[1] आदि दण्डी का मंगलाचरण न होकर इसी पूर्वपीठिका का मंगलाचरण है। देखा जाय, तो मूल दशकुमारचरित का कोई मंगलाचरण नहीं मिलता। पूर्वपीठिका का यह रूप ग्यारहवीं सदी से तो पुराना अवश्य है, क्योंकि भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' में यह पद्य लेखक के नामनिर्देश के बिना उद्धृत है। भट्टनारायण की पूर्वपीठिका भी मिलती है, जिसका प्रकाशन अगाशे के द्वारा संपादित 'दशकुमारचरित' के परिशिष्ट रूप में किया गया है।[2] उपलब्ध पूर्वपीठिका की शैली दण्डी की शैली की अपेक्षा कृत्रिम है तथा बाणोत्तर काल की ह्रासोन्मुखी काव्यशैली की परिचायक है। अनुप्रास तथा शाब्दी क्रीडा का मोह दण्डी की सरल स्वाभाविक शैली में अधिक नहीं जान पड़ता, जब कि पूर्वपीठिका के आरंभिक वाक्य ही इस कृत्रिमशैली का संकेत दे देते हैं:—

'तत्र वीरभटपटलोत्तरंगतुरंगकुञ्जरमकरभीषणसकलरिपुगणकटकजलनिधिमथ

---

१. ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्डः
क्षोणीनौकूपदण्डः क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डस्त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डोऽङ्घ्रिदण्डः
श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु विबुधद्वेषिणां कालदण्डः॥ (१. १)

२. इनके अतिरिक्त विनायक की पद्यबद्ध पूर्वपीठिका का संकेत एर्गिलग ने किया है, तथा प्रो० म० रा० कवि ने 'अवंतिसुंदरी कथा' को दण्डी की कृति घोषित कर उसे दशकुमारचरित की खोई हुई पूर्वपीठिका माना है।

नमन्दरायमाणसमुद्दण्डभुजदण्डः, पुरंदरपुरांगणवनविहरणपरायणगीर्वाणतरुण-गणिकागणजेगीयमानयातिमानया शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारहारमृणालमरालसुर-गजनीरक्षीरगिरिशाट्टहासकैलासकाशनीकाशमूर्त्या रचितदिगंतरालपूर्त्या कीर्त्याऽ-भितः सुरभितः, स्वर्लोकशिखरोरुरुचिररत्नरत्नाकरमेखलावलयितधरणीरमणी-सौभाग्यभोगभाग्यवान्, अनवरतयागदक्षिणारक्षितशिष्टविशिष्टविद्यासंभारभासुर-भूसुरनिकरः, विरचितारातिसंतापेन प्रतापेनसततुलितवियन्मध्यहंसः, राजहंसो नाम घनदर्पकंदर्पसौंदर्यसोदर्यहृद्यनिरवद्यरूपो भूपो बभूव। तस्य वसुमती नाम सुमती लीलावतीकुलशेखरमणी रमणी बभूव।'

'उस पुष्पपुरी नामक नगरी में राजहंस नामक राजा था। उस राजा के समुद्दण्ड (प्रबल) भुजदण्ड शत्रुओं के सेनारूपी समुद्र का मन्थन करने में मन्दराचल के समान थे, उस सेनारूपी समुद्र के, जिसमें पदाति-सेना की उत्ताल तरंगें उठ रही हों और जो हाथी तथा घोड़ों के भीषण जलजंतुओं से भयानक हो रहा हो। वह राजा उस कीर्ति की सुगंध से सुरभित था, जो शरत् ऋतु के चंद्रमा, कुंदपुष्प, कपूर, तुषार, मुक्ताहार, मृणाल, हंस, ऐरावत, दुग्ध, शिवजी का अट्टहास, कैलाश या काश पुष्प के समान धवल है, जिसे इन्द्र की पुरी में वनविहार करती हुई यौवनवती अप्सराएँ बार बार गाया करती हैं तथा जो समस्त दिशाओं के अन्तराल में व्याप्त है। वह राजहंस समस्त पृथ्वीरूपी रमणी के सौभाग्य का उपभोग करने वाला था; उस धरणी-रमणी का, जो सुमेरु पर्वत की चोटियों जितने बड़े बड़े रत्नों से परिपूर्ण रत्नाकर (समुद्र) की मेखला से वेष्टित है। उसने अनवरत यज्ञ करके दक्षिणा के द्वारा अनेकों विद्याओं से युक्त ब्राह्मणों को आश्रय दिया था। वह आकाश के मध्य में स्थित सूर्य की भाँति अपने प्रताप से शत्रुओं को संतप्त करने वाला था, तथा समृद्धदर्प वाले कंदर्प (कामदेव) के सौंदर्य

की गई है। अपहारवर्मा गरीबों की सहायता के लिए धनवानों की चोरी करता है, प्रेमियों को परस्पर मिलाता है तथा नीचता, दुष्टता और धोखाधड़ी के शिकार बने लोगों को फिर से सुखी बना देता है। उपहारवर्मा वाली अगली कहानी इतनी रोचक नहीं है, पर उसमें भी घटनाओं और चरित्रों का अभाव नहीं है। इस कहानी में नायक के पिता के खोये हुए राज्य को प्राप्त करने की कहानी है। नायक चालाकी से राजा का वध कर देता है, रानी का विश्वासपात्र बनता है और मन्त्रसिद्धि से रूपपरिवर्तन का बहाना कर राजा बन जाता है। चौथी कहानी कुमार अर्थपाल की है, जो काशीराज के द्वारा पदच्युत पिता को पुनः मंत्री बना देता है और राजकुमारी मणिकर्णिका के प्रेम को प्राप्त करता है। इस कथा में सर्पविष को हटाने की योजना का प्रयोग किया गया है, जहाँ नायक राजकुमारी के सर्पविष को उतार देता है। अगली कहानी प्रमति की है, जिसमें स्वप्न में नायिका-दर्शन वाली कथानक रूढि का प्रयोग पाया जाता है। नायक श्रावस्ती की राजकुमारी नवमालिका को स्वप्न में देखता है। वह स्त्री की भूमिका धारण कर अन्तःपुर में जाता है[1] और राजकुमारी से मिलता है। इसी कहानी में एक स्थान पर कुक्कुटों की लड़ाई का वर्णन किया गया है। इसके बाद छठी कहानी मित्रगुप्त की है, जो सुह्मदेश की राजकुमारी कन्दुकवती को प्राप्त करता है। इस कहानी में अनेकों समुद्रों और दूर देशों की यात्रा का वर्णन है। इसी में ब्रह्मराक्षस की कथानक रूढि (मोटिफ)[2] का भी प्रयोग किया गया है। एक ब्रह्मराक्षस उससे चार प्रश्न पूछता

---

१. स्त्री की भूमिका में पुरुष को उपस्थित करने के 'मोटिफ' का प्रयोग मालती-माधव में भी पाया जाता है।

२. यक्ष या ब्रह्मराक्षस के द्वारा प्रश्न पूछे जाने की कथानक रूढि बहुत पुरानी है, महाभारत में भी इस रूढि का प्रयोग हुआ है, जहाँ यक्ष युधिष्ठिर से प्रश्न पूछता है।

है[1] और अगर वह उसका उत्तर नहीं देगा तो वह उसे मार डालेगा। इन प्रश्नोंके उत्तर में ही धूमिनी, गोमिनी, निंबवती तथा नितंबवती की कहानियाँ कही गई हैं। इन सभी कहानियों का सारांश यही जान पड़ता है कि चालाकी से ही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकता है। सातवीं कहानी मन्त्रगुप्त की है, जिसमें दण्डी ने चित्रकाव्य शैली का प्रयोग किया है। इस सारी कहानी में मन्त्रगुप्त ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण नहीं करता, क्योंकि प्रेयसी के रागोद्बोधक चुंबनों तथा दंतक्षतों ने उसके ओठों को विह्वल बना रखा है। इस कहानी की घटनाएँ कलिंग तथा आन्ध्रदेश में घटित होती हैं और आरंभ में मन्त्रगुप्त एक कापालिक सिद्ध से कलिंगराज कर्दन की पुत्री कनकलेखा को बचाता है।[2] कापालिक ने उसको यक्षों के द्वारा श्मशान में मँगवा लिया था और वह उसकी बलि देना चाहता था। इस कहानी में भी मन्त्रसिद्धि के द्वारा रूपपरिवर्तन वाली कथानक रूढि की योजना पाई जाती है[3], जिसका प्रयोग उपहारवर्मा की कहानी में भी है। अन्तिम कथा विश्रुत की है, जो दण्डी की अधूरी कहानी है और उत्तरपीठिका के लेखक ने इसे पूरा किया है। इस कथा में विश्रुत अपने आश्रयदाता, विदर्भ के राजकुमार के खोये राज्य को पुनः प्राप्त करता है। वह भगवती दुर्गा की मूर्ति के रूप में स्थित होकर अपनी इष्टसिद्धि करता है।

---

१. किं क्रूरं स्त्रीहृदयं किं गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः।
कः कामः संकल्पः, किं दुष्करसाधनं प्रज्ञा॥ (दश० षष्ठ उच्छ्वास पृ० २१७)

२. कापालिक सिद्धों के द्वारा बलि के लिए नवयौवना कुमारियों के अपहरण की कथानक रूढि का प्रयोग कई कहानियों में मिलता है। भवभूति के मालती-माधव में भी इसकी योजना पाई जाती है, जहाँ कापालिक अघोरघण्ट मालती को बलि देने के लिए पकड़ ले जाता है।

३. मन्त्रसिद्धि के द्वारा रूपपरिवर्तन वाले 'मोटिफ' का प्रयोग कई लोककथाओं में मिलता है, इसके विवेचन के लिए दे० 'प्रोसीडिंग्ज आव् अमेरिकन फिलोसोफिकल सोसायटी' १९१७ पृ० १-४३ में ब्लूमफील्ड का लेख।

जैसा कि हम देखते हैं दशकुमारचरित में भी मुख्य कथा में कई अवांतर कथाएँ पाई जाती हैं। जैसे अपहारवर्मा की कथा में एक ओर तपस्वी मरीचि तथा गणिका काममञ्जरी की कहानी है, तो दूसरी ओर जैन भिक्षु की आत्मकथा पाई जाती है। इसी तरह मित्रगुप्त की कथा में धूमिनी, गोमिनी, निंबवती और नितंबवती की कहानियाँ गुँथ दी गई हैं। इनके अतिरिक्त अन्य चरितकथाओं में भी अन्य प्रासंगिक कथाएँ निबद्ध की गई हैं। दशकुमारचरित की कहानियों के तथ्यवादी वातावरण को देखकर कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कल्पना की है कि इस कृति का लक्ष्य पंचतंत्र आदि की कहानियों की तरह कथा के व्याज से नीतिशास्त्र की शिक्षा देना है। पर यह मत अत्युक्तिपूर्ण होगा तथा दण्डी की कृति का लक्ष्य कोरी नीतिशास्त्र की शिक्षा को मानना स्वयं दण्डी के प्रति अन्याय होगा। कीथ के मत से दण्डी का एक मात्र लक्ष्य सहृदयों का अनुरंजन जान पड़ता है, भले ही उसने नीतिशास्त्र, राजनीति तथा कामशास्त्र का प्रकाण्ड अध्ययन इस कृति में प्रदर्शित किया हो। दण्डी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने सामान्य लोककथाओं को लेकर काव्य की आभा से उद्दीपित कर दिया है और यह काव्य-शैली सुबंधु और बाण तक में नहीं पाई जाती। सुबंधु तथा बाण का खास ध्यान परिश्रमसाध्य रीति (शैली) की ओर अधिक है, पर दण्डी का ध्यान केवल अभिव्यंजना पक्ष की ओर नहीं है, वे कथा के विषय को कम महत्त्व नहीं देते। सुबंधु ने एक छोटी-सी कहानी लेकर कला का आलवाल खड़ा कर दिया है, पर दण्डी के पास विषय की कमी नहीं है, और उनकी अभिव्यंजना शैली इतनी गठी हुई है कि वह विषय को साथ लेकर आगे बढ़ती है। सुबंधु और बाण दोनों ही कवियों का रीतिपक्ष बड़ी तेजी से, बड़ी सज-धज से आगे बढ़ता है और विषय पीछे घसीटता रहता है, दोनों कदम-ब-कदम मिला कर चलते

नहीं दिखाई देते। दण्डी के दशकुमारचरित में कथा या विषय की यह दयनीय परिणति नहीं देखी जाती। सुबंधु या बाण की तरह दण्डी किंनरों या गंधर्वों के अप्सरा-लोक, उड़ने वाले जादू के घोड़ों, आकाश से उतर कर पृथ्वी को चकाचौंध में डालती दैवी शक्तियों के आदर्श-लोक में नहीं घूमते, न वे महाश्वेता जैसी आदर्श नायिका या जाबालि जैसे त्रिकालदर्शी दिव्य महर्षि तक ही रहते हैं; वे इस जमीन पर चलते फिरते हैं और यहाँ रहने वाले अच्छे-बुरे; शिष्ट-अशिष्ट; पण्डित-मूर्ख, सब तरह के पात्रों से परिचय प्राप्त करते हैं, और उन्हें उनके सच्चे रूप में लाकर खड़ा कर देते हैं, वे काम के वशीभूत होते तपस्वी मरीचि, भोले तपस्वी को धोखा देने वाली काममंजरी,[1] पति को कुएँ में ढकेल कर विकृतांग व्यक्ति के प्रति आकृष्ट होने वाली धूमिनी जैसी कुलटा पत्नी,[2] पतिव्रता नितंबवती को धोखाधड़ी से पातिव्रत्य से च्युत कर उसका उपभोग करने वाले धूर्त कलहकण्टक[3] की ही यथार्थता को खुले रूप में नहीं रखते, अपितु चण्डवर्मा का वध करते अपहारवर्मा, यक्ष को भगाने वाले तथा हत्या करने से नहीं डरने वाले मन्त्रगुप्त, समय पर चोरी, जुआरीपन, सब कुछ करने वाले चरितनायकों के स्पष्ट रूप को रखने में भी नहीं हिचकिचाते। दण्डी की इसी यथार्थवादिता के कारण कुछ विद्वान् दशकुमारचरित को अश्लील घोषित करते हैं, पर भूलना न होगा कि दण्डी का 'मोटो' 'अश्लीलता अश्लीलता के लिए' नहीं है। यदि श्रीहर्ष और जयदेव अश्लील नहीं माने जाते, तो दण्डी अश्लील क्यों हैं? और देखा जाय तो जयदेव फिर भी अश्लील हैं, पर दण्डी का वर्णन भले ही अश्लील हो, उसका प्रतिपाद्य

---

१. दशकुमारचरित द्वितीय उच्छ्वास (पृ० ७८-९१)
२. ,, षष्ठ उच्छ्वास (पृ० २१८-२२०)
३. ,, षष्ठ उच्छ्वास (पृ० २३०-२३४)

अश्लील नहीं है। संस्कृत साहित्य की यथार्थवादी शैली जो हमें दशकुमारचरित में मिलती है, वह छठी-सातवीं शती के भारतीय समाज का चित्र रखने में पूर्णतः समर्थ है, ठीक वैसे ही जैसे बालजाक, मोपासाँ या जोला के फ्रेंच उपन्यास या कहानियाँ उन्नीसवीं सदी के फ्रांस का यथार्थवादी चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। दण्डी की लेखिनी बड़ी निर्ममता के साथ समाज के दोषों को अनावृत करती है; और यदि इस दृष्टि से दशकुमारचरित का लक्ष्य किसी हद तक 'नीति' का उपदेश मान लिया जाय, तो अनुचित नहीं, पर उसे हर्तेल वाली सीमा तक बढ़ाना अत्युक्ति होगा, और कीथ की तरह इसका लक्ष्य कोरा सहृदयानुरंजन भी घोषित करना ठीक नहीं जान पड़ता।

दण्डी की कथा का सच्चा रस मध्य वर्ग के यथार्थपूर्ण जीवन में है, जिसमें जादूगर, चंचल तपस्वी, जैन क्षपणक, राजकुमारियाँ, राज्यभ्रष्ट राजा, वेश्याएँ और कुट्टिनियाँ, नर्मव्यापार के दूतीकर्म करने में प्रवीण भिक्षुणियाँ, मृच्छकटिक के शर्विलक जैसे सिद्धहस्त चोर, रागाविष्ट उत्सुक प्रेमियों के विविध चरित्रों का जमघट पाया जाता है। देवताओं और तपस्वियों, राजाओं और महारानियों के पात्रों को दण्डी ने चित्रित किया है, पर उनको वह अपनी लेखिनी की सच्ची आवाज न दे सका। ऐसा जान पड़ता है, दण्डी को इन सामान्य धरातल से ऊपर रहने वाले लोगों के प्रति उतना मोह नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि दण्डी आचारात्मक भित्ति के विरोधी हैं; किंतु इस दृष्टि से दण्डी का आदर्श सैद्धांतिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक (Practical) अधिक है। मानव-जीवन के तीन लक्ष्यों-धर्म, अर्थ और काम—की प्राप्ति में यदि वे तीनों का उपार्जन एक साथ नहीं कर पाते, तो किसी भी एक को छोड़ देने में नहीं हिचकिचाते। उनके चरित्र अपने पिता-माता को कैद से भगा देने तथा काम और अर्थ

का उपभोग करने के लिए धर्म की उपेक्षा (कुछ समय के लिए) कर सकते हैं। अपहारवर्मा तो चोरों का राजकुमार है, वह नगर को लूटने की योजना बनाता है और गणिका के द्वारा ठगे गये वसुपालित को आश्वासन देता है, वह इसे पूरी तरह जानता है कि नगर में अनेक कृपण श्रेष्ठी रहते हैं। मन्त्रगुप्त मूर्ख राजा कर्दन का विश्वासपात्र बन कर उसे सरोवर में स्नान करने को फुसला कर उसका वध कर देता है और स्वयं राजा बन बैठता है। विश्रुत भी अपने आश्रय को पुनः राजा बनाने के लिए देवी दुर्गा तथा उसके मंदिर को बहाना बनाकर धोखे से प्रचण्डवर्मा का छुरी से वध कर देता है। दशकुमारचरित में अलौकिक दिव्य पात्रों का संकेत भी प्रायः इसी तरह के दुष्कर्मों की पुष्टि के लिए किया गया है। मरीचि को आकृष्ट करने के लिए काममंजरी पितामह ब्रह्मा, शचीपति इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, बृहस्पति, पराशर जैसे देवताओं और ऋषियों को प्रमाण स्वरूप उपन्यस्त करती है। दण्डी ने तपस्वी और ब्राह्मण, राजा और श्रेष्ठी, गणिकाओं और उनके दूतीकर्म में नियुक्त बौद्ध संन्यासिनियों पर गहरी फब्तियाँ कसी हैं। दण्डी के पात्र भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ पर विशेष जोर देते हैं, वे दैव की दुहाई देते नहीं दिखाई देते। वैसे चोरी करते समय पकड़ा गया अपहारवर्मा, डाकुओं के द्वारा पकड़ा गया पूर्णभद्र अपनी विपत्ति का कारण दैव को घोषित करते हैं, किंतु वे भी अपने साहस तथा उद्यम (पुरुषकार) से दैव को चुनौती देते देखे जाते हैं।

दण्डी के दशकुमार चरित के यथार्थवादी दृष्टि कोण का पूर्वपीठिका के आदर्शवादी दृष्टिकोण से भी स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है। दण्डी ने देवताओं और तपस्वियों की भी दुर्बलताओं को व्यक्त किया है, पर पूर्वपीठिका के लेखक के देवता यज्ञादि का उपयोग करने वाले हैं, ब्राह्मणों को उसने पृथ्वी के देवता कहा है। राजपुरोहित के वर्णन में पूर्वपीठिका के लेखक ने पूर्ण

पवित्रता की अभिव्यञ्जना की है तथा मातंग ब्राह्मण की कहानी भी उसे राजवाहन के सहायक के रूप में चित्रित करती है, जो शिव की कृपा से पाताल का स्वामी बनता है। पूर्वपीठिका में कुमारों की वीरता या पुरुषार्थ पर इतना जोर नहीं दिया गया है, जितना दैव पर। मालवराज राजहंस पर शिव से प्राप्त शक्ति के कारण विजय प्राप्त करता है। दण्डी स्वयं मार्कण्डेय के उस शाप की हँसी उड़ाता है, जिसके कारण अप्सरा सुरतमञ्जरी की मुक्तामाला के अपने ऊपर गिरने से ऋषि रुष्ट हो कर उसे रजतश्रृंखला बनने का शाप दे देते हैं।[1] पूर्वपीठिका में जल पक्षी के शाप से शाम्ब दो मास तक पत्नी से वियुक्त रहता है। पूर्वपीठिका के कुमार दैव के आधीन पात्र है तथा ऋषि वामदेव और उनके शिष्य, राजहंस तथा अन्य कुमारों की रक्षा करते हैं, इसी तरह राजवाहन की विजय भी मातंग नामक ब्राह्मण के कारण होती है। सारांश यह है कि जैसा यथार्थवादी स्वर दण्डी के मूल भाग में मिलता है, वह पूर्वपीठिका में नहीं मिलता।

चरित्रचित्रण के अतिरिक्त दशकुमारचरित की दूसरी विशेषता हास्य तथा व्यंग्य का पुट है, जो आज के पाठक को अधिक आकृष्ट करता है। समस्त कृति में अथ से इति तक, कुमारों के विचित्र अनुभवों का हास्यात्मक वातावरण निर्मित होता है, वे अपनी इष्टसिद्धि के लिए दृढनिश्चय हैं और उसे प्राप्त करने के लिए नैतिक नियमों की पर्वाह नहीं करते। काममञ्जरी के द्वारा तपस्वी मारीच और श्रेष्ठिपुत्र वस्तुपाल के ठगे जाने में गहरा व्यंग्य है। प्रथम उच्छ्वास में रजतश्रृंखला की अप्सरा सुरतमंजरी के रूप में परिवर्तित हो जाना पाठक को अद्भुत लगता है और दशकुमारचरित की भौतिक ढंग की कहानी में यह अलौकिक का समावेश कथा को कुतूहल युक्त बना देता है। चम्पा के कंजूस श्रेष्ठियों को उनका धन चुरा-चुरा कर

---

१. दे० दशकुमारचरित, प्रथम उछ्वास पृ० ८७-७१.

नया सबक सिखाने की अपहार वर्मा की योजना में गहरा हास्य है, और मित्रगुप्त के द्वारा चन्द्रसेना को एक ऐसा मन्त्रसिद्ध अनुलेपन देने के प्रस्ताव में, जिसके लगाने से वह बंदरिया-सी दिखाई देने लगे-हास्य और व्यंग्य की अपूर्व योजना है, पर चन्द्रसेना इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है। रानी का वेष बना कर राजा विकटवर्मा को धोखा देने की उपहारवर्मा की योजना में सुन्दर व्यंग्य है और इसका चरम रूप वहां मिलता है, जहाँ राजा विकटवर्मा उसे विश्वास दिलाने के लिए शपथ लेता है, पर रानी के रूप में स्थित उपाहरवर्मा उसे झिड़कता ही रहता है:—

'शंकापन्नमिव किंचित्सविस्मयं विचार्य तिष्ठन्तमब्रवम्—'ब्रूहि सत्यं भूयोऽपि मे भगवन्तं चित्रभानुमेव साक्षीकृत्य। न चेदनेन रूपेण मत्सपत्नीरभिरमयिष्यसि, ततस्त्वयीदं रूपं संक्रामयेयम्' इति। स तदेव-'देव्येवेयम्, नोपधिः' इति स्फुटोपजातसंप्रत्ययः प्रावर्तत शपथाय। स्मित्वा पुनर्मयोक्तम्—'किं वा शपथेन? कैव हि मानुषी मां परिभविष्यति। यद्यप्सरोभिः संगच्छसे, संगच्छस्व कामम्। कथय कानि ते रहस्यानि। तत्कथनान्ते हि त्वत्स्वरूपभ्रंशः' इति।'

'शंकित तथा विस्मित-से स्थित राजा से मैंने कहा—'अग्नि देवता को साक्षी बनाकर तुम मुझ से सच सच कहना। यदि तुम इस रूप से मेरी सौतों के साथ रमण न करोगे, तो मैं तुम्हारे रूप का परिवर्तन कर दूँगी'। राजा ने समझा कि यह महारानी ही है और कोई कपट की बात नहीं है, उसने एकदम विश्वास करके शपथ लेना शुरू किया। उसे शपथ लेते देख कर मैंने हँस कर फिर कहा—'अरे शपथ लेना व्यर्थ है? मुझे कौन मानुषी (सौंदर्य में,) जीत सकती है? यदि तुम किन्हीं अप्सराओं के प्रति आकृष्ट हो, तो इच्छानुसार संगमन करो। मुझे यह तो बताओ कि तुम्हारा रहस्य क्या है। उसे कहने पर ही तुम्हारे रूप का परिवर्तन हो सकेगा।' और बेचारा

मूर्ख विकटवर्मा अप्सराओं के साथ संगमन का व्यंग्यार्थ नहीं समझ पाता, और उसका सदा के लिए रूप परिवर्तन कर अप्सराओं के पास भेज दिया जाता है, महारानी की भूमिका में स्थित उपहारवर्मा उसका वध कर घृत के साथ आग में होम देता है।[1]

दशकुमारचरित के विषय तथा अभिव्यंजनाशैली के निर्वाह में जो संतुलन पाया जाता है, वह संस्कृत के किसी गद्यकाव्य में नहीं मिलता। दण्डी की शैली और उसका स्वर विषय के अनुरूप बदलता जाता है, द्वितीय तथा पञ्चम उछ्वास के हास्य के हलके-फुलके वातावरण में उसका रूप दूसरा है, विश्रुतचरित (अष्टम उछ्वास) के करुण चित्र की गंभीरता को उपन्यस्त करने में दूसरा। अलग अलग प्रसंग के अनुकूल उसकी शैली बदलती रहती है। षष्ठ उच्छ्वास की धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती तथा नितम्बवती की कहानियों की शैली अत्यधिक सरल तथा स्वाभाविक सरणि का आश्रय लेती है। दण्डी निश्चित रूप में भाषा के अधिपति हैं। वे सरल प्रवाहमय भाषा के सिद्ध प्रयोक्ता हैं और उनके संवाद सूक्ष्म और तात्त्विक होते हैं। दण्डी वैदर्भी रीति के सफल कवि हैं। वैसे वर्णनों में दण्डी के भी वाक्यों में यत्र तत्र समासान्त शैली मिल जाती है, पर वे शाब्दी या आर्थी क्रीडा के फेर में अधिक नहीं फँसते, अभिव्यंजना की स्वाभाविकता और अर्थ की स्पष्टता की ओर दण्डी का खास ध्यान रहता है, और कभी कभी शाब्दी या आर्थी क्रीडाओं का प्रयोग किया जाता है, पर वे प्रभावोत्पादकता या अर्थप्रतीति में बाधक नहीं होतीं। नखशिखवर्णन तथा प्रकृतिवर्णन के लिए बाण की बहुत प्रशंसा की जाती है, पर दण्डी के ये वर्णन उस पैमाने के न होने पर भी असुंदर नहीं हैं। द्वितीय उछ्वास का राजकुमारी

---

१. ······इति च्छुरिकया द्विधाकृत्य कृत्तमात्रं तस्मिन्नेव प्रवृत्तस्फीतसर्पिषि हिरण्यरेतस्यजूहवम्। दशकुमारचरित, तृतीय उच्छ्वास पृ० १६५.

के सौंदर्य का वर्णन,[1] तथा षष्ठ उच्छ्वास का गोमिनी के सौंदर्य का वर्णन[2] सुंदर है।

'रक्ततलांगुली यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेकपुण्यलेखालाञ्छितौ करौ, समगुल्फसंधी मांसलावशिरालौ चांघ्री, जंघे चानुपूर्ववृत्ते······सक्तद्विभक्तचतुरस्रः ककुन्दरविभागशोभी रथांगाकारसंस्थितश्च नितम्बभागः, तनुतरमीषन्निम्नं गंभीरं नाभिमण्डलम्, वलित्रयेण चालंकृतमुदरम्, उरोभागव्यापिनावुन्मग्नचूचुकौ विशालारंभशोभिनौ पयोधरौ, धनधान्यपुत्रभूयस्त्वचिह्नलेखालाञ्छिततले स्निग्धोदग्रकोमलनखमणी ऋज्वनुपूर्ववृत्तताम्रांगुली संनतांसदेशे सौकुमार्यवत्यौ निमग्नपर्वसंधी च बाहुलते,·········इन्द्रनीलशिलाकाररम्यालकपंक्ति द्विगुणकुण्डलितम्लाननालीकनाललिलितलम्बश्रवणपाशयुगलमाननकमलम्, अनतिभंगुरो बहुलः पर्यन्तेष्यकपिलरुचिरायामवानेकैकनिसर्गसमस्निग्धनीलो गन्धग्राही च मूर्धजकलापः।' (षष्ठ उच्छ्वास)

'इसके करतल लाल हैं और उनमें यव, मत्स्य, कमल, कलश आदि अनेक समृद्धि-सौभाग्यसूचक रेखाएँ हैं। इसके दोनों पैर मांस से भरे हुए हैं, उनकी नसें नहीं दिखाई देतीं और टखने के जोड एक-से भरे हुए हैं। इसकी पिंडलियाँ एक-सी सुडौल हैं।'·····इसका कटिपश्चाद्भाग चारों ओर से अच्छी तरह गठा है, उनके बीच में ककुंदर (नितंवस्थित गड्ढा) है, तथा वह नितंवभाग रथ के चक्र के समान विशाल है। इसका नाभिमण्डल छोटा, कुछ झुका हुआ और गहरा है, तथा उदर त्रिवलि से विभूषित है। इसके स्तन समस्त वक्षःस्थल पर व्याप्त हैं, और उठे हुये एवं विशाल हैं। इसकी दोनों बाँहें कोमल हैं। उनकी अंगुलियाँ लाल हैं, कंधे

१. दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्वास (पृ० १२८-१३१)
२. दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्वास (पृ० २२१-२२३)

झुके हैं, नाखून कोमल तथा चिकने हैं और जोड भरे हुए हैं, इनके तल धन, धान्य, पुत्र आदि की समृद्धि की सूचना देने वाली सामुद्रिक रेखाओं से अलंकृत हैं।······इसका मुखरूपी कमल नीलम के समान सुंदर घनी काली अलकपट्टिका से युक्त है, तथा उसने लंबे-लंबे कानों में कमल नाल को दुहरा करके कुण्डल की तरह खोस रक्खा है और उससे उसके दोनों कान सुंदर दिखाई दे रहे हैं। उसका सुगन्धित केशकलाप अधिक घुँघराला नहीं है, वह सघन है और किनारों पर भी भूरा नहीं हो कर स्वाभाविक स्निग्ध नीलिमा से युक्त है।'

दण्डी के प्रकृति वर्णन भी सुंदर बन पड़े हैं। दशकुमारचरित में सूर्योदय तथा सूर्यास्त के रमणीय चित्र हैं, भले ही उनमें बाण जैसी कल्पना-प्रचुरता तथा विषय के तत्तदंग का ब्यौरेवार वर्णन करने की पर्यवेक्षण शक्ति न हो। उपहारवर्मा के द्वारा किया गया सूर्योदय वर्णन अद्भुत है—

'चिन्तयत्येवमयि महार्णवोन्मग्नमार्तण्डतुरंगश्वासरयावधूतेव व्यवर्तत त्रियामा। समुद्रगर्भवासजडीकृत इव मन्दप्रतापो दिवसकरः प्रादुरासीत्।'

(तृतीय उच्छ्वास)

'जब मैं ऐसा सोच ही रहा था, तभी रात्रि नष्ट हो गई, जैसे समुद्र से तेजी से निकलते हुए सूर्यरूपी घोड़े के श्वास वायु के वेग ने उसे एक ओर उड़ा दिया हो और सूर्य प्रकट हुआ जो मन्द प्रताप वाला इसलिए दिखाई दे रहा था कि समुद्र के जल में निवास करने से उसका तेज ठंडा पड़ गया था।'

उत्प्रेक्षा अलंकार के परिवेष में लिपटा सूर्योदयवर्णन सुंदर बन पडा है। दण्डी ने राजमार्ग, राजमहल, श्मशान, निर्जन महाटवी सभी के वर्णनों में अपनी दक्षता का परिचय दिया है। षष्ठ उच्छ्वास के धूमिनी वृत्तान्त के अकाल का करुण भयंकर वर्णन दण्डी की पर्यवेक्षण शक्ति का संकेत करता है:—

'तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्षः, क्षीणसारं सस्यम्, ओषध्यो बन्ध्याः, न फलवन्तो वनस्पतयः, क्लीबा मेघाः, क्षीणस्रोतसः स्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निर्निस्यन्दान्युत्समण्डलानि, विरलीभूतं कन्दमूलफलम्, अवहीनाः कथाः, गलिताः कल्याणोत्सवक्रियाः, बहुलीभूतानि तस्करकुलानि, अन्योन्यमभक्षयन्प्रजाः, पर्यलुठन्नितस्ततो बलाकापाण्डुराणि नरशिरःकपालानि, पर्यहिण्डन्त शुष्काः काकमण्डलयः. शून्यीभूतानि नगरग्रामखर्वटपुटभेदनादीनि ।'[1]

'उनके जीवन में एक बार बारह बरस तक वृष्टि न हुई, सारी फसलें निःसार हो गईं, औषधियाँ निष्फल (बांझ) हो गईं, वनस्पतियों ने फल देना बन्द कर दिया, बादल नपुंसक (निर्जल) हो गये, नदियों में जल कम रह गया, तालाबों में केवल कीचड़ रह गया, झरने सूख गये, कन्दमूल मिलना कठिन हो गया, लोगों का कथा सुनना बन्द हो गया, उत्सवादि गल गये, चोरों के झुण्ड के झुण्ड बढ चले, लोग एक दूसरे को खाने लगे, बगुलों के समान सफेद नरकपाल इधर उधर लोटने लगे, कौवे पानी की खोज में इधर उधर घूमने लगे, और नगर, गांव, छोटी बस्तियां सभी शून्य हो गईं ।'

कापालिक सिद्ध का भयंकर वर्णन प्रभावोत्पादक बना है:—

'इति दिदृक्षान्तहृदयः, किंकरगतया दिशा किंचिदन्तरं गतस्तरलतरनरास्थिशकलरचितालंकाराक्रान्तकायम्, दहनदग्धकाष्ठनिष्ठाङ्गाररजःकृताङ्गरागम्, तडिल्लताकारजटाधरम्, हिरण्यरेतस्यरण्यचक्रान्धकारराक्षसे क्षणगृहीतनानेन्धनग्रासचश्चदर्चिषि दक्षिणेतरेण करेण तिलसिद्धार्थकादीन्निरन्तरचटचटायितानाकिरन्तं कंचिदद्राक्षम् ।'[2]

'तब उस सिद्ध को देखने की इच्छा से मैं ठीक उसी ओर चल पड़ा

---

१. दशकुमारचरित, षष्ठ उछ्वास (पृ० २१८)

२. दशकुमारचरित, सप्तम उच्छ्वास (पृ० २३७)

जिधर वे नौकर गये थे, कुछ दूर जाकर मैंने अति उज्ज्वल नरास्थिखंडों के आभूषणों से अलंकृत शरीर वाले, अग्नि के द्वारा जलाये गये काष्ठ की भस्म का अंगराग वाले, बिजली के समान पीली जटा वाले और बायें हाथ से वन के सघन अंधकार का भेदन करते हुए अग्नि में—जिसमें नाना प्रकार के इंधन के जलाने से ज्वालाएँ उठ रहीं थी—चटचट करते हुए तिल, सरसों आदि को गिराते हुए किसी व्यक्ति को देखा।'

विश्रुतचरित का राजनीति वाला उपदेश चाहे कादंबरी के शुकनासोपदेश की तरह बड़े पैमाने का न होगा, किंतु अपनी सरल स्वाभाविक शैली के लिए बेजोड़ है। अनंतवर्मा को वसुरक्षित नामक वृद्ध मंत्री के द्वारा दिया गया उपदेश निम्न है:—

'तथाप्यसावप्रतिपद्यात्मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः। बुद्धिशून्यो हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते। न च शक्तः साध्यं साधनं वा विभज्य वर्तितुम्। अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते। न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय। अतिक्रान्तशासनाश्च प्रजा यत्किंचनवादिन्यो यथाकथंचिद्वर्तिन्यः सर्वाः स्थितीः संकरेयुः। निर्मर्यादश्च लोको लोकादितोऽमुतश्च स्वामिनमात्मानं वा भ्रंशयते। आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा। दिव्यं हि चक्षुर्भूतभवद्भविष्यत्सु व्यवहितविप्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्रं नामाप्रतिहतवृत्ति। तेन हीनः सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनेष्वसामर्थ्यात्। अतो विहाय बाह्यविद्यास्वभिषङ्गमागमय दण्डनीतिं कुलविद्याम्। तदर्थानुष्ठानेन चावर्जितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासनः शाधि चिरमुदधिमेखलामुर्वीम्।'[1]

---

१. दशकुमारचरित, अष्टम उच्छ्वास (पृ. २५५-५६)

'तात, (यद्यपि तुम समस्त कलाओं में प्रवीण हो और उस क्षेत्र में तुम्हारी बुद्धि और लोगों से बढ़कर है तथापि), जब तक वह अर्थशास्त्र (राजनीति) में अपना संस्कार नहीं कर लेती, तब तक आग में न तपाये हुए सोने की तरह सुशोभित नहीं होती। बुद्धिशून्य राजा उन्नतिशील होने पर भी दूसरों के द्वारा आक्रांत होने पर अपने आपको नहीं सँभाल पाता। वह साध्य तथा साधन का विभाग कर किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं होता। निश्चित व्यवहार में दक्ष न होने के कारण प्रत्येक काम में असफल होकर वह अपने और दूसरों से तिरस्कृत होता है। लोग उसका अनादर करने लगते हैं और उसकी आज्ञा प्रजा के योगक्षेम में असफल रहती है। उसकी प्रजा अनुशासन को भंग कर चाहे जो बकने लगती है, मनमानी करने लगती है, और राज्य की सारी स्थिति बिगड़ खड़ी होती है। अनुशासन हीन उच्छृंखल प्रजा अपने आपको तथा अपने राजा को भी इस लोक तथा परलोक दोनों से गिरा देती है। शास्त्ररूपी दीपक के द्वारा देखे गये मार्ग पर बिना किसी कष्ट के सुख से यात्रा की जा सकती है। शास्त्र एक ऐसा दिव्य नेत्र है, जो भूत, वर्तमान और भविष्यत्, नजदीक और ओट में छिपे हुए या दूर के पदार्थ सभी को बिना किसी रोक-टोक के देख पाता है। शास्त्ररूपी दिव्यनेत्र से हीन व्यक्ति लंबे लंबे भौतिक नेत्रों के होते हुए भी अन्धा ही माना जायगा, क्योंकि वह पदार्थों का वास्तविक स्वरूप देखने के सामर्थ्य से रहित है। इसलिए बाहर की विद्याओं में दिलचस्पी छोड़कर तुम अपनी कुलविद्या दण्डनीति (राजनीति) का सेवन करो। इसका सेवन करने से तुम्हें समस्त शक्तियों (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति) और सिद्धियों (प्रभुसिद्धि, मंत्रसिद्धि, उत्साहसिद्धि) की प्राप्ति होगी और फिर तुम बिना किसी विघ्न के अस्खलितशासन होकर आसमुद्र पृथ्वी का पालन करो।'

दण्डी के दशकुमारचरित में 'महदायुध', 'महदभिख्या', महदाशा, आवोचि, शासन्, अदंशि जैसे रूप असावधानी के सूचक हैं, पर संभव है, ये हस्तलेखों के कारण हों, फिर भी 'आलिंगयितुं', 'ब्राह्मणब्रुवः' 'एनमनुरक्ता' जैसे प्रयोगों को दण्डी ने स्वयं काव्यादर्श में ठीक नहीं माना है। दण्डी की शैली सरल, स्वाभाविक एवं स्फीत है, फिर भी कई स्थानों पर दण्डी ने भाषा को कलात्मक कृत्रिमता से जकड़ दिया है। सप्तम उच्छ्वास में दण्डी ने शाब्दीक्रीडा का प्रयोग किया है, जहाँ मन्त्रगुप्त की कथा में ओष्ठ्यवर्णों को नहीं आने दिया है।[1] किंतु दण्डी इन कलाबाजियों में कम दिलचस्पी लेते हैं, और संभव है दण्डी की नैसर्गिक गद्यशैली ने ही उन्हें बाण या सुबंधु की तरह पुराने पण्डितों के हाथों पूरा सम्मान न दिलाया। दण्डी ने आत्मचरितरूप कहानियों में कहीं भी परोक्षभूते लिट् का प्रयोग नहीं किया है, और इसका प्रयोग बीच बीच में आने वाली उपकथाओं में हुआ है, पर कुमारों की उक्ति में दण्डी ने लङ् तथा लुङ् का ही प्रयोग किया है। दण्डी को लुङ् के प्रयोग करने का विशेष शौक है, जो उसके व्याकरणविषयक ठोस ज्ञान का प्रमाण है।

कुल मिलाकर दण्डी का विषय-चयन, शैली और अभिव्यंजना 'अति' के दोष से मुक्त हैं, उन्हें संयम तथा अनुपात का सदा ध्यान रहता है। यद्यपि दण्डी की शैली पंचतंत्र वाली शैली की तरह अतिसरल नहीं है, तथापि उनकी शैली में परिश्रमसाध्य उबा देने वाली गुत्थियाँ नहीं हैं, दण्डी की शैली में न तो असंयत समासान्तपदावली, लंबे लंबे अनियमित वाक्य ही हैं, न जटिल श्लेष-योजना, निरर्थक वर्णाडम्बर या दूरारूढ कल्पनाएँ ही। सुन्दरियों के वर्णनादि के प्रसंग में दण्डी समासान्तपदावली

---

१ स किल करकमलेन किंचित्संवृताननो ललितवल्लभारभसदत्तदन्तक्षतव्यसनविह्वलाधरमणिर्निरोष्ठ्यवर्णमात्मचरितमाचचक्षे। (दशकुमारचरित पृ. २३६)

वाले लंबे वाक्यों की विनियोजना करते हैं, किंतु वहाँ भी ऐसे वाक्य अधिक नहीं होते, वे एक मुद्रित पृष्ठ से अधिक नहीं बढ़ पाते। इसका अर्थ यह नहीं कि दण्डी की शैली अनलंकृत है, भाव यह है कि दण्डी की प्रभावोत्पादकता उनकी संक्षिप्त, सूक्ष्म और संयत वर्णन शैली पर निर्भर है, जो निरवरोध धारा की भाँति न तो असंयत ही है, न महती विन्ध्याटवी की भाँति थका देने वाली ही। 'दण्डी सशक्त स्फीत संस्कृत गद्य शैली के अधिपति हैं, इसी के लिए उनको संस्कृत साहित्य में आदर प्राप्त है और उनकी कृति जो एक सामाजिक चुनौती है, निःसंदेह संस्कृत गद्य साहित्य की महान् देन है।'[1]

1. Dasgupta and De : History of Sanskrit Literature p. 217.

*

महाकवि बाण

सुबन्धु ने जिस कृत्रिम गद्य-शैली को पल्लवित किया, उसका प्रौढ एवं स्निग्धरूप हमें बाण की गद्य-शैली में उपलब्ध होता है। सुबन्धु के ही मार्ग के पथिक होने पर भी बाण में कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें मजे से कालिदास, माघ या भवभूति के साथ रख देती हैं। यद्यपि कालिदास जैसी उदात्त भावतरलता बाण में भी नहीं मिलती, तथा सरल कोमल शैली के द्वारा उच्च कोटि के प्रभाव की सृष्टि करने में कालिदास समस्त संस्कृत साहित्य में बेजोड़ हैं, तथापि माघ और भवभूति के समान सानुप्रासिक समासान्त-पदावली का जितना सुन्दर निर्वाह बाण कर पाते हैं, उतना कोई अन्य गद्य-लेखक नहीं कर पाता। इस दृष्टि से बाण माघ और भवभूति से भी बढ़ जाते हैं, क्योंकि बाण के लंबे लंबे वाक्यों के विस्तीर्ण फलक पर एक-सी रेखाएँ, एक-सा रंग, एक-सी कलादक्षता का परिचय देना और कठिन हो जाता है, जो पद्य के छोटे से 'केन्वस' पर मजे से निभाया जा सकता है। माघ तथा भवभूति की भाँति ही बाण में तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति है। प्रकृति का जो ब्यौरेवार वर्णन हमें बाण में मिलता है, वैसा माघ तथा भवभूति में उसी पैमाने पर दिखाई नहीं देता, यह दूसरी बात है कि यह प्रकृतिवर्णन वहीं तक सुंदरता का निर्वाह कर पाता है, जहाँ तक कवि प्राकृतिक दृश्यों का बिंबग्रहण कराता जाता है, ज्योंही वह श्लेष या विरोधाभास के चक्कर में फँस जाता है, वर्णन अपनी रमणीयता खो बैठता है। बाण की शैली में कविता की अतीव उदात्तभूमि के दर्शन होते हैं, पर दुःख यह है कि कहीं कहीं गई बीती शाब्दी क्रीडावाली सुबंधु की दयनीय परिणति भी दिखाई देती है, जो बाण की 'कादम्बरी' को कहीं कहीं तीखा बना देती है और काव्य-चषक का पान करते रसिक का गला

कुछ कुछ जल उठता है, अन्यथा उसमें माधुर्य का वह अजस्र स्रोत है, जो भोक्ता को 'समद' कर देता है।

बाण, संस्कृत साहित्य का अकेला ऐसा कवि है, जिसके जीवन के विषय में हमें पर्याप्त जानकारी मिली है। बाण ने स्वयं हर्षचरित के प्रथम तीन उच्छ्वासों तथा कादम्बरी की प्रस्तावना के पद्यों में अपना परिचय दिया है। ये वत्स गोत्र के ब्राह्मण थे तथा इनके एक पूर्वज का नाम 'कुबेर' था। कुबेर कर्मकाण्डी तथा श्रुतिशास्त्रसम्पन्न ब्राह्मण थे।[1] इनकी विद्वत्ता का परिचय देते हुए बाण ने बताया है कि अनेकों छात्र इनके यहाँ यजुर्वेद तथा सामवेद का पाठ किया करते थे और पाठ करते समय वे स्थान स्थान पर गलत उच्चारण करने के कारण घर में पाले हुए पिंजरे में बैठे शुक-सारिकाओं के द्वारा टोक दिये जाते थे।[2] इन्हीं कुबेर के चार पुत्र थे, अच्युत, ईशान, हर तथा पाशुपत। पाशुपत के पुत्र अर्थपति थे तथा अर्थपति के ग्यारह पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें एक पुत्र चित्रभानु थे। बाण इन्हीं चित्रभानु के पुत्र थे तथा उनकी माता का नाम राजदेवी था।[3] बाण की माता का देहांत बचपन में ही हो गया था, पिता की मृत्यु भी उसी समय हो गई, जब बाण केवल १४ वर्ष के ही थे। पिता की मृत्यु के बाद बाण स्वतन्त्र प्रकृति के हो गये और उच्छृंखल बन कर आवारा जीवन बिताने लगे। कुछ ऐसे ही आवारा लोगों के साथ उनकी दोस्ती हो गई, जिनमें भाषा कवि ईशान, विद्वान् वारबाण तथा वासबाण, प्राकृतकवि वायुविकार

---

१. कादम्बरी पद्य १०-११

२. जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यत्र शङ्किताः॥ (काद० पद्य १२)

३. अलभत च चित्रभानुः तेषां मध्ये राजदेव्यभिधानायां ब्राह्मण्यां बाणमात्मजम्। (हर्षचरित पृ० १२६)

आदि हैं।[1] बाण के इन मित्रों में सभी तरह के लोग थे, कुछ विद्वान् थे, तो कुछ उठाउगीर, कुछ नर्तक या नट थे, तो अन्य जादूगर। इन तरह-तरह के दोस्तों के साथ बाण ने अनेकों देशों का पर्यटन किया। बाद में घर लौट कर उन्होंने विद्याध्ययन किया और अपनी कुलोचित स्थिति को प्राप्त किया। एक दिन बाण के पास महाराज हर्षवर्धन के भाई कृष्ण का पत्र आया और पता चला कि कृष्ण ने बाण को बुलाया है। बाण दूसरे दिन घर से रवाना हो गये। राजद्वार पहुँच कर वे सभा में गये। हर्ष ने उन्हें देख कर पूछा 'क्या यही बाण हैं?' और फिर अपने पीछे बैठे हुए मालवराजपुत्र से कहा 'यह बड़ा धूर्त (विट) है' (महानयं विटः)। बाण ने इसे सुन कर कहा 'स्वामिन्, संसार में लोगों का स्वभाव विचित्र होता है, इसलिए सज्जनों को सदा यथार्थदर्शी होना चाहिए। यदि मैं सचमुच दोषी हूँ, तो महाराज मुझे ऐसा कह सकते हैं। बिना किसी कारण मुझे आवारा समझना ठीक नहीं। मैं ब्राह्मण हूँ, मैंने सांगवेदों का अध्ययन किया है, अन्य शास्त्रों का भी यथाशक्ति अवलोकन किया है। फिर महाराज ने मुझमें 'विटत्व' कैसे पाया? महाराज स्वयं समय पर मेरी वास्तविकता जान जायँगे।' हर्ष ने इसका उत्तर केवल यही दिया कि उसने ऐसा सुना था। बाण को राजसभा में कोई आदर न मिला। वे बड़े दुखी हुए, पर बाद में हर्ष की राजसभा में उन्हें समुचित आदर प्राप्त हो गया। धीरे-धीरे वे हर्ष के विश्वासपात्र तथा स्नेहभाजन बन गये[2]।

इस प्रकार बाण का समय सातवीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। बाण के अतिरिक्त अन्य कई कवि हर्ष की राजसभा में विद्यमान थे। सूर्यशतक या मयूरशतक के रचयिता मयूर कवि तथा 'भक्तामरस्तोत्र' नामक जैन

१. हर्षचरित के पृ० १०७-१०९ पर इन मित्रों की लंबी सूची दी गई है।

२. हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास।

स्तोत्र काव्य के कर्ता दिवाकर मानतुंग भी बाण के साथ हर्ष की राजसभा में थे। एक किंवदंती के अनुसार तो बाण मयूर के जामाता थे और सूर्यशतक तथा चण्डीशतक की रचना के संबंध में एक घटना सुनी जाती है। वह यह कि एक बार मयूर अपने जामाता से मिलने के लिए प्रातः काल उसके यहाँ गये। बाण की पत्नी रात भर 'मान' किये बैठी थी और प्रातःकाल के समय भी वह प्रसन्न न हुई। बाण उसे मनाने के लिये एक पद्य बना रहे थे जिसके तीन चरण तो बन गये थे, चौथा चरण न बन पाया। मयूर ने ये तीन चरण सुने और चट से चौथा चरण बना दिया। पूरा पद्य यों हैं:—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो
स्तनप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्॥

'रात बीत चुकी है, क्षीणकांति चंद्रमा जैसे मंद होता जा रहा है, यह दीपक भी जैसे नींद के वश होकर तंद्रिल हो रहा है। रमणियों का मान तभी तक बना रहता है, जब तक उनकी मनौती नहीं की जाती। मैं तुम्हें प्रणाम कर कर मना रहा हूँ, पर फिर भी तुम क्रोध नहीं छोड़ती।··· ऐसा प्रतीत होता है, हे चण्डि, तुम्हारा हृदय भी इसलिए कठोर हो गया है कि वह कठोर स्तनों से संबद्ध है।' मयूर के मुँह से चतुर्थ पंक्ति को सुनकर बाण क्रुद्ध हो गये, उन्होंने मयूर को यह शाप दिया कि वह कोढ़ी हो जाय। मयूर ने भी बाण को शाप दे दिया। कहा जाता है कि मयूर ने शाप की निवृत्ति के लिए सूर्य की स्तुति में सूर्यशतक की रचना की, और सूर्य की कृपा से उसका कोढ़ दूर हो गया। बाण ने भी अपने शाप को मिटाने के लिए चण्डी की स्तुति में चण्डीशतक की रचना की।

बाण की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं:—हर्षचरित नामक आख्यायिका, कादम्बरी कथा तथा चण्डीशतक।[1] क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचार-चर्चा में पद्यबद्ध कादंबरी का एक पद्य उद्धृत किया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि बाण ने कादंबरी कथा की पद्यात्मक रचना भी की थी, किंतु यह भी संभव है कि बाण की कादंबरी के आधार पर किसी अन्य कवि ने इसकी रचना की हो। बाण के नाम के साथ पार्वती-परिणय नामक नाटक को भी जोड़ने की चेष्टा की जाती है, जो बाण की रचना न होकर वामन भट्ट बाण की रचना है, जिनका समय १७ वीं शताब्दी माना जाता है। इसके अतिरिक्त नलचम्पू की टीका में चण्डपाल ने बाण के एक और नाटक का भी संकेत किया है—मुकुटताडितक। बाण का यह नाटक उपलब्ध नहीं है। बाण के उपलब्ध तीन ग्रन्थों में बाण की ख्याति का आधार हर्षचरित तथा कादंबरी हैं। कादंबरी तो बाण की उत्कृष्ट कलात्मक कृति है। कादंबरी की रचना में बाण को गुणाढ्य की बृहत्कथा तथा सुबंधु की वासवदत्ता से प्रेरणा मिली है और इन्हें पीछे छोड़ना बाण का लक्ष्य रहा है।[2]

हर्षचरित आख्यायिका है, कादम्बरी कथा। आख्यायिका तथा कथा का भेद बताते समय भामह ने बताया है कि आख्यायिका की कथावस्तु

---

१. चण्डीशतक में बाण ने दुर्गा की स्तुति में सौ स्रग्धरा छंदों की रचना की है। इसकी शैली गाढबन्ध का परिचय देती है। इसका एक नमूना यह है:—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे,
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥ (चण्डीशतक)

२. द्विजेन तेनाक्षतकण्ठकौण्ठ्यया महामनोमोहमलीमसांधया।
अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा॥
(कादम्बरी पूर्वभाग पद्य २०)

वास्तविक होती है तथा उसका वक्ता स्वयं नायक होता है। कथा का वर्णन सरस गद्य में किया जाता है। आख्यायिका कई उछ्वासों में विभक्त की जाती है तथा प्रत्येक उच्छ्वास के आदि या अंत में भावी घटनाओं के सूचक पद्य होते हैं, जो वक्र या अपरवक्र छंद में निबद्ध होते हैं। आख्यायिका में कवि अपनी कल्पना का समावेश कर सकता है तथा कथावस्तु का विषय कन्याहरण, युद्ध, वियोग, तथा अंत में नायक की विजय से संबद्ध होता है। आख्यायिका संस्कृत में निबद्ध की जाती है। कथा में कविकल्पित निजंधरी कथावस्तु होती है, इसका वक्ता नायक से इतर कोई व्यक्ति होता है। कथा में उछ्वास-विभाग नहीं होता, न वक्र या अपरवक्र पद्यों की विनियोजना ही होती है। कथा संस्कृत या अपभ्रंश किसी में भी निबद्ध की जा सकती है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि भामह के पूर्व ही आख्यायिकाएँ तथा कथाएँ लिखी गई थीं और वे बाण की रचनाओं से कुछ भिन्न शैली की रही होंगी। भामह का आख्यायिका तथा कथा का वर्गीकरण संभवतः बाद के कवियों और आलंकारिकों ने पूरी तरह नहीं माना था, और दण्डी ने अपने काव्यादर्श में आख्यायिका तथा कथा का कोई विशेष भेद नहीं माना। दण्डी के मतानुसार कहानी का कहने वाला कोई भी हो, नायक हो या अन्य कोई व्यक्ति, वह उछ्वासों में विभक्त हो या न हो, उसमें वक्र या अपरवक्र छंदों की योजना हुई हो या न हुई हो, इससे कोई मौलिक अन्तर नहीं आ जाता। वस्तुतः आख्यायिका तथा कथा दोनों एक ही गद्यशैली के अंतर्गत आते हैं, वे अलग-अलग प्रकार नहीं हैं।[2] दण्डी के

१. भामह—काव्यालंकार १.२५-२८।

२. अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल॥
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः॥

इस मत से यह संकेत मिलता है कि दण्डी के समय तक आख्यायिका तथा कथा का भामह वाला भेद मिट चुका था तथा कवि इन रूढ़ नियमों की पाबन्दी नहीं करते थे। कथा का लक्षण रुद्रट ने भी काव्यालंकार में दिया है। उसके मतानुसार कथा के आरंभ में पद्य में देवता और गुरु की वंदना हो, तब कवि अपने कुल का संक्षिप्त परिचय दे, तब सरस सानुप्रास लघ्वक्षर गद्य के द्वारा कथा का वर्णन करे। सबसे पहले एक कथान्तर का उपन्यास करे, जो प्रधान कथा को प्रस्तुत करे। इस कथा का प्रधान प्रतिपाद्य कन्याप्राप्ति होना चाहिए। इस प्रकार संस्कृत में गद्य के द्वारा तथा अन्य भाषाओं में पद्य के द्वारा कथा कही जानी चाहिए।[1]

भामह, दण्डी तथा रुद्रट के मतों के देखने पर हम एक निष्कर्ष पर मजे

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम्॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि॥
आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः।
भेदश्च दृष्टो लंभादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः॥
तत्कथाख्यायिकेत्येव जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवाविर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥ (काव्यादर्श १.२३-२८)

१. श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरून्नमस्कृत्य।
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात्स्वं च कर्तृतया॥
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन।
रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन्॥
आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत् प्रपञ्चितं सम्यक्।
लघु तावत् संधानं प्रक्रान्तकथावताराय॥
कन्यालाभफलं वा सम्यक् विन्यस्य सकलशृङ्गारम्।
इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन॥

(रुद्रट : काव्यालंकार १६.२०-२३)

से पहुँच सकते हैं कि आख्यायिका तथा कथा का खास भेद एक ही है और वह उनकी कथावस्तु की प्रकृति से संबद्ध है। आख्यायिका एक तथ्यपूर्ण (भूतार्थ) कथा को लेकर चलती है, जिसमें ऐतिहासिक, अर्धैतिहासिक कथा या आत्मकथा पाई जाती है, जब कि कथा कल्पित या निजंधरी कथा वस्तु को आधार बना कर चलती है। यह दूसरी बात है कि कथा की वर्णन शैली में कवि उत्तम पुरुष की पद्धति का प्रयोग भी कर सकता है, पर उसका मूल कल्पित कथा होती है। कथा की वास्तविक प्रकृति उसके कल्पित इतिवृत्त में ही है। रुद्रट ने अपनी परिभाषा संभवतः बाण की दो भिन्न भिन्न प्रकार की कृतियों के आधार पर निबद्ध की है। रुद्रट ने बाण की ही कृतियों की विशेषताएँ देख कर तत्तत् गद्यकाव्य के भेद के लक्षण उपन्यस्त कर दिये हैं। रुद्रट ने आख्यायिका के लिए यह आवश्यक नहीं माना है कि उसका वक्ता स्वयं नायक ही हो (जैसा कि भामह ने माना है), साथ ही प्रथम उच्छ्वास से इतर अन्य उच्छ्वासों के आरंभ में दो आर्या छन्दों की योजना आवश्यक मानी है। इन आर्या छंदों में समस्त उच्छ्वास की कथा की व्यंजना कराई गई हो, साथ ही प्रथम उच्छ्वास में पद्यबद्ध प्रस्तावना हो। रुद्रट के ये सभी लक्षण बाण के हर्षचरित में देखे जा सकते हैं। इसी तरह रुद्रट की कथा संबंधी परिभाषा कादंबरी के आधार पर निबद्ध की गई प्रतीत होता है। हर्ष चरित की कथा ऐतिहासिक है, जिसमें कुछ कल्पना का भी पुट है, यह उच्छ्वासों में विभक्त है तथा इसका वक्ता स्वयं बाण है। कादंबरी की कथा कल्पित है, उसका विभाजन किन्हीं उच्छ्वासादि में नहीं किया गया है तथा इसका प्रतिपाद्य कन्याप्राप्ति है, कथा को प्रस्तुत करने के लिए आरंभ में कथान्तर की योजना भी पाई जाती है।

हर्षचरित

हर्षचरित आठ उच्छ्वासों में विभक्त आख्यायिका है, जिसमें कवि ने

स्थाण्वीश्वर महाराज हर्षवर्धन के जीवन से संबद्ध कथा निवद्ध की है। कुछ विद्वानों ने हर्षचरित को ऐतिहासिक काव्य मान लिया है। यद्यपि हर्ष के ऐतिहासिक व्यक्तित्व से संबद्ध होने के कारण इस कृति को ऐतिहासिक मान लिया जाता है, तथापि बाण ने जिस शैली में कथा कही है, उसे देखने से ऐसा पता चलता है कि इसमें तथ्य तथा कल्पना-फैक्ट और फिक्शन-दोनों का संमिश्रण पाया जाता है। साथ ही हर्षचरित में भी कई लोक कथात्मक रुढियों (फोक-टेल मोटिफ़) का प्रयोग किया गया है। आरंभ में दधीचि तथा सरस्वती के प्रणय की गाथा, तृतीय उच्छ्वास में पुष्पभूति की कथा तथा अष्टम उच्छ्वास वाली मंदाकिनी एकावली की कहानी इन रूढियों में से कुछ हैं। ऐतिहासिक काव्यों में इस तरह की अलौकिक काल्पनिक कथाओं और रुढियों का समावेश ही उसे कल्पना का क्षेत्र बना कर अर्धैतिहासिक रूप दे देता है। बाद के संस्कृत चरितकाव्यों में इस प्रकार की काल्पनिक रुढियाँ बहुत प्रयुक्त होने लगी थीं। दूसरी वस्तु जो हर्षचरित को प्रमुखतः काव्य बना देती है, वह उसकी वर्णन शैली है। कवि का प्रधान ध्येय कल्पना के रंगीन ताने-बाने के द्वारा हर्ष का जीवनवृत्त बुनना भर है, यही कारण है, उसके जीवन से संबद्ध कथा-सूत्र पर उसका इतना ध्यान नहीं जान पड़ता और जब बाण की कल्पना बहुत लम्बी उड़ान ले चुकती है, तो वह हर्षचरित को एक अनिश्चित स्थान पर ही अधूरा छोड़ देता है। कादम्बरी को अधूरा छोड़ देने में बाण की असामयिक मृत्यु ही कारण है, किंतु हर्षचरित में केवल यही कारण जान पड़ता है कि कवि की कल्पनावृत्ति तृप्त हो चुकी थी।

हर्षचरित का प्रथम उच्छ्वास २२ पद्यों की प्रस्तावना से आरंभ होता है, जिसमें बाण ने अपने पूर्व के श्रेष्ठ कवियों व गद्य लेखकों की प्रशंसा की है। इस प्रस्तावना में महाभारत के रचयिता व्यास, वासवदत्ता के रचयिता

(संभवतः सुबंधु) तथा हरिचन्द्र के गद्य प्रबंध का श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। इनके अतिरिक्त शातवाहन के प्राकृत पद्य-समूह, प्रवरसेन के सेतुबन्ध, भास के नाटक तथा कालिदास की 'मधुरसान्द्र' कविता और गुणाढ्य की बृहत्कथा का आदर से नाम लिया गया है। इसी संबंध में बाण ने यह भी बताया है कि उदीच्य लोग काव्य में श्लेष अलंकार को अधिक पसंद करते हैं, पाश्चात्य लोग अर्थ पर ध्यान देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा को पसंद करते हैं और गौड देश के कलाकार अक्षरडम्बर में ही काव्य की रमणीयता मानते हैं।[1] पर बाण स्वयं इन सबके समूह को काव्य का गुण मानते हैं, वे यह चाहते हैं कि काव्य में नवीन अर्थ, सुसंस्कृत स्वभावोक्ति (जाति), सरल (अक्लिष्ट) श्लेष तथा रसप्रवणता हो, साथ ही विकटाक्षरबन्ध भी हो। इन सभी गुणों का एक साथ काव्य में समावेश अत्यधिक दुर्लभ है।[2] ऐसा जान पड़ता है कि बाण की शैली का आदर्श यही रहा है और इस आदर्श का स्फुट रूप हमें कादंबरी की शैली में परिलक्षित होता है। सुंदर अक्षरों की घटना से युक्त आख्यायिका की तुलना बाण ने एक स्थान पर उस सुखमय ललित शय्या से की है, जिसमें सोने के सोपान मार्ग बने हों। दूसरे स्थान पर कादम्बरी की ही भाँति कथा की तुलना नववधू से की गई है, जो किसी तरह सलज्ज पदन्यास से शय्या की ओर अग्रसर होती है।[3] डॉ. कीथ के मतानुसार बाण ने निम्न पद्य में अपनी कृति की रचना का उद्देश्य भी स्पष्ट किया है:—

आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते (१.१९)

---

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥ हर्षचरित (१.८)

२. हर्षचरित (१.९) ३. हर्षचरित (१.२१-२२)

'अपने हृदय में स्थित उस महान् राजा के उत्साहों का केवल स्मरण करने पर ही मेरी जिह्वा इतनी रुक जाती है कि जैसे वे इसे कवित्व में प्रवर्तित नहीं होने दे रहे हैं।' इस पद्य के द्वारा बाण ने एक ओर हर्ष के अपार गुणों की प्रशंसा की है, दूसरी ओर इस बात का संकेत किया है कि उसकी जिह्वा में उन गुणों का वर्णन करने की शक्ति नहीं।

प्रथम उच्छ्वास में बाण ने सर्वप्रथम अपने वंश का परिचय दिया है। इसमें बाण ने वात्स्यायन गोत्र के ब्राह्मणों की उत्पत्ति का संकेत करते समय दुर्वासा के द्वारा सरस्वती को शाप दिये जाने की कथा निबद्ध की है। शाप के कारण सरस्वती मर्त्यलोक में अवतार लेती है तथा सरस्वती के साथ सावित्री भी पृथ्वी में आती है। वे दोनों एक नद के किनारे लतामण्डप में बैठी थीं कि उधर से एक अठारह वर्ष का युवक घोड़े पर सवार होकर निकला, उसके साथ कई सैनिक थे। उसने सरस्वती को देखा तथा वे दोनों एक दूसरे के प्रति मोहित हो गये। यह कुमार च्यवन ऋषि का पुत्र दधीचि था। सरस्वती तथा दधीचि की प्रणय गाथा को प्रथम उच्छ्वास में बड़े विस्तार से वर्णित किया गया है तथा सावित्री और दधीचि के मित्र विकुक्षि के प्रयत्न से दोनों का मिलन हो जाता है। सरस्वती की वियोग-क्लान्तदशा का वर्णन करने में बाण की लेखिनी ने कलात्मकता का पूरा परिचय दिया है।[1] इसके बाद दोनों मिलते हैं तथा सरस्वती गर्भवती होकर सारस्वत नामक पुत्र को उत्पन्न करती है। सारस्वत का लालन पालन

---

१. स्वप्नासादितद्वितीयदर्शना च अकर्णाकृष्टकार्मुकेण मनसि निर्दयमताड्यत मकरकेतुना। प्रतिबुद्धाया मदनशरताडितायाश्च तस्या वार्तामिव उपलब्धुमरतिः आजगाम। तथा हि, ततः प्रभृति कुसुमधूलिधवलिताभिर्वनलताभिः अताडितापि वेदनामधत्त। मन्दमन्दमारुतविधुतैः कुसुमरजोभिः अदूषितलोचनाऽपि अश्रुजलं मुमोच। हंसपक्षतालवृन्तचयविधुतैः शोणशीकरैरसिक्ताऽपि आर्द्रतामगात्।

हर्षचरित (प्रथम उच्छ्वास)

एक ऋषिपत्नी अक्षमाला करती है और उसका पुत्र वत्स भी सारस्वत के साथ ही खेलता-कूदता, लिखता-पढ़ता बड़ा होता है। इसी के वंश में बाण के पूर्वज कुबेर पैदा होते हैं, जिनके कई पीढी बाद चित्रभानु पैदा होते हैं और उनके बाण नामक पुत्र उत्पन्न होता है। इसी संबंध में बाण ने अपने आवारापन का भी संकेत किया है।

द्वितीय उच्छ्वास में बाण को कृष्ण का पत्र मिलता है और वह राजा के दर्शन के लिए अपने गाँव से रवाना होता है। द्वितीय उच्छ्वास के आरंभ में ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन[1] तथा बाद में राजद्वार का वर्णन[2] अत्यधिक अलंकृत और कलात्मक है। बाण की समासान्तपदावली का एक रूप यहाँ देखा जा सकता है। बाण को पहले तो राजसभा में कोई आदर नहीं मिला, किंतु बाद में वे राजा के विश्वासपात्र बन जाते हैं। तृतीय उच्छ्वास में यह वर्णन है कि बाण कुछ दिनों बाद अपने गाँव लौटते हैं और उनके भाई उन्हें हर्ष का जीवनचरित्र कहने को कहते हैं। बाण हर्ष का चरित्र वर्णित करते हैं। इस उच्छ्वास से स्थाण्वीश्वर का विस्तार से अलंकृत वर्णन है,[3] तथा उसके राजाओं के कुलका वर्णन करते हुए एक काल्पनिक अर्धैतिहासिक राजा पुष्पभूति का संकेत किया गया है, जो हर्ष का पूर्वज था। यहीं पुष्पभूति तथा भैरवाचार्य नामक शैव योगी का सुंदर वर्णन पाया जाता है।

---

१. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास पृ० ११६-१२८ (कलकत्ता संस्करण)

२. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास पृ० १५२-१६३.

३. तत्र ... पद्मासनस्थितब्रह्मर्षिध्यानाधीयमानसकलकलाकुशलप्रशमः प्रथमोऽवतार इव ब्रह्मलोकस्य, कलकलमुखरमहावाहिनीशतसङ्कुलो विक्षेप इव उत्तरकुरुणाम्, ईश्वरमार्गणसन्तापानभिज्ञसकलजनो विजिगीषुरिव त्रिपुरस्य, सुधारससिक्तधवलगृहपङ्क्तिपाण्डुरः प्रतिनिधिरिव चन्द्रलोकस्य, मधुमत्तमत्तकाशिनीभूषणरवभरितभुवननामाभिहार इव कुबेरनगरस्य स्थाण्वीश्वराख्यो जनविशेषः।

हर्षचरित (तृतीय उच्छ्वास पृ० २६७-६८

हर्षचरित की वास्तविक कथा चतुर्थ उच्छ्वास से आरंभ होती है। प्रभाकरवर्धन का वर्णन करते समय बाण ने उसके शौर्य और पराक्रम से संबद्ध घटनाओं को नहीं लिया है। आरंभ में राजमहिषी यशोवती के स्वप्न का वर्णन है, जिसमें वह सूर्यमण्डल से निकल कर आते दो कुमारों तथा एक कुमारी को उदर में प्रविष्ट होते देखती है। बाद में यशोवती के प्रथम प्रसव का संकेत मिलता है। राज्यवर्धन के जन्म के बाद, हर्ष तथा राज्यश्री के जन्म का वर्णन तथा मौखरि गृहवर्मा के साथ राज्यश्री के विवाह की घटना निबद्ध की गई है। इसी उच्छ्वास में राज्यवर्धन के हूणविजय के लिए प्रस्थान का वर्णन है, हर्ष भी उसके साथ जाता है, किंतु वह बीच में मृगया के लिए रुक जाता है। इसी बीच हर्ष को अपने पिता की बीमारी की सूचना मिलती है। वह राजधानी को लौटता है, पर उस समय पिता की दशा अत्यधिक शोचनीय थी। इधर प्रभाकरवर्धन की मरणासन्न अवस्था को देखकर देवी यशोवती पहले से ही नदी के तीर पर चिता में सती होना चाहती है, हर्ष उसे रोकना चाहता है, पर वह पति के वियोग के पूर्व ही इस संसार से विदा हो जाना चाहती है। हर्ष किसी तरह इस मातृवियोग को सहता है। उधर प्रभाकरवर्धन भी पंचत्व को प्राप्त हो जाता है। षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन हूणों पर विजय प्राप्त कर वापस लौट आता है, वह राज्यभार हर्ष को सौंपना चाहता है, पर इसी बीच यह समाचार मिलता है कि मालवराज ने गृहवर्मा को मार डाला है तथा राज्यश्री को बन्दी बना लिया है। राज्यवर्धन भण्डि को दस हजार घोड़ों को तैयार करने की आज्ञा देकर मालवराज पर चढ़ाई करने को प्रस्थान करता है। हर्ष घर पर ही रहता है। इसी बीच यह खबर मिलती है कि राज्यवर्धन ने मालवराज पर तो विजय प्राप्त कर ली थी, किंतु लौटते समय वह गौडाधिप के द्वारा मारा गया। हर्ष उसी समय युद्ध घोषणा करना चाहता है, किंतु सेनापति सिंहनाद के कहने पर वह कुछ समय के लिए रुक जाता है।

सप्तम उच्छ्वास में हर्ष के सेनाप्रयाण का विस्तार से वर्णन है
प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा का एक दूत हर्ष के पास आकर उसे दि
आतपत्र भेंट करता है तथा इसी संबंध में छत्र की दैवी उत्पत्ति
काल्पनिक कथा पाई जाती है कि वह छत्र वरुण का था, जिसे नरक नाम
राजा ने वरुण से छीन लिया था। वही छत्र वंश-परम्परा से भगदत्त
प्राप्त हुआ और उसके कई पीढी बाद प्राग्ज्योतिषेश्वर को प्राप्त हुआ है
प्राग्ज्योतिष के राजा ने मित्रता के प्रतीक रूप में उसे हर्ष को भेंट किया है
अष्टम उच्छ्वास में हर्ष विन्ध्याटवी पहुँचता है तथा निषाद के साथ राज्यश्र
को ढूँढने के लिए वन में निकल पड़ता है। वे दोनों ऋषि दिवाकरमित्र
आश्रम में पहुँचते हैं। दिवाकरमित्र के तपोबल का वर्णन करने में बाण
अपनी कुशलता का परिचय दिया है। दिवाकरमित्र के आश्रमवर्णन व
तुलना हम कादंबरी के जाबालि ऋषि के आश्रम वर्णन से कर सकते हैं।
हर्ष दिवाकरमित्र से राज्यश्री के विषय में पूछता है। इसी बीच एक भि
आकर किसी स्त्री की चिता में जलने की तैयारी की सूचना देने आता है
हर्ष दौड़ता है और ठीक समय पर जाकर राज्यश्री को चिता में जलने
बचा लेता है। राज्यश्री दुखी जीवन का अन्त कर देना चाहती है, प

---

१. अथ प्रस्थिते राजनि कलकलत्रस्तदिङ्नागसूत्काररवइव इतस्ततस्तस्तार तारतर
तूर्याणां प्रतिध्वनिः आशातटेषु। दिग्गजेभ्यः प्रकुपितानां त्रिप्रस्तुतानां करिणां मद
प्रस्रवणवीथीभिः अलिकुलकालीभिः कालिन्दीवेणिकासहस्राणि इव सस्यन्दिरे
सिन्दूररेणुराशिभिः अरुणायमानबिम्बे रवौ अस्तमयसमयं शशङ्किरे शकुनयः। करि
पट्पदकोलाहलमांसलैः कर्णतालनिस्वनैः तिरोदधिरे दुन्दुभिध्वनयः।···अश्वीयश्वास
निक्षिप्तैः शिश्विन्दे सिन्धुवारदामशुचिभिः निरन्तरं अन्तरीक्षं फेनपिण्डैः। पिण्डी
भूततगरस्तबकपाण्डुराणि पपुरिव परस्परसंघट्टनष्टाष्टदिशं दिवसं उच्चचामीकर
दण्डानि आतपत्रवनानि। रजोरजनीनिमीलितो मुकुटमणिशिलावलीबालातपै
विचकास वासरः॥ हर्षचरित (सप्तम उच्छ्वास) पृ० ७४०-४१.

२. दे० हर्षचरित (अष्टम उच्छ्वास) पृ० ८५४-६१, कादम्बरी पृ० ८३-८९

दिवाकरमित्र उसे समझा बुझा देते हैं और राज्यश्री को लेकर हर्ष लौट आता है।

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हर्षचरित को 'ऐतिहासिक काव्य' कहना कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। हर्षचरित की प्रकृति मूलतः गद्य काव्य की है तथा केवल ऐतिहासिक कथावस्तु के चुनने के ही कारण यह ऐतिहासिक इसलिए नहीं माना जा सकता कि हर्षचरित की शैली, आत्मा तथा 'टेकनीक' सभी एक 'रोमैंटिक' कहानी का रूप लेकर आती है।

कादम्बरी

कादंबरी की कथा पूर्णतः कल्पित और निजंधरी है तथा इसका प्रतिपाद्य कन्यालाभ है। इसे 'कथा' कोटि के गद्य काव्य में माना जायगा, जिसका संकेत हम कर चुके हैं। हर्षचरित की ही भाँति कादम्बरी भी अधूरी ही छोड़ दी गई थी। मृत्यु के कारण बाण इसे पूरा न कर पाये और उनके पुत्र भूषण (अथवा पुलिंद) ने इसके उत्तरार्ध को पूर्ण किया। कादंबरी इसीलिए दो भागों में विभक्त है, पूर्वार्ध बाण की कृति है, उत्तरार्ध उनके पुत्र की। उत्तरार्ध में भी अलग से पद्यमय प्रस्तावना है। अवशिष्ट भाग का निर्वाह करने में बाण किस शैली का आश्रय लेते, इसका कोई संकेन हमें नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने तो उत्तरार्ध के उपसंहार को भी दोषपूर्ण माना है तथा कुछ लोगों का यह भी संदेह है कि क्या बाण स्वयं शूद्रक को चन्द्रापीड का इस जन्म का अवतरण मानना चाहते थे। पर जहाँ तक बाण की कथा के उपसंहार का प्रश्न है, यह संदेह निराधार जान पड़ता है। बाण ने पहले से ही कथा की रूपरेखा अवश्य बना ली होगी और तीसरे जन्म में पुराने प्रेमियों का मिलाप करा देना उनका ही प्रतिपाद्य रहा होगा। स्वयं बाण पुत्र ने इसका संकेत किया है।[1] जहाँ तक वर्णन शैली

१. बीजानि गर्भितफलानि विकासभाजि वप्त्रैव यान्युचितकर्मबलात्कृतानि

का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि बाण के पुत्र ने कथा को कुछ तेजी से समेट लिया है, संभवतः बाण प्रतिपाद्य तक मन्द गति से बढ़ते, और पता नहीं कितने वर्णनों, कितनी कल्पनाओं, कितनी सानुप्रासिक समासान्त वाक्यततियों के बाद कथा कहीं अपने लक्ष्य की ओर मुड़ती। जहाँ तक अलंकृत शैली का प्रश्न है, बाण का पुत्र अपने पिता के कई गुणों का प्रदर्शन करता है, किंतु बाण की कई शाब्दी कलाबाजियाँ भी वहाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनमें पुत्र ने अपनी कलाबाजियों को और जोड़ दिया है। उत्तरार्ध के आरम्भ में उसने कादंबरी को पूरा करने का केवल एक मात्र कारण यह बताया है कि कादंबरी को अधूरा देखकर सज्जन व्यक्ति दुखी हो रहे थे और पिता उसे अधूरी ही छोड़ गये थे, अतः सज्जनों को प्रसन्न करने के लिए इस कथा को पूरा किया गया है, इसमें बाणतनय का कोई 'कवित्वदर्प' कारण नहीं।

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य प्रारब्ध एव स मया न कवित्वदर्पात्॥

बाणतनय के पास पिता की भाँति कल्पना का अपार भाण्डार, अनुप्रासों की लड़ी पर लड़ी, वर्ण्य विषय की हर बारीकी को देखने की पर्यवेक्षणशक्ति नहीं दिखाई पड़ती। बाण की शैली के साथ उत्तरभाग की शैली की तुलना करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इतना होते हुए भी कई स्थानों पर बाणतनय की शैली में कलात्मकता का चरम परिपाक दिखाई देता है।[1]

उत्कृष्टभूमिविततानि च यान्ति पुष्टिं तान्येव तस्य तनयेन तु संहृतानि॥
(कादम्बरी उत्तरभाग ८)

१. बाणतनय की शैली के उत्कृष्ट स्थलों में एक स्थल यह है:—

स तु मामुपसृत्यान्यदृष्टिरदृष्टपूर्वोऽपि प्रत्यभिजानन्निव, असंस्तुतोऽपि चिरपरिचित इव, असम्भावितोऽप्युपारूढप्रौढप्रणय इव, अस्निग्धोऽपि परवानिव, प्रेम्णा शून्योऽपि किमप्यनुस्मरन्निव, दुःखिताकारोऽपि सुखायमान इव, तूष्णीमपि स्थितः

कादंबरी की कथा में चन्द्रापीड तथा पुण्डरीक दोनों नायकों के तीन तीन जन्म की कहानियाँ हैं। बाण की स्वयं की रचना को देखते हुए पूर्व भाग इस कथा के पूर्णतः विकसित होते होते ही समाप्त हो जाता है। आरंभ में विदिशा के राजा शूद्रक का विस्तार से वर्णन है, जिसके दरबार में एक चाण्डालकुमारी मनुष्य के समान बोलने वाले शुक को लेकर आती है, और वैशम्पायन नामक शुक के मुख से कादंबरी की कथा कहलाई गई है। तोते के मुँह से कथा के कुछ अंश के कहलवाने की कथानक रूढि का प्रयोग हमें वासवदत्ता में मिलता है, तथा बाद में भी लोककथाओं में पाया जाता है।[1] कादंबरी में कथा में कथा की योजना करने की रूढि का प्रयोग मिलता है। शुक की कथा के अन्तर्गत जाबालि के द्वारा कही गई चन्द्रापीड तथा वैशंपायन की कथा आती है और उसके बीच फिर महाश्वेता के द्वारा कही गई महाश्वेता तथा पुण्डरीक की प्रणय गाथा है। महाश्वेता से मिलने पर चन्द्रापीड कादंबरी का दर्शन करता है, और कादंबरी तथा चन्द्रापीड दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का प्रणय,

---

प्रार्थयमान इव, अपृष्टोऽप्यावेदयन्निवात्मीयामेवावस्थाम्, अभिनन्दन्निव, अनुशोचन्निव, हृष्यन्निव, कृष्यन्निव, विषीदन्निव, बिम्यदिव, अभिभवन्निव, हृत इव, आकांक्षन्निव, अनुस्मरन्निव विस्मृतम्, अनिमिषेण निश्चलस्तब्धपक्ष्मणान्तर्वाष्पपूरार्द्रेण कर्णान्तचुम्बिना विकसितेनेवामुकुलिततारकेण चक्षुषा मत्त इवाविष्ट इव विमुक्त इव पिबन्निवाकर्षन्निवान्तर्विशन्निव च सुचिरमालोक्याब्रवीत्। (कादंबरी–उत्तरभाग पृ० ६१०–११)

१. अपभ्रंश काव्यों में ऐसे कई बोलते पक्षी पाये जाते हैं, जो कथा के कुछ अंश के वक्ता के रूप में सामने आते हैं। मुनि कनकामर के करकण्डुचरिउ (करकण्ड चरित) में तो एक तोता ठीक बाण के वैशम्पायन की ही तरह दिखाई देता है। वैशम्पायन की तरह ही वह ऋषियों के आश्रम में भी रहा है तथा उसने शास्त्रों का अध्ययन किया है। बाण के शुक की भाँति वह भी राजसभा में आकर चरण उठाकर राजा को आशीर्वाद देता है।

(दे० कनकामर—करकण्डचरित परिच्छेद आठ पृ० ७४)

जो कथा का वास्तविक केन्द्र है, कादंबरी-कथा में बहुत बाद में उपन्यस्त किया जाता है, तथा इसके पहले कि उनका प्रणय सफल हो, चन्द्रापीड को उज्जयिनी लौट आना पड़ता है। ताम्बूलकरंकवाहिनी पत्रलेखा चन्द्रापीड के पास आकर कादंबरी का संदेश देती है और यहीं बाण का पूर्वभाग समाप्त हो जाता है। उत्तरभाग में चन्द्रापीड कादंबरी से मिलने रवाना होता है, वह महाश्वेता के पास पहुंचता है। महाश्वेता से उसे अपने मित्र वैशंपायन की विपत्ति का पता चलता है। वैशंपायन महाश्वेता को देख कर मोहित हो जाता है तथा एकान्त में प्रणय का प्रस्ताव रखता है। तपस्विनी महाश्वेता उसे शाप दे देती है और वह तोता बन जाता है। इधर मित्र की विपत्ति को सुन कर चन्द्रापीड भी देहत्याग कर देता है। कादंबरी आकर विलाप करती है। चन्द्रापीड का शरीर मृत्यु के बाद भी निर्विकार बना रहता है। तारापीड और देवी विलासवती पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर अत्यधिक उद्विग्न होते हैं। जाबालि की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। बाद में शुक (पुण्डरीक) को ढूँढता हुआ उसका मित्र कपिंजल जाबालि के आश्रम में आ जाता है, तथा अपने मित्र को इस दशा में देख कर बड़ा दुखी होता है। एक दिन शुक जाबालि के आश्रम से उड़ निकलता है और किसी चाण्डाल के द्वारा पकड़ा जाता है, वह उसे अपनी पुत्री को दे देता है। यह चाण्डाल कन्या ही उसे शूद्रक के पास लेकर आती है। शुक स्वयं इसके बाद का वृत्तान्त नहीं जानता तथा वह उसे यहां क्यों लाई है, इसे भी नहीं जानता। तब चाण्डाल कन्या अपना वास्तविक परिचय देते समय बताती है कि वह पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है, तथा पुण्डरीक ही उस जन्म का वैशंपायन तथा इस जन्म का शुक है। शूद्रक स्वयं पिछले जन्म में चन्द्रापीड था और उसके पूर्व स्वयं भगवान् चन्द्रमा, जिसे मदनज्वालावदग्ध पुण्डरीक ने शाप दे दिया था। इतना कह कर लक्ष्मी अन्तर्धान हो जाती है। लक्ष्मी के जाने पर शूद्रक और शुक भी अपना यह शरीर छोड़ देते हैं। चन्द्रापीड का शव

पुनर्जीवित हो जाता है, आकाश से पुण्डरीक उतरता हुआ दिखाई देता है। महाश्वेता तथा पुण्डरीक और कादंबरी तथा चन्द्रापीड का मिलन होता है, और वे कभी चन्द्रलोक में तथा कभी मर्त्यलोक में विहार करते विविध सुखों का उपभोग करते हैं।[1]

बाण को अपनी कथा की कल्पना बृहत्कथा के राजा सुमनस् (या सुमानस) की कहानी से मिली होगी, तथा उसी की भाँति शाप और पुनर्जन्म की कथानक रूढ़ियों का प्रयोग कादंबरी में किया गया है। किंतु बृहत्कथा की कथा को ज्यों का त्यों यहाँ नहीं लिया गया है तथा दोनों कथाओं का उपसंहार भिन्न-भिन्न प्रकार का है। कथा के अंदर दूसरी कथा की योजना संभवतः बृहत्कथा की ही पद्धति है। इसी पद्धति का प्रयोग पंचतंत्र की नीतिकथाओं में भी मिलता है। कथासरित्सार में भी इस कथा-शृंखला की शैली पाई जाती है, जहाँ क के द्वारा ख की कथा, ख के द्वारा ग की कथा, तथा ग के द्वारा घ की कथा सुनाई जाती है और एक कथा दूसरी कथा में इतनी घुल-मिल जाती है कि पाठक कभी-कभी तो खास कहानी को बिलकुल भूल जाता है। पंचतंत्र में इसी पद्धति में थोड़ा हेर-फेर पाया जाता है, जहाँ कहानियों के पात्र स्वयं कथा या अवांतर कथा कहते हैं। दशकुमारचरित में दण्डी ने कहानी कहने की शैली में एक और नई योजना की है। यहां प्रत्येक राजकुमार अपने द्वारा अनुभूत घटनाओं का वर्णन उत्तम पुरुष की शैली में करता है। वेतालपंचविंशति में अनेक कहानियों को एक ही प्रतिपाद्य से संबद्ध कर दिया गया है। लोककथाओं में कई कहानियों में उत्तम पुरुष वाली शैली का प्रयोग करना इसलिये भी

---

१. ......न केवलं चन्द्रमाः कादंबर्या सह, कादंबरी महाश्वेतया सह, महाश्वेता तु पुण्डरीकेण सह, पुण्डरीकोऽपि चन्द्रमसा सह, परस्पराावियोगेन सर्व एव सर्वकालं सुखान्यनुभवन्तः परां कोटिमानन्दस्याध्यगच्छन् ॥ (कादम्बरी उत्तरभाग पृ० ७११)

आवश्यक हो जाता है कि अन्य पात्र उसे उस वैयक्तिक अनुभव के रंग में नहीं रंग सकता। कादंबरी में ही शुक तथा महाश्वेता की कहानियाँ उत्तम पुरुष की प्रणाली में कही गई हैं। जाबालि की कहानी में अन्य पुरुष की शैली का प्रयोग मिलता है, पर जाबालि का त्रिकालदर्शी अलौकिक चरित्र, जो अपनी दिव्यदृष्टि से समस्त घटनाओं से परिचित है, तथा प्रत्येक घटना को करतलामलकवत् वर्णित कर सकता है, उसमें वैयक्तिक अनुभव की तरलता का संचार कर देता है।

बाण की कादम्बरी कथा में लोककथा की कई रूढ़ियों का प्रयोग पाया जाता है; मनुष्य की तरह बोलता हुआ सर्वशास्त्र-विशारद शुक, त्रिकालदर्शी महात्मा जाबालि, मर्त्यलोक से दूर हिमालय के स्वर्गीय वातावरण में रहने वाले किन्नर, गंधर्व और अप्सराएँ, शाप के कारण आकृतिपरिवर्तन, पुनर्जन्म की धारणा, तथा पूर्वजन्म के जातिस्मरण से संबद्ध कई 'लोककथा रूढियों' (फोक-टेल मोटिफ) की बाण ने विनियोजना की है। बाण के पात्र मर्त्यलोक में चलते-फिरते दण्डी के यथार्थवादी पात्र नहीं हैं, बल्कि चन्द्रलोक, गंधर्वलोक तथा मर्त्यलोक में निर्बाध गति से संचार करने वाले आदर्श पात्र हैं। कादम्बरी की कथा भी शाकुन्तल की भाँति 'पृथ्वी तथा स्वर्ग का संमिश्रण' कही जा सकती है। बाण को कथा तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी कथा कहने के ढंग में है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि बाण के चरित्र सर्वथा जीवनशून्य हैं। कादंबरी के चरित्र भले ही आदर्शवादी बाण के हाथ की कठपुतली जरूर हैं, पर बाण ने उनका संचालन इतनी कुशलता से किया है कि उनमें चेतनता संक्रान्त हो गई है। शुकनास का बुद्धिमान् तथा स्वामिभक्त चरित्र, वैशंपायन की सच्ची मित्रता और महाश्वेता के आदर्श प्रणयी चरित्र की रेखाओं को बाण की तूलिका ने स्पष्टतः अंकित किया है। पर बाण का मन तो नायक-

को गद्य में कहता है तथा उसके बीच-बीच के कई भागों को पद्य से सजा देता है। गद्य के बीच-बीच में पद्य का प्रयोग तो हम जातककथाओं तथा पंचतंत्र की नीतिकथाओं में भी पाते हैं, पर उनकी शैली में एक भेद है। वहाँ कथा का मुख्य कलेवर गद्य में ही निबद्ध होता है तथा सूक्तिरूप या नीतिरूप वाक्यों को पद्य में उपन्यस्त किया जाता है, कभी-कभी पद्य में समस्त कथा के सार को भी दे दिया जाता है। चम्पू काव्यों में ठीक इसी तरह का पद्यप्रयोग नहीं होता। गद्य के साथ पद्य का प्रयोग तो आर्यशूर की जातकमाला में भी मिलता है। हरिषेण के शिलालेख वाले काव्य में भी एक साथ गद्य-पद्य प्रयुक्त हुए हैं और उसे चम्पू का आदि रूप कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट है कि अलंकृत गद्यशैली के साथ पद्यों का प्रयोग सबसे पहले प्रशस्ति काव्यों में ही आरंभ हुआ है और उसी से यह शैली साहित्य में एक स्वतंत्र शैली के रूप में आ गई है।

'चम्पू' शब्द दण्डी से भी पुराना है, पर चम्पू शब्द के उद्भव तथा व्युत्पत्ति का पूरा पता नहीं चला है। विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति चुरादिगण के गत्यर्थक 'चपि' धातु से उप्रत्यय से 'चम्पयति, चम्पति इति चम्पूः'[1] इस तरह मानी है। दण्डी ने ही गद्यपद्यमयी राजस्तुति तथा गद्यपद्यमयी कथा का भेद बताते हुए प्रथम को विरुद तथा द्वितीय को चम्पू कहा था। काव्यादर्श में दण्डी की परिभाषा यों है—

'गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते' (१.३१)।

चम्पू शब्द का प्रयोग अग्निपुराण में भी मिलता है[2] तथा काव्यानु-

---

१. श्रीहरिदास भट्टाचार्य के मतानुसार 'सहृदयों को चमत्कृत करके पवित्र करने वाला विस्मित करके प्रसन्न करने वाला काव्य' चम्पू है।

(चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयतीति चम्पूः।)

२. मिश्रं चम्पूरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा (अग्निपुराण ३३६.३८)

साथ बाण का भी नाम लिया है, अतः स्पष्ट है त्रिविक्रम बाण से बहुत बाद के हैं। भोजराज के सरस्वतीकंठाभरण में नलचम्पू का एक पद्य उद्धृत है,[1] अतः त्रिविक्रम भोज से पूर्व रहे हैं, यह भी निश्चित है। ईसवी सन् ९१५ का एक लेख बरार के नवसारी ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इसमें राष्ट्रकूट राजा इन्द्रराज के राज्याभिषेक के समय सुवर्णतुलादान में कई गाँव ब्राह्मणों को दिये गये, इसका संकेत मिलता है। इस लेख का रचयिता कोई त्रिविक्रम भट्ट था, यह भी इसी से पता चलता है। यही त्रिविक्रम भट्ट नलचम्पू के रचयिता हैं।[2] इस प्रकार त्रिविक्रम का समय दसवीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। त्रिविक्रम की दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, एक नलचम्पू या दमयन्तीकथा, दूसरी मदालसाचम्पू। मदालसाचम्पू इतनी प्रसिद्धि न पा सकी, पर नलचम्पू के कारण त्रिविक्रम बाण के परवर्ती गद्य लेखकों में प्रमुख माने जाते हैं, तथा विद्वानों ने इनके श्लेष-प्रयोग की बहुत प्रशंसा की है।

नलचम्पू उच्छ्वासों में विभक्त कथा है, जिसमें नल और दमयन्ती के प्रणय की कहानी निबद्ध की गई है। पर चम्पू में सारी कथा नहीं पाई जाती और ग्रन्थ बीच में ही समाप्त हो जाता है। श्रीहर्ष का नैषध तो उनके मिलन तथा विहारादि के बाद समाप्त होता है, पर नलचम्पू की

---

१. पर्वतभेदिपवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पयः पश्यत पयोष्णी॥ (नलचम्पू ६.२९)

२. त्रिविक्रम भट्ट के संरक्षक इन्द्रराज तृतीय राष्ट्रकूट वंश के राजा थे। इनके पितामह कृष्णराज द्वितीय थे। राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी मान्यखेट (बरार) थी। मान्यखेट दसवीं शती में संस्कृत तथा अपभ्रंश कवियों का गढ़ था। इन्द्रराज के पौत्र कृष्णराज तृतीय के समय यशस्तिलकचम्पू के रचयिता सोमदेव सूरि तथा कविरहस्य के रचयिता हलायुध हुए थे। कृष्णराज तृतीय के समय ही प्रसिद्ध अपभ्रंश काव्य महापुराण के रचयिता जैन कवि पुष्पदंत थे। त्रिविक्रम के वंशजों में भी सातवीं पीढ़ी में प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य उत्पन्न हुए थे।

कथा ठीक वहीं समाप्त हो जाती है, जब नल दमयन्ती को देवताओं का संदेश सुनाता है और दमयन्ती अपनी सखी प्रियंवदिका के द्वारा देवताओं का वरण करने से मना कर देती है। प्रियंवदिका दमयन्ती की रुचि का प्रदर्शन करती हुई कहती है कि भले ही देवता सुंदर हों, समृद्धिशाली हों और भले ही नल दमयन्ती को स्वर्गोपभोग के योग्य माने (अभूमिरसि मर्त्यलोकस्तोकसुखानाम्), पर कमलिनी तो सूर्य के तीव्र ताप को ही पसन्द करती है, उसे चन्द्रमा की अमृतस्यन्दिनी किरणों का समूह अच्छा नहीं लगता; मालती लता पानी के सेक से मुरझा जाती है। किसी विशेष व्यक्ति के लिये कोई विशेष वस्तु आकर्षण-केन्द्र बन जाती है, प्रेम में कोई विशेषगुण कारण नहीं जान पड़ता। कोकिल की काकली से रमणीय समस्त बन वसन्त ऋतु में पल्लवित हो उठता है, पर मालतीलता पुष्पित नहीं हो पाती, इसमें कोई खास हेतु नहीं है। यह सब अपनी रुचि पर निर्भर है कि दमयन्ती देवताओं को वरण नहीं करना चाहती।

'तीव्रतपनतापप्रियाम्भोजिनी न सहते स्तोकमप्यमृतद्रवमुचो रुचश्चन्द्रस्य परिम्लायति मालतीमालिका सलिलसेकेन। प्रसिद्धं चैतत्—

भवति हृदयहारी कापि कस्यापि कश्चिन्न
खलु गुणविशेषः प्रेमबन्धप्रयोगे।
किसलयति वनान्ते कोकिलालापरम्ये
विकसति न वसन्ते मालती कोऽत्र हेतुः ॥'

(सप्तम उच्छ्वास)

प्रियंवदिका के द्वारा दमयन्ती के इस उत्तर को सुनकर नल वापस लौट जाता है। रात भर उसकी आंखों के आगे दमयन्ती की सुंदर मूर्ति घूमती रहती है, कामदेव उसे सताता रहता है, रात बीतती नहीं, उसे नींद

भी नहीं आती और नाना प्रकार के तर्क-वितर्क के कारण जगते हुए, वियोगजनित दुःख के कारण आँखों में आँसू भरे, राजा नल शिव के चरणकमलों में चित्त लगा कर किसी तरह रात व्यतीत करता है।[1] नलचम्पू यहीं समाप्त हो जाता है।

नलचम्पू के अधूरे रहने के विषय में पुराने पंडितों में एक किंवदंती प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि त्रिविक्रम के पिता नेमादित्य अपने समय के प्रसिद्ध पंडित थे। वे किसी राजा के सभापंडित थे। उनका पुत्र त्रिविक्रम महामूर्ख निकला। एक समय त्रिविक्रम के पिता विदेश गये थे। पीछे से कोई विरोधी पंडित राजा के पास आया और राजा से कहा कि वह सभापंडित के साथ शास्त्रार्थ करना चाहता है। राजा ने त्रिविक्रम के पिता को बुलाया, पर वे थे नहीं। त्रिविक्रम को बड़ा कष्ट हुआ, उसने सरस्वती से प्रार्थना की कि पिता के पाडित्य की लज्जा रखने के लिए वह त्रिविक्रम को यह शक्ति दे कि वह उस विरोधी पंडित को परास्त कर सके। सरस्वती ने त्रिविक्रम को तब तक के लिए अमोघ पांडित्य दे दिया, जब तक उसके पिता विदेश से न लौट आयँ। त्रिविक्रम ने राजसभा में जाकर विरोधी पंडित को शास्त्रार्थ में हरा दिया। इसके बाद त्रिविक्रम ने सोचा कि जब तक पिता लौट कर न आयें, तब तक कोई यशस्य कृति की रचना कर दूँ। उसने नलचम्पू लिखना आरंभ किया। पिता के आने के समय तक इसके सात उच्छ्वास लिखे जा चुके थे। पिता के आते ही सरस्वती के वचनानुसार त्रिविक्रम पुनः मूर्ख बन गया और नलचम्पू अधूरा रह गया। पर इस

---

१. अपसरति न चक्षुषो मृगाक्षी रजनिरियं च न याति नैति निद्रा।
प्रहरति मदनोऽपि दुःखितानां बत बहुशोऽभिमुखीभवन्त्यपायाः॥
इति विविधवितर्कावेशविध्वस्तनिद्रः सकलजडिम मीलत्पक्ष्म चक्षुर्दधानः।
हरचरणसरोजद्वन्द्वमाधाय चित्ते नृपतिरपि विदग्धः स त्रियामामनैषीत्॥
(७. ४९-५०)

किंवदंती में कोई सार नहीं जान पड़ता। संभव है, त्रिविक्रम ने दमयंती के द्वारा देवताओं के वरण का निषेध करा कर भावी वृत्त की व्यंजना कराने के लिए काव्य को यहीं समाप्त कर देना ठीक समझा हो।

नलचम्पू तथा श्रीहर्ष के नैषध का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि श्रीहर्ष को नैषध की रचना की प्रेरणा नलचम्पू से ही मिली थी। नलचम्पू के द्वितीय उच्छ्वास के उपवनविहार वर्णन ने नैषध के प्रथम सर्ग के उपवनविहार वर्णन को प्रभावित किया है। वनपालिका की भंगश्लेषोक्तिकुशलता के द्वारा नलचम्पू में तत्तत् वृक्षादि का वर्णन मिलता है, तो नैषध में भी वनपाल हाथ के इशारे से उपवनसौंदर्य को निवेदित करता है।[1] इसी उच्छ्वास में राजा एक राजहंस को पकड़ लेता है। यहीं कलहंसों की श्लिष्ट नर्मोक्तियों की योजना की गई है। नलचम्पू में हंस को छोड़ने के लिए आकाशवाणी का आदेश मिलता है, पर श्रीहर्ष ने नैषध में हंस का करुण विलाप उपन्यस्त कर काव्य में एक सुंदर स्थल की उद्भावना की है। नलचम्पू के द्वितीय तथा तृतीय उच्छ्वास में लोककथा की रूढि का प्रयोग किया गया है, जहाँ हंस कथा के कुछ अंश का वक्ता बन कर कथा को गति देता देखा जाता है। द्वितीय उच्छ्वास में ही कवि दमयन्ती के जन्म की कथा कहने लगता है—'अस्ति विस्तीर्णमेदिनी······दक्षिणो देशः' और दमयंती के जन्म तथा सौंदर्य की कथा तृतीय उच्छ्वास के अंत में समाप्त होती है।[2] श्रीहर्ष ने भी द्वितीय सर्ग में हंस के मुख से दमयंती जन्म का

---

१. इति भंगश्लेषोक्तिकुशलया वनपालिकया निवेद्यमानानि वनविनोदस्थानान्यवलोकयांचकार। (नलचम्पू, द्वितीय उच्छ्वास पृ० ३९)

निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननकामनीयकम् (नैषध, प्रथम सर्ग)

२. तदेष तस्या सकलयुवजनमनोमयूरवासयष्टेः समस्तसंसारसौन्दर्याधिदेवतायाः कथितो वृत्तान्तः। (नलचम्पू, तृतीय उच्छ्वास पृ० ८८)

तथा नखशिख का वर्णन कराया है। चतुर्थ उच्छ्वास में हंस दमयंती के पास पहुँचता है तथा उसे नल का वृत्तान्त सुना कर नल के प्रति आकृष्ट करता है। ठीक यही नैषध के तृतीय सर्ग का विषय है। पंचम उच्छ्वास के अंत में नल के पास इन्द्रादि देवता आते हैं तथा उससे यह प्रार्थना करते हैं कि वह दमयंती के पास जाकर उनका यह संदेश कह दे कि वह उन चारों में से किसी एक देवता का वरण कर ले। नैषध के पंचम सर्ग में भी इसी विषय की योजना की गई है। षष्ठ उच्छ्वास में नल के कुंडिनपुर जाने का वर्णन तथा मार्ग में विन्ध्याटवी का वर्णन है। सप्तम उच्छ्वास में नल को आया पाकर कुण्डिनेश्वर भीम उसका स्वागत करते हैं और इसी उच्छ्वास में नल दमयंती के पास देवताओं का संदेश पहुँचाते हैं। श्रीहर्ष ने इस प्रसंग की योजना दूसरे ही ढंग से की है, वहाँ नल छिप कर जाता है तथा दमयंती से बातें करते हुए अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।

त्रिविक्रम की काव्य-कुशलता

संस्कृत साहित्य में त्रिविक्रम श्लेष प्रयोग के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। श्लेष का प्रयोग हम सुबंधु में भी देखते हैं, सुबन्धु ने तो अपने आपको 'प्रत्यत्तरश्लेषमयप्रबंधविन्यासवैदग्ध्यनिधि' घोषित किया था। पर सुबंधु की श्लेष-योजना के विषय में विद्वानों को दो आपत्तियाँ हैं, प्रथम तो सुबंधु के श्लेष दूरारूढ़ होते हैं, दूसरे उसकी श्लेष-योजना में प्रायः अभंग श्लेष का ही चमत्कार रहता है। त्रिविक्रम की श्लेष-योजना एक ओर सरल होती है, दूसरी ओर सभंग भी। सभंग श्लेष की सरल योजना करने में त्रिविक्रम के समान पटु कोई भी कवि नहीं दिखाई देता। सभंग श्लेष का प्रयोग तो कई कवियों ने किया है, पर उनकी अर्थप्रतीति में पदों को इतना तोड़ना पड़ता है कि श्लेष-योजना कठिन हो जाती है तथा अर्थप्रतीति में सहृदय पाठक को दुःसाध्य परिश्रम करना पड़ता है। त्रिविक्रम

के सभंग श्लेषों में यह बात नहीं पाई जाती और पाठक थोड़े से परिश्रम से दोनों पक्षों का अर्थ ग्रहण कर लेता है। त्रिविक्रम के विरोध तथा परिसंख्या भी इसी तरह सरल श्लेष पर आधृत होते हैं। त्रिविक्रम श्लेष के इतने शौकीन हैं कि उनके मतानुसार पुण्यशाली कवि ही सुंदर, नाना प्रकार के श्लेष अलंकार से युक्त वाणी की रचना करने में समर्थ हो सकता है। ऐसा सौभाग्यशाली बिरल ही होता है, जिसके घर में सदा प्रसन्न रहने वाली, शोभासम्पन्न तथा नाना प्रकार की आश्लेष-कला में निपुण रमणियाँ तथा मुख में प्रसादगुणयुक्त, कांतिनामक गुण से सुंदर नाना प्रकार के श्लेष अलंकार तथा श्लेष गुण से सम्पन्न वाणी होती हैं।[1] छोटे-छोटे अनुष्टुप् छंदों में सरल सभंग श्लेष की योजना करने में निःसंदेह त्रिविक्रम की वाणी बड़ी विचक्षण है।

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।

सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव ॥ (१.६)

कुछ कवि तो बालकों की तरह होते हैं, जो सुप्-तिङ् आदि पदों के विन्यास करने में बहुत लापरवाह होते हैं तथा सहृदय पाठकों में कोई रुचि (राग) नहीं पैदा करते, ये लोग बिना कारण बहुत कुछ बका करते हैं। बालक भी परों को रखने में कुशल नहीं होते, माता के स्नेह को उत्पन्न करते हैं तथा उनके मुँह से बहुत सी 'लार' गिरा करती है। इस पद्य का सारा चमत्कार 'पदन्यासे', 'जननीरागहेतवः' तथा 'बहुलालापाः' के श्लिष्ट प्रयोग तक ही सीमित है।

स्पष्ट है, त्रिविक्रम का प्रधान लक्ष्य शाब्दी क्रीडा है। यही कारण है कि त्रिविक्रम को इतिवृत्त या कथा के निर्वाह की इतनी फिक्र नहीं है।

---

१. प्रसन्नाः कांतिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः ॥ (नलचम्पू १.४)

प्रथम उछ्वास का मृगयावर्णन तथा षष्ठ उछ्वास का विन्ध्याटवीवर्णन इतने लंबे हैं कि वे कथाप्रवाह को बिलकुल रोक देते हैं। त्रिविक्रम वर्णन तथा श्लेषयोजना के द्वारा ही अपना कवित्व प्रदर्शित करना चाहते हैं और सप्तम उछ्वास पर ही कथा को समाप्त कर देना भी इस बात की पुष्टि करता है कि कवि का ध्यान कथा की ओर बिलकुल नहीं है। शाब्दी क्रीडा की ही भाँति त्रिविक्रम प्रौढ़ोक्ति या आर्थी क्रीडा में भी दत्त हैं। त्रिविक्रम ने अपनी आर्थी क्रीडा से आकाश में गंगा और यमुना दोनों को बहा कर प्रयाग की सृष्टि कर दी है और इस अनूठी कल्पना से प्रसन्न हो पुराने पंडितों ने त्रिविक्रम को 'यमुना-त्रिविक्रम' की उपाधि से विभूषित कर दिया है, जैसे भारवि को 'आतपत्र-भारवि' तथा माघ को 'घण्टा-माघ' की उपाधि से विभूषित किया गया था। त्रिविक्रम का वह प्रसिद्ध पद्य यों हैं:—

उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुताया-
मनुसरति निशीथे शृङ्गमस्ताचलस्य।
जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च॥ (नलचम्पू ६.१)

प्रातःकाल का समय होने वाला है। वैतालिक राजा नल को जगाने के मंगल पाठ कर रहे हैं। एक वैतालिक प्रातःकाल का वर्णन करता हुआ गा रहा है। 'रात बीत चुकी है। प्रातःकाल होने वाला है। उदयाचल की चोटी पर अरुणोदय हो रहा है तथा उसका प्रकाश चमक रहा है। अस्ताचल की चोटी पर रात्रि का अंधकार उतर चला है। आकाश के एक ओर प्रकाश है, दूसरी ओर अंधकार और आकाश के बीचोंबीच प्रकाश तथा अंधकार दोनों की घुली मिली आभा दिखाई दे रही है। उस धूपछाहीं को देख कर ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे हल्के काले रंग की यमुना का जल निर्मल श्वेत कांति वाली गंगा के जल से मिश्रित हो गया हो।'

त्रिविक्रम ने अपनी कल्पना से आकाश में यमुना की भी सृष्टि कर दी, गंगा (आकाशगंगा) की सृष्टि तो वहाँ पहले से थी ही। नलचम्पू के व्याख्याकार चण्डपाल ने इसलिए त्रिविक्रम की तुलना 'त्रिविक्रम' (विराट् रूप विष्णु) से की थी, जिसके पद ('यामुनं' पद; विष्णु के पैर) ने निर्मल आकाश में यमुना की भी सृष्टि कर दी।[1]

भावात्मक स्थलों में भी त्रिविक्रम श्लेषप्रयोग से नहीं हटते। दमयंती के हृदय में नल के प्रति अनुराग उत्पन्न हो रहा है, उसके शरीर पर रतिभाव के सूचक सात्त्विकभाव दिखाई पड़ रहे हैं। त्रिविक्रम ने दमयंती की इस स्थिति का वर्णन करने में प्रौढ़ोक्ति तथा श्लेषोक्ति की विचित्र चमत्कृति उत्पन्न कर दी है—

'अत्र विश्रान्तवाचि वाचस्पताविवोच्चारितानष्टविस्पष्टवर्णे वर्णितनिषध-राजे राजहंसे 'अहं सेवार्थी' इत्यभिधायोपरुध्यमाना कृतोत्तरासंगेन द्विजन्मना श्रुतानुरागेण, 'वत्से चिरान्मिलितासि' इत्युक्त्वैवाश्लिष्टा हृदये प्रवृद्धया चिन्तया, 'पुत्रि, कथं कथमपि दृष्टासि' इति संभाष्येवालिंगिता सर्वांगेषूत्कम्पजनन्या रोमांचाद्यवस्थया, 'तरुणि, त्यज्यतामिदानीं शैशवव्यवहारः', इत्यभिधायेव मुग्धे स्पृष्टा प्रमुखेण मुखे वैवर्ण्येन, 'मुग्धे मुच्यतां स्वच्छन्दभावः' इत्यनु-शास्येव ग्राहिता निजाज्ञां गुरुणा मकरध्वजेन दमयन्ती।'

(नलचम्पू, चतुर्थ उछ्वास)

'जब बृहस्पति के समान राजहंस स्पष्ट वर्णों में निषधराज का वर्णन कर चुप हो गया, तो दमयंती के हृदय में नल के प्रति श्रुतानुराग (गुणश्रवणजनित प्रेम) उत्पन्न हुआ, मानों वह अनुराग, जो उस राजहंस

१. प्राच्याद् विष्णुपदीहेतोरपूर्वोऽयं त्रिविक्रमः।
निर्ममे विमले व्योम्नि तत्पदं यमुनामपि॥ (चण्डपाल)

के गुणकथन से उत्पन्न हुआ था, जो अब दमयंती के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था, दमयंती से यह प्रार्थना कर रहा हो कि वह दमयंती की सेवा के लिए ठीक वैसे ही प्रस्तुत है जैसे वह पक्षी (राजहंस) प्रस्तुत था, अथवा जैसे वह कोई उत्तरीयधारी वेदपाठी ब्राह्मण हो, जो दमयंती के पास आकर बार-बार उससे यह निवेदन कर रहा हो कि वह उसकी सेवा के लिए प्रस्तुत है। दमयंती के हृदय में अनुराग के कारण गाढ़ चिन्ता उत्पन्न हुई, जैसे चिन्ता कोई बूढ़ी पितामही हो, जो दमयंती को हृदय से लगा कर कह रही हो, 'बेटी, तुम बड़े दिनों बाद मिली हो'। रागोद्बोध के कारण दमयन्ती के शरीर में कंप तथा रोमांच उत्पन्न हो गया, जैसे कांपती हुई रोमांचित माता दमयंती के पास आकर उसे सारे अंगों में आलिंगन कर यह कह रही हो 'बेटी, किसी तरह मैंने तुम्हें देख लिया'। दमयंती के मुख में वैवर्ण्य नामक सात्त्विकभाव उत्पन्न हो गया, जैसे भोली दमयंती को देख कर घर का कोई प्रमुख व्यक्ति मुख पर उसका स्पर्श कर यह कह रहा हो, 'तरुणि, अब तेरा बचपन निकल गया है, इसलिए बचपन के खेल छोड़ दे' उसके हृदय में कामदेव का अत्यधिक वेग उठ रहा था, जैसे कामदेवरूपी गुरु दमयंती को शिक्षा देकर अपनी इस आज्ञा को समझा रहा हो, 'भोली, स्वच्छन्दता को छोड़ दो'।

यहां तत्तत् सभंगश्लेष के द्वारा कवि ने दमयंती की अनुरागजनित अवस्था का वर्णन करते हुए, उसके कम्प, रोमांच, वैवर्ण्य जैसे सात्त्विकभाव, चिंतादि संचारीभाव, तथा चांचल्याभावादि वयःसंधिगत अनुभावों की ओर संकेत किया है, पर कवि का सारा चमत्कार शाब्दी क्रीडा तक ही रह जाता है, फलतः सहृदय पाठक को दमयंती की औत्सुक्य जनित प्रथम रागोद्बोध दशा का कोई अनुभव नहीं हो पाता। उक्ति का सारा सौंदर्य सभंग श्लेष या हेतूत्प्रेक्षा तक ही सीमित रह गया है।

दमयंती के नखशिख वर्णन में भी कवि का खास ध्येय उसके सौंदर्य का बिम्ब ग्रहण कराना न होकर साधर्म्यमूलक अर्थालङ्कार की माला उपस्थित कर देना भर रहा है। कवि की सारी शक्ति दमयंती का सरस चित्र उपस्थित करने में असफल रहती है और उसकी उक्ति का चमत्कार उत्प्रेक्षा के प्रयोग तक ही है।

'इतस्ततो निपतन्मण्डनमणिमयूखमञ्जरीजालच्छलेनामान्तमिव कांतिरस-विसरमुत्सृजन्तीं, अशेषांगावयवेषु प्रतिबिंबितैरासन्नचित्रभित्तिरूपकैर्मायाविभिः सुरासुरैरिव विधीयमानाश्लेषां, अग्रस्थिते पद्मरागमणिदर्पणे कंदर्पातुरे रागिणि शशिनीव करुणयार्पितच्छायां, अशेषजगद्विजयास्त्रशालामिव मन्मथस्य, संकेत-वसतिमिव समस्तसौंदर्यगुणानां, अधिदेवतामिव सौभाग्यस्य, विपणिमिव लाव-ण्यस्य, शिल्पसर्वस्वपरिणामरेखामिव विधातुः, अनन्तसंसाररोहणैकरत्नकन्दलीं दमयन्तीमद्राक्षम्।' (सप्तम उच्छ्वास)

नल के द्वारा दमयंती के पास भेजा गया पर्वतक वापस आकर दमयंती के सौंदर्य का वर्णन कर रहा है:—'तब मैंने प्रासाद के सातवें मंजिल पर पहुँच कर वातायन के पास बैठी हुई उस दमयन्ती को देखा, जो अपनी आभूषण मणियों के इधर उधर फैलते हुए प्रकाश-जाल के द्वारा मानों अपने ही शरीर में आवश्यकता से अधिक होने के कारण न माते हुए कांतिरस का उत्सृजन कर रही हो। उसके समस्त अंगों पर चित्रभित्तियों में चित्रित कल्पित देवताओं और दैत्यों के प्रतिबिंब प्रतिफलित हो रहे थे, जैसे वे दमयंती का आलिंगन कर रहे हों। वह अपने सम्मुख स्थित पद्मरागमणि के दर्पण की ओर देख रही थी, जैसे मदनातुर रागी (प्रेम से युक्त, लाल रंग वाले) चन्द्रमा को करुणा से अपनी शोभा का दान कर रही हो। दमयन्ती मानों कामदेव की अस्त्रशाला है, जिसे उसने समस्त संसार का विजय करने के

लिए सजा रखा है, वह मानों संसार के सारे सौंदर्य गुणों की संकेत भूमि है, सौभाग्य की अधिष्ठात्री देवता है, लावण्य की विपणि है, ब्रह्मा की समस्त शिल्प-कृति की चरम सीमा है, और समस्त संसाररूपी रोहणगिरि की रत्नशलाका है।'

त्रिविक्रम का प्रकृतिवर्णन भी इसी प्रकार प्रौढोक्ति या श्लेष से काफी लदा हुआ है। प्रकृति वर्णन प्रायः उद्दीपन के रूप में पाया जाता है। समस्त जगत् को भ्रम में डालने वाली दुग्धफेन-धवल चन्द्रिका का भ्रांतिमान् अलंकार की भंगिमा से किया गया वर्णन सुंदर है। पर इसका सौंदर्य कवि प्रतिभोत्थापित भ्रांतिमान् तक ही है।

मुक्तादाममनोरथेन वनिता गृह्णन्ति वातायने,
गोष्ठे गोपवधूर्दधीति मथितुं कुम्भीगतान्वाञ्छति।
उच्चिन्वन्ति च मालतीषु कुसुमश्रद्धालवो मालिकाः,
शुभ्रान्विभ्रमकारिणः शशिकरान्पश्यन्न को मुह्यति॥ (२.३७)

'लोगों को भ्रम में डाल देने वाली श्वेत चन्द्रकिरणों को देख कर कौन मोहित नहीं हो जाता? झरोखों पर गिरती हुई किरणों को रमणियाँ मोती की लड़ें समझ कर उनका ग्रहण करना चाहती हैं, गोपिकाएँ बाड़े में रखे हुए घड़ों में उन्हें देखकर दही समझ लेती हैं और उसे मथने की इच्छा करती हैं, मालती लता के ऊपर छिटकी हुई शशिकिरणों को मालिनियां मालती के फूल समझ कर चुनने लग जाती हैं।'

पंचम तथा षष्ठ उच्छ्वास का विन्ध्याटवी वर्णन भी प्रकृतिवर्णन की दृष्टि से ह्रासोन्मुखी काल की प्रवृत्ति का परिचय देता है, जहाँ शृङ्गार के उद्दाम संकेतों के साथ, समासांतपदावली और आनुप्रासिक चमत्कार की छटा देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए नर्मदा का निम्न वर्णन लीजिये—

एषा सा विन्ध्यमध्यस्थलविपुलशिलोत्संगरंगत्तरंगा
संभोगश्रान्ततीराश्रयशबरवधूशर्मदा नर्मदा च।
यस्याः सान्द्रद्रुमालीललिततलमिलत्सुन्दरीसंनिरुद्धैः
सिद्धैः सेव्यन्त एते मृगमृदितदलत्कन्दलाः कूलकच्छाः ॥ (५.३५)

'यह वह नर्मदा नदी है, जो विन्ध्यपर्वत के मध्य भाग में स्थित विपुल शिलाओं के बीच से टकराती हुई शब्द करती हुई लहरों से सुशोभित है, तथा जो रतिक्रीडा के कारण थकी हुई और तीर पर विश्राम करती हुई भीलनियों को सुख देने वाली है। इस नर्मदा के किनारे के वे प्रदेश, जहाँ के कंदलों को हिरनों ने कुचल डाला है, सघन वृक्षों की पंक्तियों के नीचे अनुराग से मिलती हुई सुंदरियों से युक्त सिद्ध जाति के देवताओं के द्वारा सेवित किये जाते हैं।'

निम्न प्रकृतिवर्णन एक साथ वर्षा तथा अभिसारिका का श्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है—

'अथ कदाचिदुन्नमत्पयोधरान्तरपतद्धारावलीविराजिताः, कमलदलकांत-नयनाः, सुरचापचक्रवक्रभ्रुवः, विद्युन्मणिमेखलालंकारधारिण्यः, शिञ्जाना-मुक्तकलहंसकाः, प्रौढकरेणुसंचारहारिण्यः, कम्रकंधराः, तिरस्कृतशशांककांति-कलापोच्चमुखमण्डलाः सकलजगज्जेगीयमानगुणमिममनुपमरूपलावण्यराशिरा-जितं राजानमिवावलोकयितुमिवावतरन्ति स्म वर्षाः।' (प्रथम उच्छ्वास)

'समस्त संसार के द्वारा जिसके गुणों का गान किया जा रहा है, ऐसे अनुपम रूपलावण्य से युक्त राजा नल को मानों देखने के लिए वर्षा (रूपिणी स्त्रियाँ) (पृथ्वी पर) उतर आईं। वर्षा पानी के भार से झुके हुए बादलों के बीच से गिरती जलधारा से उसी तरह सुशोभित हो रही थीं, जैसे रमणियाँ उन्नत स्तनों के बीच हिलते हुए हारों से सुशोभित होती

हैं। वे कमलपत्रों से सुंदर थीं, जैसे रमणियाँ कमल पत्र के समान सुंदर नेत्र वाली होती हैं। इन्द्रधनुष ही उसकी टेढ़ी भौहें थीं और रमणियों की भौंहें इन्द्रधनुष के समान होती हैं। वर्षा बिजली की मणि-मेखला धारण किये थी तथा पानी के वेग से युक्त थी, रमणियाँ उज्ज्वल मणिमेखला तथा अन्य अलंकारों से युक्त होती हैं। वर्षा में शब्द करते हुए कलहंस मानस के प्रति उन्मुख होकर इस प्रदेश को छोड़ देते हैं, रमणियों के सुंदर हंस (बिछुए) शब्द करते हैं। वर्षा में जल के गिरने के कारण धूल उड़ना बंद हो जाता है अतः वह सुंदर लगती है, रमणियाँ हथिनी के समान मनोहर गति वाली होती हैं। वर्षा में सुंदर बादल (कम्रकंधराः) दिखाई पड़ते हैं, रमणियों की गर्दन लज्जा के कारण झुकी रहती है। वर्षा में अपने पिच्छ से चंद्रमा की कांति को तिरस्कृत करने वाले मयूर मेघ की ओर ऊँचा मुँह किये दिखाई पड़ते हैं, रमणियाँ चन्द्रमा के सौंदर्य को तिरस्कृत करने वाले मुख से सुशोभित होती हैं।'

इन क्लिष्ट श्लिष्ट उद्धरणों को देने का प्रयोजन यह था कि त्रिविक्रम की उन विशेषताओं की ओर संकेत कर दिया जाय, जिनके कारण संस्कृत पण्डितों ने उनकी प्रशंसा की है। इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व त्रिविक्रम की शैली से विरोध तथा परिसंख्या का एक एक उदाहरण दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

(१) यश्च नीतिमत्पुरुषाधिष्ठितोऽप्यनीतिः, सवटोऽप्यवटसंकुलः, कारूप-युतोऽप्यपगतरूपशोभः। (प्रथम उछ्वास)

'जिस देश में नीतिमान् पुरुष रहते थे, फिर भी वहाँ अनीति (अकाल आदि का अभाव) थी, वहाँ वट (बरगद) के पेड़ थे, फिर भी वह अवटसंकुल (बरगद के पेड़ से रहित, गड्ढों से युक्त) था, वह कुत्सित

रूप से युक्त था (चित्रकारों–कारुवरों से युक्त था), फिर भी उसका सौंदर्य नष्ट न हुआ था।'

(२) यत्र च गुरुव्यतिक्रमं राशयः, मात्राकलहं लेखशालिकाः, मित्रोदयद्वेषमुलूकाः, अपत्यत्यागं कोकिलाः, बन्धुजीवविघातं ग्रीष्मदिवसाः कुर्वन्ति न जनाः। (प्रथम उच्छ्वास)

'जिस देश के निवासी न तो कभी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन ही करते हैं, न माता के साथ कलह ही, वे मित्र के वैभव को देखकर द्वेष नहीं करते, न अपने पुत्रादि का त्याग ही करते हैं, न बांधवों के जीवन का अपहरण ही। गुरु (बृहस्पति) का उल्लंघन केवल मेषादि राशियाँ करती हैं, मात्रा का प्रदर्शन केवल लेखिकाएँ करती हैं, केवल उल्लू ही सूर्य (मित्र) के उदय से शत्रुता करते हैं, कोयलें ही अपनी संतान का त्याग करती हैं, और ग्रीष्म के दिन में ही बन्धूक के फूल गिरते हैं।'

त्रिविक्रम की शैली से स्पष्ट है कि बाण के शाब्दी क्रीडा वाले पक्ष को त्रिविक्रम ने और बढ़ाया और इसका प्रभाव बाद के सभी गद्य काव्यों पर देखा जा सकता है। एक ओर धनपाल की तिलकमंजरी जैसे गद्यकाव्य दूसरी ओर सोमदेव सूरि के यशस्तिलकचम्पू तथा हरिचंद्र के जीवंधरचम्पू जैसे चम्पूकाव्यों में यह प्रभाव परिलक्षित होता है। त्रिविक्रम के बाद संस्कृत साहित्य में चम्पूकाव्यों की बाढ़-सी आ गई है, जो एक साथ संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी गद्य तथा पद्य दोनों के परिचायक हैं।

मुक्तक कवि

अमरुक

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक की तुलना करते समय जिस उपमा का प्रयोग किया गया है, वह इन दोनों के अन्तर को बताने में पूर्णतः समर्थ है। प्रबंध काव्य को उन्होंने एक विस्तृत वनस्थली माना है, तो मुक्तक को एक चुना हुआ गुलदस्ता। समस्त वनस्थली के सौंदर्य का परिशीलन करने के लिए हमें समय चाहिए, परिश्रम के बिना वह साध्य भी नहीं; पर सुंदर गुलदस्ता हमारे समक्ष काव्य-वनस्थली के चुने हुए सूक्ष्म किंतु रमणीय परिवेप को उपस्थित कर देता है। चाहे कुछ विद्वान् मुक्तक के रसपरिपाक को प्रबन्धकाव्य के रसपरिपाक से कुछ नीचे दर्जे का मानें, पर मुक्तक के एक-एक पुष्प-स्तबक में मन को रमाने की अपूर्व क्षमता होती है। यह दूसरी बात है कि रसपरक मुक्तक कविता का एकमात्र उद्देश्य रस-व्यञ्जना होता है। शुक्लजी जैसे पण्डित आनंद की सिद्धावस्था के मुक्तक काव्यों को, इसलिए अधिक सम्मान देते नहीं दिखाई देते कि वहाँ आनंद की साधनावस्था वाला, जीवन का गत्यात्मक (Dynamic) चित्र उपस्थित नहीं किया जाता, जो प्रवंधकाव्यों में उपलब्ध होता है। किंतु जहाँ भावुक सहृदय की दृष्टि से विचार करने का प्रश्न उपस्थित होता है, मुक्तक काव्यों की भावतरलता बाजी मार ले जाती है। मुक्तक का रस चाहे (शुक्लजी के शब्दों में) कुछ छींटें ही हों, जिनसे कुछ देर के लिए हृदय-कलिका खिल उठती हो, पर ये ही वे तुषार-कण हैं, जो हृदय की कलिका में पराग का संचार कर मानव-जीवन को सुरभित बनाते रहते हैं। मानव के घात-प्रतिघातमय कटु जीवन के फफोलों पर मलहम का काम कर ये मुक्तक काव्य ही, उन

फफोलों की खुजली को, भले ही कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, शान्त कर देते हैं। चित्त को रमाने की जो अपूर्व क्षमता सफल मुक्तक काव्यों में देखी जाती है, वह प्रबंधकाव्यों में नहीं और सम्भवतः यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने अमरुक कवि के एक-एक मुक्तक पद्य पर सैकड़ों प्रबन्ध काव्यों को न्यौछावर करने की घोषणा की थी।

संस्कृत साहित्य में अमरुक की छोटी-सी मुक्तक-मालिका, जिसमें पूरी १०८ भी मुक्तामणियाँ नहीं गुँथी हैं,[१] पता नहीं कब से सहृदय रसिकों तथा आलंकारिक पण्डितों का एक साथ गले का हार बनी हुई है। इस माला की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इसका प्रत्येक मुक्तक सुमेरु है, प्रत्येक मणि 'नायकत्व' (मध्यमणित्व) को प्राप्त करती देखी जाती है, कौन पद्य किससे बढ़ चढ़ कर है यह निर्णय देना कठिन है, हर पद्य में अपनी अलग-से विशेषता है और उस विशेषता के लिए वह सारे संस्कृत मुक्तकों में बेजोड़ है। अमरुक के मुक्तक वे मणिदीप हैं, जिन्होंने भावी मुक्तक कवियों का मार्ग-दर्शन किया है, ये वे उपरितन-सीमा-स्पर्शी जल-चिह्न हैं, जहाँ तक भावी मुक्तक रस की कोई बाढ़ नहीं पहुँच पाई है। शृंगार रस के विविध पक्षों को उपस्थित करने में अमरुक की तूलिका अपना सानी नहीं रखती, और उसके चित्रों का बिना तड़क-भड़क वाला किंतु अत्यधिक प्रभावशाली रंग-रस, उसकी रेखाओं की बारीकी और भंगिमा अमरुक के कारुवर की कलाविदग्धता का सफल प्रमाण है।

अमरुक के जीवनवृत्त के विषय में कुछ पता नहीं, यद्यपि किंवदंतियों ने अमरुक को भी नहीं छोड़ा है। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन (९५० ई०) ने अमरुक का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है और अमरुक के कई सरस

---

१. अमरुकशतक के अलग-अलग संस्करणों में अलग-अलग पद्य संख्या है, जो ९० से ११५ तक पाई जाती हैं, किंतु इनमें समान पद्य केवल ५१ पाये जाते हैं।

पद्यों को उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है। ध्वन्यालोककार के बाद तो प्रायः सभी आलंकारिकों ने अमरुक के पद्यों को रस-प्रकरण और नायक-नायिका भेद प्रकरण में उदाहृत किया है। आनंदवर्धन से पहले वामन (८०० ई०) ने भी अमरुक के तीन पद्यों को रचयिता के नाम का उल्लेख न करते हुए उदाहृत किया है। इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि अमरुक वामन के समय तक प्रसिद्धि पा चुके थे और उनका समय ७५० ई० से पहले रहा होगा। कुछ विद्वान् अमरुक की कृति को कालिदास के ही आस-पास की चौथी-पाँचवीं सदी की मानते हैं, किंतु अमरुक को इतना पुराना मानना ठीक नहीं। अन्य विद्वानों का मत है कि अमरुक के मुक्तक भर्तृहरि के शृंगारशतक के मुक्तकों से प्रभावित जान पड़ते हैं, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि अमरुक सातवीं सदी के बाद रहे हैं। हमारा अनुमान है कि भर्तृहरि तथा अमरुक समसामयिक थे। यह संभव है कि अमरुक और भर्तृहरि में एक पीढ़ी का अंतर रहा हो, अर्थात् अमरुक भर्तृहरि से २५-३० वर्ष छोटे हों। अमरुक को हर्ष, बाण, मयूर आदि का समसामयिक मानना ही हमें अभीष्ट है तथा उन्हें हम संस्कृत साहित्य के विकासकालीन मुक्तकों का प्रतिनिधि मानते हैं। वैसे तो अमरुक को काश्मीर का एक राजा मानकर शंकराचार्य के साथ जोड़ने की किंवदंती पाई जाती है कि किस प्रकार दिग्विजय के लिए निकले हुए ब्रह्मचारी शंकर शास्त्रार्थ में कामकेलि-संबंधी शास्त्रीय प्रश्नों के पूछे जाने पर उत्तर देने की मुहलत माँग कर काश्मीर गये और वहाँ योगविद्या से, मरे हुए राजा अमरुक के शरीर में प्रवेश कर उसकी सौ रानियों के साथ विलास कर पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में आकर प्रतिपक्षी (मण्डन मिश्र की पत्नी) को जीत सके। उसी काल में शंकराचार्य ने अमरुकशतक की रचना की थी। यद्यपि यह पूरा गपोड़ा चल पड़ा है, पर इस गपोड़े में भी एक तथ्य छिपा है, जो अमरुक

के जन्मस्थान का संकेत करता है। अमरुक काश्मीर के निवासी थे और इस बात की पुष्टि उनके नाम से भी होती है, जो काश्मीरियों की खास पहचान है, कैयट, जैयट, मम्मट, कल्लट, वज्रट, विल्हण, कल्हण, जैसे नामों की तरह शङ्कुक जैसे नाम भी काश्मीरियों में मिलते हैं। अमरुक और शंकुक के नामों में भी यही काश्मीरीपन की तुक दिखाई पड़ती है।

अमरुक के नाम से केवल एक ही रचना उपलब्ध है, अमरुकशतक। इसके कई संस्करण भारत तथा विदेश में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें पूर्ण समानता नहीं पाई जाती। अमरुकशतक के विभिन्न संस्करणों में पद्य संख्या से ९० से ११५ तक पाई जाती है। जर्मनी में प्रकाशित स्यूकेर्त, श्रोएदर, तथा बोतलिंक के संस्करणों में अमरुक के कुछ ही पद्यों का संग्रह है। काशी से संवत् १९४४ में प्रकाशित अमरुशतक में—जिसके साथ रविचन्द्रकृत टीका भी प्रकाशित हुई है—पूरे सौ पद्य हैं। अमरुशतक के विभिन्न संस्करणों को देखने से पता चलता है कि इनमें ५१ पद्य समान हैं। कई पद्य जो एक स्थान पर अमरुक के माने गये हैं, अन्यत्र नहीं पाये जाते। उदाहरण के लिए 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि प्रसिद्ध पद्य अमरुक की कृति माना जाता है, किन्तु रविचन्द्र की टीका वाले उक्त प्राचीन संस्करण में यह पद्य नहीं मिलता। ऐसा जान पड़ता है कि कई संस्करणों ने अमरुक के वास्तविक पद्यों को छोड़ दिया है, और कई अन्य कवियों के पद्य भी अमरुक के शतक में समाविष्ट हो गये हैं। सम्भवतः विकटनितम्बा, शीलाभट्टारिका जैसी कवयित्रियों के भी दो तीन पद्य इनमें मिल गये हों। इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या अमरुक के पद्यों की संख्या पूरी सौ थी? वस्तुतः 'शतक' शब्द का प्रयोग 'अनेक' के अर्थ में प्रयुक्त होता रहता है, तथा अमरुक के पद्य सौ से कम या अधिक रहे होंगे। अमरुक के समस्त प्रामाणिक पद्यों के विषय में हम कुछ निर्णय नहीं दे सकते, तथापि प्राप्त पद्य उसकी महत्ता स्थापित करने में अलम् हैं।

अमरुक का वास्तविक प्रतिपाद्य रस शृंगार है। शृङ्गार के संयोग तथा विप्रलंभ दोनों पक्षों का वर्णन यहां मिलता है, तथा पण्डितों ने तत्तत् प्रकार के नायक-नायिकादि के चित्रों को उसके मुक्तक पद्यों में ढूँढा है। कुछ लोगों ने यहां तक घोषणा करने का साहस किया है कि अमरुक ने तत्तत् नायक-नायिकादि की विधा को ध्यान में रख कर इन चित्रों का सृजन किया था। किंतु यह मत मान्य नहीं। अमरुक के मुक्तकों को कामशास्त्र की तत्तत् नियमसरणि को ध्यान में रखकर लिखा गया नहीं माना जा सकता। अमरुक ने स्वच्छन्द रूप में इन मुक्तकों की रचना की है, जिनमें तत्कालीन विलासी दाम्पत्य-जीवन तथा प्रणय-व्यापार का सरस चित्र है, बाद में आलंकारिकों ने इनमें अपने लक्षणों के अनुरूप गुण पाकर इन्हें लक्ष्य के रूप में उदाहृत करना आरंभ किया, और इस प्रवृत्ति की अधिकता ने ही उपर्युक्त भ्रांति को जन्म दिया है। कुछ विद्वान् इससे भी आगे बढ़ गये हैं। वे अमरुकशतक के पद्यों से एक साथ शृङ्गार और शान्त दोनों रसों की व्यंजना मानते हैं। रविचन्द्र ने अपनी टीका में अमरुक के प्रत्येक पद्य का शान्त रसपरक अर्थ भी बताया है। यह शान्तरसपरक अर्थ निकालने की कल्पना का कारण वही गपोड़ा है, जो अमरुक को शंकराचार्य से अभिन्न मानता है।[1]

अमरुक के पद्य मुक्तक काव्य है। मुक्तक काव्य वह है, जिसमें प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है, वह एक छोटा-सा स्वतः पूर्ण चित्र होता है, उसे

१. ननु शृङ्गारशतमित्यस्य प्रसिद्धेः कथं शान्तिरसोऽत्र, तत्र उच्यते भगवान् शङ्कराचार्यो दिग्विजयच्छलेन काश्मीरमगमत्। तत्र शृङ्गाररसवर्णनार्थं सभ्यैरभ्यर्थितः शृङ्गारी चेत् कविः काव्यजातं रसमयं जगदिति वचनादित्यमरुनाम्नो राज्ञो मृतस्य परवपुःप्रवेशविद्यया शरीरप्रवेशं कृत्वा स्त्रीशतेन सह केलिं विधाय प्रातस्तथा कारयामास। पिशुनैः कापटिकोऽयमाजन्मब्रह्मचारीत्युपहसितः शान्तिरसमत्र व्याचष्टे इति किंवदन्त्यतः शान्तिरसमत्र व्याचक्षते शान्तस्य मोक्षसाधनत्वात्॥

रविचन्द्र टीका. पृ० १. (१९४४ सं०)

प्रसंगादि के लिए किसी दूसरे पद्य की अपेक्षा नहीं होती। प्रबंधकाव्य या खण्डकाव्य में प्रत्येक पद्य एक दूसरे से गुँथा रहता है, एक कड़ी की तरह दूसरी कड़ी में जुड़ कर प्रबन्ध की शृङ्खला का सृजन करता है। मुक्तक काव्य एक ही कृति के डोरे में पिरोये हुए अलग-अलग मोती है, जो एक दूसरे से सर्वथा विलग रहते हैं। यही कारण है कि मुक्तक काव्य की रचना अत्यधिक कलाकृतित्व का परिचय देती है। स्वतःपूर्णता का संचार करने के लिए उसमें भाव-पक्ष की परिपूर्णता, कला-पक्ष का सौष्ठव तथा भाषा की समास-शक्ति अत्यधिक अपेक्षित है। प्रबंधकाव्य की अपेक्षा ऊँचे दर्जे के मुक्तक काव्यों की रचना अधिक परिश्रमसाध्य मानी जा सकती है। संस्कृत के इन मुक्तक काव्यों को, जिनका प्रतिनिधित्व अमरुकशतक करता है, हम पूरी तरह तो 'लिरिक' नहीं कह सकते, क्योंकि 'लिरिक' काव्यों में जो वैयक्तिकता प्रधानतया पाई जाती है, वह इनमें स्वाभाविक रूप में न आकर अत्यधिक कृत्रिम रूप में आती है।

संस्कृत मुक्तकों का उदय हम वैदिक साहित्य के भावप्रवण सूक्तों से ही मान सकते हैं, पर उनकी अखण्डपरम्परा अमरुक तक नहीं मानी जा सकती। वैसे थेरीगाथा और थेरगाथा (पालि-साहित्य) में भी कई भावप्रवण मुक्तक उपलब्ध होते हैं, तथा इसी प्रकार के भावप्रवण मुक्तक लोकगीतों (लोक-साहित्य) में भी पाये जाते होंगे। कुछ विद्वानों ने तो हाल की गाथाओं को लोकसाहित्य के मुक्तकों का ही संग्रह मान लिया है। किंतु हाल की गाथाओं के विषय में हम इस मत से सहमत नहीं हैं। हाल की गाथाओं में भले ही ग्राम-वातावरण का चित्र हो, चाहे उनके भाव और कल्पनाएँ ग्रामीण परिवेष को लेकर आती हों, किंतु उनकी रचना किन्हीं साहित्यिकों के मँजे हाथों ने की है, लोक-साहित्य के कोमल भोले हाथों ने नहीं। अमरुकशतक के पूर्व हाल के द्वारा संगृहीत 'सत्तसई' का यह रूप न भी रहा हो, उन

प्राकृत कवियों की कई गाथाएँ अवश्य विद्यमान थीं, जिनका संग्रह हाल या आढ्यराज ने किया है। इसके साथ ही संभव है, अमरुक को भर्तृहरि के श्रृङ्गारशतक से भी प्रेरणा मिली हो।

अमरुक का भावपक्ष

श्रृंगार की विविध स्थितियों का वर्णन करने में अमरुक बड़े दक्ष हैं। संयोग तथा विप्रलंभ के उद्दीपन एवं आलंबन विभाव, अनुभाव, सात्विक-भाव एवं संचारीभावों की व्यंजना कराने में वे सफल हुए हैं। एक ही पद्य में श्रृंगार के विविध व्यञ्जकों का उपस्थापन कर वे रस-चर्वणा कराने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। नवोढा मुग्धा के साथ हास-परिहास करते प्रिय, खण्डिता प्रौढा के ताने और तर्जना सहते धृष्ट नायक, विदेश में जाते प्रिय को रोकने के लिए आँसू की नदी बहाने वाली प्रवत्स्यत्पतिका, नूपुर और काञ्ची से घन अन्धकार में भी अभिसरण की सूचना देती कामिनियों के चित्र अमरुक के खास चित्र हैं। इनमें एक ओर परस्पर अनुरक्त दम्पतियों के प्रेमालाप, मान-मनौवन के पारिवारिक चित्र हैं, तो दूसरी ओर गुप्त प्रणय के चित्र भी हैं। अमरुक का लक्ष्य केवल सहृदय को श्रृंगार रस की चर्वणा कराना है और यही कारण है, वे न नीतिवाद के फेर में ही पड़ते हैं, न कलापक्ष के घटाटोप में ही फँसते हैं। भर्तृहरि मूलतः नीतिवादी हैं, यही कारण है, भर्तृहरि का श्रृंगारवर्णन श्रृंगार के सामान्य रूप को, स्त्री-पुरुष के प्रणय के सामान्य वातावरण को, उपस्थित करता है, अमरुक के पद्य प्रणय के किन्हीं विशिष्ट दृश्यों की योजना करते हैं, जिनमें अपना निजी व्यक्तित्व (Individuelity) दिखाई पड़ता है। अमरुक रसवादी कवि हैं, और परवर्ती श्रृंगारी मुक्तक कवियों की तरह कला-पक्ष पर ज्यादा जोर नहीं देते। जयदेव तथा जगन्नाथ पण्डितराज अपनी मुक्तक कविताओं में भाव से भी अधिक ध्यान शब्द-

योजना पर, पद-लालित्य पर रखते हैं। अमरुक पद-विन्यास की सतर्कता के फेर में नहीं फँसते। भाव स्वतः अपने अनुरूप वाणी में ढलकर बाहर आ निकलता है। यद्यपि आलंकारिकों और टीकाकारों ने अमरुक के कई पद्यों में पद-दोष ढूँढे हैं, पर उन्होंने यह भी घोषणा की है कि अमरुक की कविता में पद-दोष होने पर भी वह पद-दोष प्रकारान्तर से रसचर्वणा में साधक ही बनता दिखाई देता है। इस संबंध में एक प्रसिद्ध पद्य ले लिया जाय—

गाढालिंगनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद माति मामलमितित्क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किन्नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्॥

कोई नायक रति के आनन्द में विभोर नायिका की अवस्था का वर्णन कर रहा है। इस नायिका को अत्यधिक गाढ आलिंगन करने के कारण इसके स्तन दब गये और आलिंगनजनित सुख के कारण इसके रोमांच उद्बुद्ध हो गये हैं (फूट पड़े हैं), अत्यधिक स्नेह-रस के कारण इसका अधोवस्त्र नितम्ब से बार बार खिसकता जा रहा है, आलिंगन-जनित मर्दन की पीडा को न सह सकने के कारण यह टूटे-फूटे वचनों में 'हे प्रिय, नहीं, नहीं, मुझे अधिक नहीं......' इस प्रकार कहती हुई निश्चेष्ट हो गई है। क्या वह सो गई? यदि यह निद्रामग्न होती तो श्वास चलते रहते, पर इसके श्वास भी नहीं चल रहे हैं, तो क्या यह मर गई? क्या यह मेरे मन में छिप गई? या घुल-मिल गई है?

आलंकारिकों ने इसे रति का वर्णन माना है। प्रस्तुत पद्य में नायिका के रोमांच तथा प्रलय नाम सात्त्विक भाव, टूटे-फूटे वचनों का बोलना और नितंब के वस्त्र का खिसकना उद्दीपन विभाव तथा नायक के

वितर्क नामक संचारीभाव की व्यञ्जना कराई गई है। इस पद्य में 'मा मा मानद माति मामलमिति' इस अंश में न्यूनपदत्व दोष है, क्योंकि यहाँ वाक्य में क्रिया की आकांक्षा बनी रहती है, पर यह दोष भी यहाँ गुण हो गया है। रति-सुख के कारण मोह को प्राप्त होती हुई नायिका के वचनों का अधूरे होना, वाक्य का पूर्ण न होना, 'औचित्य' का पालन बन गया है। साहित्यिक पण्डित इस पद्य की नायिका को 'मोहान्तसुरतक्षमा' प्रौढा तथा नायक को अनुकूल मानेंगे।

पति के घर नई आई हुई मुग्धा नायिका की लज्जाशीलता का चित्रण करने में अमरुक दक्ष हैं। पति उसके आँचल के छोर को पकड़ कर उसे जाने से रोकना चाहता है और पति की इस चेष्टा को न चाहते हुए भी वह लज्जा से अपना मुँह झुका लेती है। जब पति जबर्दस्ती आलिंगन करना चाहता है तो वह अपने अंगों को एकदम हटा लेती है। हँसती हुई सखियों की ओर देखकर वह उन्हें मन से तो उत्तर देना चाहती है, पर मुँह से कुछ नहीं कह पाती। पति के घर पर जब नववधू का पहले पहल परिहास किया जाता है, तो वह लज्जा से हृदय में दुःखी होती रहती है, क्योंकि लज्जा के कारण वह इन परिहास चेष्टाओं का कोई उत्तर नहीं दे पाती।

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम्।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः॥

मुग्धा नायिका का कितना स्वाभाविक वर्णन है। इस पद्य में मुखनमनादि अनुभावों के द्वारा नायिकागत व्रीडा नामक संचारीभाव की पुष्टि कराई गई है और ये सब मिलकर संयोग शृंगार की व्यञ्जना कराते हैं। मुग्धा के पति

ने सबसे पहले कोई परांगनासक्ति संबंधी अपराध किया है। वह खुद यह भी नहीं जानती कि पति से गुस्सा भी करे तो कैसे करे। आखिर इस तरह की नाराजी की भी तो शिक्षा मिलना जरूरी है। उसे अब तक किसी ने पति से नाराज होने की कला ही नहीं सिखाई है, किसी सखी ने इस संबंध का कोई उपदेश नहीं दिया है। पति से क्रोध करने के समय जिस तरह की मुखाकृति आदि बनानी पड़ती है, जिस तरह की वक्रोक्ति का प्रयोग करना पड़ता है, उसे वह जानती ही नहीं। पर उसे यह पता लग चुका है कि प्रिय ने कोई अपराध अवश्य किया है और उसके मन को यह व्यवहार बुरा लगा है। उसे अपनी दशा पर कष्ट हो आता है, वह प्रिय पर तो गुस्सा नहीं करती, पर स्वयं नेत्र की पँखुडियों को डालती हुई, निर्मल कपोल पर ढुलकते हुए स्वच्छ अश्रुकणों से—जिनमें चंचल बाल छलकते दिखाई दे रहे हैं—केवल रोती हुई कोप की व्यंजना करा रही है।

> सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
> नो जानाति सविभ्रमांगवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।
> स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
> बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः॥

किसी स्त्री का पति विदेश जा रहा है। जिस देश में वह जारहा है, वह इतना दूर है कि उसे पहुँचने में ही बहुत समय (दिन-रात) लगेंगे। पर बेचारी भोली-भाली नायिका को यह क्या पता कि वह बहुत दूर जा रहा है, साथ ही उसे तो प्रिय की क्षण भर की जुदाई भी सहन न हो सकेगी। इसीलिए वह यह जानना चाहती है कि उसका प्रिय विदेश तो जा रहा है, पर कब तक लौट आयगा। क्या वह एक पहर बाद लौट आयगा? यदि एक पहर बाद न आसके तो मध्याह्न में तो आ ही जायगा ना? यदि मध्याह्न

में भी नहीं आ सके, तो अपराह्न में तो अवश्य लौट आयगा? अथवा वह सूर्य के छिपने पर शाम तक लौट आयगा? इस प्रकार के वचनों को कहती हुई प्रिया बहुत दूर देश जाने की इच्छा वाले प्रिय के गमन को आँखों से आँसू गिराती हुई रोक रही है।

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सवाष्पगलज्जलैः॥

नायिका को शाम तक का प्रिय का वियोग फिर भी सह्य हो सकेगा, इससे अधिक देर तक वह वियोग न सह सकेगी, इस भाव की व्यंजना कराई गई है। इस पद्य की नायिका प्रवत्स्यत्पतिका है।

एक दूसरी प्रवत्स्यत्पतिका तो पति को इस बात का संकेत भी दे देती है कि यदि उसने जाने की मन में पूरी तरह ठान ली है, तो वह भी मरने को तयार हो चुकी है, क्योंकि प्रिय के वियोग में उसका मरण अवश्यंभावी है।

याताः किन्न मिलन्ति सुंदरि पुनश्चिन्ता त्वयाऽस्मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सवाष्पे मयि।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः॥

'प्रिये, विदेश में गये लोग क्या फिर लौटकर नहीं मिलते? विदेश में जाकर लोग वापस लौट आते हैं, इसलिए मेरे विषय में तुम्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। साथ ही तुम अत्यधिक दुर्बल हो, चिन्ता करने से तुम्हें कष्ट होगा, अतः तुम्हें अपने शरीर का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है।'—नायक ने इस तरह कह कर प्रिया को

समझाना चाहा। विदाई के कारण दुखी नायक की आँखों में आँसू झलक आये थे, पर नायिका ने अपने आँसुओं को रोक रखा था, जैसे उसकी आँखें उन आँसुओं को पी गई थी। नायक की तसल्ली दिलाने वाली बातें सुन कर नायिका ने लज्जा से निश्चल पुतलियों वाले नेत्र से उसकी ओर देखा और वह हँस दी। यह हँसी जाने की अनुमति न थी, बल्कि इस बात की सूचना थी कि प्रिय के वियोग से उपस्थित होने वाले भावी मरण के लिए वह हँसी-खुशी तैयार है और प्रिय को इस बात का संकेत था कि तुम जाना ही चाहते हो, तो जाओ मैं आँसू गिराकर तुम्हारे मार्ग को अमंगल नहीं बनाना चाहती, फिर भी यह न समझना कि मैं तुम्हारे जाने के बाद जीवित रह सकूँगी। तुम्हारा वियोग मेरे लिए मरण से भी बढ़कर है, मौत का तो मैं हँस कर स्वागत कर सकती हूँ।

प्रस्तुत पद्य के प्रकरण के विषय में आलंकारिकों का कहना है कि यह उक्ति विदेश जाने के लिए प्रस्तुत, किंतु प्रिया की विरहदशा को देखकर जाने के प्रोग्राम को खत्म करते नायक के द्वारा किसी मित्र से कही गई है, जो यह जानना चाहता है कि वह विदेश जा रहा था फिर क्यों न गया। उपर्युद्धृत विप्रलंभ के दोनों चित्रों में एक भेद है—दोनों प्रवत्स्यत्पतिका के चित्र हैं, किंतु पहला चित्र किसी भोली प्रेयसी का है, दूसरा किसी गंभीर प्रकृति की नायिका का चित्र है। वियोग-पीडा की दृष्टि से दूसरा पद्य अधिक तीव्र है, यद्यपि यहाँ नायिका ने एक भी बूंद आँसू नहीं गिराया है, पर उसकी हँसी हृदय में स्थित मर्मपीडा की व्यंजना कराने में पूर्ण समर्थ हुई है। पहला चित्र किसी मुग्धा प्रवत्स्यत्पतिका है, दूसरा प्रौढा या प्रगल्भा का। दूसरे पद्य में आलंकारिकों ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना है, जहाँ मित्र के द्वारा 'न जाने रूप कार्य' के विषय में पूछे जाने पर 'कारण' का कथन किया गया है। इस पद्य का रस विप्रलंभ श्रृंगार है,

नायक अनुकूल। नायिका का लज्जा से कनीनिकाओं को निश्चिल कर देखना, हँसना आदि अनुभाव है।

यहाँ दो बातें मुक्तक पद्यों के अर्थग्रहण के विषय में कह दी जायँ। जैसा कि स्पष्ट है, मुक्तक पद्य अपने आप में पूर्ण होते हैं। पर छोटे से पद्य में कवि समस्त वातावरण की सृष्टि तो कर नहीं पाता, इसलिए सहृदय पाठक को पद्य का प्रसंग प्रकरणादि ऊपर से जोड़ना पड़ता है। कभी कभी तो यह पद्य किस समय कहा गया है, किसकी उक्ति है, किससे कहा गया है, आदि योजना किये बिना अर्थप्रतीति स्फुट नहीं हो पाती। अतः सहृदय तदनुकूल प्रसंग की योजना करने के बाद ही रसचर्वणा कर पाता है। दूसरे, मुक्तकों के विषय में एक और कठिनता पाई जाती है, जो साहित्यशास्त्र से संबन्ध रखती है। रस-निष्पत्ति के साधन विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव माने गये हैं, तथा ये सब मिलकर ('दण्डचक्रादिन्याय' से) रसचर्वणा कराते हैं। प्रबन्धकार के पास इतना विशाल क्षेत्र रहता है कि वह किसी रस के अनुरूप विभावादि की सृष्टि पूरी तरह कर पाता है, पर मुक्तक कवि को तो एक ही पद्य में रस भर देना है और इस गागर में सागर भरने कि क्रिया में वह विभावादि की सृष्टि पूरी तरह नहीं कर पाता, वह इनकी व्यंजना भर करा सकता है। साहित्यशास्त्री के सामने कई ऐसे मुक्तक पद्य आते हैं, जहाँ विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, संचारी सभी का एक साथ निर्देश नहीं मिलता। ऐसे स्थलों पर रसचर्वणा कैसे होगी?

कोई प्रिय विदेश से आ रहा है। उसके आने की खुशी में दरवाजा सजाया जाना चाहिए, पर आने की खुशी में नायिका इतनी बिभोर हो गई है कि उसके स्वागत की तैयारी करना वह भूल ही गई। वह स्वयं द्वार पर जाकर प्रिय के स्वागत के लिए खड़ी हो गई और उसने अपने अङ्गों से ही विदेश से आते प्रिय के स्वागतार्थ मंगल द्रव्यों की रचना कर

दी। चाहे उसने नील कमलों की बन्दनवार दरवाजे पर न लगाई हो, उसकी आँखें—जो प्रिय के आने के मार्ग में बिछी पड़ी थीं—लंबी बन्दनवार की सृष्टि कर रही थीं; चाहे उसने प्रिय के मार्ग में कुन्द, चमेली आदि फूलों को न बिखेरा हो, पर प्रिय के आने की खुशी में उसकी मुसकुराहट ही फूलों के रूप में चारों ओर बिखर कर वातावरण को सुरभित बना रही थी। प्रिय को अर्घ्य देने के लिए उसने कोई घट या जलपात्र नहीं ले रक्खा था, किंतु उसके पसीने से लथपथ दोनों स्तन (पयोधर—जल को धारण करने वाले) ही प्रिय को अर्घ्यदान दे रहे थे। इस प्रकार उस नायिका ने चाहे घर में आते प्रिय के स्वागत में बाहरी दिखावा न दिखाया हो, पर मंगल की सारी सामग्री अवश्य (सजाई) थी।[1]

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्याः कृतं मंगलम्॥

इस पद्य में कवि ने स्पष्टतः आलंबन विभाव का ही वर्णन किया है। सात्त्विक भावों में स्वेद का संकेत मिलता है, पर अन्य रसोपकरणों का स्पष्ट निर्देश नहीं। तो ऐसे स्थल पर रसचर्वणा कैसे हो सकेगी? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आलंकारिकों का कहना है कि ऐसे मुक्तक काव्यों

१. हिंदी के लेखक रायकृष्णदास की 'व्याजस्तुति' नामक गद्यकाव्य की एक नायिका से यह नायिका कितनी भिन्न है, वह तैयारी में ही विभोर रहती है, यहाँ तक कि प्रिय उसके नफीरी वाले की भूप कल्याण और 'निषाद' के लगाने की बारीकी की प्रशंसा कर पाता है, जब कि इस नायिका को न बंदनवारों की फिक्र है, न किसी शहनाई वाले को दरवाजे पर बिठाने की। वह तो इतनी खुश है कि इन बातों की ओर विचार ही नहीं जा पाता।

में सहृदय पाठक स्वानुभवजनित कल्पना के कारण अन्य रसोपकरणों का अध्याहार कर लिया करते हैं।[1] यहाँ नायिका के रोमाञ्च खड़े हो गये होंगे, खुशी के कारण उसकी पलकें ठहर (स्तब्ध) गई होंगी, उसका साँस कुछ क्षण के लिए रुक-सा गया होगा, वह प्रिय की ओर एकटक देख रही होगी; हर्ष, व्रीड़ा, उत्सुकता, जैसे संचारी भावों का अनुभव कर रही होगी।

विदेश में जाते या विदेश से आते प्रिय के कारण दुखी या सुखी नायिका के मार्मिक चित्रों के अतिरिक्त अमरुक नायिकाओं के मान के चित्र में हलका गहरा कई तरह का रंग भरने में सिद्धहस्त हैं। मान के हल्केपन का एक चित्र हम ऊपर देख चुके हैं, एक दूसरा चित्र यह है, जहाँ नायिका मान करना ही नहीं चाहती। भला वह मान करे तो किससे, क्या उसी से जो सदा उसके हृदय में निवास करता है। सखी तो मान करने की शिक्षा दे रही है, पर क्या उसे यह पता नहीं कि वह मेरे हृदय में छिपा है, कहीं उसने ये सारी बातें सुन ली तो ?

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥

कोई सखी भोली भाली नायिका को नायक के अपराध से रुष्ट होकर मान करने की सीख दे रही है। 'हे भोली सखी, क्या तुम इसीतरह भोलेपन के साथ जिन्दगी बिता दोगी। जरा मान करो, कुछ धैर्य धारण

[1] एकस्य व्यभिचारान्मिलितानां व्यञ्जकत्वे स्थितेऽसाधारणेनाप्यीतरद्वयमाक्षिप्यते। किं च रसस्य विभावादिसमूहालंबनरूपत्वादेकैकस्मादसाधारणादपि व्यक्त्यभावान्मिलितानामेव व्यञ्जकत्वम्। अतोऽसाधारण्येऽपीतरद्वयमाक्षिप्यते ततो मिलितैस्तदभिव्यक्तिः, इति। काव्यप्रदीप (काव्यप्रकाशटीका पृ. १०५)

करो, अपने हृदय की सरलता को दूर करो।' पर नायिका पर इस सीख का कोई असर नहीं होता, वह डरकर सखी को उत्तर देती हुई कहती है— 'सखी ! जरा धीरे धीरे कहो, कहीं हृदय में बैठा हुआ प्राणेश्वर इन बातों को न सुन लें।'

इस पद्य का 'प्राणेश्वर' शब्द अपूर्व व्यंजना लेकर आया है। अरे, वह मेरा ही नहीं, मेरे प्राणों तक का स्वामी है, तुम मुझे स्वामी से मान करने को कह रही हो, कहों मैं ऐसा करने की कल्पना भी कर सकती हूँ ? सखी, तुम्हारी चेष्टा व्यर्थ है, मुझे मान-मनौवन के झगड़े में नहीं फँसना है, मैं तो दासी हूँ और दासी बना रहना चाहती हूँ, अपने प्राणेश्वर की उपासिका।

पर अमरुक की दूसरी नायिका तो सखियों की सीख में इतनी लिखी-पढ़ी है कि वह 'गुरु गुड़ और चेला शक्कर' वाली कहावत चरितार्थ करती देखी जाती है। वह अपराधी नायक को पकड़ कर सखियों के सामने घर के अंदर ले जाती है और उसे अपराध का दण्ड भी देने का साहस करती है और अमरुक का 'धन्य नायक' अपराधी होने के कारण लज्जित होकर दण्ड भोगता है और हँसता रहता है।

> कोपात्कोमललोलवाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
> नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
> भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
> धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्॥

'नायक ने अपराध किया है। प्रिया शाम को उसे कोमल और चंचल बाहुओं की लता के पाश से अच्छी तरह बाँध कर, क्रोध से भरी हुई क्रीडागृह में ले जाती है। वहाँ पर सखियों के सामने स्खलित वाणी के द्वारा उससे कहती है—'ऐसा फिर करोगे' और इस तरह उसके अपराध

करो, अपने हृदय की सरलता को दूर करो।' पर नायिका पर इस सीख का कोई असर नहीं होता, वह डरकर सखी को उत्तर देती हुई कहती है—'सखी ! जरा धीरे धीरे कहो, कहीं हृदय में बैठा हुआ प्राणेश्वर इन बातों को न सुन लें।'

इस पद्य का 'प्राणेश्वर' शब्द अपूर्व व्यंजना लेकर आया है। अरे, वह मेरा ही नहीं, मेरे प्राणों तक का स्वामी है, तुम मुझे स्वामी से मान करने को कह रही हो, कहों मैं ऐसा करने की कल्पना भी कर सकती हूँ ? सखी, तुम्हारी चेष्टा व्यर्थ है, मुझे मान-मनौवन के झगड़े में नहीं फँसना है, मैं तो दासी हूँ और दासी बना रहना चाहती हूँ, अपने प्राणेश्वर की उपासिका।

पर अमरुक की दूसरी नायिका तो सखियों की सीख में इतनी लिखी-पढ़ी है कि वह 'गुरु गुड़ और चेला शक्कर' वाली कहावत चरितार्थ करती देखी जाती है। वह अपराधी नायक को पकड़ कर सखियों के सामने घर के अंदर ले जाती है और उसे अपराध का दण्ड भी देने का साहस करती है और अमरुक का 'धन्य नायक' अपराधी होने के कारण लज्जित होकर दण्ड भोगता है और हँसता रहता है।

> कोपात्कोमललोलवाहुलतिकापाशेन वद्ध्वा दृढं
> नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
> भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
> धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्॥

'नायक ने अपराध किया है। प्रिया शाम को उसे कोमल और चंचल बाहुओं की लता के पाश से अच्छी तरह बाँध कर, क्रोध से भरी हुई क्रीडागृह में ले जाती है। वहाँ पर सखियों के सामने स्खलित वाणी के द्वारा उससे कहती है—'ऐसा फिर करोगे' और इस तरह उसके अपराध

को सूचित करती है। रोती हुई नायिका के द्वारा लज्जित तथा हँसता हुआ धन्य नायक पीटा जा रहा है।'

पर धृष्ट नायक इन ताडनाओं की परवाह थोड़े ही करता है, वह जहाँ कहीं मौका देखता है, ज्येष्ठा नायिका का अपराध कर ही बैठता है और कभी-कभी तो इतनी चालाकी करता है कि उसे विश्वास में डाल कर उसी के समक्ष कनिष्ठा से प्रणय-चेष्टा करता देखा जाता है।

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥

'नायक ने देखा कि ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दोनों नायिकाएँ एक ही आसन पर बैठी हैं। इसलिए वह आदर के साथ (या कुछ भय से) धीरे-धीरे पीछे से वहाँ पहुँचता है, वहाँ जाकर वह क्रीडा करने के ढोंग से ज्येष्ठा नायिका के नेत्रों को दोनों हाथों से बन्द कर देता है। इसके बाद वह धूर्त नायक अपनी गरदन को जरा टेढ़ी करके, रोमांचित होकर उस कनिष्ठा नायिका को चूम लेता है, जिसका मन प्रेम के कारण उल्लसित हो रहा है तथा जिसके कपोल-फलक आंतरिक हँसी के कारण सुशोभित हो रहे हैं।

अमरुक की प्रकृति उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आती है। अमरुकशतक में प्रकृति-चित्रण के तीन चार पद्य पाये जाते हैं, जो सुंदर हैं। अमरुक के प्रकृति-वर्णन का एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदोदबिन्दुप्लुतो
व्यालोलालकवल्लरीं प्रचलयन् धुन्वन्नितम्बाम्बरम्।

प्रातर्वाति मधौ प्रकामविकसद्राजीवराजीरजो-
जालामोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन्मारुतः ॥

'वसन्त ऋतु में प्रातःकाल के समय अत्यधिक शीतल, मन्द एवं सुगंधित पवन चल रहा है। यह पवन रमणियों के सुंदर मुख-चन्द्र पर सुरतश्रम के कारण छिटके हुए स्वेदकणों में नहाया हुआ है (स्वेदकण के जल के संसर्ग के कारण यह शीतल हो गया है), यह नायिकाओं की चंचल केश-वल्लरियों को हिला रहा है तथा उनके नितम्ब-वस्त्र को कँपा रहा है (पवन-मन्थर गति से चलता हुआ नायिकाओं के केशों और अधोवस्त्रों को मन्द-मन्द आन्दोलित कर उनकी रमणीयता बढ़ा रहा है), वह प्रातःकाल के समय खिले हुए अनेकों कमलों के पराग समूह की सुगंध से मनोहर है और शीतल, मन्द तथा सुगंधित होने के कारण नायिकाओं की सुरतजनित थकावट (ग्लानि) को दूर कर रहा है।'

अमरुक में ऐसे कई रस-निर्झर काव्य हैं, जिनके कारण अमरुक के एक-एक पद्य को सैकड़ों प्रबंधकाव्यों से बढ़ कर माना गया है। यही कारण है कि एक सहृदय आलोचक ने अमरुक के काव्य को वह डमरु माना था, जो किसी अपूर्व शृंगारभणिति को उत्पन्न कर धन्य सहृदयों के कर्णकुहरों को आप्यापित करता है।[1] किंतु अमरुक का अभिव्यञ्जना-पक्ष भी इसमें सहायता करता है। अमरुक की अभिव्यञ्जना में कलावादियों-की-सी तड़क-भड़क न हो, उसमें अपूर्व समास-शक्ति, अपूर्व वक्रता, व्यञ्जनाशक्ति और ओज पाया जाता है। अमरुक की यह पैनी व्यञ्जनाशक्ति ही उसके पद्यों की गागर में रस के सागर को भरने की क्षमता रखती है।

---

१. अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता जयति।
शृंगारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणविवरेषु ॥ (अर्जुनवर्मदेव)

अमरुक का कला-पक्ष:—

रसवादी कवि कलापक्ष की कृत्रिमता का मोह नहीं करता, वह भावपक्ष के प्रवाह में इतना बह जाता है कि अर्थ या शब्द को सोच सोच कर रखने की ओर ध्यान नहीं देता। अमरुक ऐसे ही शृङ्गारी कवि हैं, जो अवचेतन मन में छिपी भावसंतति को वाणी के द्वारा, सहज स्वाभाविक शैली के द्वारा, सहृदयों के समक्ष उपस्थित कर देना चाहते हैं। पिछले खेवे के शृङ्गारी कवियों की भाँति न तो अमरुक कल्पना की उड़ान में ही फँसते हैं, न सुंदर पद-योजना में ही। जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ में अर्थ एवं शब्द दोनों की रमणीयता देखी जा सकती है, किंतु जो भाव तरलता अमरुक के पास है, वह वहां ठीक उसी मात्रा में उपलब्ध नहीं होती। पर इतना होते हुए भी अमरुक में अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का स्वाभाविक निर्वाह मिल सकता। अमरुक के अर्थालंकार प्रयोग के विषय में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

सालक्तकं शतदलाधिककान्तिरम्यं रत्नौघधामनिकरारुणनूपुरं च।
क्षिप्तं भृशं कुपितया तरलोत्पलाक्ष्या सौभाग्यचिह्नमिव मूर्ध्नि पदं विरेजे॥

किसी नायिका ने गुस्से में आकर अपराधी नायक के सिर पर चरण प्रहार किया है। चंचल कमल के समान नेत्र वाली नायिका के द्वारा तेजी से मारा हुआ चरण—जो महावर से सना हुआ था, कमल से भी अधिक कांति वाला था और रत्नसमूह के तेज से जाज्वल्यमान नूपुर वाला था—नायक के सिर पर इसी तरह सुशोभित हुआ, जैसे उसके सिर पर सौभाग्य-चिह्न स्थापित किया गया हो।

अमरुक में साधर्म्यमूलक अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग मिलता है।

यद्यपि अमरुक में गाथासप्तशती या आर्यासप्तशती जैसी भाषा की कसावट नहीं मिल सकेगी, फिर भी अमरुक के फलक (केन्वस) को देखते

भी किसी तरह प्रिय–प्रेयसी वाला व्यवहार बना रहा, तुम मुझे प्रेयसी समझते रहे, मैं तुम्हें प्रिय। अगर यह स्थिति भी बनी रहती तो गनीमत थी, पर मुझे तो इससे भी अधिक वज्रपात सहना था। तुम्हारा व्यवहार इससे भी च्युत हो गया और तुम मुझे कलत्र समझने लगे। इस समय तुम मेरे लिए 'नाथ' हो गये हो, और मैं तुम्हारे लिए 'कलत्र'। अब हमारा वह प्रणय संबंध जाता रहा, तुम मेरे स्वामी (मालिक) हो, और मैं तुम्हारी 'खरीदी हुई दासी के समान पत्नी'। इससे बढ़ कर मेरे लिए दुःख हो ही क्या सकता है, यह तो मेरे प्राणों का दोष है कि मैं इस व्यवहार परिवर्तन को सहते हुए भी जीवित हूं। मैं अपने वज्रकठिन प्राणों का फल जो भोग रही हूँ।

इस पद्य में 'नाथ' तथा 'कलत्र' शब्द के प्रयोग में अपूर्व व्यञ्जनाशक्ति है। 'कलत्र' शब्द का नपुंसक लिंग भी इस बात की व्यञ्जना कराता है कि नायक का व्यवहार नायिका के साथ ठीक वैसा ही हो गया है, जैसे खरीदी हुई अचेतन वस्तु के साथ।

पद–प्रयोग की व्यञ्जना का एक दूसरा सुन्दर निर्वाह अमरुक के निम्न पद्य में है, जहाँ नाटकीयता के परिवेश में नायिका के कोप की व्यंजना कराई गई है।

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतम्
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥

नायक अन्य नायिका से प्रेम करने के कारण अपराधी सिद्ध हो चुका है। जब वह घर पर आता है, तो ज्येष्ठा नायिका को मान व रोष से युक्त पाता है। वह उसे मनाने के लिए कुछ कहना चाहता है, इसीलिए उसे

केवल संबोधित करता है—बाले'। इसके पहले कि वह कुछ कह पाये नायिका—'क्या कहना चाहते हैं—इस बात की व्यञ्जना कराती हुई केवल 'नाथ' इतना-सा उत्तर देती है। इस 'नाथ' के द्वारा वह यह भी व्यंजना कराना चाहती है कि अब आप मुझे प्रेम नहीं करते, इसलिए मैं आपको 'प्रिय' कहते कुछ हिचकिचाती हूँ। आपका व्यवहार मेरे साथ ऐसा है कि मैं दासी हूँ, आप स्वामी। इसीतरह नायक का 'बाले' संबोधन भी नायिका के भोलेपन की व्यंजना कराकर इस बात का संकेत करता है कि वह बिना कारण कोप कर रही है। नायक उसे रोष को छोड़ने को कहता है—'मानिनि, रोष को छोड़ दो।' 'रोष करके मैंने क्या किया है' (आपका कोई अपराध तो किया नहीं) 'तुम्हारे रोष करने से हमें दुःख हो रहा है।' 'आपने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया है, सारे अपराध मैंने ही किये हैं।' इस पर नायक कोई उत्तर नहीं दे पाता, और कहता है— 'तो फिर तुम गद्गद वचनों से क्यों रोती हो ?' 'मैं किसके आगे रो रही हूँ।' 'यह मेरे आगे रो रही हो ना।' 'मैं तुम्हारी क्या हूँ। 'प्रिया।' 'नहीं, मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ, इसीलिए तो रो रही हूँ।'

इस पद्य में भाषा की अपूर्व समास-शक्ति पाई जाती है।

अमरुक के अनुयायी

अमरुक ने संस्कृत के कई भावी कवियों और कवयित्रियों को प्रोत्साहित किया है। सुभाषित संग्रह में कई अज्ञातनामा तथा ज्ञातनामा कवियों के शृङ्गारी मुक्तक पद्य मिलते हैं। इनमें कुछ कवयित्रियाँ भी है। विज्जा (विज्जिका), विकटनितम्बा, शीलाभट्टारिका, जघनचपला जैसी लगभग ४० कवयित्रियों के शृङ्गारी मुक्तक मिलते हैं, जिनमें कई तो भावपक्ष की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। पर इन मुक्तक पद्यों में अपने आप में ऐसी कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, जिसे 'स्त्री-कलाकार का निजी स्पर्श' कहा

जा सके। डॉ० डे को तो इन्हें कवयित्रियों की रचना मानने तक में संदेह हो आता है, क्योंकि इस प्रकार की रचना कोई पुरुष कलाकार भी कर सकता है। कवयित्रियों के विकटनितम्बा, जघनचपला जैसे नाम देखकर भी डॉ० डे की यह धारणा बन जाती है कि इस तरह के विचित्र नाम किन्हीं पुरुष कवियों ने ही रख दिये हैं, तथा ये रचनाएँ भी इन नामवाली कव-यित्रियों की नहीं। कुछ भी हो, इतना तो माना जा सकता है कि इनमें से कुछ कवयित्रियाँ अवश्य रही होंगी। यदि कवयित्रियाँम धुराविजय (विजय-नगर के राजा कम्पन की पत्नी गंगा देवी की रचना) जैसे महाकाव्य और वरदाम्बिकापरिणय (विजयनगर के अन्य राजा अच्युतराय की पत्नी तिरुमलाम्बा की रचना) जैसे चम्पूकाव्य की रचना कर सकती हैं, तो उनके मुक्तककर्तृत्व को शंका की दृष्टि से क्यों देखा जाय ? यह दूसरी बात है कि साहित्य की रूढ श्रृङ्गारी पद्धति प्रणय-चित्रण पर इतनी हावी हो गई थी, उन्हें उसी सरणि का आश्रय लेना पड़ा हो, फलतः उनकी वैयक्तिकता उनमें तरलित न हो सकी हो।

संस्कृत साहित्य में बहुत बाद में लिखे गये कई मुक्तक श्रृङ्गारी काव्य-संग्रह मिलते हैं। जगन्नाथ पण्डितराज के भामिनीविलास के अंतर्गत श्रृङ्गार-विलास में श्रृङ्गारी मुक्तकों का संग्रह है। जगन्नाथ पण्डितराज के पद्यों का भावपक्ष तो वही रूढ नायक-नायिका-भेद से प्रभावित है, किंतु पद-शय्या इतनी रमणीय है कि वैसी संस्कृत के कुछ ही कवियों में दिखाई पड़ती है। सरस वैदर्भी शैली का प्रयोग करते हुए भी जगन्नाथ पण्डितराज इतनी सुंदर अनुप्रास-योजना कर पाते हैं कि उनका कोई भी पद्य इससे रहित नहीं दिखाई देता। पण्डितराज के पद्यों पर भी अमरुक का प्रभाव लक्षित होता है तथा संस्कृत की विशाल मुक्तक काव्यपरम्परा में अमरुक का अपना निजी महत्त्व है।

जयदेव

अमरुक में हमें श्रृङ्गार का स्वाभाविक प्रवाह मिलता है जो कला पक्ष की कृत्रिमता के आलवाल से अवरुद्ध होकर नहीं आता। अमरुक के बाद के श्रृंगारी मुक्तकों पर एक ओर वात्स्यायन के कामशास्त्र का प्रभाव पड़ा, दूसरी ओर साहित्यशास्त्र के नायक-नायिका भेद का, तीसरी ओर संस्कृत के ह्रासोन्मुख काल की रीति-निर्बन्धता ने भी मुक्तक-काव्यों के स्वाभाविक परिवाह को रोक दिया। जयदेव में हमें संगीत और पद-लालित्य के अपूर्व गुण मिलते, हैं किन्तु अमरुक जैसी भावतरलता नहीं। जयदेव की मुक्तक कविता कला के साँचे में ढल कर अवश्य आती है पर ध्यान से देखने पर उसमें मौलिकता का अभाव दिखाई देता है और जयदेव को इतनी ख्याति जो मिल पाई है, उसका एक मात्र कारण जयदेव की अभिव्यञ्जना उसका काव्य-परिवेष ही माना जा सकता है। लेकिन इतना होते हुए भी जयदेव ने जितनी ख्याति प्राप्त की है, उसमें कई तत्व काम करते देखे जाते हैं। जयदेव के मुक्तकों को इतना आदर प्राप्त होने का एक कारण तो यह है कि जयदेव ने संगीत की तान में काव्य को बिठा कर साहित्य और संगीत का अपूर्व समन्वय उपस्थित किया है। यही कारण है कि जयदेव की कृति एक ओर कवियों और साहित्यिकों के गले का हार बनी रही है, तो दूसरी ओर संगीतज्ञों की वीणा के द्वारा मुखरित हो उठी है। इतना ही नहीं, जयदेव ने अपनी कविता में जिन श्रृङ्गारी नायक-नायिकाओं को चुना वे चाहे जयदेव के लिए लौकिक मानवीय रूप में ही आये हों, भावी माधुर्य-सम्प्रदाय के भक्तों के लिए अलौकिक रस की व्यञ्जना कराने वाले बन गये। इस अन्तिम तत्त्व ने जयदेव को कृष्ण-भक्त कवि के रूप में देखा और उसकी कविताओं को भक्ति-रस का उद्रेक घोषित किया। कुछ भी हो जयदेव

संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी कवियों में एक प्रबल व्यक्तित्व हैं, जिन्हें कोई भी आलोचक अपने परिशीलन में नहीं छोड़ सकता।

जयदेव की तिथि तथा जीवन कृति के विषय में किंवदन्तियां एवं परम्पराओं ने सत्य को अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। जयदेव भोजदेव तथा राधादेवी के पुत्र थे।[1] ये बंगाल के सेन वंश के अन्तिम राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि थे। लक्ष्मणसेन की सभा में जयदेव के अतिरिक्त और भी कई कवि थे, जिनमें मुख्य उमापतिधर, आर्यासप्तशती के रचयिता गोवर्धन, पवनदूत नामक काव्य के लेखक कवि धोयी हैं। जयदेव ने स्वयं अपने काव्य में इन कवियों का वर्णन किया है और यह भी बताया है कि किस कवि में क्या क्या विशेषता पाई जाती थी। जयदेव के मत से उमापतिधर सुन्दर पदरचना में दक्ष थे; गोवर्धन कवि शृङ्गार रस के अनुरूप लक्ष्य काव्यों की रचना में निपुण थे और धोयी कवि कविताओं को स्मरण रखने में दक्ष, किन्तु जयदेव एक साथ शब्द तथा अर्थ से गम्भीर काव्य-रचना करने में पटु थे। जयदेव के आश्रयदाता लक्ष्मणसेन स्वयं भी कवि थे और उनके नाम से कुछ पद्य सुभाषितों में मिलते हैं। जयदेव के प्रसिद्ध पद्य 'मेघैर्मेदुरमम्बरं' इत्यादि के ढंग पर लक्ष्मणसेन का भी एक पद्य सुभाषितों में मिलता है।

आहूताद्य मयोत्सवे निशि गृहं शून्यं विमुच्यागता
क्षीबः प्रेष्यजनः कथं कुलवधूरेकाकिनी यास्यति।
वत्स त्वं तदिमां नयालयमिति श्रुत्वा यशोदागिरो
राधामाधवयोर्जयन्ति मधुरस्मेरालसा दृष्टयः॥

'हे कृष्ण' मैंने उत्सव के समय राधा को बुला लिया था, अब रात हो

---

१. श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पाराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु॥

गई, उसका घर भी सूना है, जिससे उसके साथ कोई आ भी नहीं सका है। हमारे नौकर शराब के नशे में चूर पड़े हैं। ऐसी स्थिति में बताओ तो सही, यह अपने घर अकेली कैसे जा सकती है। अच्छा हो, तुम ही इससे इसके घर पहुँचा दो। यशोदा के ये वचन सुन कर राधा और कृष्ण ने मुस्कराते हुए मधुर दृष्टि से एक दूसरे को देखा। प्रेम तथा आनन्द से अलसाई हुई राधा-कृष्ण की दृष्टि की जय हो।

ईसा की १२ वीं सदी में बंगाल में कृष्ण तथा राधा की श्रृङ्गारी उपासना का उदय हो रहा था। यद्यपि इस काल के कृष्णपरक साहित्य को पूर्णतः भक्तिमय नहीं माना जा सकता, तथापि इस साहित्य में आगे आने वाले कृष्ण सम्बन्धी श्रृङ्गारी एवं भक्तिमय साहित्य के बीज विद्यमान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इस काल में राधा-कृष्ण की श्रृङ्गारी उपासना का विकास बौद्ध तान्त्रिक पद्धति का प्रभाव माना जा सकता है। इन दिनों की सांस्कृतिक खोजों से पता चला है कि पूरब के पहाड़ी प्रदेशों (हिमालय की तराई) में आर्यों के आने के समय कुछ विलासी अनार्य जातियाँ रहती थीं। इन्हीं अनार्य जातियों को गन्धर्व, यक्ष आदि नाम से अभिहित किया जाता है। ये जातियाँ वृक्षों की पूजन करती थीं तथा विलास एवं मदिरा इनके जीवन के प्रमुख अंग थे। इन्हीं अनार्य जातियों के देवता कामदेव तथा वरुण माने जाते हैं। यक्षों ने भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है और ऐसा जान पड़ता है कि आर्यों के साथ इन जातियों का विशेष संघर्ष नहीं हुआ था और शान्तिप्रिय यक्षों ने आर्यों के साथ समझौता कर लिया था। आर्यों ने भी यक्षों को अपने पुराणों में देवयोनियों में स्वीकार किया और उनकी वृक्षपूजा, विलासिता आदि ने भारतीय संस्कृति में प्रवेश पाया। बौद्ध धर्म के उदय के बाद यक्षों के देवता वज्रपाणि बोधिसत्व माने जाने लगे और यक्षों के श्रृङ्गारी जीवन के प्रभाव से बौद्ध साधना भी

नहीं बच पाई। बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के उदय में विद्वानों ने इन्हीं बीजों को ढूंढ़ा है। वज्रयान की साधना में स्त्री-संग और मदिरा आवश्यक अंग माने जाने लगे और इसी का प्रभाव एक ओर शैवों और शाक्तों की साधनापद्धति पर पड़ा, दूसरी ओर उसने कृष्ण की शृङ्गारी उपासना को जन्म दिया। ईसा की सातवीं-आठवीं सदी से ही बौद्धतान्त्रिकों के वज्रयानी सम्प्रदाय का प्रभाव सारे बंगाल पर छाने लग गया था। बंगाल के पालवंशी राजाओं के समय में बौद्ध धर्म को राजाश्रय प्राप्त हुआ था और बौद्धों की तान्त्रिक उपासना के साथ विलासिता ने अभिजात वर्ग को अभिभूत कर लिया था। पालों के पतन होने पर भी बौद्ध तान्त्रिकों की यह विरासत अक्षुण्ण बनी रही और उसने पौराणिक धर्म को प्रभावित करके शैव तथा वैष्णव दोनों तरह की उपासनाओं को नया रंग प्रदान किया। बंगाल में सेन वंश के राजाओं के साथ पौराणिक ब्राह्मण धर्म फिर से अपना सिर उठाने लगा और सेन राजाओं के राज्य में पुनः संस्कृत भाषा को राज्य भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। बौद्धों से मिली शृङ्गारी प्रवृत्ति को पौराणिक धर्म में ढालने के लिए कृष्ण के शृङ्गारी रूप की कल्पना तेजी से चल पड़ी। लक्ष्मणसेन के राज्य-काल में संस्कृत साहित्य की अत्यधिक उन्नति हुई, किन्तु इस काल का साहित्य विलासिता के रंग में शराबोर है और वह उस काल के सामाजिक अधःपतन की सूचना देता है। वस्तुतः उस काल के समाज का विलासी जीवन ही कृष्ण और राधा की अश्लील शृङ्गारी चेष्टाओं का बहाना लेकर प्रकट हो रहा था।

उपासना-पद्धति एवं साहित्य में राधा-कृष्ण के आविर्भाव का अपना अलग इतिहास है। इतिहासकारों का कहना है, कृष्ण तथा राधा आभीरों के देवता थे। महाभारत में राजनीति वाले कृष्ण का रूप हमें प्राप्त होता है, वह इन आभीरों के बाललीला वाले कृष्ण से भिन्न है। धीरे-धीरे महाभारत

के कृष्ण का चरित्र आभीरों के कृष्ण से घुल मिल गया, जो पशुचारण-करने वाली जातियों के वनदेवता थे। राधा भी इन्हीं की देवी थी। राधा का समावेश भी कृष्ण के साथ ही साथ भागवत सम्प्रदाय में हो गया था। साहित्य में राधा का नामोल्लेख सर्वप्रथम हाल की सत्तसई की एक गाथा में हुआ है। इसके बाद लोक-साहित्य से राधा संस्कृत साहित्य में भी अवतीर्ण हुई और वेणीसहार के एक मंगलाचरण (जिसे प्रायः प्रक्षिप्त माना जाता है) में तथा ध्वन्यालोक में उद्धृत एक पद्य में राधा का नाम मिलता है। ध्वन्यालोक का वह पद्य यों है:—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां,

क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।

विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना

ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

'हे भद्र! गोपियों के विलास के मित्र, राधा की एकान्त क्रीडाओं के साक्षी, यमुना के तीर के लतागृह कुशल तो हैं न? आज जब कि कामक्रीडोपयुक्त कोमल शय्या की रचना समाप्त हो गई है, उन लतागृहों के पल्लव, जिनकी नील कांति नष्ट होती जा रही है, (बिना तोड़े ही) पक जाते होंगे।'

यद्यपि साहित्य में राधा की प्रतिष्ठापना के वीज छठी-सातवीं सदी के आसपास ही माने जाते हैं, तथापि राधा के चरित्र को पूर्णतः पल्लवित करने में जयदेव के गीतगोविन्द का खास हाथ है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण की शृंगारी लीला का प्रचुर वर्णन होने पर भी राधा का नाम नहीं मिलता। वैसे तो श्रीमद्भागवत के रचनाकाल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसकी शैली को देखकर इतना अनुमान किया जा सकता है कि वह ईसा की दसवीं या ग्यारहवीं

सदी से पुरानी नहीं हो सकती। कई विद्वानों ने तो जयदेव के ही बड़े भाई वोपदेव को श्रीमद्भागवत का रचयिता माना है। श्रीमद्भागवत का जयदेव के गीतगोविंद पर भी पर्याप्त प्रभाव जान पड़ता है।

कृष्ण तथा गोपिकाओं के शृङ्गारी वर्णन की परंपरा का परिपाक श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में ही उपलब्ध होता है। जयदेव तथा बाद के कृष्णभक्त कवियों को यही विरासत प्राप्त हुई है। गोपिकाओं के साथ की गई रासक्रीडाओं और जलक्रीडाओं का बड़ा सरस वर्णन श्रीमद्भागवत में देखा जा सकता है। कृष्णभक्ति के परिवेष में विलास का यह चित्रण बाद के कृष्णभक्त कवियों का आप्त प्रमाण बन बैठा है:—

बाहुप्रसारपरिरंभकरालकोरुनीवीस्तनाऽऽलभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेलयावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तंभयन् रतिपतिं रमयाश्चकार॥

(भागवत १०. २९. ४६)

'बाहु-प्रसार, आलिंगन, केश, उरु, नीवी, स्तनादि का स्पर्श, कामोत्तेजक नखक्षत, एवं लीला से युक्त अवलोकन और हास्यादि के द्वारा व्रजसुन्दरियों के कामदेव को उद्दीप्त कर कृष्ण उनके साथ रमण कर रहे थे।'

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः॥

(१०. ३३. २४)

'हँसती हुई गोपिकाओं के द्वारा प्रेम से देखे गये और इधर-उधर जल से सींचे हुए आत्माराम कृष्ण— जो फूलों की वर्षा करते देवताओं के द्वारा संस्तुत हो रहे थे—यमुना के जल में उसी तरह रमण कर रहे थे जैसे हाथी हथिनियों के साथ जलक्रीडा करता है।'

परदाराओं के साथ की गई कृष्ण की क्रीडाओं के विषय में निःसंदेह अनैतिकता का आरोप किया जा सकता है। श्रीमद्भागवत का रचयिता

स्वयं इस पूर्वपक्ष की कल्पना कर उसका उत्तर देने की चेष्टा करता है। परीक्षित के मुँह से ठीक ऐसा ही प्रश्न[1] करवा कर शुकदेव के मुँह से इसका समाधान करा देना[2] कृष्ण के विषय में पारदारिक प्रणय के चित्रण को छूट दे देता है। आज का आलोचक 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' के सिद्धान्त को बुर्ज्वा सिद्धान्त या अधिनायकवादी सिद्धान्त घोषित करेगा, किन्तु यही वह सिद्धान्त था जो समस्त विलासी साहित्य और उसके प्रेरक विलासी जीवन का 'मोटो' बन बैठा था। बाद में जाकर जब गौडीय सम्प्रदाय ने 'माधुर्य' रस की भक्ति का वितान पल्लवित किया, तो एक बार संस्कृत साहित्य के रससिद्धान्त की भी फिर से नाप-जोख करनी पड़ी कि कहीं उसमें कोई ऐसे प्रतिबन्ध तो न थे जो इस पारदारिक प्रणय को आगे न बढ़ने देते हों। प्राचीन रसशास्त्रियों ने पारदारिक नैतिकता-विरोधी प्रणय को 'रस' की कोटि में ही न रक्खा था, वे इसे रसाभास की कोटि में रखते थे, क्योंकि 'रस' में भी वे 'औचित्य' का सदा ध्यान रखते थे और अनौचित्य को रसभंग का कारण मानते थे।[3] यह दूसरी बात है कि अंग रस में वे कभी-कभी इस तरह के पारदारिक प्रणयचित्र का संकेत करते देखे जाते हैं। शृङ्गार के विषय में नई धारणा को खुली छूट देने के लिए इस मान्यता में कुछ जोड़ना जरूरी था। फलतः माधुर्यवादी आचार्यों ने यह सिद्धान्त बना दिया कि पुराने आचार्यों का यह मत कृष्ण तथा गोपिकाओं के पारदारिक प्रणय के विषय में लागू नहीं होता, क्योंकि वह

---

१. स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥ (भागवत १०. ३३. २८)

२. धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥ (भागवत १०. ३३. ३०)

३. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् । (ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत)

तो आध्यात्मिक प्रणय का व्यंजक है और उस संबंध में यह अंगी रस का विषय बन सकता है :—

नेष्टं यदंगिनि रसे कविभिः परोढा तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रतिविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥

और लौकिक पारदारिक प्रणयचित्र को साहित्यिक कृतियों में अंकित करने का सरल मार्ग मिल गया। भला जिन कृष्ण की बाँसुरी की तान को सुन कर गायें, पक्षी, मृग, यहाँ तक कि वृक्ष भी रोमांचित हो उठते थे, उन कृष्ण के त्रैलोक्यसुंदर रूप को देखकर संसार में कौन स्त्री ऐसी होगी, जो नैतिकता के आर्यपथ से विचलित न हो।[1] और फिर तो आर्यपथ से विचलित होना भी दूषण नहीं भूषण बन बैठा, पतियों को छोड़ कर कृष्ण के साथ रमण (व्यभिचार?) करती हुई गोपिकाओं के चरणों की धूलि का स्पर्श करने को उद्धव जैसे परम तपस्वी का हृदय लालायित हो उठा था।[2] बस कृष्ण और राधा के पारदारिक प्रणय-चित्र को अंकित करने वाले जयदेव को अपने पृष्ठपोषक मिल गये और इस लौकिक शृंगारी चित्रण के आध्यात्मिक अर्थ लगाये जाने लगे। विद्यापति का एक पद है जिसमें राधा-कृष्ण की विपरीत रति का वर्णन है। एक पंडित ने उसका अध्यात्म-परक अर्थ भी लगा दिया है, और राधा का पुरुषायित वहाँ प्रकृति (माया) की प्रधानता का व्यञ्जक बन बैठा है। पर हर एक चीज को अध्यात्म के चश्मे से देखने की प्रवृत्ति सचमुच बुरी है। हिन्दी के मान्य आलोचक

१. का स्त्र्यंग ते कलपदायतवेणुगीतसंमोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥
(भागवत १०.२९.४०)

२. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(भागवत १०)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक ने इन चश्मों की आलोचना की थी। असल में जयदेव के काव्य में जो आध्यात्मिक अर्थ ढूँढने की चेष्टा की जाती है, वह ठीक नहीं, जयदेव अन्तस् से भक्त कवि नहीं हैं और उन्हें शुद्ध श्रृंगारी कवि के रूप में ही लेना ठीक होगा, साथ ही गीतगोविन्द भी केवल श्रृंगारी कृति है।

जयदेव की एकमात्र कृति 'गीतगोविन्द' ही उनके नाम को साहित्य में अमर बना देने के लिए पर्याप्त है। जयदेव ने गीतगोविन्द को जिस ढंग से निबद्ध किया है, वह शैली एक ओर मुक्तक दूसरी ओर गेय गीति-काव्य का छोर छूती है। वैसे तो जयदेव ने इस काव्य को महाकाव्य के लक्षणों से समन्वित करने की चेष्टा की है। पूरे काव्य को द्वादश सर्गों में विभक्त करने में संभवतः यही धारणा काम कर रही हो और कुछ पुराने विद्वानों ने तो इसे महाकाव्य ही माना है। पर महाकाव्य के लक्षण इस पर पूरी तरह घटित नहीं होते, न यहाँ इतिवृत्त का निर्वाह ही देखा जाता है। जयदेव का गीतगोविन्द वस्तुतः भर्तृहरि तथा अमरुक की ही श्रृंगारी मुक्तक परम्परा का एक अभिनव रूप है। जयदेव के समय तक आचार्यों ने श्रृंगार के तत्तत् नायक-नायिकादि का सर्वांगीण वर्गीकरण कर दिया था और कई कवि नायक-नायिका-भेद को लक्ष्य बनाकर काव्यरचना करने में संलग्न थे। जयदेव ने भी यही किया, पर उन्होंने लोकगीतों तथा संगीतशास्त्र से गीतितत्त्व को लेकर इन श्रृंगारी मुक्तकों को एक नयी प्रभा प्रदान की। जयदेव ही संभवतः सर्वप्रथम कवि हैं, जिन्होंने संस्कृत भाषा के काव्य को संगीत में आबद्ध करने की चेष्टा की। जयदेव के चार सौ वर्ष पूर्व से ही लोकभाषा (अपभ्रंश) के कई कवि गीति-तत्त्व को अपना चुके थे। बौद्ध सिद्धों के चर्यापद प्रसिद्ध हैं। शरहस्तपाद, कृष्णपाद, भुसुक्कपाद जैसे कई बौद्ध सिद्धों ने संगीत की तत्तत् राग-रागिनियों को लेकर उनकी

शैली में अपने भावों की अभिव्यंजना की। जयदेव के पूर्व गीति-तत्त्व केवल बौद्ध सिद्ध कवियों की रचनाओं में ही नहीं, कई अबौद्ध देश्य भाषा-कवियों की रचनाओं में भी समाविष्ट हो गया होगा, जिनकी कृतियाँ आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। वस्तुतः गीति-तत्त्व का मूल स्रोत जनता का लोकसाहित्य रहा है। कृष्ण तथा राधा की शृंगारी भावना के प्रचार के साथ साथ देश्य भाषा में भी इस विषय से संबद्ध गेय पदों की रचना होने लगी होगी। प्रसिद्ध जर्मन भाषाशास्त्री पिशेल का मत तो यहाँ तक है कि गीतगोविंद के गेय पदों की रचना मूलतः देश्य-भाषा (अपभ्रंश) में ही हुई थी और जयदेव ने उसे संस्कृत में परिवर्तित कर दिया था। ये मूल देश्य पद जयदेव के ही रहे होंगे। कुछ भी हो, इस संबंध में कुछ निश्चित निर्णय देना संभव नहीं।

गीतगोविन्द में एक ओर संस्कृत के वर्णिक वृत्त तथा दूसरी ओर संगीत के मात्रिक पदों का विचित्र समन्वय दिखाई देता है। प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में एक या अधिक पद्यों के द्वारा कवि राधा या कृष्ण की तत्तत् चेष्टादि का वर्णन करता है। इसके बाद गेय पद होता है, जो किसी निश्चित राग में आबद्ध होता है। ये पद अलग अलग सर्गों में अलग अलग संख्या में हैं, किन्हीं सर्गों में एक-एक या दो-दो ही पद हैं, तो किन्हीं में चार-चार पद हैं। पदों के बीच में भी एक या अधिक वर्णिक वृत्त हैं तथा सर्ग के अन्त में भी इनकी योजना की गई है। इस प्रकार गीतगोविन्द के सर्गों में पद सर्गों के मध्यभाग में पाये जाते हैं। विषय की दृष्टि से भी पद्यों व पदों में थोड़ा अन्तर है। पद्यों में कवि स्वयं अपनी ओर से विषय को प्रस्तुत करता है। कवि की स्वयं की उक्तियाँ, प्रकृतिवर्णन तथा अन्य काव्य-परिपार्श्व के चित्रण के लिए इन पद्यों का प्रयोग किया जाता है। पदों में प्रायः कृष्ण, दूती या राधा की उक्तियाँ निबद्ध हैं, वैसे ये उक्तियाँ

कई पद्यों में भी पाई जाती हैं। आरंभिक प्रसिद्ध पद 'जय जय देव हरे' तो स्वयं कवि ही की उक्ति है।

जयदेव मूलतः श्रृंगार के कवि हैं। श्रृंगार में भी ये संयोग श्रृंगार के ही विशेष कुशल चित्रकार हैं। इसी संयोग श्रृङ्गार के अंग रूप में मान विप्रलंभ आ जाता है, जिसे शुद्ध विप्रलंभ नहीं कहा जा सकता। शुद्ध विप्रलंभ श्रृंगार तो प्रवासात्मक कोटि का होता है तथा इसका चित्रण प्रोषितभर्तृका के ही संबंध में पाया जाता है। खण्डिता तथा कलहान्तरिता वाला रोष, कलह और मान-मनौवन कुछ नहीं संयोग की तीव्रता को बढ़ाने के हथकंडे के रूप में कवि के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। श्रृंगार रस की मीमांसा करते समय आचार्यों ने उसके नायक तथा नायिकाओं का विवेचन किया है। नायक को दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल इन कोटियों में विभक्त किया गया है। नायक का यह विभाजन नायिका के साथ उसके व्यवहार को ध्यान में रखकर किया जाता है। नायक पुनः दो तरह का होता है या तो वह परिणेता (पति) हो या जार (उपपति)। जयदेव ने कृष्ण को प्रच्छन्न जार के ही रूप में चित्रित किया है, ठीक यही धारणा श्रीमद्भागवत की है, तथा ब्रह्मवैवर्त में भी कृष्ण को गोपिकाओं का उपपति-सा चित्रित किया है और राधा को किसी अन्य गोप से विवाहित माना है। इस रूपक का आध्यात्मिक अर्थ कुछ भी हो, हमें उससे यहाँ कोई मतलब नहीं है। हाँ, इस संबंध में इतना कह दिया जाय कि सूर आदि अष्टछाप के कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण को राधा का उपपति नहीं मानकर पति के रूप में चित्रित किया है। जयदेव के विविध-वरवर्णिनी-विलासी व्रजमोहन अनुकूल नायक तो हो ही कैसे सकते हैं, हाँ वे कभी दक्षिण, कभी शठ और कभी धृष्ट के रूप में सामने आते दिखाई देते हैं। एक ही नायक समय समय पर विविध प्रकार के व्यवहार के

कारण विविध लक्षणों से सम्पन्न होता है। कृष्ण दक्षिण नायक बनकर कभी तो राधा के चरणों को करकमलों से दबाकर उसके चलने के श्रम का निवारण करते देखे जाते हैं,[1] तो कभी किसी अन्य सुनयना के साथ विहार कर राधा के प्रति अपने शठत्व का परिचय देते हैं,[2] और कभी कभी अन्य नायिका के चरण कमलों में लगे महावर से आर्द्र हृदय-पटल से विभूषित होकर राधा के सामने आने की धृष्टता करते हैं।[3] जयदेव की नायिका राधा है, जो छिप छिप कर अपने प्रिय कृष्ण से लोक और शास्त्र की आँखों से दूर 'रहःकेलि' किया करती है। वह कभी मुग्धा बन कर प्रिय के सामने जाने से झिझकती है, तो कभी मध्या बन कर रतिकेलि में समुचित भाग लेती दिखाई जाती है, कभी धीराधीरा बन कर शठ या धृष्ट कृष्ण को ताने सुनाती है। कभी उसका स्वाधीनभर्तृका वाला रूप दिखाई देता है,[4] तो कभी खण्डिता[5] या कलहान्तरिता वाला,[6] कभी अभि-

१. करकमलेन करोमि चरणमहमागतासि विदूरम्।
क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगतिशूरम्॥ (१२. २. २)

२. रमयति सुभृशं कामपि सुदृशं खलहलधरसोदरे।
किमफलमवसं चिरमिह विरसं वद सखि विटपोदरे॥ (७. ८. ७)

३ चरणकमलगलदलक्तकसिक्तमिदं तव हृदयमुदारम्।
दर्शयतीव बहिर्मदनद्रुमनवकिसलयपरिवारम्॥ (८. २. ४)

४. रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयोर्घटय जघने काञ्चीमञ्च स्रजा कबरीभरम्।
कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुराविति निगदितः प्रीतः पीताम्बरोऽपि तथाकरोत्॥
(१२. १२)

५. तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणच्छायहृदयम्।
ममाद्य प्रख्यातप्रणयभरभंगेन कितव त्वदालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति॥
(८. ३)

६. अथ तां मन्मथखिन्नां रतिरसभिन्नां विवादसम्पन्नाम्।
अनुचिन्तितहरिचरितां कलहान्तरितामुवाच सखी॥ (९. १)

सारिका[1] या विप्रलब्धा[2] वाला। जयदेव ने राधा के इन विविध रूपों को चित्रित करने में एक विशेष क्रम अपनाया है। दूती के द्वारा कृष्ण का सौंदर्य-श्रवण कर राधा उनके प्रति आकृष्ट होती है, दूती के ही कहने से वह कृष्ण के पास निकुंज में अभिसरण करती है। यहीं पंचम सर्ग के पद्यों व पदों में उसका अभिसारिका वाला रूप है। इसके बाद कुंज में पहुँच कर वह कृष्ण को नहीं देख पाती, नायक के द्वारा ठगी जाती है, और उसका विप्रलब्धा वाला रूप सप्तम सर्ग में पाया जाता है। अष्टम सर्ग में धृष्ट नायक कृष्ण का प्रवेश कराया जाता है, जो परांगनोपभोग के चिह्नों से विभूषित होकर आते हैं। यहाँ राधा का खण्डिता वाला रूप है। नवम सर्ग में कलहान्तरिता वाला रूप है। एकादश सर्ग तक सखी व कृष्ण का मानमनौवल चलता रहता है, और द्वादश सर्ग का आरंभ[3] राधा की प्रसन्नता का उपन्यास कर गीतगोविन्द की रतिनाटिका के निर्वहण की सूचना देने लगता है। रत्नावली नाटिका के यौगंधरायण की भाँति 'अभिमत' को मिलाने के लिए यहाँ राधा की सखियाँ या कृष्ण और राधा की दूतियाँ सचेष्ट देखी जाती हैं। आरंभ के चार सर्गों में इन्हीं सखियों की चेष्टाएँ चित्रित हुई हैं।

---

१. सभयचकितं विन्यस्यन्तीं पदं तिमिरे पथि
   प्रतितरु मुहुः स्थित्वा मन्दं पदानि वितन्वतीम्।
कथमपि रहः प्राप्तामङ्गैरनङ्गतरङ्गिभिः
   सुमुखि सुभगः पश्यन् स त्वामुपैतु कृतार्थताम्॥ (५.८)

२. अथागतां माधवमन्तरेण सखीमियं वीक्ष्य विषादमूकाम्।
विशङ्कमाना रमितं कयापि जनार्दनं दृष्टवदेतदाह (७.५)

३. गतवति सखीवृन्देऽमन्दत्रपाभरनिर्भर-
   स्मरशरवशाकूतस्फीतस्मितस्नपिताधराम्।
सरसमनसं दृष्ट्वा राधां मुहुर्नवपल्लव-
   प्रसवशयने निक्षिप्ताक्षीमुवाच हरिः प्रियाम्॥ (१२.१)

यद्यपि जयदेव एक कुशल कवि हैं, उनका भावपक्ष और कलापक्ष दोनों सुन्दर हैं—उनका कलापक्ष तो संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है—तथापि जयदेव के काव्य के संबंध में आलोचक को एक आपत्ति हो सकती है। जयदेव में मौलिकता का अभाव है। क्या भावना और क्या कल्पना दोनों दृष्टि से, जयदेव निजी मौलिकता का कोई परिचय नहीं देते। उन्होंने अपने पूर्वजों के दाय को ज्यों का ज्यों लेकर ठीक उसी रूप में सामने रख दिया है। कालिदास, भर्तृहरि, अमरुक या अन्य कवियों के श्रृंगारी वर्णनों के पढ़ लेने पर पता चलता है कि जयदेव ने किसी भी नये भाव की व्यंजना नहीं कराई है। इसी तरह जयदेव की कल्पनाएँ भी पिटी-पिटाई हैं, उनकी उपमाएँ या उत्प्रेक्षाएँ, रूपक या अतिशयोक्तियाँ भी परंपराभुक्त ही हैं। जहाँ तक जयदेव के समसामयिक श्रीहर्ष का प्रश्न है, चाहे वहाँ भावना की उदात्त तरलता न भी मिले, कल्पना की मौलिकता का अपूर्व प्रदर्शन मिलता है। बाद में भी पण्डितराज जगन्नाथ जयदेव से कहीं अधिक मौलिकता का प्रदर्शन कर सके हैं। पर जयदेव के पास एक ऐसी कला है, जो इस अभाव की पूर्ति कर देती है। जयदेव का पद-विन्यास, शब्द-शय्या और संगीत उनके काव्य में एक अभिनव रमणीयता संक्रान्त कर देते हैं, और संगीत के प्रवाह में सहृदय श्रोता इतना बह जाता है कि उसको जयदेव की भावना या कल्पना की पूरी नाप-जोख करने का अवसर ही नहीं मिलता और मौलिकता का अभाव उसकी आँख से ओझल हो जाता है। पर इतना होते हुए भी चाहे जयदेव के काव्य में संगीत और पद-शय्या, प्राम्य और पद-लालित्य को छोड़ कर कोई नवीनता न मिले, भावना-पक्ष और कल्पना-पक्ष किसी तरह निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता। जयदेव के कवित्व का परिचय देने के लिए कुछ पद्य उदाहृत करना पर्याप्त होगा।

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥ (१.१)

'हे राधे, आकाश घने बादलों से छाया हुआ है, समस्त वनभूमि तमाल के निबिड वृक्षों से काली हो रही है, और रात का समय है। तुम तो जानती ही हो, यह कृष्ण बड़ा डरपोक है, इसे इस रात में जंगल में होकर घर जाते डर लगेगा। तुम्हीं इसे क्यों नहीं पहुँचा देती ?' नन्द की इस आज्ञा का सुन कर घर की ओर प्रस्थित राधा-माधव के द्वारा मार्ग में यमुना-तट के उपवन तथा लताकुञ्ज में की हुई एकान्त क्रीडा सर्वोत्कृष्ट है।'

राधा-माधव की 'रहःकेलि' का चित्रकार इतने से ही सन्तुष्ट क्यों होने लगा ? यह तो उसका मंगलाचरण भर जो है। और वह नायक-नायिकाओं की रहःकेलि का कई स्थानों पर खुल कर वर्णन करता है। कहीं वह दूती के मुख से राधा को आकृष्ट करने के लिए रतिकेलि का वर्णन राधा को सुनाता है[1], तो कहीं स्वयं राधा की ही रतिविशारदता व्यञ्जित करता है। पर उसे विश्वास है कि रतिविशारद होने पर भी राधा आखिर है तो स्त्री ही तथा रतिकेलि के 'रणारंभ' में विजय कैसे पा सकती है ? और वह राधा के पुरुषायित के बाद की श्रान्त क्लान्त स्थिति का सटीक वर्णन करने से नहीं हिचकिचाता।

१. आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्तजा-
त्प्रोद्बोधादनु सम्भ्रमादनु रतारंभादनुप्रीतयोः।
अन्यार्थं गतयोर्भ्रमान्मिलितयोः सम्भाषणैर्जानतो-
र्दम्पत्योर्निशि को न को न तमसि व्रीडाविमिश्रो रसः॥ (५.७)

मारांके रतिकेलिसंकुलरणारंभे तया साहस-
प्रायं कांतजयाय किंचिदुपरि प्रारंभि यत् संभ्रमात् ।
निष्पंदा जघनस्थली शिथिलिता दोर्वल्लिरुत्कंपितं
वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्ध्यति ॥ (१२.५)

स्पष्ट है, जयदेव को संयोग श्रृंगार के चुम्बन, नखस्पर्शादि बाह्य सुरत ही नहीं, वास्तविक सुरत तक के वर्णन करने में दिलचस्पी है। ऐसा कवि भला विप्रलंभ की सच्ची दर्दनाक आवाज को कैसे पैदा कर सकता है। मिलन के 'तरानों' (संगीत) में मस्त झूमता हुआ कवि प्रिय-वियोग की पीड़ा के 'अफसाने' (कथा) क्यों कहने लगा। जयदेव में छुटपुट मिलने वाला विप्रलंभ श्रृंगार का वर्णन प्रभावोत्पादक से समवेत नहीं दिखाई देता और उसकी पद्धति रूढ है।

श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम् । मदनदहनमिव वहति सदाहम् ।

× × ×

नयनविषयमपि किसलयतल्पम् । कलयति विहितहुताशविकल्पम् ॥

राधिका विरहे तव केशव माधव वामन विष्णो (४.४)

'हे माधव, राधा आपके वियोग में दीर्घ निश्वासों को उष्ण कामाग्नि के समान धारण करती है। × × × हे कृष्ण, आपके वियोग में राधा अपने सम्मुख बिछी किसलय-शय्या को अग्नि-शय्या समझती है।'

श्रृङ्गार के उभयपक्ष के चित्रण में जयदेव ने विशेष ध्यान आलंबन तथा उद्दीपन विभाव पर ही दिया है। अनुभावों का भी वर्णन मिलता है, किंतु वह कवि की पैनी दृष्टि का परिचय कम देता है। ठीक यही बात संचारियों के विषय में है। श्रृङ्गार के चित्रण में विभिन्न संचारियों की मार्मिक व्यंजना करने में जयदेव विशेष सफल नहीं कहे जा सकते। वस्तुतः यह वह दुर्बल

पक्ष है, जो सभी ह्रासोन्मुखी श्रृङ्गारी कवियों में पाया जाता है, और हिन्दी के रीति कालीन कवियों में भी अधिकांश इस दोष से मुक्त नहीं हो सके हैं। दरबारी श्रृङ्गारी कवि का प्रधान लक्ष्य नायिका के अंगादि—नखशिख-वर्णन पर या प्रकृति के उद्दीपक तत्त्व पर ही अधिक रहता है, यह एक तथ्य है। प्रकृति का उद्दीपन विभाव वाला वर्णन भी उसका प्रायः नपा-तुला होता है। स्वयं जयदेव के ही प्रकृति वर्णनों में कोई नवीनता या मौलिकता नहीं मिलती। यमुना-तीर, कुञ्ज, चन्द्रोदय, रात्रि, वसन्त ऋतु आदि के वर्णन गीतगोविन्द में है, किन्तु उनका विषय पिटा-पिटाया है; हाँ, उनकी पद-शय्या गज़ब की होती है। चन्द्रोदय का निम्न वर्णन लीजिये।

अत्रान्तरे च कुलटाकुलवर्त्मपातसञ्जातपातक इव स्फुटलाञ्छनश्रीः।
वृन्दावनान्तरमदीपयदंशुजालैर्दिक्सुन्दरीवदनचन्दनविन्दुरिन्दुः ॥ (७. १)

'मानों अभिसरण करती हुई कुलटाओं के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने के पाप के कलंक से युक्त, दिशारूपी सुन्दरी के वदन के चन्दन-विन्दु चन्द्रमा ने इसी बीच अपनी किरणों के द्वारा वृन्दावन को प्रदीप्त किया।'

गीतगोविन्द का कलापक्ष निःसन्देह अनुपम है। जहाँ तक अर्थालंकार का तथा अप्रस्तुत—विधान का प्रश्न है, वे सब प्रायः परम्पराभुक्त हैं, किन्तु शब्दालंकार तथा पद-शय्या का सौन्दर्य अपना सानी नहीं रखता। संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी कवियों का अनुप्रास की ओर विशेष ध्यान जाने लगा था। श्रीहर्ष का नैषध इसके लिए प्रसिद्ध है, ठीक यही विशेषता जयदेव की शैली की है। जयदेव की पदशय्या ने ही गीतों से इतर काव्यांश (पद्यों) में भी संगीत को संक्रान्त कर दिया है। पद-शय्या के ललित परिवेष का सहारा लेकर चित्रित किया गया यह वसंत वर्णन अतीव सुन्दर बन पड़ा है—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥ (१.१.२)

'पराग के लोभी भौंरों के द्वारा कँपाई गई आम की मंजरी पर कूजन करती कोयल की मधुर काकली को सुन कर प्रिया-वियुक्त पथिकों (विदेशियों) के कानों में जैसे पीडा हो उठती है। वसन्त के पीडादायक दिनों को वे किसी तरह बड़ी मुश्किल से इसलिए निकाल पाते हैं कि ध्यान में क्षण भर के लिए प्राण-प्रिया का समागम प्राप्त कर उसके आनन्द से उल्लसित हो उठते हैं।'

जयदेव के गेय पद संगीत की तत्तत् राग-रागिनी में आबद्ध हैं। वैष्णवों के यहाँ ये पद समय समय पर गाये जाते रहे हैं। ऐसा अनुमान होता है कि यात्राओं और रासों में एक व्यक्ति छन्दबद्ध वर्णिक वृत्तों का पाठ करता होगा, और पदों का सह-गान किया जाता होगा। आज भी जयदेव के पद सामूहिक रूप में गाये जाते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने जयदेव के पदों को विशेष महत्त्व दिया तथा वे उपासना और कीर्तन के एक अंग बन गये। जयदेव के पदों की ही पद्धति का प्रभाव चण्डीदास और विद्यापति पर पड़ा और बाद में सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियों की पद-रचना का प्रेरक बना।

—०—

परिशिष्ट

ग्रन्थ में आये हुए ग्रन्थकारों के नाम

ग्रन्थ में उद्धरित ग्रन्थों के नाम